निवेदनम्

प्रस्तुत पुस्तक के निबन्ध कला, विज्ञान, तथा वाणिज्य के विद्यार्थियों एवं विभिन्न प्रतियोगिता परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले परीक्षार्थियों के लिए लिखे गये हैं।

'आदर्श निबन्ध' में आपको साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव वैज्ञानिक सभी प्रकार के निबन्ध मिल जायेंगे। हमने पुस्तक को यथासाध्य अधिक से अधिक पूर्ण, स्वस्थ एव आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया है। बासी विषयों का पिष्टपेषण करना हमें इष्ट नहीं।

श्रद्धेय आचार्य डा० रामकुमार वर्मा का आशीर्वाद हमारा पाथेय रहा है। भाई दामोदर के अध्यवसाय ने 'आदर्श निबन्ध की आधुनिकता में एक नया अध्याय जोड़ दिया है। सम्भवतः धन्यवाद सरीखी दुनियादारी में उनका विश्वास नहीं है।

प्रयाग
विजयदशमी १९[illegible]

केशनीप्रसाद चौरसिया

द्वितीय संस्करण के बारे में

आपका अधिक समय न लेकर केवल चार बातें कहना चाहूँगा :—

१. पुस्तक को आपने अपनी समझकर जिस प्यार-दुलार से अपनाया, वह दुहराने की बात नहीं। प्रमाण सामने है : अठारह माह की अल्पावधि में इसके प्रथम संस्करण का आपके हाथों में खो जाना।

२ पुस्तक में आपको हल्की-हल्की मौलिकता की महक मिलेगी, जान बूझ कर चयन-प्रवृत्ति को प्रधानता दी गयी है। इसलिये कि कम से कम समय में अधिक से अधिक सामग्री के साथ आपकी घनिष्टता हो जाय।

३. पता लगा था कि मेरे विद्यार्थी-बन्धुओं को सूक्तियां बहुत रुचीं। सौभाग्य। इस संस्करण में वे ड्योढ़ी कर दी गई हैं।

४. पुस्तक को मैंने उसके प्रकाशन के अन्तिम क्षण तक अप-टू-डेट बनाने का प्रयत्न किया है फिर भी ताजगी में कमी रह जाना स्वभाव-दोष है, मेरा नहीं।

यह तृतीय संस्करण

आपकी सेवा में 'आदर्श निबन्ध' का तृतीय संस्करण असंभावित समय के पूर्व उपस्थित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है। इस संस्करण में पुस्तक को पुनः नये सिरे से माजने का प्रयास किया गया है और आधुनिकतम विषयों के नये निबन्ध जोड़ दिये गये हैं। आशा है, पिछले संस्करणों की भाँति इसे भी आप चाव से अपनायेंगे।

धन्यवाद

रामनवमी, ५६

लेखक

विषय-सूची

साहित्यिक निबन्ध

(अ) व्याख्यात्मक

हिन्दी नाटक और रंगमंच
आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव
भारत की राष्ट्र-भाषा : हिन्दी
हिन्दी कविता मे छायावाद और रहस्यवाद
हिन्दी कविता मे प्रगतिवाद और प्रयोग वाद
हिन्दी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव (आगरा वि०, बी० ए०, '५०)
हिन्दी के मुसलमान कवि
हिन्दी साहित्य की महिला साहित्यकार (प्रयाग वि०, बी० ए०, '५१)
हिन्दी साहित्य में समालोचना की गतिविधि (प्रयाग वि०, बी० ए०, '५३)
हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण (प्रयाग वि०, बी० ए०, '५३)
हिन्दी कविता मे हास्य रस
हिन्दी कविता मे नारी
प्रेमचन्द की कला और उसका महत्व (साहित्यरत्न सं० २०११)
हिन्दी में जीवनी साहित्य
हिन्दी मे भ्रमर गीत की परम्परा (आगरा वि०, बी० ए०, '४८)
हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ
हिन्दी प्रचार के विभिन्न साधन
हिन्दी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ
डा० रामकुमार वर्मा के एकाकी नाटक
लोक गीतों में भाव सौंदर्य (प्रयाग वि०, बी० ए०, '४६)

(ब) परिचयात्मक

सन्त कबीर
जायसी
सूरदास
तुलसीदास
केशव

सांस्कृतिक निबन्ध

वैज्ञानिक निबन्ध

सामाजिक निबन्ध

वाणिज्य सम्बन्धी निबन्ध

राजनीतिक निबन्ध

भूमिका

१. निबन्ध की परिभाषा : निबन्ध की परिभाषा के संबंध में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं जो परस्पर समान होते हुये भी भिन्न हैं। श्री रामचन्द्र वर्मा द्वारा सपादित 'हिन्दी शब्द सागर' मे 'निबन्ध' शब्द का अर्थ– "बन्धन, यह व्याख्या जिसमे अनेक मतों का सग्रह हो" मिलता है। इस परिभाषा के आधार पर हम ऐसे लेखों को निबन्ध की सज्ञा दे सकते हैं जिनमे विचार-परम्परा के साथ-साथ लेखक को अपने भावों, विचारो एवं मनोवृत्तियो को स्वच्छन्दता के साथ प्रकट करने की सुविधा हो।

'निबन्ध' शब्द के आपटे द्वारा सपादित संस्कृत-कोश मे बारह अर्थ दिये गए हैं :

(१) बाँधना, जोड़ना (२) आसक्ति, लगाव (३) रचना लिखना (४) कोई साहित्यिक टीका या कृति (५) संग्रह (६) श्रंखला (७) नींव, उत्पत्ति (८) कारण, हेतु आदि। अग्रेजी मे निबन्ध को 'एसे' (Essay) कहते हैं जो प्राचीन उत्तर-फ्रासीसी शब्द 'एसाई' से निकला है जिसका अर्थ होता है 'प्रयत्न' या किसी विषय पर गद्य मे छोटी साहित्यिक रचना।

निबन्ध और प्रबन्ध मे अन्तर है। 'प्रबन्ध' शब्द का अर्थ 'हिन्दी-शब्द-सागर' मे इस प्रकार दिया है :

'कई वस्तुओ या बातों का एक में ग्रन्थन, एक दूसरे से सम्बद्ध वाक्य; रचना का विस्तार, लेख या अनेक सम्बद्ध पद्यो मे पूरा होने वाला वाक्य।' इस परिभाषा के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निबन्ध की सीमा संकुचित है एव प्रबन्ध की व्यापक।

प्राचीन काल में जब कि कागज का अभाव था, लोग भोजपत्रो पर लिखते थे, मुद्रण-कला के ज्ञान से वे सर्वथा अपरिचित थे। उस समय वे अपने

लेखों को भोजपत्रो पर लिखकर, पृष्ठ के पृष्ठ क्रमशः सजाकर पुस्तकाकार सी देते थे या बाँध देते थे उनकी इस क्रिया का नाम निबन्ध (बाँधना या जोड़ना) था। आगे चल कर इस अर्थ में भाषा-विज्ञान के अनुसार 'अर्थ-परिवर्तन' हो गया, इसका अर्थ साहित्यिक रचना हो गया और अब तो पहला अर्थ प्रायः लुप्तप्राय हो गया है। निबन्ध उन समस्त लेखों या रचनाओं को कहा जाने लगा जो किसी कथा या विषय को शास्त्रीय ढग से गद्य या पद्य मे प्रस्तुत करते हों। अंग्रेजी भाषा का 'थीसिस' या 'ट्रीटाइज' शब्द हिन्दी के 'प्रबन्ध' शब्द का समानार्थी माना जा सकता है। नवीन परिभाषा के आधार पर प्रबन्ध-कार अपनी रचना मे प्रतिपाद्य विषय के स्वरूप, उपयोग एवं महत्व आदि का विवेचन करता हुआ विश्लेषणात्मक पद्धति से विषय का स्पष्टीकरण करता है। हिन्दी मे आलोचनात्मक तथा खोजपूर्ण रचनाओं को 'प्रबन्ध' के अन्तर्गत समझा जाता है।

निबन्ध और प्रबन्ध के अतिरिक्त एक शब्द 'लेख' भी मिलता है। लेख प्रायः उस गद्य रचना को कहते हैं जो निबन्ध और प्रबन्ध दोनों की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। अंग्रेजी का आर्टीकिल (Article) शब्द 'लेख' का समानार्थी कहा जा सकता है।

निबन्ध की कोई विशेष परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकती क्योंकि विषय के अनुसार इसके रूप और परिभाषा में बहुत विभिन्नता है और किसी लक्षण से इसका परिचय नहीं दिया जा सकता। फिर भी सामान्य रूप से 'किसी विषय-विशेष की सम्यक् रूप से संगठित और क्रमिक व्याख्या ही निबन्ध है।' कुछ लोग 'सांगोपांग' शब्द से इसका रूप निर्धारित करते हैं लेकिन निबन्ध किसी विशेष दृष्टि में नहीं लिखे जाते। उनकी एक-पक्षीय विवेचना नहीं हो सकती। इसलिये निबन्ध को इस शब्द की आवश्यकता अनिवार्यतः नहीं है। निबन्ध में क्रमबद्धता आवश्यक है। विचारों और दृष्टिकोण की विकासोन्मुखता परमा-वश्यक है और इसका विस्तार एक पृष्ठ से लेकर ५०० पृष्ठों तक हो सकता है। निबन्ध के लक्षणों के साथ यह क्रमबद्धता किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचनी चाहिये। लेकिन इसके अपवाद भी हो सकते हैं। यह केवल किसी विषय विशेष पर विचार का अभिव्यंजन भी हो सकता है। पं० प्रताप नारायण

मिश्र के निबन्धों में अनेक प्रकार की शैलियाँ हैं। उन्होंने ड, आप, दाँत आदि पर बड़े ही कौतूहल प्रधान विचित्र निबन्ध लिखे हैं। वकील (व+कील) अदालत (अदा+लत) पर लिखे गये उनके चुटीले निबन्ध हिन्दी साहित्य में अपना निराला स्थान रखते हैं। किसी वैज्ञानिक प्रणाली की परवाह न करके जिस स्वतंत्र और उन्मुक्त हृदय से उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यंनजना पाठकों तक पहुँचाई है, उससे निबन्ध की यही परिभाषा निकलती है कि वह विचारों के प्रकट करने का एक माध्यम मात्र है।

वर्तमान निबन्ध की परिभाषा प्राचीन परिभाषा से पूर्णतया विपरीत है। प्राचीन निबन्ध, लेखक की किसी विषय पर अपूर्ण विचारावली के प्रकटीकरण के साधन मात्र हैं। उनमे न तो विचार-संगठन है और न किसी विषय का ठोस विश्लेषण। केवल भावुकताजन्य छिछला प्रवाह मिलता है। परन्तु वर्तमान निबन्धकार के विचारों में सन्तुलन है, विषय का व्यापक विवेचन है, विश्लेषण की गहराई है। आज का लेखक किसी भी विषय पर नपी-तुली विचारावली मे, नपे-तुले शब्दों में पूर्ण गठन के साथ अपने निबन्ध की रचना करता है। न तो वह शब्दाडम्बर के फेर में पड़कर अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करता है और न विषयान्तर। संक्षेप में 'वह कम से कम शब्दों में अपने संपूर्ण ज्ञान को एक स्थान पर एकत्रित करके अपने विचार व्यक्त कर देता है।'

पाश्चात्य साहित्य मे निबन्धों का जन्मदाता फ्रासीसी विद्वान मिकेल मौंटेन को माना गया है। उनके निबन्धों मे उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। एडीसन ने उन्हें ससार का सर्वश्रेष्ठ आत्मवक्ता घोषित किया है। अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध निबन्धकार डाक्टर जान्सन ने निबन्ध को 'मानसिक जगत का एक शिक्षित प्रयास' माना है। उन्होंने निबन्ध की परिभाषा करते हुये अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

'निबन्ध मानसिक जगत का वह थका हुआ बुद्धि-विलास है जिसमे न कोई क्रम है और न कोई नियम। यह विचारों की अधूरी और अव्यवस्थित रचना मात्र है।' उन्होने आधुनिक निबन्ध को 'मन की मुक्त भटकन' (लूज सैली ऑव दि माइंड) कहा था, जिसे किसी फ्रेम मे कसना असम्भव है। हिन्दी मे निबन्ध के निजात्मक एव परात्मक और फिर दोनों के विचार-प्रधान और भाव-प्रधान भेद करके निबन्ध की व्याख्या करने का प्रयत्न किया

गया है परन्तु ऐसा करना बुद्धि संगत नहीं है क्योंकि निबन्ध का लक्ष्य ही मन का स्वछन्द-विचरण, रस-ग्रहण, सौन्दर्य-शोध और आनन्द का अनुभव प्राप्त करना है जिसे निबन्धकार मित्र मडली की गप-शप या 'बतकही' के रूप में भी प्रकट करता है। आज के युग मे डॉक्टर जॉन्सन की निबन्ध परिभाषा अधूरी ही नहीं निकम्मी भी सिद्ध होती है। आज के युग की निबन्ध की परिभाषा इस के सर्वथा विपरीत है। इस युग में निबन्ध उसी रचना को कहते हैं जिसमे लेखक ने किसी भी विषय पर विचारों का परिमार्जिन स्पष्टीकरण किया हो। निबन्ध में वैयक्तिकता प्रधान रहती है जो कृत्रिमता की उपेक्षा कर स्वाभाविकता का संबल लेकर चलती है। निबन्ध में पाठकों के हृदय को अपनी ओर खीचने की अनुपम शक्ति होनी चाहिये। आजकल के निबन्ध पूर्ण रूप से परिमार्जित और कलात्मक होते हैं। आधुनिक युग के विद्वान् निबन्ध में क्रमिक विश्लेषण तथा शैली की गंभीरता, प्रौढ़ता एवं वैयक्तिकता को प्रमुख स्थान देते हैं। शिथिलता के संबन्ध में डा० श्यामसुन्दर दास जी का मत है कि :

'वास्तव में निबन्ध की शिथिल शैली अत्यधिक प्रभावशालिनी होनी चाहिये। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और दुरूहता को दूर करने के लिये निबन्ध लेखको का यह प्रधान साधन है। इससे वे पाठकों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं ! उन्हें शैथिल्यपूर्ण हल्का वातावरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।' कहा भी गया है कि : 'गद्यं-कवीनाम् निकषं वदन्ति'। आगे चलकर शुक्ल जी लिखते हैं कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिये जिसमे व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ-योजना की जाय, जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य रूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सवालो की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जॉय जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।'

ससार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने अपने मानसिक संगठन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है। कसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुये, पत्तों के भीतर की नसों के समान चारो ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये कुछ उपयोगी सम्बन्ध सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों मे कहीं नही फॅसता परन्तु निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यहीं उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्रो की टेढ़ी मेढ़ी रेखाऍ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न भिन्न दृष्टियो से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।'

'निबन्ध लिखना अभ्यास से आता है। निबन्ध, लेखक के ज्ञान की कसौटी है। उथला या पाडित्य प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावो से बोझिल निबन्ध व्यर्थ होता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बॅधा हुआ'। अतः थोड़े से अत्यन्त चुने हुए शब्दो में किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के प्रयत्न को निबन्ध कह सकते हैं। निबन्ध के विषयो की कोई सीमा नही। आकाश-कुसम से लेकर चींटी तक सभी निबन्ध के विषय हो सकते हैं।' (श्री हरिहर नाथ टन्डन)

निबन्ध के विषय मे डा० रामरतन भटनागर 'निबन्ध-प्रबोध' की भूमिका में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'निबन्ध के विषय में महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि वह किस विषय पर लिखा गया है ? किसने लिखा है ? किस शैली में लिखा है ? उसका आकर्षण व्यक्तिगत रहता है। लेखक का व्यक्तित्व सारे निबन्ध में समाया होता है विषय कोई भी हो जिस वस्तु या विचार को प्रकाश में लाया जाय उसे बिल्कुल स्पष्ट कर दिया जाय, उसमे लेखक घुल मिल ले, उसके सौन्दर्य का अनुभव करे, उसकी चित्तवृत्ति उसमे रम जाय और वह कलापूर्ण ढङ्ग से अपने मन के विचार या हृदय की प्रतिक्रिया को भाषा दे दे। निबन्ध को आकर्षक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमे

शब्द उसके हृदय के अन्तराल से निकलता है एवं उसकी लेखावलि में अन्तस्थल की आकुलता आलोडित होती रहती है।"

निबन्धों के विषय मे प्रसिद्ध निबन्धकार मौंटेन की प्रशसा करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास ने अपनी सम्मति इस प्रकार दी है :—

"मौंटेन के 'एसे' उस विषय की परिधि से ही घिरे नही रहते थे। प्रस्तुत विषय के साथ अग्रसर होते हुये उक्त-विषय के ससर्ग से प्रासगिक विषय सम्मुख उपस्थित हो जाते थे। उनकी ओर भी मौंटेन की लेखनी बढ़ जाती थी। इस प्रकार वह विषयान्तर में पड़ जाता था। अनेक बार उसे एक विषय से दूसरे दूसरे से तीसरे की ओर देखा जा सकता है। इससे प्रकट होता है कि मौंटेन के लिये निबन्ध का विषय आरम्भ में लेखनी को उत्तेजित करने वाली एक प्रेरणा मात्र है और एक बार जब उसकी लेखनी चल पड़ती है तब वह अन्य प्रेरणाओ के वशीभूत होकर आगे बढ़ती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रचनाओ में निबन्ध की शृङ्खला नितान्त उच्छिन्न है। उसमें विचारों का कोई तारतम्य ही नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसके निबन्ध कलात्मक पूर्णता के अभाव में साहित्य की भूमि पर पदार्पण ही न कर पाते। उन्हें विशिष्ट साहित्यिक पद प्राप्त करने का तो प्रश्न ही न होता। वास्तव मे उसके 'एसे' विषय के मुख्य सूत्र को पकड़कर चलते हैं और आत्यन्तिक रूप से उसका त्याग कभी नहीं करते। वह विषयान्तर में अवश्य चले जाते हैं किन्तु वहाॅ से लौटकर अपने मुख्य विषय पर पहुॅच जाते हैं और निबन्ध के समाप्त होने पर हम उसकी अन्तर्निहित एकता का अनुभव करते हैं।"

मौंटेन ने अपने निबन्धों के विषय में स्वयं लिखा है कि 'इन निबन्धों में मैंने अपनी तस्वीर खुद बनाई है।' लिंड ने निबन्धों को 'हॅसते खेलते हुये सयानेपन की बातें' कहा है इसीलिए इस सुन्दर बकवास को चिड़चिड़े आलोचकों ने हल्की-फुल्की हवा में तैरने वाली खूबसूरत निकम्मी चीजें माना है।

डब्ल्यू० ई० विलियम ने 'ए बुक आफ इंगलिश एसेज' की भूमिका में लिखा है कि :—

निबन्ध की "स्वल्पतम परिभाषा यही है कि यह गद्य रचना का एक प्रकार है, जो बहुत छोटा होता है, जिसमें वर्णन मात्र ही नही होते। कभी कभी निबन्धकार अपनी बात को सिद्ध करने के लिये प्रसंगों का सहारा ले सकता है,

कभी उपन्यासकार की भाति पात्रों का निर्माण भी कर सकता है परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य कथा कहना नहीं है। निबन्धकार का मुख कार्य सामाजिक, दार्शनिक, आलोचक या व्याख्याकार जैसा या उसका समानार्थी होता है।

निबन्धकार के कर्त्तव्य पर गम्भीरता से विचार करने वाले ए० सी० बेन्सन ने 'दि आर्ट आव दि एसेइस्ट नामक एक खोजपूर्ण निबन्ध में कहा है कि निबधन्कार जीवन की समग्रता का अनुभव एवं आनन्द की अनुभूति एक साथ करना चाहता है। कवि की भाति जीवन की विराटता, सूक्ष्मता या सुन्दरता मात्र से ही उसका प्रयोजन नहीं रहता। वह तो जीवन की आभा से, दीप्ति से सतुष्ट है, पूर्ण प्रकाश की ज्वाला की अनुभूति का इच्छुक नहीं अतः निबन्धकार की रोमास लेखक से बिल्कुल नही पटती। निबन्धकार जीवन का तटस्थ द्रष्टा है, वह व्यर्थ के स्वप्न-लोक मे अपने आप को खो देना नही चाहता। वह तो हमारी मजिल का मीत है, बातों का बटोही है, सफर का साथी है। निबन्धकार की मनोदशा चाहे जो हो, उसके जीवन के देखने की दृष्टि चाहे पचास प्रकार की हो, केवल एक चीज निबन्धकार नहीं कर सकता, और वह है जीवन की उपेक्षा। जहाँ वह इस प्रकार करने का प्रयत्न करता है वही मानों वह अपनी असफलता को आमांत्रित करता है। किसी दुराग्रह के फेर मे पड़कर या मूर्खतावश अन्य के अनुभव के प्रति अप्रीति निबन्धकार व्यक्त नही कर सकता क्योंकि सारी रसानुभूति का आधार ही यह है कि हम आत्मौपम्य की भावना जागृत करे। हमे सहृदयता को भुलाकर किसी वस्तु के बारे में सोचने का बिल्कुल अधिकार नही है। जीवन मे हम जो सोचते हैं उसमें कितनी अधिक अनेकता और विविधता भरी हुई है। इस प्रकार निबन्धकार न तो इतिहासकार की भाति जीवन और जगत को देखने की क्षमता रखता है और न कवि दार्शनिक, उपन्यासकार की भाति। परन्तु फिर भी निबन्धकार मे इन सबका गुण समन्वित रूप से रहता है।

२ निबन्ध रचना का उद्देश्य : इस विषय में आचार्य शुक्लजी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पीछे दिया जा चुका है। उससे निबन्ध का उद्देश्य भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य कम से कम परिश्रम करना चाहता है और उसके बदले मे अधिक से अधिक फल चाहता है। उसकी यह आदिम प्रवृत्ति सदा से रही है। जैसे जैसे सभ्यता का अत्यधिक विकास होता जाता है,

यह इच्छा निरन्तर बलवती होती जाती है। यही कारण है कि इस इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य ने अनेक साधनो की खोज बीन की। निबन्ध उन कई साधनो में से एक साधन है क्योंकि इसके माध्यम से साहित्य के बिखरे हुये अनेक तत्वों को एक में सम्बद्ध किया जाता है। संक्षिप्तता निबन्ध का आवश्यक गुण है। निबन्ध गद्य काव्य के निकट का साहित्य-प्रकार है किन्तु इस में भी संदेह है क्योंकि गद्य काव्य में गम्भीरता, संवेदनशीलता एवं हृदय के उद्गार होते हैं तथा निबन्ध हल्के फुल्के, चुटीले एवं साधारण बातचीत के ढङ्ग पर होते हैं। गद्य काव्य में हास्य को रसापकर्षक की संज्ञा दी जाती है, वह तो व्यक्तिगत पत्र की भाँति एकदम अत्यन्त आत्मनिष्ठ साहित्य-प्रकार है, परन्तु निबन्ध अधिक वस्तुनिष्ठ है। कहानी और निबन्ध की तुलना में हमें यही निवेदन करना है कि किसी विषय पर एक कहानी या निबन्ध दोनो लिखे जा सकते हैं परन्तु निबन्ध का कलेवर कहानी की अपेक्षा छोटा होता है तथा शैलीगत विचित्रता भी रहती है। कहानी का रसास्वादन ले चुकने के पश्चात् पाठक को जो भावुकताजनित भावात्मक तृप्ति होती है उसकी तुलना में निबन्ध से होने वाली वैचारिक संतुष्ट कुछ भिन्न ही है। कारण स्पष्ट है क्योंकि कहानी में तटस्थता के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहता है किन्तु निबन्ध में इस प्रकार की कोई गु जायश नहीं।

निबन्ध रचना में लेखक के दृष्टिकोण का पृथक महत्व रहता है क्योंकि वह तो अपने मन में उमड़ने-घुमड़ने वाले भावों को सूत्र रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ही निबन्ध लिखता है। उसका एकमात्र लक्ष्य अपने विचारो की छाप पाठकों के मस्तिष्क पर छोड़ जाना होता है। इस कार्य में अभ्यास की अधिक आवश्यकता पड़ती है। निबन्धकार के ऊपर दुहरी जिम्मेदारी रहती है, अपने निबन्ध की रचना करने के साथ साथ उसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि निबन्ध पाठकों के मस्तिष्क का बोझ बन कर ही न रह जाय, वरन् पाठकों मे नित नवीन रुचि को जाग्रत करने मे सहायक सिद्ध हो। निबन्धकार के उत्तरदायित्व पर प्रकाश डालते हुये श्री गुलाब राय जी कहते है कि :

'पुस्तक मे लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल कर सकता है किन्तु निबन्ध में वह व्यक्तित्व छिपाया नहीं जा सकता। लेखक जो कुछ लिखता है उसको

अपने निजी मत के रूप में अथवा अपने निजी दृष्टिकोण से लिखता है। उसके पीछे उसके निजी अनुभव की प्रेरणा दिखाई देती है। यदि लक्षणा या व्यंजना के विषय में कोई ऐसा लेख लिखा जाय जिसमें केवल शास्त्रीय मत ही दिया गया हो तो वह किसी पुस्तक का अध्याय बन सकता है, निबन्ध न होगा, निबन्ध तभी होगा जब कि वह लेखक के किसी निजी दृष्टिकोण से देखा गया हो।'

३. निबन्ध की आवश्यकता :—यह तो स्वतः सिद्ध है कि किसी भी विषय का इच्छित ज्ञान प्राप्त करते के लिए उस विषय पर लिखे गये दो-एक निबन्ध पढ़ना आवश्यक हो जाता है। एक ही विषय में कोई व्यक्ति दो-चार पृष्ठ लिख सकता है तो कोई अधिकारी विद्वान एक पुस्तक। पाठक अपनी इच्छानुसार सामग्री ग्रहण कर समय में अधिक से अधिक पा लेने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार निबन्ध एक लेखक और पाठक के बीच का वह साहित्यक माध्यम है जिसे लेखक अपने मे पचाकर पाठकों के कल्याणार्थ उनके मस्तिष्क को स्वास्थ्य प्रदान करता है। निबन्ध का यही उद्देश्य है और यही उसका कर्तव्य तथा आवश्यकता है। निबन्ध हमें यही सिखलाता है कि किस प्रकार हम अपनी मानसिक एव बौद्धिक शक्तियों को सीमित करके उनका विकास करें। एक व्यक्ति सभी वस्तुओं को सब समय पूर्ण रूप से नहीं देख सकता। निबन्ध ही एक ऐसा साधन है जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनुभवों की राशि से मनमाना लाभ उठाता है इस प्रकार एक पाठक निबन्ध के लिए समय की दृष्टि से देता बहुत कम है और पाता है बहुत अधिक। पर्यविक्षण और अनुभव इन दो बातों पर ही मनुष्य का समस्त ज्ञान-विज्ञान टिका हुआ है। आखिर "ज्ञान राशि के सञ्चित कोष का ही नाम तो साहित्य है।" आशका इस बात की होती है कि यही ज्ञान-राशि का संचित कोष यदि मौखिक परम्परा पर ढोया जाता रहा तो निस्संदेह कालान्तर मे उसका रूप विकृत हो जायगा किन्तु लेखबद्ध हो जाने पर वही ज्ञान सुरक्षित हो जाता है एवं इसे सुरक्षित करने का महान् कार्य निबन्ध को ही करना पड़ता है।

निबन्ध के माध्यम से मस्तिष्क को विचार एवं मनन सम्बन्धी खूराक मिलती है, साथ ही मानसिक शक्तियों का विकास होता है एवं हमारी विचार धारा परिष्कृत, परिमार्जित एवं सयत हो जाती है। विचारो और भावों में

पारस्परिक तारतम्य एवं संतुलन स्थापित होता है। अलिखित या मौखिक विचार धारा अस्पष्ट होती है किंतु लिखित के लिए शिकायत की कोई गुंजायश ही नहीं। हम अपने भावों का प्रकटीकरण निबन्ध या भाषण के द्वारा करते हैं। वाणी के द्वारा व्यक्त होने वाले मनोभावों को भाषण की संज्ञा दी गयी है वही जब मौखिक परम्परा को छोड़कर लिपिबद्ध हो जाते हैं तब निबन्ध कहलाने लगते हैं। भाषण देश और समाज की क्षणिक सम्पत्ति हैं तथा निबन्ध स्थायी। व्यापकता की दृष्टि से निबन्धों का महत्व बहुत अधिक है। निबन्ध लोक रुचि का परिष्कार कर समाज में नयी चेतना और जागरूकता को जन्म दे सकते हैं।

४ निबन्ध का क्षेत्र : वस्तुतः निबन्ध सीमित समय और सीमित शब्दों में किसी वस्तु, घटना या व्यक्ति विशेष पर कुछ विचार लपिबद्ध कर देने का प्रयास मात्र है। इसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। निबन्ध का विषय कुछ भी हो सकता है, वह अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है। हम चाहें तो किसी महान् पुरुष से लेकर घसीटे चमार के दयनीय व्यक्तित्व पर निबन्ध लिख सकते हैं। इस बीच इतना समझ लेना अच्छा होगा कि कहानी, कविता और उपन्यास हर विषय पर नहीं लिखे जा सकते किन्तु एक निबन्ध ही ऐसा शक्तिशाली व्यक्तित्व रखता है कि उसके लिये कहीं भी रुकावट नहीं है। वह आकाश के तारों से लेकर धरती के फूलों तक अपना प्रसार रखता है। यह अपने नपे-तुले सीमित शब्दों में [illegible] एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से किसी भी विषय पर लिखा जा सकता है। जो भी वस्तुएँ दृष्टिगत होती हैं वे सब निबन्ध का विषय बन सकती हैं। आकाश की तरह निबन्ध का क्षेत्र व्यापक है। छोटी से छोटी तुच्छ बात पर भी उत्तम से उत्तम निबन्ध लिखा जा सकता है, केवल प्रतिभा की आवश्यकता है।

लिख देते हैं कि वही सर्वसाधारण की आँखों में अभूतपूर्व, अनुपम एवं नवीन जँचने लगता है। निबन्ध लिखना हँसी खेल नहीं। 'गागर में सागर' भरने की कला से जो भलीभाति परिचित हो वही इस क्षेत्र में सफलता पा सकता है।

६. निबन्ध का नामकरण : निबन्ध का उपयुक्त नामकरण करना उतना कठिन नही है जितना कविता, कहानी, नाटक या उपन्यास का, क्योकि निबन्ध का विषय पहले निर्धारित कर लिया जाता है तत्पश्चात् निबन्ध लिखा जाता है किन्तु कविता कहानी आदि मे पहले रचना हो जाती है और बाद में शीर्षक का चुनाव होता है। इसलिए निबन्ध का उपयुक्त शीर्षक चुनने में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। शीर्षक की उत्पत्ति 'शीर्ष से हुई है जिसके अर्थ है अग्रभाग, चोटी, सिरा आदि। निबन्ध मे किसी विषय के परिचायक संक्षिप्त पद या शब्द को जो प्रायः पुस्तक, लेख, समाचार पत्र आदि के ऊपर लिखा रहता हैं शीर्षक कहलाता है। शीर्षक बनाने की कला भी अपने क्षेत्र मे निराली है इसके लिए भी परिश्रम, प्रयत्न एवं प्रतिभा की आवश्यकता है। निबन्ध की सफलता का श्रेय भावपूर्ण स्वाभाविक एवं गभीर शीर्षक ही है। शीर्षक विषयानुकूल छोटा, अर्थ पूर्ण एवं स्वाभाविक होना चाहिए। शीर्षक मे एक ऐसी तरलता होनी चाहिए जिसके प्रतिबिम्ब मे निबन्ध का सारा व्यक्तित्व झलक जाय। शीर्षकों का चुनाव करना भी अभ्यास से आता है इसके लिए उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियों के शीर्षकों का अध्ययन करना चाहिए तथा उन लेखकों के द्वारा निश्चित शीर्षकों की उपयुक्तता पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

७. निबन्ध का आकार : निबन्ध का रूप एक वृक्ष के समान मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिये। जिस प्रकार वृक्ष के तना, शाखा, पल्लव आदि होते हैं उसी प्रकार निबन्ध के भी विभिन्न अग होते हैं, किसी अग की उपेक्षा करने का अर्थ है निबंन्ध का अधूरा रह जाना। विद्वान लेखक प्रायः न तो किसी विषय का भावुकतावश अनावश्यक विस्तार करते हैं और न सूत्र रूप में रखकर पहेली बुझाते हैं, उन्हें चाहिए कि वह विषय के अङ्ग-उपांगों को पहले भली प्रकार तौल ले और फिर आवश्यकतानुसार प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालते हुये अपने गंतव्य पथ की ओर अग्रसर हों।

किसी विषय पर निबन्ध लिखने के पूर्व लेखक उस विषय की सीमा पर अपना ध्यान आकर्षित करता है, आकार-प्रकार के संतुलन का वजन करने के बाद ही वह निबन्ध की सीमा निर्धारित कर पाता है। विश्लेषणात्मक, तुलनात्माक, परिचयात्मक, इन तीन पद्धतियों के समवन्य से निबन्ध को रोचक एवं उपयोगी बनाया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप यदि 'सह-शिक्षा' पर निबन्ध लिखना हो तो सर्वप्रथम 'सह-शिक्षा' क्या है इस पर प्रकाश डालना होगा तत्पश्चात् सह-शिक्षा का जन्म प्राचीनकाल में यदि वह थी तो इसकी क्या रूप रेखा थी ? आदि पर क्रमशः विचार करना होगा। तदनंतर सह-शिक्षा के लाभ और हानियो पर विचार कर उसके पक्ष या विपक्ष में अपना स्पष्ट मत देकर निबन्ध समाप्त किया जा सकता है।

८. निबन्ध लिखने की सामग्री : किसी भी अच्छे निबन्ध की जॉच करने का अचूक साधन यही है कि उसके अन्दर लेखक ने कितनी अधिक से अधिक सूचना पाठक को दी है, निबन्ध के द्वारा पाठक की जानकारी में किस सीमा तक विकास हुआ है इसके लिए प्रत्येक निबन्धकार को ताजी से ताजी जानकारी रखने की बहुत आवश्यकता है, आज के युग मे नित प्रति घटनेवाली प्रत्येक घटना से निबन्धकार को परिचित होना अनिवार्य है। निबन्धकार के पास सबसे पहला और आवश्यक सम्बल उसकी चुनी हुई पुस्तके हैं। पुस्तकों के सहारे उसकी दृष्टि अतीतकाल की सुदूर पृष्ठभूमि पर पहुँचकर ज्ञान-विज्ञान के अमूल्य उपहार लाती है।

लेखक के पास दूसरा साधन निरीक्षण है ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से देश देशान्तरों का भ्रमण करके वह अपने ज्ञान को क्रमशः बढ़ाता जाता है। अजन्ता एलोरा की गुफाएँ उसे प्राचीन भारत की वास्तु कला का श्रेष्ठतम ज्ञान कराती हैं। ताजमहल मुगल साम्राज्य के चरम वैभव की बानगी देता है। दूर-देशों के भ्रमण एव निरीक्षण से उसे वहॉ के खान-पान, रहन-सहन, बात-व्यवहार का ज्ञान होता है, सस्कृति और सभ्यता के माध्यम से वहॉ के लोगों के आध्यात्मिक या नैतिक स्तर का पता चलता है। ऑखों देखी जानकारी का महत्व कानों सुनी या पढ़ी पढ़ाई जानकारी से कई गुना उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए यदि हमने नगाधिराज हिमालय के दर्शन कर अपनी ऑखों को शीतल नहीं किया तो उसके वर्णन में कोरी-

कल्पना हमारा कहाँ तक साथ देगी। अनुमान के आधार पर खींचा गया चित्र अस्पष्ट धूमिल एवं बासी होता है। उसमें वह ताजगी कहाँ जो आँखो देखे सुधियों के सहारे उतार देने वाले चित्र में समायी रहती है।

तीसरा साधन है लेखक की सूक्ष्म दृष्टि और उसकी कल्पना करने की शक्ति जिसके आधार पर वह बहुत सी वस्तुओ को देखकर उनमें अपनी प्रतिभा उडेलकर ऐसा सजीव चित्रण करता है कि सर्व साधारण के मुँह से अनायास ही प्रशंसा के शब्द बिखरने लगते हैं।

बड़े-बूढ़े योग्य व्यक्तियों एवं विद्वानो का सत्संग, गोष्ठियों में भाग लेना, सम्मेलनो मे आना-जाना आदि भी अच्छे निबन्धकार बनने के साधन हैं। सब के लिए सब समय पर्यटन एवं अध्ययन कर सकना संभव नही इसकी पूर्ति के लिये हमें ऐसे वातावरण मे रहना चाहिये जहाँ से हम भरे पूरे होकर ही उठें। अपने ज्ञान के पात्र को रिक्त एवं दूषित कर देने वाले वातावरण से सौ कोस दूर रहना चाहिए। सास्कृतिक धरातल को उभारने वाले साधनों का सेवन करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य होना चाहिए।

६ **निबन्ध का गठन** :—निबन्ध को बहुत से पदों में विभक्त होना चाहिए। आवश्यकतानुसार इन पदों को छोटा या बड़ा होना चाहिये, इसका निर्णय सामग्री के ऊपर है। सम्पूर्ण निबन्ध में एक आदर्श व्यवस्था हो, शृंखला हो, एकरूपता हो। वह एक विशेष ढाचे पर आश्रित हो। अपने आप मे पूर्ण हो। निबन्ध लिखने में सदैव शीर्षक की उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए। आवेश या भावुकता में आकर वहाव मे न बह जाना चाहिए। विषयान्तर उपस्थित होने से निबन्ध उत्तम कोटि से गिर जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि लेखक को निबंध की सीमाओ का स्पष्ट ज्ञान हो।

निबन्ध में प्रगट किये गये विचारो में सूत्रबद्धता होना परमावश्यक है। प्रत्येक बात निहायत सुलझे ढग से पाठक के मष्तिष्क में बिना किसी प्रयास के सरलता से उतर सके इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये। निबन्ध मे व्यक्त किये गए विचारों में पूर्वापर का सम्बन्ध होना तो आवश्यक ही है साथ ही वह तर्क की कसौटी पर कसे जाने पर पूर्ण रूप से खरे उतरें। निबन्ध मे प्रकट किये गये भावो एव विचारों में एक स्वाभाविक सूत्रबद्धता हो, यदि

कहीं से एकाध पद या वाक्य निकाल लिये जाय तो सारा पैराग्राफ झनझना उठे। प्रत्येक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ी हुई हो। क्रम पर विशेष ध्यान दिया जाय। विचार-धारा पूर्ण रूप से सुश्रृंखलित हो। अच्छे निबन्ध में किसी प्रकार की अस्पष्टता, विचारों की विश्रृंखलता एव अस्वभाविकता न होनी चाहिए।

निबन्ध मे विचारों का विकास क्रमशः होना चाहिए एवं वे विचार एक दूसरे की पुष्टि या विरोध विश्लेषणात्मक पद्धति से करते हुए दृष्टिगत होने चाहिए। जितने विचार निबन्ध मे व्यक्त किये गये हों उनमें तर्क द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है।

निबन्ध के विभिन्न अंगों में उचित अनुपात होने से लेखक को इधर उधर भटकना नहीं पड़ता। इस से निबन्ध में विषयान्तर उपस्थित होने की भी संभावना हो सकती है जो निबन्ध की सफलता मे बाधक है। प्रायः विद्यार्थी शीर्षक की उपयुक्तता पर बिना गंभीरता के विचार किए बहाव में बह चलते हैं, पृष्ठ के पृष्ठ रँगते चले जाते हैं और इस प्रकार बदले में उन्हें न्यूनतम अंक मिलते हैं जब कि लिखने मे उन्हें अधिकतम परिश्रम करना पड़ता है। प्रधान बातों की उपेक्षा करने एवं गौण बातों को विशेष तूल देने से निबन्ध निकृष्ट श्रेणी मे चला जाता है। अतएव लिखने के पूर्व ही निबन्ध मे व्यक्त होने वाले विचारों के अनुपात का विचार कर लेना चाहिए एव प्रधान तथा गौण विचारों का विश्लेषण सतर्कता के साथ करनाचाहिए। अच्छा होगा कि पहले से ही निबन्ध को प्रस्तावना, प्रसार और उपसंहार इन तीन भागों मे वैज्ञानिक ढंग से विभाजित कर लिया जाय।

१०. निबन्ध के प्रमुख अंग : (१) प्रस्तावना
(२) प्रसार
(३) उपसहार या परिणाम।

(१) प्रस्तावना :—निबन्ध लेखक को निबन्ध का प्रारम्भ बड़े ही रोचक, आकर्षक एवं सुन्दर ढंग से करना चाहिए कि जिनसे पाठक पढ़ते ही झूम जाय और उसके मन मे आगे पढ़ने को तीव्र कौतूहल उत्पन्न हो जाये। एक विद्वान का स्पष्ट मत है कि प्रस्तावना मात्र को ही पढ़कर योग्यता का अनुमान

किया जा सकता है, प्रस्तावना को हम निबन्ध की बानगी कह सकते हैं। सिनेमा के ट्रेलर की तरह निबन्ध में प्रस्तावना का असाधारण महत्व है। निबन्ध की प्रस्तावना का मुख्य कार्य सम्पूर्ण निबन्ध की ओर इंगित करता है अतएव प्रस्तावना लिखने में सफलता मिलने पर यह आशा बँध जाती है कि निबन्ध मध्यम श्रेणी से ऊपर उठा हुआ है। प्रस्तावना लिखते समय इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(१) प्रस्तावना का आकार-प्रकार अपेक्षाकृत छोटा होना चाहिए, आवश्यकता एवं अनुपात से अधिक बड़ी होने पर उसका प्रभाव पाठक पर नहीं पड़ता। विषयान्तर होने की भी सम्भावना रहती है।

(२) प्रस्तावना का प्रारम्भ सुरुचिपूर्ण एवं आकर्षक ढङ्ग से होना चाहिये। निबन्ध के मुख्य विषय से पूर्ण रीति से सुसम्बद्ध हो।

(३) प्रस्तावना की भाषा सरल, सुबोध, परिष्कृत एवं प्रवाहयुक्त हो। शब्द अर्थपूर्ण, प्रसाद गुणपूर्ण एवं बलिष्ठ हो। वाक्य छोटे-छोटे, सरस एवं आकर्षक हों।

प्रस्तावना लिखने की अनेक विधियाँ : साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक विषयों पर निबन्ध लिखते समय किसी कवि या लेखक की प्रसिद्ध रचना को उद्धृत करते हुये प्रस्तावना का प्रारम्भ करना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के द्वारा यात्रा-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन आदि निबन्धों की प्रस्तावना लिखी जा सकती है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों के निबन्धों मे प्रस्तावना लिखते समय आधुनिक युग की गति-विधियों की चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा।

वैज्ञानिक तथा गवेषणात्मक विषयों पर निबन्ध लिखते समय भूमिका का प्रारम्भ किसी विद्वान की तद्विषयक ठोस परिभाषा से होना चाहिये। तुलनात्मक विवेचनात्मक तथा सामाजिक विषयों पर लिखे जाने वाले निबन्धो मे भूमिका लिखते समय कतिपय विद्वान रोचकता उत्पन्न करने के लिये विरोधी बातों का प्रतिपादन करने लग जाते हैं।

भूमिका लिखने के विषय मे विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि बिना भूमिका के निबन्ध उसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति

बिना नमस्ते किये या शिष्टाचार प्रदर्शित किये लट्ठमार ढङ्ग से अपनी बातें करने लग जाय। शिष्टाचार या सौन्दर्य-निर्वाह के लिये भूमिका का होना आवश्यक है। दूसरी ओर डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि आज का यु व्यस्त युग के नाम से प्रसिद्ध है, हमारे पास इतना समय नही कि बात का बवन्डर करते हुए, घुमा फिरा कर अपने गतव्य स्थान पर पहुँचे। हमें बिना किसी हिचकिचाहट के सीधे और स्पष्ट ढङ्ग से अपने मुख्य विषय पर शीघ्र ही आ जाना चाहिए। चाहें तो दो चार पंक्ति भूमिका को दे सकते हैं इससे अधिक नहीं।

(२) प्रसार : निबन्ध की सारी सफलता या असफलता उसके 'प्रसार' पर ही आश्रित रहती है। 'प्रसार' निबन्ध का प्रधान अग है। इसी के आधार पर प्रस्तावना और उपसहार अपने अस्तित्व को अक्षुरण रखते हैं। जिस प्रकार बिना रीढ़ के मनुष्य नहीं टिक सकता है उसी प्रकार बिना प्रसार के निबन्ध का होना असम्भव है। 'प्रसार' ही एक ऐसी बीच की कड़ी है जो प्रस्तावना और उपसंहार की कड़ियों को आपस मे जोड़ती है। विषय का विश्लेपरण इसी के अन्तर्गत किया जाता है। लेखक की सारी योग्यता का मूल्याङ्कन इसी के सहारे होता है। निबन्धकार को चाहिये कि प्रसार लिखने के पूर्व उस विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ले, अस्त व्यस्त विचारों को क्रमशः श्रृङ्खलाबद्ध सजा ले, ऐसा न करने से उसका निबन्ध बरसाती मेढ़क की टर्र-टर्र मात्र रह जायगा जो सरगम के स्वरों की अपेक्षा न करके पाठकों की उपेक्षा का कारण बन जाता है। लेखक को चाहिये कि सर्वप्रथम निबन्ध की रूप रेखा निश्चित कर ले, प्रधान विचार और गौण विचारों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं उचित स्थान निर्धारण कर ले। प्रतिपादित विषय का भली भॉति चिन्तन कर ले। श्रीयज्ञदत्त शर्मा ने 'प्रबन्ध सागर' मे लिखा है कि 'बिना विचारे लिखने से लेखक अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता है। निबन्ध मे उतार-चढ़ाव का होना आवश्यक है परन्तु वह उतार-चढ़ाव बिल्कुल ऊबड़-खाबड़ भूमि की भाति न बन जाना चाहिए कि जिस पर चल कर पाठक मार्ग ही भूल जाय; चलते चलते अपनी टॉगे ही तुड़ा बैठे और किसी निश्चित स्थान पर न पहुँच सके। इस उतार-चढ़ाव के पश्चात् राही को उसका लक्षित स्थान दृष्टिगत होनी चाहिये।

(३) उपसंहार : उपसंहार निबन्ध का अन्तिम भाग होता है। भूमिक

से प्रारम्भ होकर प्रसार तक पहुँचते पहुँचते पाठक पहाड़ की चोटी पर चढ़ जाता है उसे उपसंहार की धरती पर लाने के लिये पर्याप्त धीरज एव स्वाभाविक सन्तुलन की आवश्यकता पड़ती है। यदि प्रसार के पश्चात् शीघ्र ही निबन्ध समाप्त कर दिया गया तो वह उसी प्रकार की निर्ममता होगी जैसे पाठक को पहाड़ की चोटी से उठाकर नंगी चट्टान पर फेक दिया जाय। 'जिस प्रकार प्रस्तावना को पढ़कर लेखक के हृदय मे निबन्ध पढ़ने की जिज्ञासा बलवती हो उठती है उसी प्रकार इस भाग को पढ़कर लेखक को यह अनुभव होना चाहिए कि उस विषय का जितना भी ज्ञान है वह सब पाठक प्राप्त कर चुका और अब उस विषय पर कोई भी बात जाननी उसके लिये शेष नहीं रही। परिणाम या उपसंहार को उपदेशात्मक प्रवृत्ति से ढालना समझदार पाठकों के मन मे एक चिढ़ सी पैदा कर देता है। बहुत से निबन्धकार उपसंहार का भार पाठको के ऊपर ही छोड़ देते हैं। कतिपय निबन्ध लेखक उपसहार के रूप में निबन्ध का सारा निचोड़ रख देते हैं। पाठकों की जिज्ञासा को शात करने के लिए उपसंहार को पूर्ण रूप से सशक्त बनाना ही निबन्ध की पूर्णता का प्रतीक है।

१५ निबन्धों के प्रकार : इस विषय मे निश्चित रूप से क्या कहा जाय ? जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार भी हो सकते हैं। आकाश के तारों की भाँति इनकी संख्या भी अनन्त हो सकती है। इस विषय पर श्री ठाकुर-प्रसाद सिंह की 'हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार' नामक पुस्तक की भूमिका मे पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने लिखा है कि :—

'जनतन्त्र का जमाना है, छापे की मशीनों की भरमार है। कह सकने की योग्यता रखने वाले हर भलेमानस को किसी न किसी विषय पर कुछ न कुछ कहना है। हर छापे की मशीन को अपना पेट भरने के लिए कुछ न कुछ छापना है। सो राज्य भर के विषयों पर निबन्ध लिखे जा रहे हैं। कहाँ तक कोई सब का लेखा-जोखा मिलाए। सभी विचार किसी न किसी निबन्ध शैली मे लिखे जाते हैं। जब कार्लाइल ने कहा था कि निबन्धो को देखकर किसी साहित्य की गहराई का अनुमान किया जा सकता है तो निश्चय ही उसने हर गद्यबद्ध रचना को निबन्ध नही माना था। उस महान् विचारक के मन मे ऐसी गद्य रचनाएँ थीं जिनमे केवल प्रलाप नही होता, केवल उथले विचारों

का संकलन नही होता, बल्कि जिनमे गम्भीरतापूर्वक कार्य-कारण की श्रृङ्खला का ध्यान रखते हुए विचार निबद्ध किये जाते हैं और उन निबद्ध विचारों की रीढ़ लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है। ये दो ही बातें निबन्ध का प्राण हैं। उनमे या तो विशुद्ध ऊहापोहमूलक चिन्तन हो या फिर लेखक का अपना व्यक्तित्व प्रधान हो उठा हो। निबन्ध मे कभी एक बात प्रधान हो उठती है कभी दूसरी, पर किसी न किसी रूप में ये दोनों रहती अवश्य हैं। जिस साहित्य में ऐसे निबन्ध नही होते उसको बहुत समृद्ध साहित्य नहीं कहा जा सकता।'

लेखक का दृष्टिकोण वस्तु के अनुरूप ही बदलता रहता है इसीलिए निबन्ध में शैली एवं विषयगत विभिन्नता आ जाती है। सामान्य रूप से निबंध के तीन प्रकार माने गये हैं:—

१—वर्णनात्मक

२—कथात्मक या विवरणात्मक

३—व्याख्यात्मक या विचारात्मक

१—वर्णनात्मक निबन्ध : जिन निबन्धों में किसी वस्तु विशेष, प्राकृतिक दृश्य विशेष, यात्रा, प्रदर्शिनी, त्यौहार, किसी मेले का वर्णन आदि का सजीव वर्णन किया जाता है उन्हें वर्णनात्मक निबन्ध कहते हैं। इस प्रकार के निबन्धों मे जैसी हमें कोई वस्तु दिखाई देती है ठीक ज्यों की त्यों उसी प्रकार चित्रण कर देने की पद्धति को प्रधानता दी जाती है। जिस विषय का सांगोपाग वर्णन उपस्थित किया जा रहा है उसमें कभी-कभी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का समावेश करना पड़ता है। वर्णन-शैली में रोचकता लानी पड़ती है साथ ही अन्य लेखकों एवं कवियों की रचनाओं से उद्धरण भी देने पड़ते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में वस्तुओं तथा घटनाओं का वर्णन बहुत आकर्षक ढङ्ग से किया जाता है ताकि आदि से अन्त तक पाठक का मन उसमें रमा रहे।

(२) कथात्मक या विवरणात्मक निबन्ध : इस प्रकार के निबन्धों में प्राचीन एव आधुनिक सत्य अथवा काल्पनिक कथाओं, घटनाओं, युद्धों, यात्राओं, ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक आख्यानों आदि का समावेश किया जाता है। इसमें एवं वर्णनात्मक निबन्ध मे यही अन्तर है कि वर्णनात्मक निबन्ध में यथातथ्य निरूपण को विशेष महत्व दिया जाता है किन्तु इसमें कल्पना का सहारा लिया जाता है। विवरणात्मक

निबन्धों में कार्य कारण का सम्बन्ध दिखलाते हुए एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना का क्रम से वर्णन उपस्थित किया जाता है। जहाँ कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित होने में कोई बाधा पहुँचती है वहाँ पर लेखक उसके समान ही कोई अन्य दृष्टान्त देकर भ्रम दूर कर देता है। कथात्मक निबन्ध में सबसे आवश्यक ध्यान देने की बात यह है कि विवरण उपस्थित करते समय एक शृंखला रहे, जो कहीं भी किसी दशा में न टूटे, कथा का प्रत्येक भाग दर्पण की तरह स्वच्छ होना चाहिए जिसमें लेखक के मनोगत भाव स्पष्ट प्रतिबिम्बित हों।

(३) विचारात्मक निबन्ध : इस प्रकार के निबन्ध में किसी अमूर्त विषय का वर्णन किया जाता है जैसे आशा, चिन्ता, कविता, कला, साम्यवाद, समाजवाद, गाँधीवाद, परोपकार, देशभक्ति, अहिंसा, असहयोग-आन्दोलन, सह-शिक्षा, बेरोजगारी की समस्या आदि। विचारात्मक निबन्धों मे विचार एवं चिन्तन की प्रधानता रहती है, उपस्थित विषय का विश्लेषण वैज्ञानिक ढग से उपस्थित किया जाता है। प्रायः मानव-समाज के मूलतत्वो का समावेश विचारात्मक निबन्धों मे किया जाता है। विवेचन के द्वारा प्राकृतिक नियमो को खोजकर कुछ निश्चित सिद्धान्तों का निर्धारण कर लिया जाता है। तदनतर उन्हीं सिद्धान्तो के आधार पर निबन्ध तैयार किया जाता है। इस प्रकार के निबन्धों मे कुछ पारिभाषिक शब्दावली का भी उपयोग किया जाता है जो आकार-विहीन विषयों का ज्ञान कराने के लिए उनकी योग्यता एवं प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हैं। मूल तत्त्वो की खोज किये बिना लेखक इस प्रकार के निबन्धों मे असफल ही रहेगा क्योंकि ऐसे निबन्धों मे तो नियमों तथा सिद्धान्तो की परस्पर तुलना करके वैज्ञानिक प्रणाली के माध्यम से विवरण उपस्थित किया जाता है।

कुछ विद्वान् निबन्धों के एक अन्य प्रकार (तार्किक) की भी चर्चा करते हैं किन्तु यह विचारात्मक निबन्धों के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। तार्किक में तर्क की ही प्रधानता रहती है और तर्क विवेचन, विचार या चिन्तन का पर्याय ही है।

१२. निबन्ध लिखने की शैलियाँ : प्रत्येक निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से होती है, भिन्न भिन्न मनुष्यो का व्यक्तित्व भिन्न भिन्न

होता है तदनुसार शैलियों मे अनेकता आना भी स्वाभाविक है। निबन्ध में शैली का विचार एक आवश्यक महत्व रखता है।

निबन्ध रचना का मुख्य उद्देश्य पाठकों तक लेखक के भावों या विचारों को पहुँचा देना है। भावों या विचारों के प्रकटीकरण का मुख्य माध्यम भाषा है। भावों की श्रेष्ठता अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता पर आश्रित है, क्योंकि जैसा अभिव्यक्ति का साधन होगा उसी के अनुरूप भाव भी होंगे अतएव लेखक का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना नितान्त आवश्यक है। निबन्ध के लिए भी पहली आवश्यक वस्तु भाषा है। भाषा पर पूर्ण अधिकार होने पर सीधे सादे सरल ढग से भी भावों की प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति की जा सकती है। यदि लेखक की भाषा परिपक्व नहीं है तो वह कभी भी अपने मनोगत भावों को सुचारु रूप से व्यक्त नहीं कर सकता, और न उसके विचारों में प्रौढ़ता ही आ सकती है। भाषा की दृष्टि से शैलियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ निबन्ध लेखक सरल भाषा का प्रयोग करते हैं, कुछ क्लिष्ट भाषा के प्रयोग मे ही अपना गौरव समझते हैं, कोई मुहावरेदार वाक्य लिखने के पक्ष मे होते हैं तो कोई बात बात में पहेली बुझाते चलते हैं। किसी लेखक की भाषा में संकेतात्मकता रहती है तो किसी की भाषा अलंकारों के अनावश्यक भार से संत्रस्त रहती है। भाषा की दृष्टि से शैली का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) शुद्ध सस्कृत शैली	(२) सरल भाषा शैली.
(३) मिश्रित शैली	(४) सुसंगठित एव गुम्फित शैली
(५) अलंकार प्रधान शैली	(६) उक्ति प्रधान शैली
(७ संकेतात्मक शैली	(८) मुहावरेदार शैली

विचारों के दृष्टिकोण से शैली के निम्न प्रकार हो सकते हैं :

(१) सरल शैली	(२) विश्लेषणात्मक शैली
(३) विचार गुम्फित शैली	(४) अस्तव्यस्त शैली
(५) क्रमवद्ध शैली	(६) व्यक्तित्व प्रधान शैली
(७) पाडित्यपूर्ण शैली	(८) विचारविहीन शैली

निबन्ध लिखने के लिये दूसरी आवश्यक वस्तु विषय का प्रतिपादन है,

विषय के बिना भाषा का कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार भाषा और विषय के पारस्परिक सहयोग से निबन्ध का निर्माण होता है।

निबन्ध लिखने में तीसरी वस्तु लेखक की विषय के चुनाव की रुचि एवं भाषा लिखने का ढंग है। शैली के विचार से निबन्ध को विषय अथवा उसकी भाषा के आधार पर ही बाँटा जा सकता है। साहित्य में शैली विचारों के उस स्पष्टीकरण को कहते हैं जिसके द्वारा भावों, विचारों एवं अभिव्यक्ति में विषय के अन्दर रोचकता, रमणीयता एवं आकर्षण पैदा हो जाय। निबन्ध में शैली का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक निबन्ध लेखक को अपनी विशेष शैली का निर्माण करना चाहिये। अंग्रेजी की एक उक्ति के अनुसार शैली ही व्यक्ति है (style is the man)। शैली के द्वारा ही निबन्ध लेखक का व्यक्तितत्व स्पष्ट होता है। शैली के अन्तर्गत वाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों का समावेश किया जा सकता है।

शैली के सहायक अंग : (१) अलकार (२) अर्थ चमत्कार (३) ध्वनि चमत्कार (४) वाक्य सौन्दर्य।

(१) अलंकार :—शैली के सौंदर्य को बढ़ाने के लिये अलकार का स्थान महत्वपूर्ण है। अलंकारों का आधिक्य भाषा के स्वाभाविक सौंदर्य को बिगाड़ देता है किन्तु सन्तुलित ढंग से यदि अलंकारों का प्रयोग किया जाय तो भाषा में सौंदर्य एव निखार पैदा हो जाता है। डा० श्याम सुन्दरदास ने कहा है कि जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौदर्य की वृद्धि करते हैं, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते है तथा रस भाव और आनन्द को उत्तेजित करते हैं।

(२) अर्थ चमत्कार : बहुत से लेखक शब्दों का चुनाव इस ढंग से करते हैं कि वाक्यों में बहुधा शब्दों से कई कई अर्थ निकलने लगते हैं। श्लेषयुक्त शब्दों के प्रयोग से लेखक का भाषा पर असाधारण अधिकार मालूम पडता है। लेखक के इस गुण से पाठक का मन अत्याधिक प्रभावित होता है किन्तु कभी कभी अर्थ चमत्कार की अधिकता चिढ़न एवं ऊब का कारण भी बन जाती है।

(३) ध्वनि चमत्कार : शब्दों में ध्वनि वही लेखक या कवि पैदा कर सकता है जिसके इंगित मात्र से शब्द नाचते हों, जिसकी भाषा दासी हो।

तुलसीदास की प्रस्तुत चौपाई का ध्वनि चमत्कार स्पृहणीय है। इसमें शब्द अलग बोलते हैं और भाव अलग :—

कंकन किंकिन : नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
ध्वनि चमत्कार से निबन्ध में एक अद्भुत कान्ति पैदा हो जाती है। शैली का सौंदर्य सौगुना बढ़ जाता है।

(४) वाक्य-सौंदर्य : लेखक की वाक्य-योजना सुसगठित, कसी हुई एवं क्रम बद्ध होनी चाहिए। उसका हर एक वाक्य इतना सजीव होना चाहिये कि पढ़ते ही उसी प्रकार का चित्र पाठकों के नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाय। एक वाक्य में अनेकों विचारों के समावेश से जटिलता उत्पन्न हो जाती है, शैली में नीरसता आ जाती है एवं भाषा का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना तो बनी ही रहती है।

पद योजना : निबन्ध का सबसे छोटा अंग पद है, लेखक को सबसे पहले उपयुक्त पद योजना पर ध्यान देना पड़ता है तत्पश्चात् वाक्य-विन्यास एवं पैराग्राफ आदि पद योजना के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं दिया जा सकता। निबन्ध साहित्य में हमें एक वाक्य के पद से लेकर कई पृष्ट तक के पद मिलते हैं। पद का विस्तार बहुत कुछ उसके विषय एवं स्पष्टीकरण के ढंग पर निर्भर है। आजकल निबन्धों मे बड़े बड़े लम्बे चौड़े वाक्य हमें देखने को नहीं मिलते। अच्छा ही है, छोटे पद लिखने से विषय स्पष्ट होता चलता है, पाठक को पूर्वापर का ध्यान रखने के लिये व्यर्थ मस्तिष्क नहीं खपाना पड़ता। बड़े-बड़े लम्बे चौड़े पदों में जहाँ भारीपन, नीरसता और अस्वाभाविकता आने की संभावना रहती है, वहाँ छोटे पदो के बाहुल्य से विशृंखलता, ओछापन आदि का भाव आ जाने का अंदेशा रहता है, इस कुएँ और खाई वाली भीषण परिस्थिति में मध्यम मार्ग ग्रहण करना लाभदायक होता है। इसलिये पद का विस्तार अपेक्षाकृत न अधिक हो और न कम ही, साथ ही सभी पदो का विस्तार एक सा नहीं। उसमें विभिन्नता रहे। प्रत्येक पद विषय को पिछले पद क्रमशः आगे बढ़ाता हुआ चले, आशय की एकता और क्रमबद्धता स्पष्ट हो। आशय की पुनरावृत्ति या असम्बद्धता निबन्ध को बिगाड़ देती है। पदों में परस्पर सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। प्रत्येक पद अपने आप में स्वतंत्र हो किन्तु स्वाभाविक रूप से दूसरे पद के विकास में सहायता पहुँचावे।

इस विषय में गुलाबराय जी के 'भाषा और शैली' सम्बन्धी विचार अनुकरणीय हैं :—

भाषा और शैली की उत्तमता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचारों की। उत्तम भाषा और शैली से लेखक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और पाठको के हृदय की ग्राहकता बढ़ जाती है अशुद्ध और अस्पष्ट भाषा सुन्दर से सुन्दर विचारो की आकर्षकता को नष्ट कर देती है और वे विचार मरुभूमि में अस्पष्ट पड़े बीजो की भाँति अनुत्पादक रह जाते हैं। भाषा में सबसे पहले इस बात की जरूरत है कि वह सर्वसाधारण के समझने योग्य हो। यद्यपि क्लिष्ट विषय के लिये क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पडता है तथापि साधारण विचार को अंलकारों के आवरण में छिपा देना अथवा पाडित्य प्रदर्शन के हेतु पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करना उचित नही।

शब्दों मे अर्थ की उपयुक्तता के साथ ध्वनि की मधुरता भी वाञ्छनीय है यद्यपि ध्वनि के लिए अथ का बलिदान करना श्रेयस्कर नही है तथापि जहाॅ तक निभ सके, एक स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों का एक साथ आना और श्रवण-सुखद के बाद बड़े शब्दो का रखना श्रेयस्कर होगा। जैसे अनुगामी और सेवक के स्थान पर सेवक और अनुगामी अधिक श्रुति-मधुर है। अनुप्रास शैली का गुण है किन्तु उसका बाहुल्य शैली का दोष हो जाता है। एक से शब्दो की पुनरावृत्ति एकतानता (monotony) उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार गद्य में तुकबन्दी के शब्द अग्राह्य हो उठते हैं।

मुहावरों का प्रयोग भाषा की शक्ति को बढ़ा देता है, चिरकाल से प्रयुक्त होने के कारण उनके व्यवहार में आत्मीय के मिलन का सा आनन्द प्राप्त होता है। अपने विषय का प्रतिपादन करते हुए जोश में न आना चाहिए। बहुत भावोत्तेजक शब्द लिखना शिक्षा की कमी का द्योतक होता है। हा! अहो! भाइयो! पाठको आदि शब्दो का व्यवहार किये भी भाषा जोरदार बनायी जा सकती है। गाम्भीर्य रखते हुए कही हास्य का पुट आ जाना सोने में सुगन्ध का काम करता है। उससे पढ़ने वाले पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और वह ऊब नहीं पाता। हास्य जहाॅ तक साहित्यिक हो वहाॅ तक अच्छा है। अच्छी रचना मे बुद्धि कल्पना और ज्ञान की बातों का सुखद सम्मिश्रण रहता है। कल्पना पर प्रभाव डालने के लिये भाषा मे चित्रोपमता लाना आवश्यक होता है। सूक्ष्म

सिद्धान्त की अपेक्षा स्थूल चित्र कल्पना को अधिक ग्राह्य होते हैं। आनन्द लूटना, सौरभ बिखेरना, रूप सुधा का पान करना, कार्य भार से दबना, कार्य संचालन करना आदि प्रयोग कल्पना को चित्रों द्वारा प्रभावित करने के उदाहरण हैं। ऐसे प्रयोगो मे भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लिया जाता है। लक्षणा और व्यंजना के सफल प्रयोग से गद्य मे भी काव्य का सा आनन्द और चमत्कार आ जाता है। अन्धे का दुख गूँगा होकर आया, वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है' आदि वाक्यों पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

शैली के गुण-दोष : शैली के आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले तीन गुण भारतीय काव्य शास्त्र में माने गये हैं। वे हैं (१) ओज (२) माधुर्य (३) प्रसाद।

(१) ओजः—जो रचना उत्साह वर्द्धन में सहायक हो, जिसको पढ़कर मृतक शिराओ में भी नवीन प्राणो का सचार हो जाय। इस प्रकार इसमें उग्रता, आवेश एवं उत्साह की भावना प्रधान रहती हैं। वीर, रौद्र, वीभत्स रस का संचार होता है।

(२) माधुर्यः—माधुर्य के अन्तर्गत शृङ्गार, शान्त एवं करुण रस आते हैं। इसको पढ़कर हृदय में मधुरता का संचार एव कटुता का परिहार होता है। इस शैली में लिखी गयी रचना को पढ़कर एक अनिर्वचनीय स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होती है जिससे तन-मन-प्राण जुड़ा जाते हैं।

(३) प्रसादः—सरलता इस शैली का प्रधान गुण है। इस शैली मे लिखी गई रचनाएँ सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य होती हैं। तुलसीदास जी का 'मानस' प्रसाद गुण युक्त शैली मे लिखा होने के कारण ही जन जन का कंठहार बना हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार शैली का विभाजन इस प्रकार है :—

(१) सरलताः—निबन्ध को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने के लिए लेखक सरल से सरल शब्दो एवं भावों मे अपने विचारों को व्यक्त करता है। सरल शैली में लिखा गया निबन्ध पाठक के लिए सहज साध्य बन जाता है, एव वह उसे शीघ्र आत्मसात् कर लेता है। शब्दों का वाग्जाल एवं अनर्गल पांडित्य-प्रदर्शन कभी कभी पाठको को व्यर्थ के बन्धन में फँसा देता है।

(२) स्पष्टता :—स्पष्टता शैली का दूसरा गुण है, स्पष्ट शैली मे लिखा

गया निबन्ध पाठक के हृदय में सीधा प्रभाव डालता है। बिना किसी घुमाव फिराव एवं झिझक के लेखक पाठक का शीघ्र ही आत्मीय बन जाता है।

(३) प्रांजलता :—इस शैली के सहारे निबन्धकार जटिल से जटिल भावों को पाठक के सामने इतनी स्पष्टता से खोलकर रख देता है कि वह बिना किसी भ्रम के सहज ही में उसे अपने मस्तिष्क में उतार लेता है।

(४) प्रभावोत्पादकता :—इसी गुण से प्रभावित होकर पाठक किसी लेखक की रचना को अपने जीवन का पथ प्रदर्शक एवं वेद वाक्य के रूप में ग्रहण कर लेता है। महान् प्रयास एवं शब्द-साधना के पश्चात् यह गुण किसी लेखक की शैली में आ पाता है। वाक्य एव शब्द की दृष्टि से शैली में ये गुण होने आवश्यक हैं :—

वाक्य सम्बंधी:—(१) वाक्यों की योजना विषयानुकूल हो। पुनरावृत्ति न हो।
(२) एक वाक्य में एक ही विचार प्रगट किया जाय।
(३) वाक्यों मे एक शृंखला एवं क्रमबद्धता हो। अस्त-व्यस्तता से पाठकों की समझ कुंठित हो जाती है।
(४) अर्थ की स्पष्टता का विशेष ध्यान रक्खा जाय।
(५) वाक्य रचना में लिंग, वचन, क्रिया के अतिरिक्त शब्द-स्थान का भी विशेष ध्यान रक्खा जाय। विरामों के प्रयोग भी किये जायँ।
(६) यथासाध्य वाक्यो को सरल, स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक बनाया जाय।

शब्द सम्बंधी :—(१) शब्दों के चुनाव में सजीवता, रोचकता एवं स्पष्टता का ध्यान रखना चाहिए।
(२ विषयानुकूल शब्दो का चुनाव आवश्यक है।
(३) शब्दो के चुनाव मे ध्वनि तथा अर्थ चमत्कार का यथासभव समावेश हो।
(४) पुनरावृत्ति, पाडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति एवं वाग्जाल से बचना चाहिए!
(५) कर्ण कटु, अश्लील एवं ग्रामीण शब्दों का प्रयोग बचाना चाहिए।

(६) कठिन शब्दों का प्रयोग प्रायः निबन्ध को बिगाड़ देता है।

अन्य :—(१) विदेशी भाषाओं से उद्धरण देते समय इस बात पर विचार कर लेना चाहिये कि उस स्थल के लिए वे कहाँ तक उपयुक्त हैं। साथ ही प्रसंग एवं भावो स उनका कहाँ तक मेल बैठता है इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए।

(२) भाषा मे स्पष्टता, एवं प्रभावोत्पादकता होना नितान्त आवश्यक है।

(३) शैली मे ओज माधुर्य प्रसाद गुणों का होना अनिवार्य है।

(४) प्रत्येक निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप होनी आवश्यक है।

शैली के दोषों पर प्रकाश डालते हुए श्री यज्ञदत्त शर्मा ने अपने 'प्रबंध सागर' मे इस प्रकार लिखा है :—

(१) कठिन भाषा और कठिन शब्दों का प्रयोग करना।

(२) निरर्थक लम्बे लम्बे वाक्य लिखकर पांडित्य छाँटना।

(३) वाक्यों या शब्दों से उचित अर्थों का स्पष्ट न होना।

(४) कई कई बार एक ही शब्द का प्रयोग करना।

(५) ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करना।

(६) व्याकरण सम्बन्धी गलतियों का करना।

(७) वाक्यों का आपसी सम्बन्ध ठीक न जुड़ना।

(८) किसी मे कई कई भावों का आ जाना और किसी मे एक का भी स्पष्ट न होना।

(९) कठोर शब्दों का बार बार प्रयोग करना!

(१०) स्थानोपयुक्त भाषा का प्रयोग न करना।

(११) लेख का तारतम्य ठीक न बाँधना।

(१२) विचारो का ठीक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित न होना।

हिन्दी में निबन्ध साहित्य :—इस विषय पर आगे एक निबन्ध लिखा गया है। इसलिये यहाँ पर उसकी चर्चा करने की आवश्यकता न समझी गयी।

काव्य एवं उसके विभिन्न तत्व

काव्य की एक सीमित परिभाषा देना मानो उसका अपमान करना है। 'वादे वादे जायते तत्व बोधः' के अनुसार दृष्टिकोणों की विभिन्नता प्रबुद्ध युग की विशेषता है और भारतीय मनीषा की यह अपनी देन है :—

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

उपर्युक्त कथन हठात् स्मरण हो उठता है जब काव्य को परिभाषा के चौखटे में कसने का कृत्रिम प्रयत्न किया जाता है। "क्षणे क्षणे यन्नवता उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" की भाति काव्य शाश्वत है, चिरन्तन है। 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगः शाश्वतीं समाः' से लेकर 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान, निकल कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान' तक काव्य अपने व्यक्तित्व को बिखेरे बैठा है। आँसुओं से इसका जन्म होता है। मानव हृदय के शिथिल पत्राक मे पड़ी 'जुही की कली' की तरह उषा की अँगड़ाइयों के साथ यह उदय हो जाता है।

(१) आचार्य गुलाब राय के शब्दों में हम 'मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनन्द प्रदायिनी सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति को 'काव्य' की संज्ञा दे सकते हैं। काव्य में भाव का प्राधान्य रहता है। भावुकता, भावना और कल्पना से काव्य का घनिष्ठ संबंध है: -

काव्य के दो पक्ष हैं :—

१) भाव पक्ष : अनुभूति पक्ष = भावुकता + विचारशीलता।

(२) कला पक्ष : अभिव्यक्ति पक्ष = शब्द रचना + वाग्चातुर्यादि।

(३) भाव और कला पक्ष के सामञ्जस्य का नाम 'काव्य' है। प्राच्य समीक्षकों के मत ऊपर दिये जा चुके। पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार काव्य के चार तत्व इस प्रकार हैं :—

(१) रागात्मक तत्व : अनुभूति।

(२) कल्पना तत्व : नवीन चित्रों एवं विचारो की सृष्टि।

(३) बुद्धि तत्व : अनुभूति+अभिव्यक्ति, इन दोनो के औचित्य का सन्तुलन ।

(४) शैली तत्व : रचना चातुरी और अभिव्यक्ति का साधन प्रस्तुत करना।

प्राच्य समीक्षक—भाव ही काव्य की आत्मा है और कला शरीर। जिस प्रकार आत्मा बिना अनुरूप शरीर के अपना अस्तित्व नहीं रखती, आत्मा की अनुपस्थिति में कटाक्षकीलिता कामिनियों के कलित-ललित, सुरभि-सुवासित शरीर भी हेय, त्याज्य एवं घृणा के सहधर्मी बन जाते हैं। शरीर बिना आत्मा के लोष्टवत् है अतः हमारे यहाँ के आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेषता दी है। एक ही आत्मा नर, पशु, पक्षी, कीट, कुंजर, देव, दैत्य में रहकर अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखती है किन्तु बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना 'धृताधारं पात्रं वा पात्राधार धृतं वा' का विषय बन जाता है। काव्य में उच्च संदेश तथा अनुभूतियों का होना आवश्यक है किन्तु ये बिना अनुरूप भाषा के अपना व्यक्तित्व नहीं रख सकते। अतः भावों की अभिव्यक्ति के लिये भाषा साधन स्वरुप है। साधन साध्य दोनों परमावश्यक हैं, जिस प्रकार सुचारु रूप से चलने के लिये दोनों पैर आवश्यक हैं उसी प्रकार काव्य के लिए भाषा और भाव का सामजस्य अनिवार्य है।

पाश्चात्य समीक्षक—(१) रागात्मक तत्व कविता का प्राण है इसी को भाव तत्व की भी सज्ञा दी जाती है। काव्य में कितने ही मौलिक विचारों का प्रतिपादन क्यों न किया गया हो, अनुपम चित्रों की झाँकी भले ही सजाई गई हो परन्तु जब तक उसमें ममस्पर्शिता न होगी तब तक वह काव्य नही वरन् झाँझ की झंकार है।

रागात्मक तत्व ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके बारे में कहा जाता है कि :—

किंधौं सूर कौ पद लग्यो, रहि रहि धुनत शरीर।

रागात्मकता के कारण ही सूर के पद सुनने मात्र से शरीर धुनने की नौबत आ जाती है।

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी॥

पढने मात्र से रानी जाति की सारी करुणा सिमटकर एक ठौर हो जाती है। उत्तमोत्तम काव्य में रागात्मक तत्व की प्रधानता रहती है और अन्य तत्व गौण रहते हैं।

(२) कल्पना तत्व : यही तत्व कविता मे रमणीयार्थ उपस्थित करता है। किसी कवि की कविता श्रेष्ठ अनुभूतियों से भले हो पूर्ण हो, परन्तु जब तक उसकी कल्पना-शक्ति बलशाली नही होती तब तक वह उस अनुपम अनुभूति का आस्वादन पाठक या श्रोता तक नही करा सकता। 'कविहि अरथ आखर बल साँचा' कहकर गोस्वामीजी ने इस विषय को पर्याप्त स्पष्ट कर दिया है। कवि जब कल्पना के आश्रय से एक विचित्र चित्र चित्रित करता है तभी उसमे नवीन भावों को जाग्रत करने की शक्ति पैदा होती है। 'कनक भूधराकार शरीरा' मे कनक भूधर के माध्यम से कवि एक ऐसे चित्र का अनावरण करता है कि हमारे सामने कुम्भकरण अट्टहास करता हुआ आ जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि कल्पना तत्व काव्य मे विचारो को जाग्रत करता है। इसके अभाव मे ही श्रेष्ठ अनुभूति सम्पन्न सन्त कवि जनता के उतने निकट न आ सके जितने कि भक्ति कवि सूर या तुलसी।

(३) बुद्धि तत्व : बुद्धि तत्व रागात्मक तत्व की लता को जीवन देने का कार्य संपन्न करता है और कल्पना तत्व के व्यक्तित्व को विकासोन्मुख करता है। तुलसीदास के काव्य मे बुद्धि तत्व ही उसे श्रेष्ठता देने वाला है। रामायण बनाई नहीं गई, बन गई है।

रामचरितमानस के बुद्धितत्व ने ही गोस्वामी जी को अनेक मर्मस्पर्शी स्थलों के चित्रों के उपस्थित करने का अवसर प्रदान किया है। तुलसी के राम जनता के राम बन गये। रागात्मक तत्व, बुद्धितत्व, कल्पना तत्व ये तीनों भावपक्ष के अन्तर्गत आते हैं।

(४) शैली तत्व : रचना शैली ही काव्य का शरीर है। यदि शरीर स्वस्थ और पुष्ट न होगा तो फिर उसके अन्दर निहित प्राणरूपी काव्य कब तक सजीव रह सकेगा? काव्य मे रचना शैली का महत्व उसकी चमत्कारोत्पादक शैली पर आश्रित है पर उसका सौन्दर्य और चमत्कार तभी तक प्रशंसनीय है जब तक वह भाव सौन्दर्य को अक्षुण्ण रक्खे। कलात्मक भाषा विचार को

सुन्दर ढंग से प्रकाशित करती है, कल्पना को तीव्र करती है और रागात्मक की वृद्धि करती है।

प्राच्य आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा :—

(१) आचार्य विश्वनाथ :—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

रसात्मक पक्ष = वाक्य, अभिव्यक्ति = रस

इसमें व्यापक 'रस' शब्द की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

(२) पंडितराज जगन्नाथ :—

रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

व्यापक परिभाषा :—रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

(३) आचार्य मम्मट :—

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलंकृती पुनःक्वापि' जो कविता दोषरहित और गुणशाली हो तथा जिसमे कहीं कहीं अलंकार न भी हों।

आलोचना—(१) अदोषौ एक अभावजन्य गुण है, उच्चकोटि की बहुत सी कविताओ मे भी कुछ न कुछ दोष दृष्टिगत हो जाते हैं तो क्या वे काव्य की संज्ञा से विभूषित न होंगी ?

(२) जब कभी कभी अलंकारो के बिना भी काव्य जी सकता है तो उसके कहने की क्या आवश्यकता ? परिभाषा में तो वही वस्तुएँ आनी चाहिए जो नितान्त आवश्यक हों।

पाश्चात्य आचार्य :—

(१) कविता पद्यमय निबन्ध है—जानसन

(२) कविता संगीत मय विचार है—कारलायल

(३) कविता कल्पना शक्ति द्वारा उदात्त मनोवृत्तियों के श्रेष्ठ आलंबनो की व्यंजना है।

—रस्किन

(४) कविता उत्तमोत्तम शब्दो का उत्तमोत्तम क्रम विधान है— कालरिज

(५) काव्य शान्ति के समय स्मरण किए गए प्रबल मनोवेगों का स्वछन्द प्रवाह है।

—वड्सवर्थ

(६) कविता वह कला है जिसमें कल्पना शक्ति विवेक की सहायता लेकर सत्य और आनन्द का परस्पर सम्मिलन कराती है।

—मिल्टन

(७) कविता जीवन की आलोचना है।

—मैथ्यू आरनोल्ड

(८) कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है

—डा० जानसन

(९) कविता मनोमय वेग और सगीतमय भाषा में मानव अन्तःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यजना है।

(१०) जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की उसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।

—पडित रामचन्द्र शुक्ल

(११) शेक्सपियर ने कल्पना को प्रधानता देते हुए लिखा है कि कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को साकार करती है। उसकी लेखनी वायवी नगण्य, अस्तित्व शून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करती है। और सगीतमय विचार की व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि सगीतमय विचार उस मन का होता है जो वस्तुओ के अन्तस्तल मे प्रवेश करके उनका रहस्य जान चुका है। उन्होंने संगीत को अलकार रूप मे नहीं माना वरन् छन्द और गति को भी गौरव प्रदान किया है।

काव्य को आत्मा : (१) भरत मुनि और उसके पीछे आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना

(२) दंडी, भामह और केशवदास ने अलकार को काव्य की आत्मा कहा :—

'भूषन बिन न विराजई, कविता बनिता मित्त'

(३) बात को वैदग्ध एव सौन्दर्य युक्त ढङ्ग से कहने वाली शैली वक्रोक्ति को कुन्तल या कुन्तक ने काव्य की आत्मा स्वीकार की :—

'अगुल्या कः कपाट प्रहरति कुटिलो माधव किं वसन्तो'

(४) 'वामन ने' रीतिरात्मा काव्यस्य' कहा।

(५) ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति', स्वीकार किया।

विशेष—ध्वनिकारों ने रस ध्वनि को विशेष महत्ता दी और रसवादियों ने रस को व्यंग्य मानकर ध्वनि का महत्व स्वीकार किया। अभिव्यक्ति (रीति) को भी रस के पोषक और सहायक रूप में स्वीकार किया। अलंकार, वक्रोक्ति और रीति सम्प्रदायों ने अभिव्यक्ति पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया है। ध्वनि सम्प्रदाय योरोप के कल्पनावादियों के अधिक निकट आता है, क्योंकि ध्वनि मे कल्पना का प्रयोग अधिक होता है।

पाश्चात्य भेद :—(१) विषयीगत (Subjective) अन्तर्मुखी (गीतिकाव्य)।

(२) विषयगत (Objective) बहिर्मुखी (प्रबन्धकाव्य)।
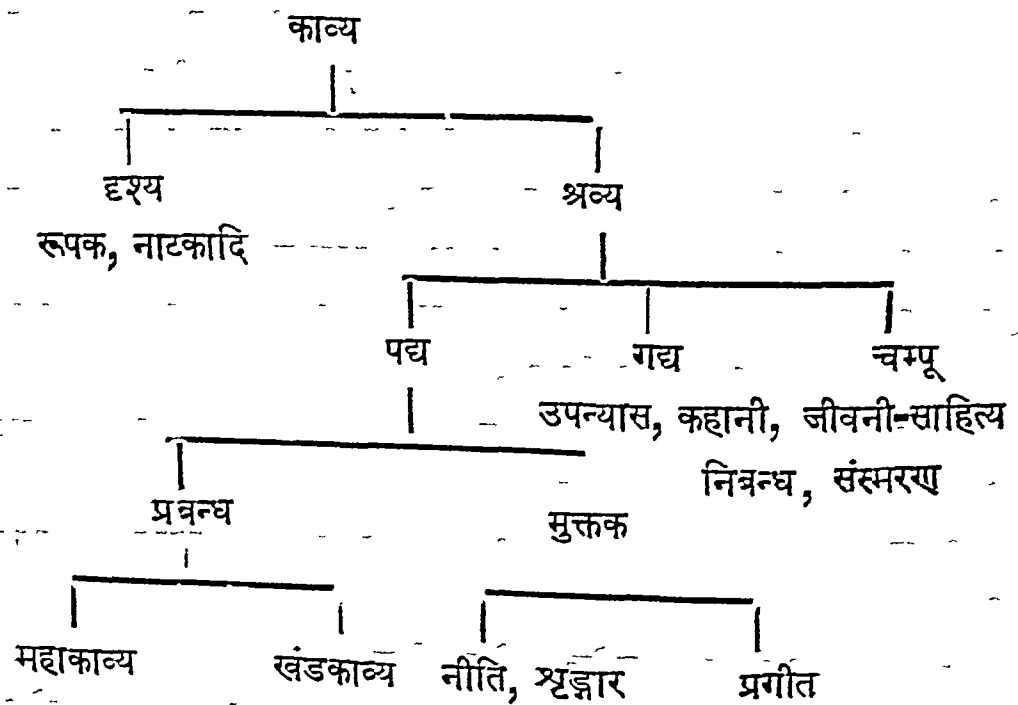
साहित्य एवं विज्ञान पर एक तुलनात्मक दृष्टि

भारतीय हिन्दी साहित्य जिस दिशा मे प्रगतिशील हुआ है इस बात का ध्यान हमें अपने आधुनिक ग्रन्थो के अवलोकन से लगता है। श्री प्रेमचन्द जी के उपन्यास, गुप्त जी के महाकाव्य, खण्ड काव्य, प्रसाद जी की कामायनी, महादेवी, पंत, निराला जी के गीति काव्य, डा० रामकुमार वर्मा के एकाकी नाटक, आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक निबन्ध ये सब उसी परम्परा के प्रतीक हैं, जिस पथ से हिन्दी साहित्य प्रगतिशीलता की ओर प्रशस्त हुआ है और उन्होंने वे अक्षुण्ण शक्तियाँ प्रदान की हैं जिससे साहित्य मे सत्यं शिवं सुन्दरं की प्रतिष्ठा हुई है।

इस प्रकार साहित्य के मुख्यतया चार भाग हो सकते हैं :—

(१) काव्य

(२) उपन्यास, कहानी, स्केच (शब्द चित्र)

(३) नाटक एवं एकांकी

(४) समालोचना तथा निबन्ध

इन्हें हम ललित साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं रसायन शास्त्र आदि आते हैं।

संस्मरण, यात्रा वर्णन, जीवनी साहित्य एक पृथक साहित्य की स्थापना करते हैं।

जहाँ तक मानव मस्तिष्क की व्यापकता का क्षेत्र है वहीं तक साहित्य का व्यापक प्रसार है, यह साधना गत हजारों वर्षों से चली आ रही है और सदैव चलती जायगी। आज का थोड़ा बहुत जो कुछ भी साहित्य है उसी तप का इष्ट है।

शाश्वत साहित्य के लिये सुरुचि+कल्याण (सत्यं शिवं सुन्दरम्) की परम आवश्यकता है। कला के प्रासाद को खड़ा करने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्य-सौन्दर्य की नींव अभीष्ट है।

यदि सुरुचि मे मनोविज्ञान, सत्य और कला तीनों का मणि-काचन संयोग उपस्थित हो जाय तो निस्संदेह वह साहित्य विश्व साहित्य मे प्रतिष्ठित हो सकता है।

साहित्य का जो दृष्टिकोण हमारे देश में रहा है वह पाश्चात्य देशों में नहीं रहा। भारतीय साहित्य परोपकार एवं सर्वभूतहितेरत: की भावना से ओत-प्रोत रहा है। व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टिगत सत्य पर आश्रित रहा है।

अतएव हम डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'जन जीवन की कल्याणमयी प्रशस्ति का नाम ही साहित्य है' ऐसा कह सकते हैं।

यह दोनो प्रकार से सम्भव हो सकता है (१) लिखित (२) मौखिक। प्राचीन काल मे जब हमारे पास लेखन कला के साधनों का अभाव था तब श्रुति और स्मृति के द्वारा हम अपनी साहित्यिक परम्परा को युगान्तरो तक ढो लाए। लोक साहित्य इसका साक्षी है।

हमारा लिखित साहित्य पूर्णतया प्रामाणिक है। यह साहित्य दो प्रकार का है :—

(१) अल्प कालीन (२) सर्व कालीन

समाचार पत्रों का साहित्य अल्पकालीन है, यद्यपि यह लिखित है। जो शाश्वत हो, चिरंतन हो एवं मनुष्य के आभ्यन्तर की तंत्री को झंकृत कर दे वही सर्वकालीन साहित्य है। यह संवेदनाजन्य लोक कल्याण की भावना से पूर्ण होता है। यह साहित्य व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होता है। क्या रीति कालीन कवियो ने विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं लिखा, क्यों वह क्षणिक रहा क्योंकि उसमें तुलसी के विप्रलम्भ शृङ्गार की वह व्यापकता, नैसर्गिकता एवं सर्वभूतहितरत की भावना का अभाव था। बिहारी, पद्माकर का क्षेत्र केवल अपने आश्रयदाता के झरोखों तक सीमित रहा, गुलगुली गिलमों मे ही पनपता रहा। उसमे वह सम्वेदनाजन्य भावना न थी। तुलसी की कौशिल्या एवं सूर की यशोदा मे विश्व की माताओ की पुत्र-वत्सलता सिमट आयी है। सूर की राधा एवं गुप्त जी की यशोधरा और उर्मिला विश्व की प्रेयसियों के हृदय की अनुभूतियाँ छिपाए बैठी हैं।

तुलसी और सूर ने प्रेम-विरह को गहराई में पहुँचा दिया। परवर्ती अन्य कवियों में भले ही शब्द जाल का प्रदर्शन तथा लक्षणा व्यंजना की ध्वनि बलिष्ठ गरिमा हो किन्तु उसमे अक्षुण्ण एवं चिरंतन भावनाओ का

अभाव है। प्रत्येक कवि महाकवि नहीं हो सकता, प्रत्येक व्यक्ति गौतम और गाधी गौतम नहीं हो सकता। गौतम बुद्ध के पश्चात् १८६६ तक के इतिहास को पलट देनेवाले एकमात्र बापू ही थे। इतने बड़े युग ने केवल एक व्यक्ति दिया।

वेदनाजन्य साहित्य तीन स्थितियों पर निर्भर है :—

(१) सत्य की अनुभूति (सत्य शाश्वत है, वह कभी दो नहीं हो सकता)।

(२) समष्टि का समावेश (यशोदा के मातृत्व में विश्व-मातृत्व छिपा है)।

(३) सघर्ष—संसार का निर्माण द्वंद्व मे ही हुआ :—

परित्राणाय च साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

साहित्य-विज्ञान :—यदि हम सामान्य रूप से विचार करें तो विज्ञान भी साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है किन्तु साहित्य का विवेचन जहाँ कलात्मक रूप से होता है वहाँ विज्ञान साहित्य से दूर जा पड़ता है। इसका कारण यह है कि विज्ञान तथ्य के अतिरिक्त किसी अन्य चिन्तन में विश्वास नहीं करता, जहाँ साहित्य तथ्य से ऊपर उठकर कल्पना और अनुभूति मे विश्वास कर सकता है। विज्ञान मे एक और एक मिलकर दो होते हैं किन्तु साहित्यिक चितन में एक और एक मिलकर एक ही होते हैं। विज्ञान में सब जगह चाहे वह लन्दन की मिट्टी हो या अरब की रेतीली भूमि, एक और एक दो होते हैं किन्तु भारत, अरब और पाश्चात्य देशों की साहित्यिक मान्यताओं में अन्तर है, हम काली आँखों में यौवन के मद की लाली देखते हैं, कम्बु कठ हमारी परिरंभणमयी मनुहारो का केन्द्र बनता है तो पाश्चात्य या अरब के निवासी नीली (बिल्ली ऐसी) आँखों और सुराहीदार गर्दन में झूम झूम जाते हैं।

सच बात तो यह है कि विज्ञान ऐसी अँगुली की हड्डी है जो झुकना नहीं जानती। यदि तर्क के आधार पर विज्ञान ईश्वर की खोज करने निकले तो उसे उस पर भी विश्वास न आयेगा, वह यह न देख सका कि मनुष्य के परे क्या है। जहाँ तक मानवता के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है इसमें विज्ञान बहुत पीछे है। हम जहाँ उस देवत्व की ठोस भूमि परप हुँच चुके हैं, जहाँ हमने देवकन्याओं के घने केशपाशों में अपनी गरम साँसों के फूल पिरोये हैं, वही पर विज्ञान बच्चों सा मचलकर कहता है कि भई, मुझे तो चाहिए नग्न सत्य, एक-मात्र सत्य, आखों देखा, कानों सुना नहीं। केवल दो अंगुल मात्र के अन्तर में

लाखों मीलों का अन्तर है। विज्ञान अभी केवल डगमगाता सा मंजिले मकसूद के तीन चार मील के पत्थरों तक ही तो पहुँच पाया है जबकि हमारी साहित्यिक मजिले देवता की अगवानी लेने के लिए कञ्चन थार और अर्चन दीप को आँचल की ओट में छिपाए; शशिमुख पर घूँघट डाले हुए 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' की अमर फुलझड़ियाँ बिखेर रही हैं।

(१) साहित्य (साध्य)	(२) विज्ञान (साधन)	(३) कला (साध्य)
शब्द, कल्पना, अनुभूति	अंक, तर्क	रेखा, कल्पना, सौन्दर्य
(असीम)	(सीमित)	(असीम)

शब्द नाद है जिससे आकाश आकाश है, इसी का दूसरा नाम है शून्य। आज भी उस आकाश के किसी निभृत कोने मे यशोदा का करुण विलाप, प्रतित्यक्ता सीता का 'भगवति मा देहि मे अन्तरम्' और शकुन्तला की कातर ध्वनि सिसकती हुई सिमटी पड़ी होगी और उन्हीं अमर शब्दों से तो स्फुरित होकर साहित्य बना है। विज्ञान तो अभी केवल अंकों, रेखाओं, जोड़ गुणा, बाकी भाग के नीरस चिन्हों तक सीमित है। कला की रेखाएँ सदा वर्तुलाकार होती हैं। ये रेखाएँ किसी का विभाजन नहीं करती बल्कि सहयोग देती हैं। प्रकृति, सूर्य, शशि एवं सरसी की लहरें सभी तो वर्तुलाकार हैं। उसी में उनका विकास है, गति है, उन्नति की उत्सुकता है। इस प्रकार वर्तुलाकार प्रकृति में विकसित होना प्रकृति का गुण है। कला ऐसी ही रेखाओं में वास करती है लेकिन हम संसारी मानव यदि मकान बनवायेंगे तो पहले खड़ी दीवाल, फिर दालान और फिर छत, हमें वर्तुलाकार पर विश्वास नहीं, हमने अपने को इतना सीमित कर लिया है कि उन रेखाओं से परे अनंत की ओर कुछ सोचने का साहस ही नहीं करते। साहित्य शून्य की तरह असीम है। इसका विशेष गुण कल्पना तर्क एवं अनुभूति है।

साहित्य	विज्ञान	कला
↓	↓	↓
(शिव)	(शव)	(शिव)

विज्ञान यदि मानव की सेवा रेडियो, रेल, तार आदि के द्वारा करता है तो दूसरी ओर मानवता के विध्वंस के लिये सत्ताइस हजार टन मन कोयले की

शक्ति को समेटने वाले आधे सेर के एटम बम को भी तैयार करता है जो मानवता का अभिशाप है, विध्वंस है, मृत्यु है।

विज्ञान रूपी भस्मासुर अपना हाथ अपने मस्तक में रखकर स्वयं भस्म होना चाहता है। रावण की तरह अपने दसों सिरों का होम कर वरदान द्वारा अगणित सिर प्राप्त करता है और अन्त में विनाश के पथ पर प्रशस्त होता है :—

घर राखे घर होत है, घर राखे घर जाय।

× × ×

कबिरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठा हाथ।
जो घर फूंके अपना, चलै हमारे साथ॥

कुछ इसी प्रकार का मस्तमौला विज्ञान है इसी से इसका कोई स्थायी स्थान हमारे आत्मिक आनन्द में नही है।

साहित्य के विभिन्न उपादान

यों तो साहित्य मानव जीवन की आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब है एवं उनके कार्यकलापों से सम्बन्ध रखता है फिर भी जिस मात्रा में हमारे सामने इन प्रेरणाओं और आकांक्षाओं का सम्बन्ध स्पष्ट होता है उस मात्रा में हम साहित्य का सृजन नहीं कर पायेंगे। साहित्य का सृजन तो मौखिक और लिखित दोनों रूपों में हो सकता है किन्तु जो भी लिखित अथवा मौखिक साहित्य हमारे सामने आता है वह सब साहित्य नहीं है क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध जीवन के उत्तरोत्तर विकास से है, उसके परिष्करण से है और यह परिष्करण जितना अधिक जीवन के अन्तस्तल मे जितनी गहराई से पहुँचता है उतनी ही मात्रा में आनुपातिक रूप में साहित्य का मूल्याकन होता है। इसलिये साहित्य को हम उस क्षेत्र तक नहीं ला पायेंगे जिस क्षेत्र तक समाज, व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के विकास की सूचनाएँ हमें मिल जायं।

हम साहित्य को मोटे तौर से दो भागों में बाट सकते हैं :—

(१) स्थायी।

(२) युगीन (सामायक घटना + व्यक्ति)।

स्थायी साहित्य के दो भाग ललित और उपयोगी ललित साहित्य के क्रमशः काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना पॉच भाग हैं। इसी प्रकार उपयोगी साहित्य के इतिहास, भूगोल, दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, ज्योतिष आदि हुए। ललित साहित्य के अन्तर्गत रागात्मक मनोभाव के कारण जन्म से ही मनुष्य की आत्मरक्षण शक्ति, आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मानुभूति सजग रहती है। मनुष्य चाहे जिस देश या काल मे रहे, ये वृत्तियां सदैव उसमें वर्तमान रहती हैं। आत्माभिव्यक्ति और आत्मानुभूति में समाज की सहानुभूति रहती है जो उसके सुख दुख की संगिनी बन सके। वस्तुतः आत्म-रक्षण मे व्यक्ति 'स्व' की व्यंजना है और आत्मानुभूति में समाज एवं 'पर' की। इन दोनों के पारस्परिक सामंजस्य को हम 'रागात्मक अनुभूति' की संज्ञा दे सकते हैं।

ललित साहित्य में ये तीनों वृत्तियॉ अवसर, परिस्थिति, देश एवं काल के अनुसार स्थानांतरित होती रहती हैं कभी आत्माभिव्यक्ति मुखर हो उठती है तो कभी आत्मानुभूति। उदाहरणार्थ साधारण मनुष्यों में आत्मरक्षण की भावना रहती है। बुद्ध या गांधी आत्मानुभूति के उच्च स्तर पर विद्यमान हैं। हम कोल्हू के बैल की तरह 'स्व' के संकुचित क्षेत्र में चक्कर काटते हुए इसी भौतिक मिथ्या सुख को परमानन्द समझ लेते हैं। जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे आत्माभिव्यक्ति के साथ व्यक्ति के साधन अधिकाधिक बढ़ते जाते हैं। मनुष्य बोलता अधिक है, काम कम करता है। अनुभूति के बिना लिखा जाने वाला साहित्य केवल कृत्रिम शब्दाडम्बर मात्र है। शिव का तृतीय नेत्र विध्वंसक है, कवियों की कल्पना का तृतीय नेत्र सृष्टि कर्ता है। 'षटरस विधि की सृष्टि में, नव रस कविता मांहि।'

'मानवता के इतिहास में सर्वप्रथम कविता वाल्मीकि के कम्पित स्वरों में उड़कर आयी होगी, रुद्ध कण्ठ से वे गाने को विवश हो गये होंगे। उस काव्य ने कुछ मंजिल पार करने पर चलते चलाते किसी बटोही से मित्रता करली होगी तब अपने रुद्ध कंठ से उमड़ी कविता को गला थम जाने पर

कहानी के रूप में कहना प्रारम्भ कर दिया होगा और फिर मंजिल पर पहुँच कर खुल कर कहे जाने पर वही उपन्यास बन गया होगा। उपन्यास का उत्कृष्ट रूप नाटक और उसका भी गठा कसा उत्कृष्ट रूप निबन्ध है।

काव्य में कल्पना का प्रसार रहते हुये भी वह नैसर्गिक नियमों (सत्य) से पल्लवित-पुष्पित हुआ तथा कारण और कार्य से वस्तु जगत में आया इसीलिए कवि परिपाटी को वहीं तक स्वतन्त्रता है जहाँ तक वह परिस्थितियों से अनुमोदित है। इस प्रकार कल्पनाप्रसूत होते हुये भी उसमें एक सत्य जगत का प्रतिबिम्ब रहता है। अतिशयोक्ति हास्यास्पद न हो और मानवीकरण सत्यनिष्ठ हो।

भावना :— भाव और भावना मे वही अन्तर है जो अन्तर Thought और Emotion में है। भाव की सम्वेदनशीलता ही भावना है जो नाटक, कहानी तथा उपन्यासों मे पाई जाती है जहाँ तक काव्य और नाटक का सम्बन्ध है वहाँ तक इस सम्वेदनशीलता का बड़ा महत्व है। सच तो यह है कि सम्वेदनशीलता दृष्टि विशेष है और रागात्मक वृत्ति से अनुशासित है। राग मनुष्य की पारस्परिक आकर्षणमयी प्रवृत्तियाँ हैं। राग मनुष्य के मस्तिष्क की पवित्र उपज है जबकि वह उसको समत्व की ओर लगा दे। यह राग सम्बद्धता का प्रतीक है। राग से ही अनुराग और विराग शब्दों की उत्पत्ति हुई है। दो मनुष्यों को एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख कराने वाली भावना राग है। रागात्मक भावना शत्रु, मित्र की भावनाओं से परे, 'अय निजः परोवेति' से ऊपर उठी हुई न्यायपूर्ण मानवता की पृष्ठभूमि पर आश्रित है। बाल्मीकि की क्रौंच पक्षी से कौन रिश्तेदारी थी, मानो करुणा ही साकार होकर उनके स्वरों में बोल उठी :—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगः शाश्वती समा
यत्क्रौंच मिथुनात् एकं वधी काम मोहितम्।

और यही कल्याणकारी प्रवृत्ति राग है जो सम्वेदनशीलता के ऊपर टिकी है। स्थूल रूप से काव्य का विश्लेषण करने पर हम जीवन के उस क्षेत्र की ओर इङ्गित करते हैं जहाँ हमें वस्तुतः भौतिक एव तर्कपूर्ण विवेचन अभीष्ट नहीं होता वरन् उस वस्तु में अन्तर्निहित एक नवीन भावना का संसार कल्पना की सहायता से निर्मित होता है जहाँ मानवता की समस्त सम्वेदनाएँ केन्द्रीभूत

होती हैं। इस प्रकार कवि निर्माता है वह इस सृष्टि के समानान्तर एक ऐसी सत्प्रेरणामयी सृष्टि उत्पन्न करता है जो काल्पनिक होते हुये भी सत्य है और जिसमे हमारा सीमित जीवन असीम बन जाता है उस असीम जीवन में न जाने कितनी जन्म मृत्यु की यवनिकाएँ उठती और गिरती हैं, और हम उन्हें शाश्वत जागरण का एक प्रतीक समझते हैं।

काव्य दो रूपों मे सामने आता है (१) अन्तर्जगत (२) बाह्य जगत। अन्तर्जगत का काव्य सर्व श्रेष्ठ है। इस काव्य में सम्वेदना का जितना पालन होता है उतना बाह्य जगत मे सम्भव नहीं। अन्तर-जगत-काव्य की एक एक पंक्ति बाण की तरह मर्मस्थल पर चोट करती है। मीराँ के पदों क प्रत्येक पंक्ति में उसके प्राणों की पुकार है, प्राणों की गहराई निहित है। वे इतनी पतली गलियाँ हैं जिनमें साधक एकाकी चलता है, 'प्रेम गली अति सांकरी, जामें दो न समॉय' इसी में जीवन का तत्व सहस्रमुखी होकर अपना सन्देश देता है। भ्रमर-गीत का एक एक पद एक एक गोपी का मानवीकरण है मानो एक एक पंक्ति में एक एक गोपी का करुण व्यक्तित्व समाहित हो गया हो और उनके हृदयों की सम्वेदना गीतों में मुखरित हो उठी हो।

भगवान के मुख्य दस अवतारों मे से पाँचवें अवतार (वामन) का विशेष महत्व है जिसने साढ़े तीन पैर के होते हुए भी धरती पर स्थित सारे ब्रह्मांड को नाप लिया उसी प्रकार कवि की कल्पना भी एक बन्द कोठरी में रहती हुई सारे जगत को हस्तामलकवत् कर लेती है।

अन्तर्जगत काव्य का सबसे बड़ा लक्षण उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है।

उलटि समाना आप मे, आपहिं जोत उवंत।
साहिब सेवक एक संग, खेलइ सदा बसन्त॥

ऐसी है यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, चाहे ज्ञान हो चाहे मनोविज्ञान, इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के दर्शन सर्वत्र होते हैं। भक्ति में यह अन्तर्मुखी वृत्ति हृदय के निकट अश्रुओं से ढलती है। इसमें आत्म विरह की अभिव्यंजना है, भक्ति में एक सेवा भाव है ज्ञान मे वही 'आत्मबोध' के रूप से बदल जाता है। हिन्दी जगत की सर्वश्रेष्ठ अन्तर्जगत की गायिका मीराँ है। 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा' यही आत्मबोध है। अन्तर्जगत काव्य में निम्न बातों का समावेश रहता है :—

(१) आत्म समर्पण की भावना—मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
(२) तादात्म्य की भावना—प्रेम गली अति साकरी, जामें दो न समाइ।
(३) स्व से परे 'पर' की भावना—हे नभ की दीपावलियों
तुम क्षण भर को बुझ जाना।
(४) शुद्ध अनुभूति—लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मै गयी, मैं भी हो गई लाल॥

गीति काव्य एवं उसकी विशेषताएँ

प्रगीति काव्य या गीति काव्य—गुलाबराय इस प्रगति काव्य, गीत काव्य या गीति काव्य को गेय मुक्तक कहते हैं। अंग्रेजी में इसे lyric लिरिक कहते हैं जिसका अर्थ वीणा की भाँति लिरिक नाम वाद्य यंत्र से है इसलिए कुछ लोगों ने lyric का अनुवाद वैणिक किया है। प्रगीत काव्य मे जो कुछ कवि कहता है अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसके निजी व्यक्तित्व के साथ रागात्मकता रहती है। यह रागात्मकता आत्म निवेदन के रूप में प्रगट होती है। रागात्मकता मे तीव्रता बनाए रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है। आकार की संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है। संक्षेप मे प्रगीत काव्य के तत्व इस प्रकार हैं:—

(१) सगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल कान्त पदावली।

(२) निजी रागात्मकता जो प्रायः आत्म निवेदन के रूप में प्रकट होती है।

(३) संक्षिप्तता और भाव की एकता।

(४) गीति काव्य मे बातों की बहुलता नही होती। संवाद का सौंदर्य नहीं होता, इसमे केवल एक वाक्य ही सारे संसार की रागात्मक वृत्तियों को झकझोर देता है। 'पुनि आउब यहि बिरिया काली' ऐसी अमर पंक्ति पर लाखों लाखो गीति काव्य न्यौछावर हैं और सच बात तो यह है कि इस अमर काव्य के प्रकरण में यही एक सम्वाद है।

कवि Brown (ब्राउन) ने गीति काव्य को white heat of Emotion (भावना का शीतल ताप) कहा है, प्रेम तपकर इतना पवित्र हो जाता है जहाँ आँच की उष्णता भी शीतल हो जाती है, 'ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रंग त्यों त्यों उज्जवल होय' की सी भावना आ जाती है और तभी लिखने को बाध्य हो जाता है। वह भावना के वेग को सँभाल नहीं पाता। जनकवि केदार-नाथ अग्रवाल स्पष्ट कह रहे हैं :—

क्यों आते हैं भाव न जिनका मैं अधिकारी।
क्यों आते हैं शब्द न जिनका मैं व्यवहारी॥
कविता यों ही बन जाती है, बिना बनाए।
क्योंकि हृदय मे तड़प रही है, याद तुम्हारी॥

—नींद के बादल

गीति काव्य के अन्तर्गत अनेक प्रकार की शैलियाँ हैं। एक शैली भाव पक्ष से अनुशासित हैं और दूसरी शैली पक्ष से! भाव पक्ष मे गीति काव्य केवल व्यक्तिगत प्रेरणाओं का सूत्र बनकर रह जाता है और वह किसी प्रकार के छल कपट से परे शुद्ध भावना के संचार का सार होना है। शैली पक्ष का गीति काव्य राग-रागिनियों तथा संगीत के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है।

गीति काव्य भाव गत और शैली गत दो प्रकार के होते हैं। भावगत गीति काव्य का एक अंग और है जिसे हम मुक्तक कह सकते हैं। ग्रामगीत अन्तर्जगत तक सीमित न रहकर समाज के संस्कारों, रूपों, बारहमासों एवं बाह्य जगत को चित्रित करता है। मुक्तकगीति काव्य से अधिक व्यापक और विस्तृत है, यह प्रायः नीति, आचार और व्यवहार का मापदंड निर्धारित करने के लिए लिखा जाता है। हिन्दी साहित्य मे सात सतसइयाँ तुलसी, बिहारी, वृन्द, रहीम, मतिराम आदि की हैं उनमें अधिकाशतः नीति एवं आचार का वर्णन है। घाघ और भड्डरी की कहावतें मुक्तक होते हुये भी गीति काव्य की श्रेणी मे नहीं आतीं। गिरिधर की कुंडलियाँ भी इसी कोटि में आती हैं। मुक्तक गहराई में नहीं जाना चाहता किन्तु गीति काव्य जितनी ही अधिक हृदय की गहराई मे जाता है उतनी ही दूर की सूझ लाता है और उतना ही मनोहारी बनता है, मुक्तक मे 'सूक्ति' और गीति

काव्य में अनुभूति की प्रधानता रहती है। मुक्तक की रचना सभी रसों में हुई है किन्तु गीति काव्य चारों ओर से सुरक्षित सीसे का गिलास है जो कि निहायत नाजुक है और जिसमें अन्तर के भाव प्रतिबिम्बित हुये बिना नहीं रहते।

'य ओ मय है जिसे रखते हैं नाजुक आबगीनों में'। गीति काव्य के कई प्रकार हैं। (१) लोकगीत (२) साहित्यिक गीत

साहित्यिक गीत के पुनः दो प्रकार (१) शुद्ध संवेदनात्मक (मीराँ, कबीर, तुलसी) (२) कथाश्रित (सूर के लीला सम्बन्धी पद)

अंग्रेजी गीति काव्य (१) सानेट Sonnet, (चतुर्दशपदी) प्रभाकर माचवे के सानेट

(२) ओड Ode (सम्बोधन गीति) खण्डहर के प्रति (निराला) आँसू (प्रसाद)।

(३) शोकगीत Elegy निराला जी की सरोज स्मृति, उर्दू सा० में मर्सिया।

(४) व्यग्यगीत Satire सूर के व्यग्यगीत, भारतेंदु के लटके।

(५) विचारात्मक Reflective गुञ्जन (पन्त)।

(६) उपदेशात्मक Diadact कबीर, सूर, तुलसी के पद।

सस्कृत मे जयदेव का (गीत गोविन्द) कालिदास का (मेघदूत), आर्यासप्तशती, गाथा सप्तशती, अमरुकशतक इसी कोटि में आते हैं।

गीति काव्य की विशेषताएँ :—हीगल के मतानुसार कवि ससार के अन्तःकरण मे पहुँचकर आत्मानुभूति करता है एव उसे अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल बनाकर अनुरञ्जनकरी मधुर भाषा में चित्रित करता है अतएव गीति काव्य की धारा हृदय में उठती और हृदय में ही लय हो जाती है उसमें अन्तर्मुखी वृत्ति का इतना प्राधान्य होता है कि कवि को वहिर्मुखी जीवन की ओर देखने का अवकाश ही नही मिलता। इस प्रकार गीति काव्य शुद्ध आत्मानुभूति का काव्य है। इसकी पहली विशेषता यही है कि यह अन्तर्जगत का सजीव चित्र उपस्थित करता है।

श्रीमती महादेवी वर्मा गीति काव्य की व्याख्या करती हुई कहती हैं कि

'सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।

× × ×

गीति यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख दुख को ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें संदेह नहीं। इसमें चिंतनीय है 'गिने चुने शब्दो मे स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना' अर्थात् भावों की तीव्र से तीव्र अभिव्यक्ति के लिये शब्द कम से कम हों, मधुर-तम हों, ध्वनि बलिष्ठ हों, स्वर साधना से युक्त हों एवं उनमें कवि की एक अपनी वैयक्तिक छाप हो।

(२) गीति काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें अन्तर्जगत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं कोमलतम अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति होती है, गीति काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत को अन्तः करण में ले जाकर उसे अपने भावों के रंग से रंग देता है आत्माभि-व्यजंन सम्बन्धी कविता गीति काव्य में ही संभव है क्योंकि उसमें भावना का मक्खन हृदय की कोलमतम मद्धिम मद्धिम आँच से 'जल रे जल मधुर २ मन' के साथ पिघल कर आसुओं का साथी बनता रहता है। कवि अपने अन्तर की सूक्ष्म एवं गूढ़ भावनाओं को बड़ी ही ईमानदारी और सफाई के साथ उतार देता है।

(३) अर्नेस्ट राइस के मतानुसार ईमानदारी से लिखी गयी सच्ची बातें वही हैं जो भावात्मक शैली में अपने आप न सम्हल सकने के कारण छलक पड़ें, जो शब्द और लय के सम्मेलन से सूक्ष्म भाव को पूर्णतया प्रदर्शित करता हो और पदलालित्य तथा शब्द माधुर्य से उस संगीतमयी ध्वनि मे प्रस्फुटित होता हो जिसे हम आत्माभिव्यक्ति की संज्ञा दे सकें। जिसमें ध्वनि बलिष्ठता से युक्त सरल तरल शब्दों का सामंजस्य हो। गति में निर्झर के झर झर का सरगम तैरता हो। गीत मे गति और माधुर्य पूर्ण ऋजुता की स्पष्ट छाप हो।

(४) गीति काव्य में कवि प्रमुख रूप से एक ही सरल उद्गार की अभि-व्यक्ति कर पाता है, यह उदगार अंग्रेजी भाषा के 'मूड' का अविकल रूपान्तर है। गीति काव्य में, मूड का प्रतिनिधित्व करने वाली एक पंखुड़ी यौवन में लाज की तरह अवगुंठन के कपोलों पर उभर पड़ती है और शेष पंखुड़ियाँ

(पंक्तियाँ) अपने भावना की बासन्ती बयार से उसे झुलाती और तीव्रता पहुँचाती हैं। स्वर साधना के सुकुमार अबोध कल्पक के शिशु 'रोमाञ्चपुलक से, अस्फुट विस्मय से फूट पड़ते हैं। दिनकर जी के शब्दों में :—

निज मधु चक्र निचोड़ लगन से, पाला इन्हें हृदय ने।
बड़े नाज से बड़ी साध से, ममता मोह प्रणय से॥

सोते जगते मृदुल स्वप्न में, सदा किलकते आये।
नहीं उतारा कभी अंक से, कठिन भूमि के भय से॥

रुन झुन झुन पैंजनी चरण में, केश कुटिल घुँघराले।
नील नयन देखो माँ! इनके दाँत धुले हैं पय से॥

कुछ विस्मित, कुछ शील दृगों से, अभिलाषा कुछ मन में।
पर न खोल पाते मुख लज्जित प्रथम-प्रथम परिचय से॥

निपुण गायको की रानी! इनकी भी एक कथा है।
सुन लो क्या कहने आये हैं ये तुतली सी लय से॥

दिनकर जी की इन पक्तियों में गीतिकाव्य की सारी विशेषताएँ लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक पद्धति से सिमटकर आ गई हैं। निरुद्देश्य प्रसन्नता से रची गई 'रसवन्ती' दिनकर जी के श्रेष्ठ गीतों का संग्रह है जिसमें हैं दाह की कोयल और धूप में उड़ने वाली एक बूँद शबनम, जिसमे है दूध की धोई उजेली रात और गुमरते दर्द की टीस।

(५) गीति काव्य को संगीतात्मक होना उतना ही आवश्यक है जितना सौन्दर्य के लिये स्वास्थ्य। श्रेष्ठतम गीतिकाव्य की सृष्टि संगीतमयी होती है सूर तुलसी मीराँ आदि के गीत तो शास्त्रीय सगीत कसौटी पर कसे जाने से खरे उतरते हैं। अंग्रेजी में गीत को 'लिरिक' कहते हैं जो 'लायर' नामक बाजे के साथ गाया जाता है, अतः गीतो का संगीत एवं वाद्य से सम्बन्ध शीत में सिहरन का सा है।

निष्कर्ष रूप में गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं :—

(क) संगीत की भावाभिव्यक्ति (ख) अन्तर्जगत का चित्रण (ग) शब्दों का सुन्दर चयन (घ) भावानुकूल भाषा का प्रयोग।

लोकगीत—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये; निज कर भूषन राम बनाए ॥
सीतहिं पहिराए प्रभु सादर, बैठे फटिक शिला प्रभु सुन्दर ॥

इसी सादी सीधी धरती से लोक साहित्य का प्रादुर्भाव होता है यदि राम, लक्ष्मण को पुष्प चयन कर लाने की आज्ञा देते तो वह रस परिपक्वता न आती। लोकगीतों की आदि प्रेरणा आदि मानव के हृदय में अज्ञात रूप से हुई है वह सर्व प्रथम अन्तर्जगत से प्रारम्भ हुए और वहाँ न समा सकने के कारण वाह्य जगत मे आये और अपनी व्यापकता मे धरती से लेकर आकाश तक इन्द्रधनुषी रंगो मे बिखरकर पूनम की चादनी बन गरीब की झोपड़ी से लेकर महलों तक बिखर गये। व्यापकता की गवाही के लिये तो इस ग्राम युवती के मलिन वेष को ही बुला सकते हैं—

काहे मन मारे, खड़ी गोरी अँगना।
धरती का लँहगा, बदर कै चुनरी।
जोन्हीं के बटन कसबि दोउ जोबना।

अजाने ग्राम गीत कितने कठो में गूँजे, रोये, सिसके, किलकारियाँ भरीं और खुल कर खेले, कितने कंठो में इनकी पुनरावृत्ति की गई। कितने हजार वर्षों की काल परम्परा की छाती पर मूंग दली है इन अभागों ने।

विशेषता :—

(१) मानवता के सौन्दर्य की आदि प्रेरणा के साक्षी।
(२) कठ के निवासी, मौखिक परंपरा के मीत होने से रूप मे विकृत।
(३) तरल साहित्य, इसी से प्रेरणा पाकर महाकवियों ने ठोस साहित्य का निर्माण किया, कालिदास के नाटक लोक गीतों से प्रभावित हैं, तुलसी का रामलला नहछू, एवं पार्वती मंगल लोकगीतों का छायानुवाद मात्र है।
(४) इनमें हम अपनी सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रतिच्छाया पाते हैं।
(५) बारहमासे राम या कृष्ण को लेकर लिखे गये। जिन पर अधिक लिखे गये, वही जनता के अधिक निकट हैं। मुगल वंशीय राजाओं की गाथाएँ एवं अत्याचार के जो चित्रण लोक साहित्य मे प्राप्त है

है वे केवल कोरे शब्द जाल नही वरन मनोविज्ञान एवं तत्कालीन सामाजिक स्थिति के साक्षीस्वरूप है।

(६) सस्कृति की सकेत भावना जो मानव-अमानव सभी को समान रूप से साथ लेकर चलती है, इन गीतो में प्रस्फुटित हुई है। हम जानवरों, पक्षियों, चातक, सिह एवं गगा आदि से बाते करते हैं, उन्हें अपना सुख-दुख सुनाते हैं, वे हमारी बात का युक्तियुक्त उत्तर देती है, विपत्ति से उबारती है।

गंगा देहु न एक लहरिया, हमहुँ धँसि आवनि रे।

× × ×

जङ्गल से निकरी बघिनिया त सुख दुख पूछइ रे।

वे हिसक पशु हमारे सगे सम्बन्धी बन जाते हैं। कितनी वायु की लहरियों में हमने अपने कठ नही मिलाये, कितने पुष्पों ने हमारी बहिनों के लहराते केश-पाशो का शृङ्गार नही किया, मेंहदी की लालिमा ने हमारी प्रेयसियों की हथेलियों मे सावनी त्योहार नहीं मनाया।

मानव और अमानव पर भेद करते हुए यह बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाती है कि प्रकृति के रूपों का मानवीकरण इसी के द्वारा सम्भव हो सकता है। इन ग्राम गीतों मे धरती गाती है, पर्वत गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, हरी भरी फसले गाती हैं, उत्सव, मेले, ऋतुएँ परम्पराएँ सभी समवेत गान करते हैं। नदियाँ लहरियों के हाथ बढ़ाकर हमसे कुछ कहती हैं, पक्षी अनेक प्रकार के सम्वाद लाते और ले जाते हैं और वे सब कार्य व्यापार मानवीय मनोभावों के प्रश्नोत्तर के रूप में हैं। साहित्य की यह सब से बडी सम्पदा है कि जीवन का स्पंदन अखिल विश्व मे एक ही प्रकार से सोचा और समझा गया है। इस मानवीकरण के साथ अनेक प्रकार की कल्पनाएँ सम्बद्ध हैं। कल्पना का जितना विपुल वैभव ग्राम गीतों में है उतना साहित्य में भी नहीं। यहाँ तक कि ये कल्पनाएँ प्रकृति के नियमों का भी स्वभाव और क्रम छोडकर भावनाओं के चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है। भावनाएँ भले ही प्रकृति के नियमो के विरुद्ध हो जाती हों किन्तु उनकी सबसे बड़ी सफलता यही है कि वे भावनाओं के चरमोत्कर्ष पर स्थित हैं। सच बात तो यह है कि प्रकृति ही इनकी क्रीड़ास्थली

है जहाँ ये अपने घिरौंदे बनाया और बिगाड़ा करते हैं। गुड़ियों के ब्याह रचा कर गार्हस्थ्य जीवन का पाठ पढ़ा करते हैं।

इन गीतों में अनुराग-विराग, आशा-निराशा, हर्ष-विमर्ष की प्रेरणाएँ निहित रहती हैं। ग्राम गीतों में सपत्नी भाव का भी पर्याप्त चित्रण मिलता है इसका कारण है कि पुरुष के कई स्त्रियों का होना, बहु विवाह की प्रथा। ननद भौजाई के झगड़ों और वाग्बाणों से लोक गीतों का कमनीय कलेवर बिंधा पड़ा है।

ग्राम गीतों का मूलाधार उनकी 'आस्तिकता' है। देवताओं की प्रार्थना मान-मनौतियों के अनेक विधान इनमें विद्यमान हैं :—

ओ गंगा मइया तोहिं चुनरी चढ़इबे, कर दे पिया से मिलनवाँ राम।

इस आस्तिकता के साथ 'करम गति टारे नाहिं टरे' की अमिट लिपि है।

अकृत्रिमता :—गीत होने के नाते ये सरल और स्वाभाविक ढंग से चलते हैं उनमें अलंकार लाने का प्रयत्न नहीं किया गया अपितु अलंकार स्वयं आ गए हैं। रस परिपक्वता की तो हद है। हृदय की सारी कोमलतम अनुभूतियाँ इसमे मुखरित हो उठी हैं। भाषा, भाव, शैली सभी में एक प्रकार की पर्वतीय नैसर्गिकता है। पुनरुक्ति दोष का होना केवल प्रार्थना की ध्वनि मात्र है जो संगीत की लय की रक्षा के लिए एवं भावोत्कर्षिता के लिये व्यवहृत किया गया है।

महाकाव्य की गरिमा

महाकाव्य—साहित्य के सभी देशों मे महाकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, और सभी देशों मे इसे काव्य का उत्कृष्ट रूप कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा जीवन के व्यापक और विस्तृत उत्थान-पतन का चित्र उपस्थित किया जाता है जो समाज और राष्ट्र के सामने एक ऐतिहासिक घटना का रूप ले लेता है। जीवन की व्याख्या किसी महान पुरुष या घटना को लेकर इतनी गहराई के साथ की जाती है कि वह संदेश के रूप में युगों युगों तक पथभ्रष्ट

लोगों का पथ प्रशस्त करती रहती है। संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में महाकाव्य की बड़ी विशद व्याख्या उपस्थित की गई है और इसको प्रायः सभी आचार्यों ने एक मत से स्वीकार किया है। साहित्यदर्पणकार ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ सर्ग में ३१५ से ३२४ श्लोक तक महाकाव्य को १३ लक्षणों में बद्ध किया है जो सूत्र रूप में निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए और सर्गों की संख्या सामान्यतः आठ से कम और एक से अधिक न होना चाहिए।

(२) महाकाव्य का आरम्भ नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देश के साथ होना चाहिये और प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर आगे आने वाले सर्ग की कथा-सूचना होनी चाहिए।

(३) छन्द की दृष्टि से महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में साधारणतया एक ही वृत्त या छन्द का प्रयोग होना चाहिये किन्तु सर्ग के अन्त में भिन्न वृत्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त महाकाव्य में कोई सर्ग ऐसा होना चाहिए जिसमें नाना प्रकार के वृत्त और छन्द आए हों। साकेत का नवम् सर्ग इसका साक्षी है।

(४) कथावस्तु की दृष्टि से महाकाव्य का निर्माण ऐतिहासिक इतिवृत्त के आधार पर होना चाहिये। कल्पना जनित होने से उसमें मर्यादा का अतिक्रमण हो सकता है।

(५) महाकाव्य का नायक सद्वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्भट में से कोई एक होना चाहिये और वह अपने व्यक्तित्व के गुणों से पूर्ण हो।

(६) महाकाव्य का लक्ष्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति होनी चाहिए।

(७) महाकाव्य मे शृंगार, वीर, शान्त में से किसी एक रस को अंगी और शेष रसों को उसके अंग बनकर आना चाहिए।

(८) स्थान स्थान पर सज्जनों की स्तुति, खलों की निन्दा, चन्द्र सूर्य, उपवन-वन, जय-पराजय, सन्ध्या-सूर्योदय-सूर्यास्त, ऋतु वर्णन आदि का यथेष्ट चित्रण होना चाहिए।

महाकाव्य की इस रूप-रेखा को देखने से ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ के साहित्यकारों का विशेष आग्रह उसके र के विषय में है उसके अन्तरात्मा की ओर वशेष रूप से ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार का लक्ष्य यूनान और उसके पश्चात् इटली के साहित्य शास्त्रियों का भी था। वर्तमान युग का साहित्यकार और समालोचक इन लक्षणों से सन्तुष्ट नहीं हो सका, उसके मन में रहकर यह शङ्का उठती है कि क्या केवल आकार प्रकार की इस विशेषता से कोई ही रचना महाकाव्य बन सकती है अथवा कोई अन्य विशेषता भी अपेक्षित है। इस शङ्का का सम्यक् समाधान पाश्चात्य विद्वानो ने किया है। उन्होंने विभिन्न देशों के महाकाव्यों का अध्ययन कर उसकी मूलभूत आवश्यकताओं का निर्देश किया। उसके अनुसार महाकाव्य एक ऐसे विजयी नायक का चित्रण करता है जो किसी नीति अथवा आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है और उसी नीति अथवा आदर्श की विजय के साथ विजयी होता है। वह कोई महान अथवा महत्त्वपूर्ण व्यापार हमारे सामने उपस्थित करता है और उसी प्रकार उसके पात्र भी महान और महत्वपूर्ण होते हैं। महाकाव्य की सम्पूर्ण रचना में एक प्रकार की गरिमा पाई जाती है, नाटक की तुलना में महाकाव्य के व्यापारों की गति धीमी होती है, उसमे घटना वाहुल्य होता है। महाकाव्य का वस्तु संकलन अपेक्षाकृत शिथिल होता है। महाकाव्य में मानवजीवन की जितनी ही विस्तृत भूमिका का ग्रहण होता है उतनी ही अधिक सफलता मिलती है। महाकाव्य कल्पना के माध्यम से हमें अतीत की उस धरती पर ले जाता है जिसका निर्माण स्वप्नों और आदर्शों के मेल से होता है जहाँ दुखान्त नाटकों का प्रवेश निषिद्ध है। महाकाव्य एक प्रबन्ध-प्रधान ऐसी रचना होती है जिसका वस्तु संघटन व्यवस्थित होता है, जिसमें महान व्यापारों और महान चरित्रों का सन्निवेश होता है, जिसकी शैली अपने कथानक की महानता के अनुरूप ही गरिमान्वित होती है, जिसका कथानक अपने उपर्युक्त प्रकार के आदर्शों की प्राप्ति कराता हुआ अपने वर्ण्य विषय को घटनाओं और वर्णन विस्तारों के द्वारा आदि से अन्त तक उसका प्रसाधन करता है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि जिन लक्षणों के द्वारा महाकाव्य की प्रतिष्ठा हुई है वे व्यापक जीवन के आधार पर स्थित हैं। वाह्य जगत की सम्पूर्ण

वस्तुओं को वह बोधगम्य कराता है। 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि' की उक्ति सर्वथा सत्य है। यदि एक कवि अपने प्रति ईमानदार है एवं अपने उत्तर-दायित्व को ठीक ठीक समझता है तो वह अपनी अनूठी प्रतिभा से एक नवीन विश्व का निर्माण कर सकता है। प्रच्छन्न जगत को कल्पना के द्वारा प्रकाश में लाने का काम कवि ही करता है, जब तक वह विश्व वेदना से आक्रान्त नहीं हो उठता तब तक वह प्रच्छन्न जगत में कैसे पहुँच सकता है :—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।

ये कमनीय पक्तियाँ तो एक भुक्तभोगी की ही लेखनी से सम्भव हैं। पाश्-चात्य महाकाव्यों में सबसे बड़ी बात (१) परम्परा के आधार पर जीवन के या आध्यात्मिक क्षेत्र की अभिव्यजना करना है। इसका परिणाम यह होता है कि कथावस्तु में लोकगाथा के विश्वास एवं अंधविश्वास प्रतिफलित हो जाते हैं। अलौकिक प्रभाव (Touch of the supernatural) का महत्वपूर्ण स्थान पाश्चात्य महाकाव्यो मे है यद्यपि हमारे यहाँ के महाकाव्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उदभूत हैं किन्तु इनमें अलौकिक प्रभाव का कोई स्थान नहीं है। पाश्चात्य महाकाव्यों में :—

नायक :—अधिपति, सुभट या Warrior होना चाहिये।
रस :—प्रधानतया बीर रस।
शैली :—उदात्त और जटिल।

सच तो यह है कि हमारे यहाँ के महाकाव्य धरती से उगते हैं किन्तु पश्चिम के महाकाव्य Paradise Lost स्वर्ग से ही चलते हैं लेकिन फिर भी धरती धरती है, स्वर्ग स्वर्ग ही; कल्पनाजनित स्वर्ग को किसने देखा है, पाश्चात्य महाकाव्य बिजली की कड़क से हवा के पंख लगाकर गगन बिहारी बनते हैं; प्रियप्रवास के कुजबिहारी नही, इसी के विश्व साहित्य मे सस्कृत के महाकाव्य (रघुवश, शिशुपालवध, नैषध आदि) सर्वोत्तम हैं।

इससे परिणाम यह निकला कि महाकाव्य ऐसी प्रबन्धयुक्त रचना होती है जिसका वस्तु सगठन व्यवस्थित होता है जिसमे महान व्यापारो तथा चरित्रों का सन्निवेश होता है। जिसकी शैली अपने कथानक की सहायता के अनुरूप गरिमायुक्त होती है। जिसका कथानक अपने उपर्युक्त प्रकार के चरित्रों तथा व्यापारो के आदर्शों की प्राप्ति कराता हुआ अपने वर्ण्य विषय की

घटनाओं एवं प्रासंगिक घटनाओं तथा वर्णन विस्तार के द्वारा आदि से अन्त तक उच्च बनाये रखता है। महाकाव्य किसी ऐसे महामहिम-महिमा-मंडित कथानक या व्यापार के गरिमापूर्ण कथा प्रबन्ध की वह सात्विक अभिव्यक्ति है जिसका कथानक किन्हीं वीर पात्रों और प्राकृत शक्तियों द्वारा सर्वाधिष्ठात्री नियन्त्रण में प्रतिष्ठित होता है। महाकाव्य के कथानक में किसी राष्ट्र अथवा समस्त मानवता की राजनीतिक अथवा धार्मिक भावनाओं का सन्निवेश होता है। महाकाव्य लौकिक अनुश्रुतियो अथवा अनुश्रुतिबद्ध विचारों के कारण समादर प्राप्त करता है और पाठकों के मन में रहस्य पूर्ण दिव्य अनुभूति की जागृति करता है। यह अशक्त मानवता को विनाशकारिणी परिस्थितियों मे से निकालकर उसकी अशान्ति को दूर करता है तथा उसे ऊँचा उठाकर शान्ति प्रदान करता है। पाश्चात्य समालोचक महाकाव्य की अन्तरात्मा की ओर विशेष ध्यान देते हैं जो अपने अनुरूप काव्य शैली का निर्माण बहुत कुछ स्वतः कर लेती है। उसमें उस अन्तरङ्ग की व्याख्या का गर्व विद्यमान रहता है जो बहिरङ्ग को रूप प्रदान करता है, जो स्वर्गीय एव दिव्य होता है।

खंड काव्य—खंड काव्य एक अङ्ग का ही विकसित रूप है किन्तु आज कल एक घटना या चरित्र के एक पत्त को लेकर जिस काव्य की रचना की जाती है उसे खंड काव्य कहते हैं। चरित्र या घटना अपने में स्वतः पूर्ण होनी चाहिये। खंड काव्य केवल महाकाव्य का अङ्ग नही कहा जा सकता इसकी परिधि छोटी होती है तथा आकार में भी यह लघु होता है। सभी दृष्टियों से इसकी सीमाएँ हैं। इसका उद्देश्य व्यापार तथा कथावस्तु सीमित होते हुए भी अपने मे पूर्ण होती है। इसके लिये कोई विशेष नियम नही हैं, हाँ, केवल इसे चार सर्गों से कम न होना चाहिये। यों तो संस्कृत साहित्य में कथा को दो नामों से जानते हैं :—

(१) कथा (२) आख्यायिका। दोनों ही पद्य में लिखे जाते हैं जैसा कि नाम से स्पष्ट है। खंड काव्य में केवल जीवन का एकांगी दृष्टिकोण होता है। खंड काव्य मे कथा की परिणति में सम्पूर्ण जीवन नहीं रहता, इसलिये महाकाव्य की भाँति इससे कहने सुनने से मोक्ष प्राप्ति का विधान नहीं रहता। संक्षिप्त होने के कारण यह (१) प्रख्यात (२) उत्पाद्य (कल्पना प्रसूत) (३)

मिश्र होती है। परम्परानुसार ऐसे ही खंड काव्य अधिक लिखे गये हैं। महा काव्य की तरह इसमें मान्यताएँ नहीं रहतीं। यह आदि से अन्त तक एक ही छन्द में लिखा जाता है।

खंड काव्य आधुनिक काल की सब से प्रिय रचना है। हमारा आप का जीवन अधिक व्यस्त होने के कारण साहित्यानुशीलन में अधिक समय नहीं दे पाता जैसे उपन्यास की अपेक्षा कहानी, नाटक की अपेक्षा एकाकी अधिक लोकप्रिय हैं, उसी प्रकार खंड काव्य भी हैं। इसका दायित्व भी इसी से महा-काव्य से कम है। उदाहरणार्थ सुदामा चरित्र, जयद्रथबध, नहुष, काबा और कर्बला, सिद्धराज, गंगावतरण, उद्धवशतक, पथिक, मिलन, स्वप्न, उन्मुक्त आदि हिन्दी साहित्य के प्रमुख खंड काव्य हैं :—

इसके अतिरिक्त काव्य का एक और रूप है जो पश्चिम से हमारे हिन्दी साहित्य में आया है जिसे Diamatic Poetry यानी अभिनयात्मक काव्य कहते हैं इसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्रगीत पद्य ।

(२) गीति नाट्य ।

(१) प्रगीत पद्य—प्रगीत पद्य के वर्णन संवादात्मक या जिसमें कार्यों का संकेत पद्य द्वारा होता है, इस प्रकार के प्रगीत कम हैं। एकाध प्रगीत पद्य श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखे हैं।

(२) गीति नाट्य—क्रिया, अनुभाव और हाव-भावों की स्पष्टता एवं उनके संकेत जो काव्य द्वारा स्पष्ट किये जाते हैं वही काव्य में गीति नाट्य कहलाते हैं। गीति नाट्यों की रचना श्री उदय शङ्कर भट्ट ने की है परन्तु ये भी अभी अपनी शैशव अवस्था में हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी कभी कभी प्रगीत पद्य और गीति नाट्य के उत्तम उदाहरण मिल जाते हैं।

हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि

आजकल जिस बोली को साहित्य तथा समाज व्यवहार में लाता है तथा जिसके माध्यम से आधुनिक हिन्दी साहित्य रचा गया है वह खड़ी बोली के नाम से प्रख्यात है। हिन्दी की शाखाएँ उर्दू, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बिहारी तथा पहाड़ी हैं।

राजस्थानी भाषा राजस्थान तथा मालवा आदि के निकटवर्ती प्रदेशो में बोली जाती है, चन्दबरदाई और मीराँबाई इस भाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। कबीर की भाषा मे भी यत्र तत्र राजस्थानी भाषा के शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। ब्रजभाषा मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। ब्रजभाषा सब भाषाओं से मधुर एवं रस परिपक्वता में अपना एक अलग स्थान रखती है। सूरदास, नन्ददास, मतिराम, देव, बिहारी, पद्माकर एवं सेनापति आदि महाकवियों ने इसे अपनी कविता की भाषा बनाकर इसके महत्व की श्रीवृद्धि की है।

अवधी भाषा अवध प्रात मे बोली जाती है। कबीर तथा जायसी की भाषा मे अवधी भाषा का रूप विद्यमान है। तुलसी का रामचरित मानस भी इसी भाषा में है। इस भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि होने का गौरव इन्ही को प्राप्त है।

खड़ी बोली हिन्दी की प्रचलित बोलियो में से एक है और आधुनिक साहित्य की रीढ़ है, यह रुहेलखंड गगा के उत्तर दोआबा तथा अम्बाला जिलों में बोली जाती है। वर्तमान समय में भारत की यही राष्ट्रभाषा है। बीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी में एक नवीन युग का सूत्रपात होता है। यही कारण है कि भारतेन्दुजी आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इन्होने गद्य पद्य की अनेकानेक पुस्तकें लिखकर भाषा का एक निश्चित स्वरूप निर्धारित किया, अतः इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप खड़ी बोली ही गद्य की एकमात्र भाषा बन गई। बाद मे प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी

साहित्यिक सेवाओं के द्वारा इसकी उन्नति की। अन्ततोगत्वा सारे हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली मान ली गई।

हिन्दी कविता का विकास यानी जन्म संवत् १०५० के लगभग माना जाता है। इतिहासकारों ने इसके पूर्व के समय को 'अन्धकार-काल' के नाम से पुकारा है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'आदि-काल' में उस काल की शोधपूर्ण सामग्री संकलित है। उस समय से लेकर आज तक एक सहस्र कवियों ने विविध विषयों के सहस्रो काव्य ग्रंथो का प्रणयन किया है। इस प्रकार हिन्दी कविता के दीर्घ-कालीन इतिहास को साहित्य मनीषियों ने विषय की प्रधानता की दृष्टि से चार कालों में विभाजित किया है जिस विषय की जिस समय प्रधानता रही वही उस काल का नाम रखा गया।

(१) वीर गाथा या चारणकाल सवत् १०५० से १३७५ तक।

(२) भक्तिकाल सवत् १३७५ से १७०० तक।

(३) रीतिकाल सवत् १७०० से १६०० तक।

(४) आधुनिककाल संवत् १६०० से अब तक।

इन कालो में प्रधानता एक ही विषय की रही, यद्यपि रचनाएँ अनेक विषयों को लेकर हुईं। काव्य की दृष्टि से वीर गाथा काल में हिन्दी कविता का सूत्र-पात हुआ। भक्ति युग में भाषा और भाव दोनो की समान रूप से उन्नति हुई। रीतिकालीन कवियों का ध्यान श्रृङ्गार की ओर अधिक रहा। आधुनिक काल में कवियों ने जीवन की विविध समस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाया है और पुराना परिपाटियाँ त्याग कर नए नए प्रयोगों के सहारे नवीन नवीन ग्रंथों की रचना कर रहे हैं।

वीर गाथा काल :– इस काल में हिन्दी भाषा में अपभ्रंश तथा राज-स्थानी भाषा के शब्दों का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ, हिन्दी कविता का जन्म जिस समय हुआ उस समय उत्तरी भारत में हिन्दुओं के छोटे छोटे राज्य थे। वे कभी तो अपने शत्रुओ को नीचा दिखाकर अपना मान गौरव बढ़ाने और कभी केवल अपनी वीरता का कोरा प्रदर्शन करने के लिए लड़ बैठते थे। राजपूत राजाओं के दरबार में बहुत से चारण और भाट कवि रहा करते थे जो अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम तथा प्रताप के वर्णन में वीर रसमयी सूक्तियाँ कहा करते थे क्योंकि उनका कार्य ओजस्विनी कविताओं से अपने आश्रयदाताओं

को उत्साहित करना था। उस समय भारत में उत्तर पश्चिम की ओर से मुसलमानों के आक्रमण होते थे और वहाँ के राजाओं को उनसे लड़ना पड़ता था। उस समय तो उन्हें अपने आश्रय-दाताओं की वीरता का वर्णन करना ही इष्ट था। ये कवि अपनी कृतियाँ अपने पुत्र पौत्रों को उत्तराधिकार के रूप में छोड़ जाते थे। इसी परम्परा का प्रतीक हमारे साहित्य का प्रारम्भिक युग है। इस युग की कृतियाँ अपने मूल रूप में आज अप्राप्य है इसीलिए हम उनका ठीक ठीक साहित्यिक मूल्याकन करने में असमर्थ हैं फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस युग का साहित्य कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण अवश्य है।

वीर गाथा काल की विशेषताएँ :—

(१) वीर गाथा काल में भारत की राजनीतिक परिस्थिति संकुचित राष्ट्रीय भावना की थी। मेवाड़, बूँदी, जैसलमेर, कन्नौज, दिल्ली आदि छोटे छोटे क्षेत्र इतनी संकुचित भावनाओ वाले हो गए थे कि वे अपने को ही एक पृथक राष्ट्र समझे बैठे थे और अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए दूसरे का अनिष्ट करने मे भी नहीं चूकते थे। राजाओं की सुन्दर रूप सम्पन्न कन्याएँ भी युद्ध का कारण बनती थीं। ब्याह मंडप युद्ध भूमि में बदल जाते थे। प्रेमी प्रेमिका का प्रेम युद्ध का कारण बनता था और वीर राजाओं की युद्ध चातुरी तथा रण कौशलों पर वे रानियाँ न्यौछावर हो जाया करती थीं; वही गुण उनमे प्रणय-संचार का भी कारण बनता था। इसी कारण से इस काल में वीररस की वाणी गूँजती रही परन्तु शृङ्गार को साथ लेकर क्योंकि वीररस का स्रोत ही शृङ्गार से निकलता था।

(२) वीर गाथाएँ अप्रामाणिक हैं, 'वीसल देव रासो' ऐसे ऐसे उच्चकोटि के ग्रंथ भी प्रक्षिप्त अंशो से पूर्ण होने के कारण शंका के कारण बनते हैं।

(३) तत्कालीन काव्यों की भाषा का स्वरूप अपेक्षाकृत विकृत है।

(४) ऐतिहासिक वृत्तों के साथ मनमाना व्यवहार किया गया है।

भक्तिकाल :—वीर गाथा काल का जन्म होने तक भारत मे मुसलमानों के पैर जम गए थे। मारकाट और पारस्परिक कलह समाप्त हो रही थी, दोनों जातियों मे एक दूसरे को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी। 'मुसलमान

हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हमजा। नल और दमयन्ती की कथा मुसलमान जानने लगे थे और लैला मजनूँ की हिन्दू। हिन्दुओं की ओर से जो हिन्दू मुस्लिम एकता करवाने का प्रयत्न किया गया वही सन्त साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ। यवनों के राज्य स्थापित हो जाने के अनंतर उन लोगो ने धर्म प्रचार का बीड़ा उठाया। हिन्दुओं के मन्दिर धराशायी कर दिये गये, तलवार की धार से यहाँ के निवासियों को विजातीय धर्म स्वीकार करने के लिये वाध्य किया गया। ऐसी विभिन्न स्थिति में 'देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल पराक्रम की ओर से हटकर भगवान की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य काल था जिसमें भगवान के सिवा और कोई सहारा नही दिखाई देता था।

सामाजिक परिस्थिति :—वह समय हिन्दू धर्म का ऐसा अभिशाप काल था कि उसे यवनों के ही नहीं स्वयं हिन्दुओं के अत्याचार से भी बचाना अभीष्ट था। हिन्दू जाति केवल कोरे सिद्धान्तवाद की खोखली नींव पर टिकी थी। वर्ण व्यवस्था की विषमता के कारण समाज में क्रूरता और विषमता का प्रादुर्भाव हुआ, मुसलमानों के विशेषतया सूफियों के कोमल भुलावो से प्रभावित होकर हिन्दू जाति का त्याज्य अंश निम्न वर्ग तेजी के साथ मुसलमानी धर्म को स्वीकार कर रहा था, उसे यवन धर्म स्वीकार करने से रोकना आवश्यक था।

धार्मिक परिस्थिति :—बुद्ध के निरीश्वरवादी सिद्धान्तों में जन समाज के हृदय में अनैश्वरवाद का बीजारोपण कर दिया था, विश्वास का एक आधार जो कि विपत्ति के समय में भी हमें धैर्य बँधाता है, छिन गया था, 'होइहैं वहै जो राम रचि राखा' के बिना जन समाज पतवार विहीन नौका की तरह उत्ताल तरंगों के आघातों से इधर उधर थपेड़े खाता हुआ विनाश की ओर अग्रसर हो रहा था। कबीर के जन्म के समय निराकारवाद का पर्याप्त बोलबाला था, डर तो इस बात का था कि यहीं निराकारवाद अशिक्षित एवं साधारण जन वर्ग में जाकर कहीं अनैश्वरवाद न बन बैठे। उसी समय सूर और तुलसी साकारवाद का गुणगान करते हुए आए और हिन्दू जनता की घुटती हुई निराधार आशा लतिकाओं मे उमड़ घुमड़ कर बरस गए, शुष्क धमनियों में कृष्ण राम की पीयूषवर्षिणी भक्ति ने शक्ति के रस का

संचार किया। फलस्वरूप हिन्दू जाति को नई शक्ति मिली, अन्धकार से घुटती साँसों को उन्मुक्त वातावरण मिला। इस युग को चार प्रधान धाराओं में बाँटा जा सकता है—

(१) सन्त काव्य धारा।

(२) सूफी काव्य धारा।

(३) कृष्ण काव्य धारा।

(४) राम काव्य धारा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल को स्वर्ण युग के नाम से अभिहित किया जाता है क्योंकि साहित्य गगन के सूर्य, शशि, उड़गन उत्पन्न करने का श्रेय इसी युग को है। 'सिर धुन गिरा लागि पछताना' से ऊपर उठकर इस युग का काव्य स्वान्तः सुखाय लिखा गया।

(१) सन्त काव्य धारा [१४०० से १८०० तक] यह खड़ी बोली के अन्तर्गत आती है, यह साहित्य बहुत अस्थिर एवं विशृङ्खल रूप में हमें प्राप्य है।

१—क्योंकि इसके लिखने वाले प्रायः 'मसि कागद तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ' के स्कूल के थे, उनके शिष्यों ने आगे चलकर उनकी वाणियों को लिपिबद्ध कर लिया।

२—सन्तों की वाणी मौखिक परम्परा से अधिक समय तक चली। सन्तों ने अपने ग्रन्थों की रचना प्रायः धार्मिक दृष्टि से की, साहित्यिक दृष्टिकोण गौण था। उपदेशात्मकता धार्मिक अंग की प्रमुख भावना थी। उनके जीवन के सम्बन्ध में निजी मौलिक विचार थे जो कि परम्परागत विचारों से मेल न खाते थे। इनका प्रारम्भ धार्मिक वितंडावाद के सुधार के लिये हुआ था। प्रारम्भ में इन सुधारकों का ध्येय निश्चित संप्रदाय स्थापित करने का नहीं था, कालान्तर में इन सुधार आंदोलनों को पन्थ का स्वरूप दे दिया गया। परम्परागत धर्म का सुधार ही इसका उद्देश्य था। इनका सम्बन्ध पिछले काल की सिद्ध तथा योग धारा से है। नाथ संप्रदाय की धारा से सबसे अधिक सम्बन्ध संत साहित्य का है, इसके अतिरिक्त दूसरा प्रभाव इस पर हमें इस्लाम धर्म का मिलता है। तीसरा प्रभाव समकालीन वैष्णव संत

संप्रदाय का पड़ा। रामानन्दी सम्प्रदाय इसमें प्रमुख था। कबीर को रामानन्द का शिष्य ही माना गया है इन सबके मिश्रण से संत साहित्य की सृष्टि हुई। संत साहित्य के दो पहलू हैं :—

(१) धार्मिक तथा दार्शनिक।

(२) साहित्यिक तथा भाषा सम्बन्धी।

(१) धार्मिक तथा दार्शनिक :—ईश्वर के सम्बन्ध में संतों ने निर्गुण ब्रह्म शून्य या सत्पुरुष की कल्पना की है। निर्गुण ब्रह्म की कल्पना मे लोक शास्त्र का प्रभाव है, सच तो यह है कि निर्गुण ब्रह्म की कल्पना बौद्ध धारा से प्रभावित है। शून्य और एकेश्वर वाद पर इस्लामी विचार धारा का प्रभाव है। अद्वैतवाद की कल्पना वैष्णव धारा से प्रभावित है। ईश्वर के सम्बन्ध में सभी धाराओं के मिश्रित प्रभाव से प्रभावित होकर समन्वयवादी कल्पना की गयी है।

(२) ईश्वर की प्राप्ति—इसके सम्बन्ध मे भी उपर्युक्त तीनों धाराओं का प्रभाव स्पष्ट-है। इसमें ईश्वर प्राप्ति के निम्न साधन बताये गये हैं :—

(क) साधन :—अनेक प्रकार की अनुभव एव ज्ञानजन्य साधनाओं द्वारा ईश्वर प्राप्ति साध्य बताई गई है।

(ख) प्रेम मार्ग :—इस पर भी सन्तों ने बहुत बल दिया है जो स्पष्टतः सूफी धारा से प्रभावित है।

(ग) भक्तिः—भक्ति पर भी इन सन्तों की आस्था रही है। साधना और प्रेम के साथ भक्ति को भी इन्होंने महत्त्व दिया है। यह निश्चित रूप से वैष्णव धारा का प्रभाव था।

साधना के सहायक अंग :—इन उपायों में मुख्य अंग गुरू है जो कि गोविन्द से भी बड़ा बताया गया है। जिसके बिना साधना असम्भव है। इस्लाम धर्म में भी गुरू की आराधना पैगम्बर के रूप में की गई है।

(२) सत्संग :—सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुलायक अग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्सग ॥

इस प्रकार सत्संग की महिमा बताई गईं हैं, गुरू के बाद सत्संग का ही महत्त्व स्वीकार किया गया है, उनका विश्वास था कि उचित वातावरण के बिना मनुष्य को ईश्वर-प्राप्ति नही हो सकती। इसी से सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निन्दा की गयी है।

(३) सदाचरण :—इस धर्म की अपनी निजी विशेषता थी। हमारे वैदिक धर्म मे गुरू की भावना नहीं थी। योग की परम्परा हमारे देश की लौकिक परम्परा थी जिसे संतों ने अपनाया।

संतों की रचना में धार्मिक रूपको (प्रतीकों) का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है। साथ ही इस शैली को हम रहस्यवाद की संज्ञा दे सकते हैं, इस प्रतीकवाद का मुख्य शैली का कारण सन्तों का निर्गुण पर विश्वास था। निराकार ब्रह्म का वर्णन सीधे सरल शब्दों में करना कठिन था, इसीलिये प्रतीकों की आवश्यकता हुई। ईश्वर को पुरुष और जीव को स्त्री का रूपक माना गया है :—हरि मोर पीव मै हरि की बहुरिया।

यह विचार कुछ अंशों तक सूफियो की विचारधारा से मेल खाता है क्योंकि अनुभव, ज्ञान और साधना मे वे भी विश्वास करते थे इसी से उनमें संकेतात्मक पद्धति का प्राचुर्य है।

अन्य धार्मिक विशेषताएँ :—प्राय: प्रत्येक संप्रदाय ने केवल व्यंजनात्मक रूपकों का ही सहारा नहीं लिया, प्रत्युत धार्मिक वितंडावाद का भी जोरदारी के साथ खन्डन किया है। मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थ-यात्रा तथा वेद और शास्त्रों की प्रामाणिता का इन सन्तो ने डटकर विरोध किया। भारत में चार्वाक के समय से ही नास्तिक विचारधारा चलती रही है। इसे और इसके प्रभाव को हम कई रूपों में पाते हैं। नाथ सम्प्रदाय एवं बौद्ध धर्म में भी वह रूप हमें प्राप्य हैं। इस्लाम धर्म भी इन कर्म कांडों के बहुत पक्ष मे न था।

साहित्यिक विशेषतायें :—संत साहित्य मे कुछ अभाव हमें खटकते हैं :

(१) सन्त साहित्य का वाङ्मय परिष्कृत नहीं है। भाषा सधुक्कड़ी और खिचड़ी है। छन्दों में शास्त्रीय नियमो का पालन नहीं है। राम भक्ति और कृष्ण साहित्य में यह अभाव हमें नहीं दृष्टिगत होता।

(२) प्राचीन भारतीय या विदेशीय काव्य प्रणालियों के अनुकरण का विशेष आग्रह है। नाटक या खण्ड काव्य इन कवियों ने नहीं लिखे। किसी महापुरुष को नायक मानकर भी इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना नहीं की। पौराणिक आख्यानो का भी उपयोग नहीं किया। पदों और दोहों के रूप मे भी अन्य छंदों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया।

(३) सन्त साहित्य में कला पक्ष की शून्यता है एवं रसात्माकता विशेष नहीं मिलती। यह सन्त साहित्य की विशेषता है। इसी प्रकार रस परिपक्वता की दृष्टि से भी सन्त साहित्य में अभाव खटकता है।

(४) सन्त साहित्य मे हमें निश्चित सन्देश और ध्येय दिखाई पड़ते हैं, जो कि नैतिक, धार्मिक, सामाजिक पृष्ठ भूमि पर है। ध्येय बहुत ही साफ और स्पष्ट है।

(५) सन्त साहित्य में सभी कुछ गीति काव्य मे लिखा गया, जिसमे सन्तों की आत्मानुभूति का चित्रण उच्चकोटि का है।

(६) अकृत्रिमता एव नैसर्गिकता इस साहित्य की अपनी विशेषता है यह गुण उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी मिलता है। काव्यगत वैचित्र्य लाने का प्रयास किंचित मात्र नहीं है।

(७) अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग संत काव्य में अधिक हुआ है। संत काव्य प्रधानता वर्णनात्मक नही है, प्रत्युत उसे ध्वनि काव्य की श्रेणी में रखना पड़ेगा, प्रतीक पद्धति को इसमे विशेष स्थान दिया गया है।

सन्त कबीर

१ जीवन वृत्त :—

जन्म-संवत्—विवाद ग्रस्त परन्तु डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार उनकी जन्म तिथि ज्येष्ठ अमावस्या सम्वत् १४५५ मानी जाती है।

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥

जाति पाँति अज्ञात किंवदतियों के आधार पर विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से जिसे रामानन्द ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था, उत्पन्न हुए थे। कबीर अपने को पूर्व जन्म का ब्राह्मण मानते हैं :—

कासी का मैं बासी बाँभन, नाम मेरा परबीना।
एक बार हरिनाम बिसारा, पकरि जुलाना कीन्हा॥

जन्म स्थान और गुरू के बारे में स्वयं उनका मत यह है :

काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चेताए !

विवाह और पुत्र :—विवाह लोई नामक स्त्री से हुआ :—

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हरि बिनु राखत हमें न कोई ।

पुत्र का नाम कमाल था, सासारिकता की ओर अधिक झुकाव होने के कारण कबीर कमाल से असन्तुष्ट रहे :—

बूड़ा वश कबीर का, उपजा पूत कमाल ।
हरि का सुमिरन छोड़ के, घर ले आया माल ।

मृत्यु :—सस्ते मोक्ष से कोसों दूर, कबीर मरण काल में मगहर चले गये ।

जो कासी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा ।

वहीं सम्वत् १५७५ में मृत्यु हुई ।

२ व्यक्तित्व —

उन्हीं के शब्दों में :—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ।
हुए आजाद दुनिया से, हमन दुनियाँ से यारी क्या ।
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से ।
यों चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ।

स्वभाव से फक्कड़, फाकेमस्त, मन से मौजी, एवं मस्तमौला ऐसा था उनका अनूठा व्यक्तित्व । अक्खड़ इतने कि चिल्ला चिल्लाकर डंके की चोट पर जीवन भर कहते रहे :—

कबिरा खड़ा बजार मे, लिए लुकाठा हाथ ।
जो घर फूँकै आपना, चलै हमारे साथ ॥

है किसी की बाहों मे बिजली जो ऐसे सैलानी के साथ कौंध सके । ऐसा अक्खड़ जिधर गया उधर ही तना रहा, लचकना तक तो जानता नहीं था, टूटना तो रहा कोसों दूर । यह मस्तमौला जिस रास्ते मुड़ा उधर ही एक नया रास्ता बन गया, उसका गति के घुमाव के साथ राहें स्वयं मुड़ गईं । नई भाषा, नये विचार, नवीन शैली, नये सिद्धान्त सभी ओर नवीनता ही नवीनता की धुआधार घटा छा गयी और उमड़ घुमड़कर भारतीय साधना पर जी भर कर बरसती रही; कोई गोवर्धनधारी नहीं था जो 'प्रलय करने बरसन लगे' से

मुठभेड़ लेता। भला फिर एसा व्यक्तित्व खोखले लोक धर्म और लोकाचार के बन्धनों में कैसे बँधता।

कबीर की विशेषता : कबीर भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण (रिनैसा) के युग-प्रवर्त्तक सन्त स्वीकार किये गये हैं। उनका नभव्यापी व्यक्तित्व पूरी पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के तीसरे चरण को आलोकित कर रहा है। वे ऐसे देहरी-द्वार पर आत्म ज्ञान का दीप जलाए बैठे हैं जो बाहर-भीतर सर्वत्र उजाला फेंकने की सामर्थ्य रखता है। युग सन्धि में उत्पन्न होने का भगवद्दत्त सौभाग्य कबीर को ही मिला था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य के पृष्ठ १२० में इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

'सयोग से वे ऐसे युग सन्धि के समय उत्पन्न हुये थे जिसे हम विविध धर्म साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। उन्हें सौभाग्य-वश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं, वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान के नृसिंहावतारकी मानो प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाति नाना असभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन विन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकश्यपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकने वाला न मनुष्य हो, न पशु, मारे जाने का समय न दिन हो न रात, मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश, मार सकने वाला हथियार न धातु का हो, न पाषाण का। इसीलिए उसे मार सकना एक असंभव और आश्चर्य-जनक कार्य था। नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियो के मिलन-विंदु को चुना था। असंभव व्यापार के लिये शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन विंदु भगवान को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-विंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसल-मानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग। जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त

चौराहे पर वे खड़े थे, वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा मे गये मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।'

कबीर जनता जनार्दन के कवि थे। अपने युग की विराट सामाजिक और सांस्कृतिक जागृति के वे सूत्रधार थे। उन्होंने अपनी वाणी के द्वारा तत्कालीन युग की खोखली आचार-प्रवणता, सामाजिक गतानुगतिकता एवं रूढ़ि धर्मिता पर कसकर प्रहार किया एवं जिन सहज सामान्य मानवीय आदर्शों की स्थापना की, वे निश्चित रूप से भावी पीढ़ी के लिए जीवित संदेश बने।

८. सिद्धान्त :—

कबीर के हमें दो प्रकार के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं—

(१) धार्मिक तथा दार्शनिक।

(२) सामाजिक।

कबीर समन्वयवादी थे। इनकी तार्किक बुद्धि सदैव इनके साथ रही फलतः किसी का अन्धानुकरण न करके सबके दोषों पर खरी खरी भाषा में प्रकाश डाला। इसलिए इनके मत में यद्यपि कोई नई बात नहीं है, केवल सभी मतों के अच्छे विचारो का नवीन दृष्टिकोण के साथ संकलन है। वैष्णव धर्म से उन्होंने दया और भक्ति के गुण अपनाए। शांकरवाद से जीव ब्रह्म की एकता और मायावाद लिया। बौद्ध धर्म से निर्गुण सगुण से परे शून्यवाद का आधार लिया। इनका अक्षय पुरुष या सत्गुरु निर्गुण सगुण से परे बौद्धों के शून्य में है :—

अछय पुरुष यक पेड़ है, निरगुन वाकी डार।
तिरदेवा शाखा भए, पात भया संसार॥

देश मे उस समय योग धर्म और हठयोग का प्रचार था, हठयोगियों के इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, अष्टदल, अनहदनाद, त्रिकुटी, सहस्त्रदल कमल, कुन्डलिनी, ब्रह्मरन्ध्र आदि का उल्लेख इनकी साखियों, पदों और उलटवासियों मे मिलता है। मुस्लिम धर्म का सिरजनहार एकेश्वर जो घट घट वासी हैं, सन्तों की वाणी में मिलता है। मुस्लिम सूफीमत के प्रेम का प्रगाढ़ तत्व भी यत्र तत्र परिलक्षित होता है :—

विरह बान जिन लागिया, औषधि मिलै न ताहि।
सुसुक सुसुक मरि मरि जियै, उठै कराहि कराहि॥

निर्गुण के प्रति दाम्पत्य प्रेम, विरह भावना की प्रधानता और रूपकीय स्वरूप से इनके रहस्यवादी प्रतीक ओत-प्रोत हैं।

नैना अंतरि आव तूँ, ज्यू हौं नैन झपेउँ।
ना हौं देखौं और कूं, न तुझ देखन देउँ॥

इस प्रकार कबीरदास जी अद्वैतवाद, एकेश्वरवाद, शून्यवाद, सूफीमत और हठयोग से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म के मिथ्याडम्बर का विरोध करते हुये धर्म के सामान्य रूप दया, दाक्षिण्य, उपकार, क्षमा और सत्य के समर्थक थे।

(४) दार्शनिक विचार :—उन्होंने जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार करके शाकर मत की ही प्रतिष्ठा की। मायावाद का भी आश्रय लिया। भक्ति, क्षमा, दया, अहिंसा आदि गुणों में वे रामानन्द से प्रभावित थे। जीव-ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में वे कितने स्पष्ट हृदय वाले थे :—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

जीव ब्रह्म की एकता के साथ उन्होंने माया का भी महत्व स्वीकार किया। अवतारों को माया का ही विकार माना :—

दस अवतार ईश्वरी माया, कर्ता के जिन पूजा।

कबीर ने अव्यक्त के समीप पहुँचकर तन्मयता की अवस्था मे जिस तादात्म्य भावना को रहस्यात्मक प्रतीक पद्धति में लिखा है वह शाब्दिक इन्द्रजाल नहीं वरन् हृदय की सच्ची अनुभूति-साधना का सच्चा फल है। कबीर का 'हरि का भजै सो हरि का होई' 'घर की चक्की कोउ न पूजै जिहि का पीसा खाय' आदि विचार भिन्न-भिन्न संप्रदायों के द्वारा भी माननीय हैं। वे उपदेशक थे। हिन्दू मुसलमानों की पारस्परिक नृशंसता, दंभ और जड़वादिता को मिटाकर कबीर ने सत्य सनातन धर्म का प्रचार किया। उनके तर्क अकाट्य हैं, उनकी भक्ति भावना, परम प्रेम, हरि की बहुरिया बनना और फिर उसी को अव्यक्त राम बतलाना अत्यन्त अनुपम है। जन श्रुति के अनुसार ब्राह्मणी गर्भ प्रसूत और जुलाहा दम्पति-पालित होने के कारण दोनों (हिन्दू-मुसलमानों) का मेल कराया। वे आजकल के ब्रह्म दर्शन की डींग मारने वाले लोगों में से नही

बरन् दंभियों को ललकार कर डंके की चोट पर पछाड़ने वाले वीर अध्यात्मवादी कवि हैं।

कबीर ने अपने रहस्यवाद में अद्वैतवाद और सूफीमत की गंगा-यमुना प्रवाहित की है। वे अद्वैतवादी भावना की अभिव्यक्ति यों करते हैं :—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूट कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तथ कहौ गयानी।

कबीर में हटयोग का उल्लेख अनेकों स्थान पर हुआ है, धोती, नेती, वस्ति से सम्बन्धित अनेक पद मिलते हैं। वे रहस्यवादी तत्वज्ञान को भावना पूर्ण अनुभूति में ढाल कर बड़ी ही सरलता उत्पन्न कर देते हैं :—

बालम आओ हमरे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोउ कहैं तुम्हारी नारी, मोको यह सन्देह रे॥

कबीर की भक्ति-साधना प्रेम मूलक है जो वैष्णवों के रागानुगा भक्ति से प्रभावित है। भक्ति की व्याख्या करते हुए 'नारद भक्ति सूत्र' में कहा गया है कि—

सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा, अमृत स्वरूपा च, यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति तृप्तो भवति।

अर्थात् भक्ति प्रेम स्वरूपा है, भगवान में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है, और यह भगवत्प्रेम सचमुच अमृत है जो सबसे अधिक मधुर है, ऐसी परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है। (उसे फिर कुछ और पाने की इच्छा नहीं रहती।

जो भगवान भक्त के लिए ज्ञान के द्वारा अगम्य माना जाता है वही प्रेम की डोर में बँध जाने से पीछे पीछे डोलने लगता है। इसी प्रेम के द्वारा कबीर ने निराकार की नीरसता को सरसता में परिणत कर दिया। निर्गुण के प्रति यही वैयक्तिक साधना रहस्यवाद के नाम से उनके काव्य में प्रादुर्भूत हुई। ब्रह्म के साथ आत्मा की प्रेमानुभूति ही रहस्यवाद है। प्रेमानुभूति की चरम अवस्था दाम्पत्य प्रेम में ही देखी जाती है। यही कारण है कि रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में विरहिणी सदा उस परदेशी प्रीतम की याद में तड़पती रहती है :—

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहि निंदिया ।
तलफ तलफ के भोर किया ॥
तन-मन मोर रहंट अस डोलै,
सून सेज पर जनम छिया ।
नैन थकित भये पंथ न सूझै,
साईं बेदरदी सुध न लिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया ।

× × × ×

कैसे दिन कटिहैं जतन बताये जइयो,
एहि पार गंगा ओहि पार जमुना,
बिचवाँ मड़इया हमकाँ छवाये जइयो ।
अँचरा फारि के कागज बनाइन,
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
बहियाँ पकरि के रहिया बताय जाइयो ।

(५) काव्य सौन्दर्य:—'मसि कागद तो छुयो नहिं, कलम गही नहि हाथ, फिर भी कुछ अलौकिक संस्कारो तथा साधनाओं के माध्यम से उन्होंने जिस उच्च कोटि की कविता का सृजन किया है उसका हिन्दी साहित्य सदैव ऋणी रहेगा । यद्यपि 'हम उनकी कविता में रीतिकारों की सी प्रांजलता नही पाते, उनके पदों में मुशायरे की वाहवाही नही मिलती परन्तु कितना सत्य, कितना स्पष्ट और गूढ़ सिद्धान्त उनकी कविता में है ।' गुलाबराय के मत से कबीर का अभिव्यक्ति पक्ष चाहे सूर, तुलसी, केशव का सा न हो किन्तु जो कुछ है वह किसी रियासत से नहीं वरन् ईमानदारी से वे कवि कहे जा सकते हैं । जहाँ तक हृदय की सच्चाई, विचारों की गहराई और अनुभूति की तीव्रता का प्रश्न है वहाँ तक कबीर के कवित्व में सौन्दर्य-पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती । कबीरदास जी में सहज काव्य प्रतिभा थी और इसीलिए उनकी तीखी अटपटी वाणी में जो कुछ भी निकल आती है वही कविता बन जाती है । कबीर की

रचनाओं में बुद्धितत्व बहुत ऊँचा है। सम्पूर्ण काव्य जीवन की अनुभूतियों से ओत-प्रोत है।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज।
काल अच्यन्ता झड़पसी, ज्यूँ तीतर को बाज॥
पाणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिना छिप जाहिगे, तारे ज्यूँ परभाति॥

कबीर के दोहों, साखियों एवं पदों में मानव को उच्च भाव पर ले जाने की दिव्य शक्ति है। साधुता, नम्रता, प्रेम की महत्ता, अनासक्ति कर्म संयोग का सन्देश स्थान स्थान पर बिखरा पड़ा है :—

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल।

यह चेतावनी कितनी स्पष्ट और सुलझी हुई हैं :—

कबीर सूता क्या करे, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यों सोवै सुक्ख॥

कवि नसीम ने ऐसा ही कुछ कहा है :—

नसीम जागो कमर को बाँधो, उठाओ बिस्तर कि रात कम है।

जहाँ तक विचारों और सन्देश का प्रश्न है वहाँ तक एक मात्र गोस्वामी तुलसीदास के सिवा कोई भी कवि इनके निकट पहुँचने का साहस नहीं कर सकता। यहाँ तक कि कवीन्द्र रवीन्द्र और महात्मा गाँधी तक कबीर के व्यक्तितत्व के कायल और उनके काव्य सौन्दर्य के प्रशंसक है।

रागात्मक तत्व—कबीर ने कविता कविता के लिये नही की, वे प्रथमतः उपदेशक थे, कविता करना तो गौण था इसी से उनकी कविता में हमें रागात्मक तत्व अपेक्षाकृत कम मिलता है परन्तु जो कुछ प्राप्य है वह अपने ढंग का अनूठा है, अपने आराध्य के प्रति कबीर मे अखण्ड आत्मविश्वास था। उनकी अटूट आत्म निष्ठा कभी भी एक क्षण को अस्वस्थ नहीं हुई, अपने आपको प्रियतम के चरणों में निश्शेष भाव से सौंप देने का भाव जो उनमें था जिस घर में सगाई कर रहे थे, वह कोई ऐसा वैसा घर न था—खाला के घर की तरह कि खा पीकर रूमाल से हाथ साफ करते हुए झूमते बलखाते

निकल आए—वहाँ तो वही जाने का हकदार था जो पहले प्रवेश शुल्क के रूप में वेझिझक अपने हाथ से अपना मस्तक उतार कर रख दे। कबीर का यह प्रेम बाजारू बाटों से भी नही तौला जा सकता। ऊँच-नीच का भी भेद-भाव यहा नही स्वीकार किया जा सकता। यहा तो सिर्फ यही एक शर्त है—

'राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ'

कबीर ने भक्त का आदर्श पतिव्रता को स्वीकार किया है। जो सब की सेवा में व्यस्त रहते हुए बाहर से मृदु किन्तु भीतर से कठोर (साधन पथ में दृढ़) है। सती की सिंदूर रेखा के बदले काजल नही दिया जा सकता और कबीर के नैनों में भी राम रम गया है, वहा दूसरे के लिए जगह ही नही—

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाई।
नैनु रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाई॥

भक्त अपने भगवान पर एकाकी अधिकार चाहता है। उसकी यह अपनत्व भावना कितनी स्पृहणीय है—

नैना अतर आव तूँ, ज्यों ही नैन झँपेउँ।
नाँ हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ॥

कबीर का समर्पण आगे चल कर इतना निस्पृह हो जाता है कि वहाँ द्वैत भावना रहती ही नहीं, सब कुछ 'सोऽहम्' मे बदल जाता है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लग्गै है मेरा॥

डा० हजारी प्रसाद जी ने प्रेम की इस विचित्रता पर लक्ष्य किया है कि 'जो लोग इस रहस्य को नही जानते, वह व्यर्थ ही पाडित्य-प्रदर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारपात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल भेदी अंतस्तल से अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। यह प्रेम की मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है, असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नही है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है—इसकी प्रचडता सरलता का परिणाम है,

उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है। यह प्रेम वज्र से भी कठोर है, कुसुम से भी कोमल। इसमें हार भी जीत है, जीत भी हार है।'

इनका प्रियतम 'पुरुष एक अविनाशी' है। वे प्रियतम के स्वरूपों का स्मरण करते हुये अपने व्यक्तिगत प्रणय का निवेदन करते हैं जिसमें रागात्मक तत्व अपनी चरम अवस्था में विद्यमान है :—

जीहड़िया छाला पड़्यो, नाम पुकारि पुकारि।
आँखड़िया पर्दा पड़्यो, बाट निहारि निहारि॥

'त्रिकुटी में पिया' की सेज की कल्पना करना कबीरदास की रसिकता की गहराई का मापदण्ड है।

कल्पना तत्व :—नई नई अनूठी कल्पनाओं से इंद्रधनुषी चित्र बनाना कबीर को इष्ट नही था। वे धरती के गीत गाते थे, मिट्टी से नजदीक थे, सांकेतिक शब्दावली में सीधे सीधे अपना तथ्य निवेदन करना इनको अभीष्ट था। वे किसी की परवाह नहीं करते थे, जो भी कहना उन्हें इष्ट था वे कह जाते थे :—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥
मूड़ मुड़ाये हरि मिलै, सब कोउ लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ तें, भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥

किन्तु जो कुछ भी जैसा कबीर ने कहा उसको चरमावस्था तक पहुँचा दिया।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥

यहाँ उन्होंने विनम्रता और आत्मसमर्पण की हद कर दी।

शैली तत्व :—शिक्षा दीक्षा एवं काव्य शास्त्र के अध्ययन के अभाव से कबीर काव्योपयुक्त अभिव्यक्ति के साधन रस, अलंकार, साहित्यिक भाषा एवं छन्द आदि के प्रयोगों में अकिंचन रहे। परम्परागत पद्धति मे वे तो साखी सबद और रमैनी में अपने विचारों को उल्टे सीधे व्यक्त करते रहे, फलतः उनके काव्य का कला पक्ष बड़ा अटपटा, तीखा, नीरस और अरुचिकर हो

गया। उनकी कविता में हमें विभाव, अनुभाव, संचारी भाव एवं साहित्यिक मान्यताओं का स्पष्ट उल्लंघन मिलता है, वे बहुश्रुत थे, अहंवादी थे। किसी के व्यक्ति को अपने ऊपर लादना नहीं चाहते थे, जैसा मन में आया लिख डाला। अतः साहित्यिक दृष्टि से उनकी आलोचना करना ईमानदारी का गला घोटना है। कबीर की भाषा न तो तुलसी दास की तरह कोमल काव्य पदावलियों से युक्त, सरस, परिमार्जित है और न सूर की तरह माधुर्य पूर्ण। शुक्ल जी के शब्दों में कबीर की भाषा खिचड़ी है. सधुक्कड़ी है। इनकी भाषा में अवधी, व्रज, खड़ी बोली एवं पूर्वी बोली का बेमेल मिश्रण है। कबीर ने अतुकान्त छन्दों का प्रयोग किया है। दोहा, पद, साखी, रमैनी इनके प्रिय छन्द हैं। डा० रामकुमार जी के शब्दों में 'कबीर की शैली इतना अपनापन लिये हुये है कि कोई उसकी नकल भी नहीं कर सकता है, अपना विचित्र शब्द जाल, अपना स्वतन्त्र भावोन्माद, अपना निर्भय आलाप, अपने भावपूर्ण पर बेढगे चित्र ये सभी उसके व्यक्तित्व से ओत-प्रोत थे, कला के क्षेत्र में सब कुछ उसी का था' प्रतिभावान होने के नाते कबीर की पदावलियों मे अच्छे अच्छे अलंकार स्वतः आ गये हैं। उदाहरणार्थ :—

अछय पुरुष यक पेड़ है, निरगुन वाकी डार।
तिरदेवा शाखा भए, पात भया संसार॥ (सागरूपक)
गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी। (अनुप्रास)
कबिरा सोई पीर है जो जाने पर पीर
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर। (यमक)
गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गंभीर॥
चहुँ दिशि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर। (व्यंजना)

कबीर ने अभिधा, लक्षणा को छोड़कर व्यंजना से अधिक काम लिया है। भाषा की सजावट की ओर कबीर ने ध्यान नहीं दिया, वे देना मी नहीं चाहते थे। वे सहज जीवन के तत्वदर्शी थें अतः सहज भाषा लिखना ही उनके लिये अभीष्ट था। आचार्य सेन ने संकेत किया है कि मनुष्य के साथ मनुष्य के योग के लिए ही भाषा है लेकिन भाषा ही व्यापक और गंभीरतर योग में बाधक हो उठती है। सन्तों और साधकों का प्रधान लक्ष्य ही है मानव

के सत्य और साधना का योग। इसीलिए सत्य और साधना के क्षेत्र में इन्होंने भाषा को कभी मुख्य स्थान नही दिया।

इस प्रकार लीक को छोड़कर सायर सिंह सपूत की तरह कबीर ने अपनी प्रखर भाषा और अटपटी भावव्यंजना की झोंक में आकर जो कुछ भी कहा भले ही वह असाहित्यिक और मर्यादा का अतिक्रमण कर गया हो किन्तु उसके द्वारा साहित्य और धर्म को एक नई दिशा अवश्य मिली।

कबीर के मौलिक महत्त्व पर अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने कहा है कि सामन्ती व्यवस्था में धरती पर सामन्तों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। सन्तों ने धर्म पर से यह पुरोहितों का इजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। × × × सन्त साहित्य में मानव मात्र की सामानता की भावना एक मूल सूत्र की तरह विद्यमान है। विभिन्न धर्मों, जातियो और वर्गों में बँटे हुए समाज की निर्धन जनता यह विश्वास प्रकट किये बिना न रह सकी कि सभी मनुष्य भाई भाई हैं। सन्त साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच नीच का भेद न हो, जिसमें सताने वाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हो, समाज व्यवस्था का आधार प्रेम हो। सन्त साहित्य की सामाजिक विषय वस्तु का यह ऐतिहासिक महत्त्व है कि वह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है, उसमे जनता का लास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है, उसमे अन्याय का सक्रिय विरोध करने वाले वीरों के चित्र हैं। इस विषय वस्तु ने दुःख के दिनों में जनता का मनोबल कायम रखा, जीवन में उसकी आस्था बनी रहने दी।

सन्तो के गीत दूर-दूर के गाँवो मे इकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही है, भेदबुद्धि उनके पास नहीं फटकती। समाज के कर्णधारों की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमर वाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।

—डा० रामविलास शर्मा।

'सर्व मानव में योग' की शिक्षा अगर प्राप्त करनी है तो इन सन्तों के चरण तल में बैठना पड़ेगा। साधना का यह योग ही यथार्थ योग है। यह सन्त-साहित्य बड़ा विशाल है, विराट है। —आचार्य क्षिति मोहन सेन

और इस विशाल विराट सन्त साहित्य के प्रवर्त्तक होने का श्रेय सन्त कबीरदास को प्राप्त है।

जायसी

सूफी काव्यधारा

भूमिका—प्रेमाख्यान लिखने की परम्परा जायसी से पूर्व भी प्रचलित थी। इस धारा की प्राचीन रचना कुतुबन रचित मृगावती है जिसका समय लगभग १५०१ ई० है। इसके अतिरिक्त स्वप्नावती, मुग्धावती और मधुमालती नामक अन्य तीन प्रेम कहानियों का उल्लेख मिलता है। ये सारी कहानियाँ फारसी की मसनवी पद्धति पर लिखी गई हैं, तथा पूर्वी हिन्दी और दोहे चौपाई मे हैं, और इनके सभी पात्र हिन्दू घराने से सम्बन्धित हैं। ये प्रेम कहानियाँ मुसलमानों के द्वारा लिखी गईं। इन सहृदय मुसलमान कवियों ने इनके द्वारा मानो हिन्दू जीवन के साथ सहानुभूति प्रगट करने का पथ निकाला किन्तु पद्मावत को छोड़कर अन्य रचनाएँ साहित्य में ख्याति प्राप्त न कर सकी क्योंकि उनके प्रणेता जायसी की भाँति न तो काव्य मर्मज्ञ थे और न कला के कुशल पारखी। कुशल कवि जायसी ने भारतीय काव्य पद्धति के सहारे पद्मावत की रचना की। हिन्दुओ के प्रसिद्ध देवी-देवता शिव, पार्वती, विष्णु राम, हनुमान आदि को यथावसर अपनी रचना में ला खड़ा किया।

सूफी सन्तों की भक्ति-भावनाः—इनका स्वरूप वही है जो हमारे यहाँ की भक्ति का है। हमारे यहाँ इस आनन्दमयी भक्ति की साधना का चरम विकास माधुर्य भाव के रूप मे हुआ है। साधक स्त्री और साध्य पुरुष बनकर ही एकाकार होने का आनन्द प्राप्त कर तादात्म्य भाव से मिल जाते हैं। किन्तु सूफियो मे साधक अपने को पुरुष और साध्य को स्त्री मानकर चलता है:—

अल्लाह भी मजनू को लैला नजर आता है।

सूफियों का 'अनलहक' अद्वैतवाद के 'सोऽहम्' का रूपान्तर मात्र है। उसी का स्वरूप जायसी भी सर्वत्र देखते हैं :—

उन बानन्ह अस को जो न मारा।
वेधि रहा सिगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहि न गने।
वे सब बान वही के हने॥

उसी के प्रेम की पीर में पागल हो साधक साधना करता है। उसकी साधना की श्रेणियाँ क्रमशः नफ्स (इन्द्रिय), दिल (हृदय), अक्ल (बुद्धि) हैं। इन्हीं चार अवस्थाओं को सूफी नासूत (इन्द्रिय जगत) मलहूत (चित् जगत) जबरूत (आनन्द जगत) और लाहूत (सत्जगत) मानते हैं। नासूत साधना का प्रथम सोपान या प्रारम्भिक अवस्था है। नासूत से लाहूत की अवस्था प्राप्त करने के लिये सूफियों को क्रमशः शरीयत, तरीकत, हकीकत, मारिफत की सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। मारिफत की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते साधक शुद्ध बुद्ध चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। उसमें अनलहक (मैं हक (ब्रह्म) हूँ) का ही भाव रह जाता है और इस प्रकार वह अपने माशूक यानी आराध्य का सानिध्य प्राप्त कर लेता है। सूफी मत के सिद्धान्त वही थे जो शंकराचार्य के अद्वैतवाद के थे। ब्रह्म (हक) की व्यापकता सर्वत्र है और जीव (बन्दा) उसका अंश (जात) होकर उसी में शाश्वत जीवन (वफा) के लिए अपना इन्द्रिय जनित अस्तित्व (नफ्स) को नष्ट (फना) करता है।

सूफी कवि प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, वे प्रकृति को उद्दीपन के रूप में न देखकर चेतन प्राणी के रूप में मानवीय कार्य व्यापारों से युक्त देखते हैं प्रकृति के पल्लवित पुष्पित एवं मुरझाने में उन्हें अपने माशूक की खुशी और नाखुशी के हसीन नग्में सुनाई पड़ते हैं।

सूफी कवि या साधक न तो मरते हैं न जीते, वे केवल अपने माशूक की याद में तड़पते रहते हैं, इन्तजार करते रहते हैं।

'जो कुछ मजा न वस्ल में सो लुत्फ़ इन्तजार में देखा।

याद करते करते वे अपनी साधना में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उनको मूर्च्छा (हाल) आ जाती है। इस हाल की अनूठी दशा में माशूक का

आगमन होता है, वे आँख बन्द किये तसव्वर में पड़े रहते हैं, इस महानिद्रा में जो महा मिलन होता है उसी को सूफी साधक 'मरण' के नाम से पुकारते हैं, यह मरना नहीं है बल्कि प्रियतम के बुलाने पर सज धज कर जयारत करने को जाना है यही उनकी उपासना का अन्त या मुक्ति है। यह भावना बहुत कुछ कबीर की इस भावना से मिलती है:—

दुलहिनी गावहु मंगलाचार।
हमरे घर आये राजाराम भरतार॥

जायसी

१—जीवन वृत्तः—जन्म संवत् १५५७; जन्म स्थान जायस नगर, निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा से दीक्षित थे किन्तु उनके ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उनके दीक्षा गुरु का नाम सैयद अशरफ जहाँगीर था। जिनके नाम का उल्लेख कवि ने बड़े आदर से किया है:—

सैयद अशरफ पीर पियारा।
जेहि मोहि पथ दीन उजियारा॥

रचनाएँ :—(१) पद्मावत (२) अखरावट (३) आखिरी कलाम

२—व्यक्तित्वः—जायसी अत्यन्त कुरूप थे, जितने कुरूप थे उतने ही मन के सुन्दर। वे कदाचित् जन्म से काने नहीं थे, कालान्तर में उनका बाँया कान और बायी आँख जाती रही, सम्भवतः चेचक के कारण—

मुहम्मद बाँयी दिसि तजा, एक स्रवन एक आँख।

उनका कण्ठ स्वर बहुत मीठा था और इसी से जायस नगर में आते ही गायक के रूप में उनकी प्रसिद्धि हो गई थी, जिसने इनके कल कंठ से कुछ सुना मुग्ध हो गये। जायसी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली नहीं था कि लोग सहसा उनसे प्रभावित होते, वे कुरूप थे, चेचक के बड़े बड़े दानों से उनका चेहरा और भी बदरंग हो गया था, लोग उन्हें देखकर अपनी हँसी नहीं रोक पाते थे। एक बार स्वयं राजा हँस पड़ा, तुरन्त जायसी ने कहा :—

'मोहिं का हँससि कि कोहरहिं (कुम्हार को)'

परन्तु उस भोड़े व्यक्तित्व के पीछे उनके प्रेम की पीर से लबालब भरा हुआ दिल था, भाव विभोर होकर जब वे अपने सुन्दर कण्ठ से स्वरचित पद गाते तब कौन ऐसा नीरस हृदय था जो न थिरक उठे। हिन्दू मुस्लिम की संकुचित भावना से बहुत ऊपर उठे हुये उनका प्रेम मानव मात्र के प्रेम पर टिका था। उनके हृदय की सादगी एवं सात्विकता बड़ी ईमानदारी से ज्यों की त्यो पद्मावत की अनेक पंक्तियों में उतर आयी है।

३—सिद्धान्त एवं धार्मिक भावना—जायसी उच्च कोटि के सूफी साधक थे। उनका हृदय अत्यन्त कोमल एवं प्रेम की पीर से भरा हुआ था, इश्क हकीकी और इश्क मजाजी दोनों भावनाओं से ऊपर उठा हुआ था। धर्म की उदात्त वृत्तियों से उनका हृदय इतना कोमल हो गया था कि उसमे सारे विश्व की करुणा सिमट कर आ गयी थी। उनकी उदार साधना में समस्त धर्मों को समान स्थान प्राप्त था। इसलिये अपनी साधना को सफल बनाने के लिये उन्होंने अपनी समवन्यवादी दृष्टि अपनायी और उस पर अपनी प्रेम की पीर अंकित कर दी। उपासना के क्षेत्र में जायसी निराकार के उपासक थे पर सूफी सिद्धात की ओर अपनी प्रवृत्ति को उन्मुख कर देने के कारण उनकी उपासना साकारोपासना की सी सहृदयता से युक्त है। वे एकेश्वरवादी थे पर उन पर अद्वैतवाद, वेदान्त, योग आदि का भी पुष्कल प्रभाव था।

४—वियोग वर्णन :—शुक्ल जी के शब्दों में "जायसी का विरह वर्णन कहीं कहीं अत्यन्त अत्युक्ति पूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती, वरन् हृदय की अत्यन्त तीव्र-वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। जायसी ने वेदनात्मक और दृश्य अंश पर जितनी दृष्टि रक्खी है उतनी उसकी बाहरी नाप जोख पर नही, जो प्रायः ऊहात्मक हुआ करती है, इसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह कही अत्यन्त अत्युक्ति पूर्ण होने पर भी हास्यास्पद प्रतीत नहीं होता, वरन् उसमें हमें एक अनूठा आनन्द मिलता है :—

रकत कै आँसु परइ भुइ टूटी, रेंगि चलीं जनु बीर बहूटी।

वियोगजन्य ज्वाला से दग्ध अश्रुओं में चलने की सजीवता आ गयी है।

जरत बजागिनि करू पिउ छाँहा, आइ बुझाउ अँगारहि माँहा।
लागिउँ जरै जरै जस भारू, फिरि फिरि भूँनेसि तजिउँ न बारू॥

भाड़ की तप्त बालुका मे पड़े हुये अनाज के दुबले दाने के समान विरह में जलते हुये हृदय की वेदनाजनित् अवस्था का चित्र कितना दयनीय है।

नागमती उपवनों में रोती फिरती है, उसके करुण विलाप पत्थरों को भी पिघला देने की हस्ती रखते हैं —

फिरि फिरि रोव, कोइ नहिं डोला; आधी रात विहंगम बोला।
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी, केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥

नागमती के आसुओ मे तो जैसे सारी सृष्टि ही डूब उतरा रही हो—

कुहुकि कुहुकि कोयल जस रोई, रकत आंसु घुँघची बन बोई।
जहँ जहँ ठाढ़ होइ बनवासी, तहँ तहँ होय रकत कै रासी।
बूँद बूँद मँह जानहु जीऊ, गुँजा गूँज करे पिउ पीऊ॥

नागमती के विरह वर्णन का बारहमासा हिन्दी साहित्य में अपनी सानी नहीं रखता। इसमें "वेदना का अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुकूल भाषा का अत्यन्त स्निग्ध सरल मृदुल एवं अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है।" भिन्न भिन्न ऋतुओं की अनेकानेक वस्तुओ और व्यापारों को विरही लोग किस प्रकार साहश्य भावना द्वारा अपनी दशा की व्यंजना का सुलभ साधन बनाया करते हैं, यह जायसी की ही पक्तियों में देखिये :—

बरसै मघा झकोरि झकोरि, मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी।
पुरबा लाग भूमि जल पूरी, आक जवास भई तस झूरी।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला, हरियरि भूमि कुसुंभी चोला।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा, विरह झुलाइ देइ झकझोरा।

जायसी की कला की चरम परिणति तो हमे उस स्थल पर देखने को मिलती है जब रानी विरह अवस्था में अपनी राजसिकता की भावना का विस्मरण कर अपने रानीपन को भूलकर एक साधारण मजदूरिनी की तरह रो-रो कर विलाप करते हुये कहती है कि :—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा, हौं बिनु नाँह मन्दिर को छावा।

वह अबोध पक्षियों से संदेशा भिजवाने में भी नहीं चूकती :—

पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सों धनि विरहै जरि मुई, तेहि का धुंवा हम लाग॥

इस प्रकार जायसी का विरह वर्णन अपने ढंग का सर्वथा मौलिक एवं अनूठा है।

५—काव्य सौंदर्य (भाव पक्ष) भावपक्ष में बुद्धि तत्व, कल्पनातत्व, रागात्मक तत्व तीनों को अंकित किया जाता है। बुद्धि तत्व में कवि द्वारा उपस्थित श्रेष्ठ विचार एवं संदेश देखे जाते हैं। कल्पना तत्व मे वस्तु की चित्रांकनता एवं नवीन दृश्यों के निर्माण की क्षमता देखी जाती है, रागात्मक तत्व में हृदय को वेघ देने वाली मर्मस्पर्शिता की खोज की जाती है। जायसी का पद्मावत प्रबन्धात्मक है, इसमें हमें रागात्मक तत्व की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है क्योंकि प्रेमकी पीर को व्यक्त करने में यही तत्व विशेष रूप से उभर आया है। यद्यपि इसमे आध्यात्मिक पक्ष भी साथ साथ चलता है जो कवि द्वारा कहानी के अन्त में स्पष्ट रीति से व्यक्त कर दिया गया है :—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनियाँ धन्धा, बाँचा सोई न एहि चित बन्धा।
राघव दूत सोइ सुलतानू, माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु, बूझि लेहु जौ बूझै पारहु।

भाव चित्रण के अतिरिक्त जायसी ने दृश्य-चित्रण में भी बड़ी सफलता पायी है, दृश्य-चित्रण के साथ साथ तत्सम्बन्धी भावों को यथातथ्य रूप मे लाकर खड़ा कर दिया है। वन-उपवन, गली-अथाई, सूर्य-चन्द्र, महल आदि का जो भी वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है वह सब अपने में पूर्ण है। किसी भी प्रकार का अभाव उसमें लक्षित नहीं होता। ज्यौनार का दृश्य चित्रण कितनी सफाई के साथ किया गया है —

सेव करै दासी चहुँ पासा, अछरी मनहुँ इन्द्र कैलासा।
कोठ परात कोउ लोटा लाई, साह सभा सब हाथ धोआई।

कोइ आगे पनवार बिछावहिं, कोई जेवन लेइ लेइ आवहिं।
मॉड़े कोइ जाहि धरि जूरी, कोई भात परोसहिं पूरी।
कोई लेइ लेइ आवहिं थारा, कोई परसहिं छप्पन परकारा।
पहिरि जो चीर परोसे आवहि, दूसरि और बरन देखरावहि।
बरन बरन पहिरे हर फेरा, आव झुण्ड जस अछरिन्ह केरा।

कलापक्ष :—जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। उनकी चौपाइयों में दिन-अर, ससहर, बिसहर, भुवाल आदि का भी प्रयोग मिलता है। कतिपय शब्द व्याकरण विरुद्ध भी हैं। भाषा बोलचाल की और लोक भाषा अधिक से प्रभावित है जो हृदय पर शीघ्र प्रभाव डालती है और अपनी एक छाप छोड़ जाती है। जायसी की शैली मे उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है, उनकी सूक्तियाॅ अपने ढंग की अनूठी हैं।

भोर होइ जौ लागे, उठहिं रोइ कै काग।
मसि छूटै सब रैन कै,कागहिं केर अभाग ॥

× × ×

जग महॅ कठिन खड़ग कै धारा, तेहि ते अधिक विरह कै भारा।

जायसी की कविता में अलकारों की छटा देखते ही बनती है यद्यपि उन्होंने उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं की अतिरंजना एवं पुनरुक्ति की है फिर भी वे भद्दी नही जॅचती। जायसी के उपमानों द्वारा सूक्ष्म तत्वो की भी व्याख्या बड़ी खूबी से हो जाती है, जैसे :—

प्रीति बेलि ऐसे तन ढाढ़ा, पलुहत सुख बाढ़त दुख बाढ़ा।

जायसी ने उपमानों के प्रयोग में अतिरंजना से काम लिया है। उर्दू, फारसी के प्रभाव से वह मर्यादा का अतिक्रमण करके वीभत्सता की पुष्टि करता है :—

हिया काढ़ि जनु लीन्हेंसि हाथा, रुधिर भरी अॅगुरी तेहि साथा।

बहुज्ञता :—जायसी को इतिहास, भूगोल, ज्योतिषशास्त्र, हठयोग आदि का सम्यक् ज्ञान था। सत्ताइस नक्षत्रों का क्रमशः वर्णन बड़ी सफलता के साथ बारहमासे में हुआ है। उन्होंने नाद, रसायन, शकुन, चौसर, भोजन, पकवान आदि का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया है।

विशेष :—(१) अत्युक्ति की भरमार—
रोवत बूड़ि उठा संसारू।

(२) पुनरुक्तिदोष।

(३) मुस्लिम-हिन्दू संस्कृति का अपूर्व समन्वय हुआ है, फिर भी कवि का हिन्दू कथाओं का ज्ञान अधूरा और बचकानी है। उनके द्वारा प्रयुक्त पात्र हनुमान, विभीषण, रावण, शंकर आदि के उपहासास्पद उल्लेखों से प्रतीत होता है कि कवि ने इनका केवल नाम सुन रखा था।

(४) संस्कृत-हिन्दी-रस-पद्धति के अनुरूप विभावानुभाव संचारी भावो के वर्णन का पद्मावत में अभाव है।

फिर भी शुक्लजी के शब्दों में 'हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।

कृष्ण काव्य धारा

भूमिका :—"हिन्दुओ के स्वातन्त्र्य के साथ ही साथ वीर गाथाओं की परम्परा भी काल के अँधेरे में जा छिपी। सर्वस्व गँवाकर भी हिन्दू जाति अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी, सौभाग्य से महाप्रभु वल्लभाचार्य ने परम भाव की उस आनन्द विधायिनी कला का दर्शन कराकर जीवन में सरलता का संचार किया। दिव्य प्रेम संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई। जयदेव की पीयूषवाणी विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्रस्फुटित हुई। ये भक्त कवि सगुण उपासना की ओर उन्मुख थे। इन्होंने भगवान का प्रेममय रूप ग्रहण किया और उसे हृदय की कोमल एवं अनुरंजन वृत्तियो के द्वारा अलंकृत किया। फल स्वरूप निराशा या आश्रयहीनता के कारण जनता में जो एक प्रकार की उदासीनता एवं अरुचि आ गई थी वह मनुष्यता के माधुर्यपूर्ण पक्ष के द्वारा

प्रेरित की जाने पर जीवन संघर्षों की ओर पुनः उन्मुख हो गई । इसके प्रवतक बल्लभाचार्य थे । इनके दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से विख्यात हैं ब्रह्म में सत् चित् आनन्द तीनो पूर्ण रूप से निहित रहते हैं जीव में आनन्द का अंश कम मात्रा में रहता है, सत् चित् के प्रकाश से वह प्रकाशित रहता है। जड़ मे आनन्द और चित् का तिरोभाव हो जाता है केवल सत गुण की ही प्रधानता रहती है इस प्रकार जड़ जगत भी सत् है। इन तीनो गुणों से ब्रह्म सम्पन्न रहता है। आनन्द का गुण आह्लादिनी शक्ति से आता है, चित का सम्बन्ध सचित शक्ति से है, और सत् का सम्बन्ध सन्धिनी शक्ति से है।

पुष्टि मार्गः—यह मुक्ति के साधन में बल्लभाचार्य की अपनी निजी सूझ है। उनका मत है कि भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है, यही कृष्ण परब्रह्म परमेश्वर हैं परन्तु इनकी भक्ति मनुष्य में किस प्रकार जागृत हो। सच बात तो यह है कि भक्त को भक्ति की वृत्ति जाग्रत करने के लिए अथक परिश्रम नहीं करना पड़ता, वह भक्ति भगवान की कृपा और अनुग्रह से ही सुलभ है इसी अनुग्रह का नाम बल्लभाचार्य ने "पुष्टि" रक्खा है। महाप्रभु मुक्ति के दो मार्ग स्वीकार करते हैं।

(१) ज्ञान और साधना का मार्ग।

(२) भगवान के अनुग्रह (पुष्टि) का मार्ग।

आचार्य जी के मतानुसार पुष्टि मार्ग मर्यादा मार्ग से ऊँचा है, ज्ञान और योग द्वारा जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है वह भगवत अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति से निम्न श्रेणी की है। भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्म समर्पण की भावना से प्रेरित होना चाहिए और उसके अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिए। पुष्टि द्वारा मुक्ति या सानिध्य प्राप्त करने के अनन्तर जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाता है और उसकी लीला मे भाग लेने लगता है। शुद्ध पुष्टि की अवस्था में प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्री कृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीलाभूमि बन जाता है, गो-गोप-गोपी, यमुना-कदम्ब और राधाकृष्ण उसके आराध्य ही नही वरन् सर्वस्व बन जाते हैं।

बल्लभ संप्रदाय के लोग बाल गोपाल के उपासक होते हैं वे कृष्ण को

ब्रह्म मानते हैं। कृष्ण की रासलीला में भाग लेना एवं तदजन्य आनन्द की उपलब्धि करना ही उनका एक मात्र लक्ष्य है इसीलिए इस सम्प्रदाय के मानने वाले कवि कृष्ण के मधुर पक्ष को ही लेकर चले हैं। सूरदास जी ने कृष्णभक्ति को ही प्रमुखता दी है उसके आगे ज्ञान और यहाँ तक कि मोक्ष को भी तृणवत् समझ कर गोपियों के द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला है।

मुकुति आनि मंदे में मेली।
याहि लागि को मरै हमारे वृन्दावन पायन तर पेली।

वल्लभाचार्य प्रकृति को ब्रह्म की ही आत्म परिणति मानते हैं। आपने माया को ब्रह्म के आधीन उसकी शक्ति के रूप में माना है। माया के तीन रूप हैं :—

(१) दार्शनिक रूप जिसके द्वारा संसार की सृष्टि होती है और जो ब्रह्म पर पार्थक्य का एक आवरण सा डाल देती है (२) सांसारिक रूप जिसके कारण जीव यहाँ के भौतिक प्रपंचों में पड़ जाता है। (३) माया का अनुग्रहकारी रूप जो श्रीराधा जी की प्रतिमूर्ति स्वरूप है। मुरली को सूर ने योगमाया के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

कृष्णभक्त कवियों पर मध्वाचाय, निम्बार्काचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु द्वारा ग्रहीत जयदेव और विद्यापति का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। हिन्दी में सगुण उपासना करने वाले कवियों में सूर सबसे पहले कवि थे :—

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते, सूर सगुन लीला पद गावै।

सूरदास

जीवन वृत्त :—जन्म संवत् १५४० के आसपास, किन्तु पुष्टिमार्गी परम्पराओं के अनुसार स० १५७३, जन्मभूमि मथुरा से आगरा जाने वाली सड़क पर अवस्थित रुनकुता ग्राम। पिता का नाम रामदास। सारस्वत ब्राह्मण। महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा दीक्षित हुए। युवावस्था में किसी सुन्दरी को देख

कर अपनी आँखे उसके विकार के कारण फोड़ ली थी। कुछ लोग इन्हें जन्मान्ध मानते हैं किन्तु प्रकृति निरीक्षण एवं बालकृष्ण का सोते समय अधरपुट फड़काने की सूक्ष्म कल्पना कोई अन्धा कवि नहीं कर सकता। इनकी मृत्यु विट्ठलनाथ की उपस्थिति में स० १६२० के लगभग पारसौली ग्राम में हुई।

व्यक्तित्व :—प्रकाशचन्द्र गुप्त का कथन है कि "सन्त कवियों में से अनेक कबीर और रैदास की भाँति जीवन के निम्नतम अभिशप्त और बहिष्कृत वर्गों की उपज थे, उनकी विद्रोही भावना इसी भूमि से फूटी थी या वह विलास और ऐश्वर्य के माया मोह से मुक्ति पा चुके थे, उनके काव्य मे कोई बनावट और शृंगार नहीं है वह उनके हृदय की सच्ची वाणी है, जीवन मे गले तक डूबकर और सच्ची अनुभूति पाकर ही सूर की प्रेरणा पल्लवित और पुष्पित हुई है।" उपर्युक्त विचारों से यह पता लगता है कि सूर का जीवन एवं व्यक्तित्व भी उनकी कविता की तरह निष्कपट, स्वछंद, नैसर्गिक एवं सरस था। अंधे होने पर भी वे हृदय की आँखों से दिव्य लोक की झाँकी देखकर अनुपम अनुभूतियो से पूर्ण थे। सूर का व्यक्तित्व इतना अनूठा है, इतना व्यापक है कि उसमे सब कुछ समा जाता है। सूर के व्यक्तित्व पर विचार करने से दिनकर जी की ये पंक्तियाँ बरबस आगे तैरने लगती हैं :—

मां की ममता तरुणी का व्रत, भगिनी का लेकर मधुर प्यार।
आरती त्रिवर्तिक सजा, करूँगी भिन्न अगरु का अन्धकार॥

एक ओर सूर मे यशोदा का विश्व मातृत्व सिसक रहा है तो दूसरी ओर राधा का प्रेयसी भाव प्रवासी पति पर पछाड़े खा रहा है, कही पर श्रीदामा आदि सखाओं की 'खेलत मे को काको गुसैंया' की खीझ खिलखिला रही है तो कही सुन्दरी कुब्जा की त्रिभंगी मूर्ति को सद्यस्नात कराने वाले व्यग्य के छींटे। सूर में क्या नही है या सूर के व्यक्तित्व में क्या नहीं है-- प्यार, घुटन, वात्सल्य, कसक, पीड़ा, चिनगारी एवं कपूर की तरह फुर फुर उड़ जाने वाली लाज।

सूर की भक्ति का स्वरूप :—सूर अपनी कृष्ण कथा में एक प्रकृत भक्त के रूप मे हमारे सामने आते हैं। प्रारभ मे विनय के पदों में वे सेवक-सेव्य की

भावना से ओत-प्रोत है, विनय, दैन्य, आत्म-समर्पण और घिघियाने की भावना से उनकी वाणी पूर्ण है किन्तु वल्लभाचार्य के पथ निर्देश से इसमें परिवर्तन आ जाता है और सेवक भाव सख्य भाव मे परिवर्तित हो जाता है जिसका विकास दो रूपों मे हुआ है (१) सखा भाव (२) प्रेयसी भाव। गोप ग्वाल कृष्ण के प्रति सख्य भाव के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। माखन चुराने, खेलने-कूदने, गोचारण करने, गोपियों से आँख-मिचौनी खेलने में प्रत्येक क्षण वे कृष्ण से शरीर एवं छाया की तरह लगे रहते हैं, कृष्ण का सारा कार्य व्यापार उनके आगे खुला है, कोई अलगाव नही, कोई छिपाव नहीं।

सूर साहित्य के अध्येता को बड़ी सतर्कता के साथ यह स्मरण रखना चाहिए कि इस साहित्य में अभिव्यक्ति प्रेम के आलंबन भगवान श्रीकृष्ण ही हैं। गो-गोप-गोपी, यशोदा, नन्द, उद्धव आदि सभी भक्त आश्रय रूप आलंबन हैं। इन सब की एक मात्र यही अभिलाषा होती है कि भगवान हमसे प्रसन्न हों। आचार्य द्विवेदी जी का यह कथन सत्य के निकटतम ही है कि अगर हम इस बात को ध्यान में रखे बिना वैष्णव साहित्य को पढ़ेंगे तो हम घाटे में रहेंगे। यह भाव नाना भाव से भक्त कवि की कविता में आएगा, इसे इसी रूप मे न देखने का परिणाम यह हुआ कि सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाल लीला को बड़े बड़े सहृदयों तक ने इस प्रकार समझा है मानों वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं हैं वे उससे बड़ी चीज हैं। संसार के साहित्य की बात कहना तो बहुत कठिन है क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्र हमारा जाना है परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाल लीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावों की, न भाषा की। क्यो ऐसा है ? क्या कारण है कि शताधिक पदों में बार बार दुहराई हुई बात इतनी मनोरम हो गई है ? क्या कारण है कि उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है ? इसका कारण यशोदा का निखिलानंद संदोह भगवान बालकृष्ण के प्रति एकांत आत्म समर्पण है। अपने आपको मिटाकर अपना सर्वस्व निछावर करके जो

तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है।

सूर का मानवतावाद :—डाक्टर देवराज ने लिखा है कि समाजशास्त्रीय आलोचना सूर के साहित्यिक महत्व का उद्घाटन नहीं कर सकती, सामाजिक जीवन और उससे उद्वेलित और प्रभावित व्यक्ति के जीवन द्वंद्वों मे जो कवि जितना गहरा पैठ सका है उतना ही मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली साहित्य रचेगा। सूरसागर के आरंभिक पदों मे सूर ने बार बार कहा है कि हरि के सामने जात-गोत, कुल का भेद नहीं टिकता, सज्जनों के संग की महिमा वे गाते हैं, पाखंड एवं ऊपरी आचार के सामने भावनाओ और सचाई का महत्व वे अधिक मानते हैं। पहले ही पद में सूर समाज के अभिशप्त अंग की हित कामना करते हैं।

जाकी कृपा पंगु गिरिलघै, अंधे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोले, रक चलै सिर छत्र धराई॥

सूरसागर की सम्पूर्ण धारा का आग्रह समाज के व्यापारों के प्रति है और योग माया आदि धारणाओं पर उनके साहित्य का तीव्र प्रहार है, गोवर्द्धनलीला के माध्यम से सूर ने क्रूर शासन व्यवस्था से आतंकित जनता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है और मघवा का मद दूर कर उस व्यवस्था की खिल्ली उड़ाई है। कितना गहरा और व्यापक अंधे सूर का अनुभव था और कैसी तलदर्शनी उनकी दृष्टि थी। सामाजिक यथार्थ निरन्तर सूर के साहित्य में व्यक्त हुआ है। सूर का दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी है, उनके पद मानव जीवन की तीव्रतम अनुभूति मे तपकर निकले हैं, सूर का शृङ्गार स्वस्थ प्रेम का प्रतीक है। प्रकाशचन्द्र गुप्त के उपर्युक्त इन शब्दों में कितनी सचाई है, यह सूर के काव्य को पढ़कर ही जाना जा सकता है।

काव्य सौन्दर्य :—(भाव पक्ष) सूर ने शान्त, वात्सल्य, और शृङ्गार इन तीनों रसो को अपनी कविता का माध्यम बनाया है। सच तो यह है कि सांसारिकता के परे रहने वाले अंधे सूर ने लोक को इतना ऊँचा उठा दिया है कि उसमें एक दैवी आभा आ गयी है। उनके वात्सल्य वर्णन में धरती पर स्वय स्वर्ग का कोना उतर आता है, नन्दन वन और कोटिन कलधौत के धाम ब्रज के करील कुंजों एवं ढूहो के साथ घिरौंधे बनाने का खेल खेलते हैं।

रस :—वात्सल्य (१) संयोग वात्सल्य (२) वियोग वात्सल्य। सूर संयोग वात्सल्य के चित्रण में बेजोड़ हैं उन्होंने यशोदा मैया के हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना का परिस्थितिजन्य बड़ा ही मनोहारी चित्र उपस्थित किया है जिस प्रकार राधा कृष्ण के संयोग शृङ्गार से कवि ने मधुर एवं सरस भाव की साधना की है उसी प्रकार यशोदा कृष्ण का संयोग वात्सल्य भी एक मधुर साधना से मढ़कर सामने आया है। उनके बाल मनोविज्ञान का ज्ञान वात्सल्य रस की सृष्टि में सहायता पहुँचाता है। सूर ने श्रीकृष्ण का बाल रूप भिन्न भिन्न तथा सुन्दरातिसुन्दर रूपो में चित्रित किया है जिसमे एक आकर्षण है, हृदय को अपनी ओर चुम्बक की तरह खींच लेने की शक्ति है। इनका शब्द माधुर्य, भाव लालित्य और अलंकारों की योजना बड़ी ही निराली है। 'बाल्य-काल' और यौवन काल कितने मनोहर हैं, उनके बीच की नाना मनोरम परि-स्थितियो के विशद् चित्रण द्वारा सूर ने जीवन की जो रमणीयता सामने रक्खी उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखो में किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का वे कोना कोना झाँक आए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द सूर की सच्ची प्रतिभा के परिचायक हैं :—

'बाल-स्वभाव के वर्णन में सूरदास बेजोड़ समझे जाते हैं। वे स्वयं वयः प्राप्त बालक थे। बाल स्वभाव चित्रण में वे एक तरह का अपनाया अनुभव करते जान पड़ते हैं और ठीक उसी प्रकार मातृ हृदय का मर्म भी समझ लेते हैं। सच पूछा जाय तो राधिका और कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार जो सूरसागर में वर्णित है, बालकों का प्रेम व्यापार है। वही चुहल, वही लापरवाही, वही मस्ती, वही मौज। न तो इस प्रेम में कोई पारिवारिक रस बोध ही है और न आमुष्मिक संबंध ही। सारी लीला साफ, सीधी और सहज है।'

'सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकार शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे दौड़ा करता है। उपमाओ की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद पद पर मिलने वाले अलकारों को देखकर भी कोई

अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये, केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो दो, चार चार, दस दस बार तक दुहराई जा रही है फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब सी लगेगी, शायद वह यह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य गुणों की इस विशाल वन-स्थली मे एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौंदर्य पद पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है बल्कि उस अकृत्रिम वन भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना मे ही ही घुल मिल गया है।

—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १८४-१८५

सूर के विशद बाल्य जीवन के चित्रण मे केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालको की अन्तः प्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है। देखिए स्पर्द्धा के भावों से युक्त एक चित्र। श्रीकृष्ण यशोदा से चोटी बढ़ाने का उपाय पूछते हैं। वे कहती हैं कि :

> कजरी को पय पियहु लाल तव चोटी चारु बढ़ै।
> सब ब्रज के लरिकन में सुन्दर तव श्री अधिक चढ़ै।

इतना सुनते ही कृष्ण थोड़ा सा दूध 'ज्यों त्यों लयो लुढ़ै' करके कच टकटोने लगते हैं और बाल सुलभ खीझ से पूछने लगते हैं :—

> मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
> किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
> तू जो कहति 'बल' की बैनी ज्यों, ह्वै है लाँबी मोटी॥

बाल चेष्टा के अन्य स्वाभाविक मनोहारी चित्र देखिए :—

> सिखवत चलन यशोदा मैया।
> अरबराय कर पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ॥

× × ×

मैया री मोहिं दाऊ बहुत खिजाओ।
मोसो कहत मोल को लीन्हों तोहिं जसुमति कब जायो।

× × ×

यमुना तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर सब सखा ऊँच नीच की भावना को भूल कलेऊ बाँट कर खाते हैं, कभी छीना झपटी मचती है तो कभी मारपीट तक की नौबत आ जाती है :—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत कान्हा गैया दूर गई।
धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दई॥

बाल क्रीड़ा कुछ दिनो में यौवन क्रीड़ा में परिणित हो जाती है। रूप का आकर्षण कृष्ण के इन स्वरो में फूट पड़ता है :—

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी तू बेटी, देखी नाहिं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे को हम ब्रजतन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति श्रवनन नंद ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हारी कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी।

राधाकृष्ण के रंग रहस्य से पूर्ण इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर के भावुक एवं रसिक हृदय की गहराई का उनके द्वारा पता चलता है। राधाकृष्ण का प्रेम प्रकृति की गोद में पलता है, कितनी सात्विक वृत्ति के साथ प्रेम का सूत्रपात होता है, गाय चराते चराते भूले भटके बातें हो जाती हैं, कभी प्रेम तो कभी एक छिन में खुट्टी :—

(अ) करि ल्यो न्यारी हरि आपनि गैयाँ।
नहिं न बसात लाल कछु तुमसो, सबै ग्वाल इक ठैयाँ॥

(ब) तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखयो है या मै।

राधा बार बार दौड़ दौड़ कृष्ण के घर आती है, यद्यपि यशोदा मना करती है कि तू क्यों यहाँ उत्पात मचाने आ जाती है रोज रे, राधा इस प्रश्न का उत्तर कितनी सीधी सादी भोली भाली उक्ति से देती है जिसमें प्रेम की नुकीली पलकें अभी चितवन चलाने का पाठ पढ़ रही हैं :—

बार बार तू ह्यॉं जनि आवै ।
मैं कहा करौं सुतहि नहि बरजत, घर ते मोहिं बुलावै ।
मोसों कहत तोहि बिनु देखे, रहत न मेरो प्रान ।
छोह लगत मोको सुनि बानी, महर तिहारी आन ।

सयोग के पश्चात् वियोग होना अवश्यंभावी है, कृष्ण वसुदेव देवकी के पास पहुँच गये हैं, बड़े भी हो चुके हैं परन्तु फिर भी यशोदा का माखन सा हृदय चिन्ता की ऑंच से धुंवॉधार पिघला पड़ता है, यही सच्चा वात्सल्य भाव है ।

संदेशो देवकी सो कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करत नित रहियो ।
उबटन तेल और तातो जल, देखत ही भज जाते ।
जोइ जोइ मॉंगत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि के न्हाते ।
तुम तो टेव जान नहि ह्वैहौ, तऊ मोह कहि आवै ।
प्रात उठति मेरे लाल लड़ैतेहि, माखन रोटी भावै ।

वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं वह सब सूर की कविता में विद्यमान हैं । कृष्ण को मथुरा पहुँचाकर नन्द अकेले लौट आते हैं, यह देख यशोदा बरस पड़ती हैं :—

छॉंड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो ।
फाटि न गई वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो ॥

इस पर नन्द का ज्वालामुखी अचानक फूट पड़ता है :—

तब तू मारिबोई करति ।
रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाड़े भरति ।
रोस कै कर दॉंवरी लै, फिरति घर घर धरति ।
कठिन हिय करि तब जो बॉंध्यो अब वृथा करि मरति ।

आगे चल कर गोपियों के कज्जलसिक्त ऑंसुओं के प्रवाह से ही कालिन्दी काली हो जाती है, न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर भीतर ही उबल रहा है । कृष्ण के चले जाने पर भी सायं प्रभात उसी प्रकार आते और चले जाते हैं परन्तु धूमिल उदासी से मढ़े हुए ।

"मदनगुपाल बिना या तन की, सबै बात बदली ।"

व्रज के सायंकाल-सौन्दर्य की स्मृति मात्र ही अब शेष बची है :—

एहि विरियाँ बन ते व्रज आवते।
दूरिहिं ते वह वेनु अधर धरि बारंबार बजावते ।।

संयोग में जो वस्तुएँ सुखद प्रतीत होती हैं वही वियोग में काटने को दौड़ती हैं। विरहपूर्ण मानसिक दशा के कारण गोपियो के लिए सारी सृष्टि वेदनामय रूप धारण कर लेती है :—

हरि बिनु फूल फार से लागत, झरि झरि परत अंगार।

मानसिक दशा के परिवर्तन से हमारी अनुभूति मे कितना अन्तर आ जाता है :—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुजैं।

सूर के वियोग वर्णन की सबसे बड़ी सफलता है; ऋतु सुलभ व्यापारो के बीच अपनी अन्तर्दशा को प्रतिबिम्ब रूप में देखना जिसके कारण प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट जाता है।

निसदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पर जब ते श्याम सिधारे ।।

प्रिय के साथ 'घनश्याम' के अनुहारी बादल कभी प्रिय लगते हैं तो कभी दुखदायी :—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नन्द नन्दन, गरजि गगन बन छाये।
× × ×
आजु घनश्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे ते सजनी! देखि रूप की आरि।

बदराऊ के ऊ और बरु, मे कैसी फोर्स (force) की व्यंजना है कि अरे अचेतन बादल तक असहाय गोपियो के दर्द से खिन्न कर अश्रुपात करने आ गये परन्तु वह निर्मोही न आया, न आया। अन्वे सूर ने हजारों गोपियों के अन्तस्तल मे बैठकर भिन्न-भिन्न प्रकार की कोमल अनुभूतियों को बड़ी ही मार्मिक एवं हृदय के आर-पार हो जाने वाली चित्र पद्धति में व्यक्त किया है :—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतग करी दीपक सो, आपुहि प्राण दह्यो।

× × ×

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हँस सुता की सुन्दर कगरी, खरिक दुहावन जाहीं।
गोपी ग्वाल करत कौतूहल, नाचत दै दै बाहीं।

जले पर नमक छिड़कने वाले अभागो उद्धव को प्रेम की भोरी गोपियाँ कितना खरा उत्तर देती हैं :—

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो श्याम सग को आराधै ईश।

× × ×

उर मे माखन चोर गड़े।
अब कैसे हू निकसत नाहीं, ऊधो तिरछे ह्वै जु जड़े।

कलापक्षः—सूर का काव्य मुक्तक काव्य है। इनके सभी पद गेय हैं इनकी कोमल कान्त पदावली जब संगीत की मधुर लहरी के सम्मिश्रण से तदाकार हो प्रवाहित होती है तब कौन सा ऐसा नीरस हृदय है जो थिरक न उठे। सूर ने जो कुछ लिखा है वह बड़ा ही सुन्दर, मधुर एवं मनोहारी बन पड़ा है। कृषि सेवी, भारत के लिए कृष्ण के गोचारण से अधिक कोई विषय सुन्दर नहीं मिल सकता।

सूर की गीति शैली में जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति और सतों की पदावलियों की छाप स्पष्ट है। उनकी रचनाओं में जो चित्रमयता, स्वाभाविक भावगाभीर्य एवं चुटीलापन है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके प्रत्येक पद में सूर की अपनी आत्मा बोलती है, उनका व्यक्तित्व अठखेलियाँ करता है।

सूर की भाषा ब्रजभाषा है। कोमल कान्त पदावलियों के साथ उनकी भाषा सानुप्रासिक, प्रवाहपूर्ण एवं भावानुसार चलती है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण तो मानों सूर की बपौती है। उनकी भाषा में फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, बुन्देलखण्डी भाषाओ के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारो मे अनुप्रास, यमक और वीप्सा सूर को विशेष प्रिय हैं। अर्थालंकारों मे उपमा, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा व्यतिरेक और प्रतीक का प्रयोग

उन्होंने प्रचुरता से किया है। उत्प्रेक्षा तो मानो सूर के लिए 'अंधे की लकड़ी' है। कवि की कल्पना शक्ति उदात्त और उर्वर है। उनकी सौन्दर्य-प्रियता, चित्रोपमता, एवं वाग्वैदग्ध, सचमुच हिन्दी साहित्य के लिए गर्व का विषय है।

संगीत की दृष्टि से सूर के पद शास्त्रीय संगीत की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'सूर की कविता में संगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमे यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में मंदाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हैं। सूरदास तो स्वभावतः ही गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे हैं उनमें संगीत की ध्वनि इतनी सुमधुर रीति से समाई है कि वे पद संगीत के जीते जागते अवतार बन गए।

शब्द चयन :—सूर का शब्दचयन अद्वितीय है, प्रत्येक अवसर पर भाव और रसानुकूल शब्दों का प्रयोग सूर बड़ी चतुराई से करते हैं, जैसे :—

मधुकर काके मीत भये।

दिवस चारि की प्रीति सगाई, रस लै अनत गये।

सूर भक्त, कवि तथा कथा-गायक तीन रूपों में हमारे सामने आते हैं इसलिए तदनुकूल उनकी भाषा बदलती हुई सामने आती है। सूर की भाषा में वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ अधिक है।

दृष्टिकूट :—यद्यपि क्लिष्ट कल्पना वाले काव्यों को अधम ठहराया जाता है परन्तु सूर के दृष्टिकूट बौद्धिक होने पर भी हृदय की सहज सरसता को खो नहीं देते :—

पंच सुत बस सुत सुत कर षोडश मनहुँ न भायो।

भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है । उद्धव की तरह सूर ने भी केवल एक बार भगवान का साथ छोड़ा है, भ्रमर गीत में। और इस बात में कोई सन्देह ही नही कि इस अवसर पर सूरदास को भी दूना रस मिला था।

—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

राम काव्य धारा

भूमिका :—"सूरदास आदि ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ी सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया पर भगवान के लोक सग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौन्दर्य का साक्षात्कार नही कराया। कृष्णोपासक भक्तो के सामने राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान की लोक धर्म स्थापना का मनोहर चित्रण नही किया गया, किसी प्रकार ध्वस्त न होने वाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की जिस नीति के अवलंबन की व्यवस्था उन्होंने जरासंध-बध द्वारा की, उसका सौंदर्य जनता के हृदय में अंकित नही किया गया, इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलासप्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच कूद कर जी बहलाने के योग्य हुआ।" परन्तु तुलसी ने भगवान के लोकरजन पक्ष के साथ साथ उनके लोक रक्षक पक्ष को प्रधानता दी। अत्यधिक मर्यादा पूर्ण ढंग से उन्होंने अपने चरितनायकों के चरित्र प्रस्तुत किये; फल यह हुआ कि हिन्दू जनता अब मनोरंजन की ओर से शिष्टता, गंभीरता, मर्यादा एवं शिष्टाचार तथा अपने कर्तव्यो की ओर तीव्रता से उन्मुख हुई। गोस्वामी जी द्वारा प्रस्तुत नव रसो का राम रसायन ऐसा पुष्टिकर हुआ कि उसके सेवन से हिन्दू जाति विदेशीय मतो के प्रभाव से बहुत कुछ बच गई। कृष्ण काव्य की लीलाओं

के गान द्वारा भयभीत जनता को कोई आश्रय न मिल सका था, गोस्वामी जी द्वारा अंकित भगवान का ऐसा व्यापक रूप था जिसमें निराकार होते हुये भी साकार होने की क्षमता थी। तुलसी के राम केवल कौशिल्या नन्दन नहीं हैं वरन् :—

× × ×

उपजहि जासु अंश ते नाना,

× × ×

देखे हर विधि विष्णु अनेका, अमित प्रताप एकु ते एका।
बदत चरण करत नित सेवा, विविध रूप देखे सब देवा॥

ऐसे हैं सर्व शक्तिशाली तुलसी के राम :–

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निरगुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौशिल्या की गोद॥

जीवन की ओर उन्मुख हुए। पत्नी रत्नावली से प्रगाढ़ प्रेम था। उसके मायके चले जाने पर स्वयं पीछे-पीछे दौड़े गये, इस निर्लज्जता पर तीव्र फटकार मिलने पर वैराग्य उदय हुआ, भौतिक प्रेम की अजस्त्र धारा सहसा पारलौकिक प्रेम की धारा में परिवर्तित हो गई। जिन अमर पक्तियों ने रामायण ऐसे ग्रन्थ की रचना करवायी, वे ये हैं—इन्हें हमारा शत शत नमस्कार है :

अस्थि चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होति जु तब भगवान महँ, होत न तौ भवभीति॥

अनेक तीर्थों की यात्रा की, चित्रकूट में जम कर रहे, वृन्दावन भी गये परन्तु मर्यादा लिए हुए। कृष्ण की माधुरी मूरत देखकर भी लोक रक्षक की भावना लोकरंजन से मैत्री न कर सकी—

का छवि बरनौं आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लो हाथ॥

अनेकों ग्रन्थों की रचना करने के पश्चात् भगवत्प्रार्थनार्थ विनयपत्रिका लिखी जो राम के दरबार में भेजी गई एक मर्यादित अर्जी है।

मृत्यु :

सम्वत् सोलह सौ असी, अस गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

ग्रन्थ :

रामचरित मानस, (अवधी)
रामलला नहछू
बरवै रामायण
{ विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली (ब्रजभाषा) दोहावली आदि।

२ व्यक्तित्व : सहानुभूति, संवेदना, सहृदयता से भरा हृदय, चिंतन शीलता, मर्यादा 'सर्वभूतहितेरता' से ओत-प्रोत मस्तिष्क; मानो

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भए'

राम भक्त इतने कि :

सीय राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

स्वाभिमान की तो हद नहीं :—

आवत ही हर्ष नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसै मेह॥

विनम्रता एवं आत्म-समर्पण की भावना तो जैसे अपने आप में घुल गयी हो :

तुलसी जाके मुखन ते, धोखेहु निकसत राम।
तिनके पग की पानही, मेरे सिर को चाम॥

सब कुछ भला बुरा 'रामार्पणमस्तु' करके दीन दुनियाँ से अलग हो गए :—

राम भरोसे जो रहैं, पर्वत पर हरियॉय।
तुलसी विरवा बाग के, सींचे ते कुम्हिलाय॥

अगाध पाडित्य से चूड़ान्त पूर्ण परन्तु फिर भी इतने नम्र :—

कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीना, सकल कला सब विद्या हीना।
कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहहु लिखि कागद कोरे,
धूमहु तजइ सहज करुवाई, अगरु प्रसंग सुगंध बसाई।
भनित भदेश वस्तु भलि बरनी, राम कथा मुद मगल करनी।

जीवन भर हम तुलसी की छाँह में जीते हैं, मृत्यु के समय भी हमारी कामना एक दल तुलसी पाने की होती है, ऐसा है तुलसी का महत्व, प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के आँगन में पवित्र वातावरण की सृष्टि करने वाले तुलसी के पौधे से पवित्र तुलसी मानो चलते फिरते कल्प वृक्ष हैं जहाँ अल्पज्ञ-सुधीजन सबकी मनोकामना पूर्ण होती हैं, सबको अपना इष्ट मिलता है। तुलसी न होते तो हम सब न होते। कविता तो एक बहाना मात्र था :—

कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।

मानव तुलसीदास, भक्त कवि अथवा सुधारक तुलसीदास से कहीं अधिक महान् एवं शक्तिशाली है। भारतीय इतिहास के मध्याह्न काल में धार्मिक क्षेत्र में भक्ति साधना के बीच हमने उन्हें एक भक्त के रूप में पाया, दो चार कदम आगे बढ़े, रीति कालीन पेचीदे मजमूनों मे भी उनकी कविता ने एक नई दिशा ग्रहण की, 'ककन किंकिन नूपुर धुनि सुनि' ऐसी ध्वनि एवं भाव समन्वित अमर पंक्तियों को पढ़ पढ़ कर हम झूम झूम गये। भूरि भूरि

प्रशंसा की। वे भक्त होने के साथ ही अपने कवि रूप में भी उतने ही सफलता के साथ मैदान में आये और बाजी जीत ले गये। दो सौ वर्ष बाद, अंग्रेज आये, पाश्चात्य ज्ञानालोक में हमने अपना आत्मनिरीक्षण किया परन्तु यह क्या असी घाट का साधू, साधू है या जादूगर, यहाँ भी पहुँच गया, भक्त के रूप में नही, कवि के रूप में भी नहीं वरन् सुधारक के रूप में। अभी तो १६५६ है अभी तो हम अयोध्याकाण्ड के 'निषाद मिलन' तक पहुँच पाये हैं। बापू के पावन प्रयत्नों के फलस्वरूप हमने अभी निषादों को गले लगा लिया है किन्तु किसी माई के लाल ने सबरी के जूठे बेर खाने का साहस नहीं किया, सम्भवतः २५ वीं शताब्दी तक कर सके। आगे आने वाली पीढ़ियाँ इसे देखेंगी और तब भी तुलसी ताजा रहेगा, इसी तरह यह तुलसी का बिरवा पर्वत पर हरियाता रहेगा और तब सब सोचेंगे :—कैसा था वह तुलसी और कैसा था उसका अनूठा व्यक्तित्व ?

भक्ति का स्वरूप :—'सिया राम मैं सब जग जानी' के सिद्धान्त पर सब की बन्दना करने वाले राम के अनन्य भक्त थे। अनन्य भाव मे चातक उनका आदर्श था।

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर ॥

तुलसी ने केवल एक राम ही का नाता निभाया, उनका सिद्धान्त था :—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

तुलसी की भक्ति दास्य भाव की है। उनके इष्टदेव अत्यधिक मर्यादित, सुसंस्कृत, नीतिपरायण, मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं जो अपने आप के प्रति इतने ईमानदार हैं कि :—

तात जनक तनया यह सोई, धनुष जग्य जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखी लै आई, करत प्रकासु फिरइ फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
× × ×
मोहिं अतिशय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी।

मानसिक व्यभिचार तक को प्रश्रय नहीं देते और जिनके छोटे भाई नुपुरों के अतिरिक्त केयूर और कुण्डलों तक को नहीं जानते । तुलसी की भक्ति मर्यादा से ओत-प्रोत है ।

तुलसी ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों में कोई भेद भाव नहीं मानते, भगवान के वास्तविक रूप को समझने के लिये दोनों रूपों की उपासना करना समीचीन है इस प्रकार उन्होंने अपनी भक्ति में दोनों रूपों का महत्व प्रदर्शित किया, और सगुण उपासना की पद्धति को लोक धर्म के लिये सुलभ कर दिया । भगवान की उपासना दो रूपों में की जाती है: (१) ज्ञान (२) भक्ति । तुलसी दासजी की सम्मति में ज्ञान मार्ग कृपाण की धार है, उसे प्राप्त कर लेने पर भी केवल मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है किन्तु तुलसीदास जी के अनुसार भक्ति ही चरम साध्य है, मुक्ति तो राम भक्त के साधको को अनायास ही प्राप्त हो जाती है किन्तु भक्त उस मुक्ति का त्यागकर राम भक्ति में ही लीन रहते हैं ।

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद, सन्त पुराण निगम आगम वद ।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं, अनइच्छित आवै बरियाईं ।
जिमि जल बिनु थल रह न सकाई, कोटि भाति कोउ करै उपाई ।
कथा मोक्ष सुख सुनि खगराई, रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ।
अस विचारि हरि भगत सयाने, मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने ॥

अब सवाल यह उठता है कि ऐसे भगवान की भक्ति कैसे प्राप्ति की जाय । इसके लिए दो उपाय बताये गये हैं (१) वैधी भक्ति (२) रागानुगा भक्ति ।

(१) कर्तव्य बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते हैं और उन नियमों के अनुसार जो उपासना की जाती है उसे वैधी भक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है ।

(२) स्वाभाविक रूप से जब भगवान के अलौकिक गुणों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब वही भक्ति रागानुगा भक्ति कहलाने लगती है । वस्तुतः वैधी भक्ति का चरम लक्ष्य रागानुगा भक्ति ही है :—

पुनि पुनि सत्य कहहुँ तोहि पाहीं, मोहिं सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ।

तुलसीदास ने भगवान् के क्षमावान, शरणागतवत्सल एवं करुणायतन रूप का ही बार बार उल्लेख किया है, इसी से उनके राम काव्य में ऐहिक लीलाओं का प्राधान्य नहीं हो पाया। भगवान के शील-शक्ति-सौन्दर्य समन्वित रूप पर वे मुग्ध हैं। उनके आराध्य सौन्दर्य के आगार हैं, शक्ति के प्रतीक हैं और शील की प्रतिमा हैं, साकारोपासना के यही तीन सोपान हैं जिन पर उत्तरोत्तर विकास करता हुआ साधक अपनी साधना की ओर बढ़ता है। सौन्दर्य भगवान का लोक रक्षक स्वरूप है, शील लोकरंजन रूप एवं शक्ति उद्भव तथा लय रूप। तुलसी की भक्ति इन्ही तीनों सोपानों से होकर ऊपर उठी है।

जिस समय तुलसी आये उस समय हिन्दू धर्म में अनेक वादविवाद पुष्ट हो रहें थे। शैव वैष्णव एवं शाक्त एक दूसरे को भेद भाव की दृष्टि से देखते थे, तुलसीदास जी ने समन्वयवादी भावना के माध्यम से शिव और राम को एक बताया, राम विष्णु के अवतार हैं, शिव राम के और राम शिव के शंकर प्रतिपल राम नाम का जप करते हैं। राम रामेश्वरम् में जाकर शिव मूर्ति की प्रतिष्ठा करते हैं और स्पष्ट घोषणा करते हैं कि :—

शिव द्रोही मम दास कहावै, सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावै।

इसी प्रकार वैष्णवों एवं शाक्तों की एकता दिखाने के लिए कहते हैं कि :—

श्रुति सेतु पालक राम तुम, जगदीश माया जानकी।
जो सृजति पालति हरति है, रुख पाइ कृपा निधान की॥

गोस्वामी जी जानकी जी को शक्ति का आदि रूप मानते हैं, भवानी पार्वती का संक्षिप्त संस्करण ही दुर्गा है, इस प्रकार शैव, शाक्त एवं वैष्णव का सामंजस्य तुलसीदास जी ने एक सुधारक के नाते बड़ी ही निपुणता से प्रस्तुत किया है। वैष्णव होकर वे कृष्णगीतावली की रचना करते हैं। वे कृष्ण और राम को एक समझते हैं।

धर्म के सभी सिद्धान्त अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैत सभी इनके मत में हमें सहज ही मिल जाते हैं। मानस और विनयपत्रिका दोनों ही में इन्होंने दोनों मतों की प्रतिष्ठा की है। इनका मत या लक्ष्य समन्वयवाद की ठोस भूमि पर टिका है। सभी मतों से सार पदार्थ को ग्रहण करने मे तुलसीदास अपना सानी नहीं रखते। ज्ञान और भक्ति का जितना सुन्दर समन्वय इस

व्यक्तित्व ने किया है कि शरभंग जैसे ज्ञानी भी अपने योग और तप की सारी साधना के बदले भगवान से अनपायिनी भक्ति माँगते हैं ।

काव्य सौन्दर्य :—गोस्वामी जी के पूर्व भी राम को आदर्श नायक मान कर पर्याप्त मात्रा मे काव्य लिखे जा चुके थे, वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, रघुवंश आदि महाकाव्यों की सृष्टि हो चुकी थी किन्तु वे सब जनता की भाषा मे न थे । तुलसीदास ने भगवान के शक्तिशील सौन्दर्य समन्वित रूप की झाँकी देशकाल के अनुरूप उपस्थित की । यह वह हल था जिसमें अधीर और निराश्रित जनता को एक सहारा मिला । आततायियों से सताये जाते हुए भी वे कल्पना करने लगे कि भगवान अवश्य ही हमारी सहायता करने आयेंगे; इसी विश्वास के बल उनमे कष्ट सहिष्णुता एवं आत्म-निर्भरता की भावना स्वतः आ गयी ।

भाव पक्ष :—तुलसीदास जी की कविता भी उनके मन के समान उज्वल है । शृङ्गार रस के वर्णन मे भी तुलसीदास जी ने अत्यधिक मर्यादित ढंग से अपने को इस कदर साधा है कि वाल बाल बच गए हैं । एक प्रमाण से इस बात को समझाना अच्छा होगा । पुष्प वाटिका मे कवि सीता के सौन्दय पर प्रकाश डालते हुए कहता है स्वयं नहीं राम के मुँह से, कितनी सफाई से तुलसी अलग हो गये हैं भला माता जानकी के रूप सौन्दर्य का वर्णन करने की तुलसी की हस्ती क्या ?

तात जनक तनया यह सोई, धनुष जग्य जेहि कारन होई ।
पूजन गौरि सखी लै आई, करत प्रकास फिरइ फुलवाई ।

× × ×

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छवि गृह दीप सिखा जनु बरई ।
सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरइ विदेह कुमारी ।

इन पंक्तियों को पढ़ने से अचेतन मन मे अनजाने वासना की एक मद्धिम मद्धिम हल्की लकीर उभरने लगती है कि तुरन्त तुलसी एक ब्रेक लगा देते हैं :—

सिय सोभा नहिं जाय बखानी, जगदम्बिका रूप गुन खानी ।
उपमा सकल मोहि लघु लागी, प्रकृति नारि अंग अनुरागी ।
सिय बरनिय तेइ उपमा देई, कुकवि कहाइ अजस को लेई ।

जगज्जननी माता तो ऐसी हैं :—

जौ छवि सुधा पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू, मथै पानि पंकज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कवि, कहहि सीय सम तूल ॥

रस :—तुलसी ने प्रायः सभी रसों के माध्यम से कविता की है। हास्य कहीं शृङ्गार का सहायक हुआ है तो कहीं वीर का। करुण रस शील से कंधा मिला कर चलता है, वीर, रौद्र, भयानक, एवं वीभत्स रस के अनेक उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। शान्त सभी गुणो का आधार है किन्तु शील के वह अधिक निकट है। सच तो यह है कि भगवान की लीला का शक्ति रूप होने के कारण उनके सभी रसों का पर्यवसान एक प्रकार की शान्ति (निर्वेद) में होता है। रामचरित मानस में हमें कवि की अन्तः प्रकृति का निरीक्षण पग-पग पर मिलता है। मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण चरित्र-चित्रण की रीढ़ है। उदाहरणस्वरूप हम फिर अपने पुष्पवाटिका के प्रिय प्रसङ्ग को लेते हैं जब हम राम और माता जानकी की मनोवृत्तियों का गहराई के साथ अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि दोनो का प्रेम सात्विक पृष्ठभूमि पर उगता है, वासना की एक हल्की गंध तक नहीं। दोनों एक दूसरे की ओर (Opposite sex) की भावना से स्वाभाविक रूप से आकर्षित होते हैं :—

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीनी मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं।
अस कहि फिरि चितए तेहिं ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल, मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल ॥

राम अपने को सँभाल नहीं पाते, अतः लक्ष्मण से अपने मनोविकारों का स्पष्टीकरण कर देते हैं :—

जासु विलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।

उधर सीता जी का 'देखन मिस मृग विहंगतरु, फिरइ बहोरि बहोरि' तथा एक सखी का यह कथन कि :—

पुनि आउब यहि बिरियाँ काली, अस कहि मन विहँसी यक आली।

कितना मर्मस्पर्शी एवं मनोवैज्ञानिक है।

वन-पथ के समय के चित्र कितने मनोहारी बन पड़े हैं :—

> सीता लखन सहित रघुराई, गाँव निकट जब निकसहिं जाई।
> सुनि सब बाल-वृद्ध नर नारी, चलहि तुरत गृह काज बिसारी।
> राम लखन सिय रूप निहारी, पाइ नयन फल होहि सुखारी।
>
> × × ×
>
> एक कलश भरि आनहिं पानी, अचइअ नाथ कहहिं मृदुबानी।
>
> × × ×
>
> रामहिं देखि एक अनुरागे, चितवत चले जाहिं संग लागे।
> एक देखि बट छांह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
> कहहिं गँवाइय छिनकु स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात॥

सौन्दर्य के साक्षात्कार से नारी हृदय कितनी शीघ्रता से संवेदित होता है और किस प्रकार उसमें आत्मसात् की भावना जागृत हो जाती है। बीच बीच मे घोर उदासी के बीच 'प्रिय पर्ण कुटी करिहौ कित ह्वै' का आग्रह प्रबल होता जाता है किन्तु ग्राम बधुओं के मनोविनोद के छीटों से सारी थकान मिट जाती है जब वे पूछती हैं कि :—

> कोटि मनोज लजावनिहारे, सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।
> सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सिय मन मँह मुसकानी॥
> तिनहिं बिलोकि बिलोकत धरनी, दुहुँ सकोच सकुचत बरबरनी।
> सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी, बोली मधुर बचन पियबयनी॥
> सहज सुभाय सुभग तन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।
> बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, प्रभु तन चितै भौंह करि बाँकी।
> खंजन मंजु तिरीछै नैननि, निजपति कहेउ तिनहिं पिय सैननि।

क्या आवश्यकता थी इतनी चौपाइयाँ लिखने की, क्या सीता लखन की तरह एक ही चौपाई मे राम का नाम लेकर परिचय नहीं दे सकती थीं, यह अभिनय करने की क्या आवश्यकता थी परन्तु नहीं तुलसी की कला है, उनका अपना मर्यादित व्यक्तित्व है। आदर्श हिन्दू गृहिणी भी भला कभी स्वप्न में अपने पति का नाम लेने का साहस कर सकती है।

हास्य :—तुलसीदास जी का हास्य अत्यन्त शिष्ट एवं मर्मस्पर्शी है। उच्च कोटि के हास्य की संसृष्टि करने पर भी कवि अपनी शिष्टता की भाव भूमि को नहीं छोड़ता। विष्णु के मुँह से शिव जी की खिल्लियाँ कितने मर्यादा पूर्ण ढंग से तुलसी ने उड़वाई हैं :—

वर अनुहार बरात न भाई, हँसी करइहौ पर पुर जाई।

तुलसीदास जी ने निम्न सवैये मे कितनी गभीरता के साथ मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करके तत्कालीन खोखले चरित्र वाले साधुओ का मजाक उड़ाया है :

'विंध्य के वासी उदासी सबै अति क्षीण महा बिनु नारि दुखारे

मे मानों जीवन्त हास्य सिमट कर आ गया हो। शोक का चित्रण भी गोस्वामी जी ने अत्यन्त हृदयद्रावक पद्धति से किया है। राम वन गमन, लक्ष्मण-शक्ति तथा सीता हरण के प्रसंग पर हमे भवभूति की यह पंक्ति :—

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

अनायास याद आ जाती है।

चित्र खड़ा कर देने में तुलसीदास जी की एक अपनी विशेषता है :—

भरत महा महिमा जलराशी, मुनि मति तीर ठाढ़ि अवलासी।

× × ×

माथे हाथ मूँद दोउ लोचन, तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।

रामचरित मानस में भरत एक स्वस्थ पात्र हैं। तुलसीदास ने भरत को न केवल एक प्रिय बन्धु के नाते महत्व दिया है अपितु उनमें अपने अनुसार एक सच्चे भक्त का भी आदर्श रख दिया है। उन्होने भारत के विषय म हुये एक स्थान पर यहाँ तक कह दिया है कि यदि उनका जन्म न हुआ होता अर्थात् यदि भरत का आदर्श मुझे प्रभावित करने के लिये न मिल पाता तो मेरे जैसे साधारण कोटि के मनुष्य के लिये यह संभव नहीं था कि वह 'राम-सनमुख' हो पाता। अनन्य भक्त भरत अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष तक की इच्छा न करके केवल एक यही अभिलाषा रखते हैं कि जन्म-जन्म में मेरी राम के चरणो में दृढ़ भक्ति बनी रहे। तभी तो राम स्वय जनक के शब्दो मे भरत की महिमा का वर्णन नहीं कर सकते।

भरत अमित महिमा सुनु रानी, जानहिं राम न सकहिं बखानी।

अनंत शक्ति के साथ धीरता गम्भीरता राम का मुख्य गुण है और यही राम का रामत्व है। शरणागत की रक्षा करना एक धर्म माना गया है। वालि-वध छिपकर करना राम के उज्ज्वल यश मयंक के बीच एक धब्बा या कलंक स्वरूप है। यद्यपि वाल्मीकि और तुलसी ने उस पर सफेद रंग चढ़ाने का यत्किन्चित् प्रयास किया है। कौशिल्या के मातृवात्सल्य में विश्व की माताओं की पुत्र वत्सलता मुखरित हो उठी है। कौशिल्या अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को समष्टि की बलिवेदी पर न्यौछावर कर देती हैं, आखिर राम की माँ जो ठहरीं :—

जो केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जाइ बलि माता।
जो पितु-मातु कहेउ वन जाना, तौ कानन सत अवध समाना।

कला पक्ष :—भाव पक्ष और कला पक्ष का पूर्णतया संतुलित रूप यदि हमें कहीं मिलता है तो वह तुलसीदास की ही कविता में, जिसमें रीति, रस, अलंकार लक्षणा, व्यंजना तथा काव्य के सभी अपेक्षित अंग अनाहूत ही आ गए हैं। माधुर्य गुण का उदाहरण लें :—

माधुर्य :—विकसे सरसिज नाना रंगा, मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा।
चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहँग नच्चत कल मोरा॥

ओज :—चरन चोट चटकन्त चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्दरन वीर वारिद जिमि गज्जत॥

प्रसाद :—बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप किशोर देखि किन लेहू।

अलंकार तो पद पद पर यों बिछे हैं जैसे :—

मृगमद चन्दन कुंकुम कीचा, मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा।

अनुप्रास, यमक, मालोपमा, परिसंख्या, सांगरूपक, व्यतिरेक, सहोक्ति के अनेकों उदाहरण आपको अकेले अयोध्याकांड मे पर्याप्त मात्रा में मिल जायेंगे।

छन्द :—तुलसी ने सभी शैलियों मे सफलता के साथ लिखा है किन्तु दोहा चौपाई पद्धति में मानो तुलसी ने अपना सर्वस्व पा लिया, राम-कथा कन्या-कुमारी से लेकर कश्मीर तक बिछ गई, तुलसी महलों से लेकर झोपड़ियों तक चाँदनी की तरह खिल उठे।

बरवै :—तुलसीदास के बरवै इतने सरस और चुभते हुए से हैं कि रस की एक लहर जैसे कगार के दोनों किनारों को चूम कर बिछ गई हो—

चम्पक हरवा अंग मिलि, अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे, जब कुंभिलाइ।
गरब करहु रघुनन्दन, जनि मनि माह।
देखहुँ आपनि मूरति, सिय कइ छांह।

भाषा :—अवधी, व्रजभाषा, भाषा साहित्यिक मान्यताओं से पूर्ण, संस्कृत की सौष्ठव पूर्ण पदावलियों से युक्त, अत्यन्त सम्पन्न परिपक्व है।

विशेष :—तुलसी सामन्ती युग के उन कलाकारो में हैं जिनका दृष्टिकोण मूल रूप से सामन्ती होते हुए भी अत्यन्त व्यापक, उदार और मानवीय रहा।

तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पडित सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपो मे उनका कोई रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होने सब ओर से समता (Balance) की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की, जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।

—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

बुद्धदेव के बाद भारत मे सब से बड़े लोकनायक तुलसीदास थे।

—डा० ग्रियर्सन।

केशव

रीतिकाल की पृष्ठभूमि

भूमिका :—रीतिकाल का समय सं० १७०० से १६०० तक माना जाता है, यह विलास का युग था। राजदरबारो में शौर्य और वीरता का वातावरण समाप्त हो चुका था, युद्धशालाओं के स्थान पर रंगशालाएँ सज गई थी। गुलगुली गिलमे और गलीचो की चौतरफा बहार थी। राजाओं के अष्टयाम विलासिता मे बीत रहे थे। मुसलमानों की विलास भावना के शिकार होने के

कारण उन्हें कोई बात नहीं सूझती थी। फलतः राज्याश्रित कवि अपनी जीविका चलाने के लिए उनकी विलास भावना को ही प्रदीप्त कर कृष्ण राधिका और गोपियों की ओट में राजा साहब को रसिया कन्हैया बनाने लगे। 'ढाई आखर प्रेम का पढ़ै तो पण्डित होय' का रूप 'कै गई काट करेजन के कतरे कतरे पतरे करिहाँ की' में बदल गया। सात्विकता के स्थान पर लौकिक विलासिता के दर्शन हुए। विलास-विहार, आँख मिचौनी (राधेजु मानो बुरौ कै भलो अँखमूदनों संग तिहारे न खेलिहैं) तथा ऋतु वर्णन ही कविता के प्रधान विषय बने। पेचीदे मजमून और ऊँची उड़ाने भरना ही कवियों का एक मात्र ध्येय हो गया।

उत्तरदायी कौन :—रीतिकाल की शृंगारिक कविता का उत्तरदायित्व कृष्ण भक्त कवियों पर है, इन कवियों ने राधा और कृष्ण की मिलन विरह तथा हास-विलास सम्बन्धी बातों के वर्णन में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी, यद्यपि उनका यह प्रेम साधारण भावभूमि से बहुत ऊपर उठा हुआ था किन्तु साधारण जनता तो इतनी गहराई और सूक्ष्मता से सोचने की अभ्यस्त नहीं। फलस्वरूप कृष्ण का बानिक वेष और 'नैकु हमें दिखरावहु अपने बालापन की जोरी। वह देखहु जुबतिन में ठाड़ी, नीलवसन तन गोरी'—राधिका के हाव-भाव रसिकों की वासना को खुले आम चुनौती देने लगे।

विशेषता :—(१) इस काल में साहित्य निर्माण के साथ साथ रस अलंकारादि का बड़ी सूक्ष्मता के साथ विवेचन प्रस्तुत किया गया, प्रत्येक कवि ने साधारणतया लक्षण ग्रंथ लिखे।

(२) इस काल में काव्य शैली कवित्त, दोहा, सवैया की ही विशेष लोकप्रिय रही, बिहारी ने दोहों में अपनी सतसई लिख कर गागर में सागर भर दिया।

(३) इस काल की भाषा ब्रजभाषा ही रही। 'माई री माई मग सांकरी पाँवन में काकरी गरतु है' में मिठास घुलती रही। शृंगार रस की ही प्रधानता रही।

दोषारोपण:—(१) आश्रयदाता की अतिशय प्रशंसा (२) रूढ़िवादिता (३) चमत्कार प्रियता एवं निर्जीव वर्णन (४) रीति-काव्य में समाज को प्रगति प्रदान करने में असमर्थता एवं उसमें जीवन का अभाव है।

केशव

जीवन वृत्त :—जन्म संवत् १६१२, मृत्युसम्वत् १६७४, जाति 'सनाढ्य' शीघ्रबोध के प्रणेता, प० काशीनाथ के पुत्र, ओरछा निवासी। इन्द्रजीत के राज्याश्रित कवि।

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवैं जुग जुग।
जाके राज केशोदास राज सो करत है॥

स्वाभिमानी, पक्के रसिक, राय प्रवीन पर लट्टू होने वाले और उसमें इतनी गहराई से डूबे, कि उस पतुरिया को लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती तक बना डाला कवि प्रतिभा का यह दुरुपयोग ?

राय प्रवीन कि सारदा, सुचि रुचि रंजित अंग।
बीना पुस्तक धारिनी, राज हंस सुत संग॥

व्यक्तित्व :—स्वाभिमानी, निस्पृह ब्राह्मण, दरबारी कवि। दरबार के शिष्टाचार और राजनीति के दाव पेचों में पारंगत, वाक्पटु, हाजिर जवाब।

राम के भक्त, धुन में आया रामचन्द्रिका कहते हैं एक रात में लिख डाली। प्रभावशाली, कूटनीतिज्ञ इतने कि एक बार अपने आश्रयदाता को तत्कालीन मुगल सम्राट अकबर के कर से चिरमुक्त करवाया।

रचनाएँ :—रामचन्द्रिका, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, विज्ञान-गीता आदि।

काव्य-सौन्दर्य :—केशव वर्णन प्रधान कवि हैं, चमत्कार प्रदर्शन ही एक मात्र इनको इष्ट था। सूर्योदय के वर्णन मे वह शृङ्गार और वीभत्स को एक साथ ला घसीटते हैं। शाब्दिक चमत्कार और अनुप्रास प्रदर्शन के चक्कर में पड़ कर भावों की भ्रूण हत्या तक की है। केशव का प्रकृति वर्णन एक मात्र उक्ति चमत्कार का अलबम है। 'रामचन्द्रिका' इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है, इसका स्वरूप तो प्रबन्ध काव्य का सा है परन्तु राम कथा का प्रवाह प्रबन्ध काव्य से बिल्कुल मेल नहीं खाता—अलकारो का बलात् प्रयोग किया गया है और मार्मिक एवं गभीर भाव व्यजना के साथ खिलवाड़ किया गया है। चरित्र-चित्रण तो कहीं कहीं हास्यास्पद हो गया है, विशेषतया बन जाते समय राम के द्वारा माता कौशिल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश देना। केशव को हम एक कवि की श्रेणी मे लाने की धृष्टता नहीं कर सकते, वे एक सफल आचार्य थे

और उससे भी बढ़कर एक मॅजे हुए दरबारी, दरबार की दाँव-पेंचों का उनको अच्छा अनुभव था। इसीसे राजसी ठाट-बाट, राजनीतिक-कूटनीति का वर्णन वे बहुत सुन्दर ढग से कर सके हैं। सभाषण कला पर उनका अपना अधिकार था। उनके ऐसे संवाद तो तुलसीदास जी भी नहीं लिख सके।

शृङ्गार रसः—केशव के शृ गारिक वर्णनों में पर्याप्त मार्मिकता एवं हृदय-स्पर्शिता का अभाव है। इसका कारण एक मात्र उनकी कल्पना थी। प्रेम का उच्च आदर्श उनकी दृष्टि से ओझल था। सच्चे प्रेम की सुकुमारता को समझने की क्षमता इनमें नहीं थी। दूती के वचन देखिए :—

आजु यासो हँसि खेलि, बोलि-चालि लेहु लाल।
कालिह यक बाल लाऊँ काम की कुमारी सी॥

पवित्र नारीत्व का यह बाजारू मूल्याङ्कन। इन कृत्रिम भावो से सात्विक भावो की व्यंजना कैसे हो सकती है ?

करुण रसः—अलकार-वैचित्र्य के फेर में पड़ कर करुण से करुण दृश्य भी केशव के नीरस हृदय को न पिघला सका। वहाँ भी इन्हें कृत्रिम अलंकार-प्रसाधन की खबर न भूली। राम वन गमन के समय दशरथ के प्राणान्त होने पर भी केशव कौशिल्या, सुमित्रा तथा अयोध्यावासियों की ओर देखते तक नही, बस 'बँधे सेतु उतरे कटक':—

विपिन मारग राम विराजही।

किन्तु जहाँ केशव अलंकारों के फेर मे नहीं पड़े वहाँ बहुत सुन्दर भावो की व्यजना पूर्ण सहृदयता के साथ कर सके हैं :—

जब विश्वामित्र राम लक्ष्मण को लेकर चले जाते हैं, तब दशरथ के मौन द्वारा उनकी भीतरी पीड़ा का आभास कवि ने मौन रहकर ही मुखरित कर दिया है :—

राम चलत नृप के जुग लोचन, वारि भरित भे वारिद रोचन।
पायनि परि ऋषि के साजि मौनहिं, केशव उठ गये भीतर मौनहिं।

जिस समय चित्रकूट मे राम अपनी माताओं से पिता की राजी-खुशी पूछते हैं, उस समय केशव ने मानो अपनी चिरसंचित करुणा उंडेल दी है :—

जब पूछियो रघुराइ, सुख है पिता तन माय ।
तब पुत्र को मुख जोइ, क्रम तें उठी सब रोइ ।

वीररसः—प्रताप, ऐश्वर्य, वीरता इत्यादि का वर्णन करने में केशव को आशातीत सफलता मिली है । इन भावों को वे बड़ी ही कुशलता के साथ व्यक्त कर सके हैं । इनमें व्यजना के द्वारा एक प्रकार के भय मिश्रित आतक की ध्वनि तथा ललकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है :—

पढ़ौ विरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडिरे ।
कुबरे वेर कै कही न जच्छ भीर मड़िरे ।
दिनेस जाइ दूर बैठ, नारदादि सग ही ।
न बोलु चंद मद बुद्ध इंद्रकी सभा नही ।

सवाद :—केशवदास जी के से सवाद हिन्दी का कोई भी कवि नही लिख सका । इनके संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है 'पात्रोचित शिष्टाचार का पूर्ण निर्वाह ।' बातचीत के माध्यम से इनके पात्रों के कुलशील तथा मनोविज्ञान की जॉच हो जाती है । सवादो मे नाटकीय अभिनेयत्व प्रचुर मात्रा मे है । राजनीतिक दॉवपेंच एवं वाग्वैदग्ध से इनके सवाद पूर्ण हैं :—

परशुराम—यह कौन को दल देखिये ।
वामदेव—यह राम को प्रभु लेखिये ।
परशुराम—कहि कौन राम ? न जानिये ।
वामदेव—सर ताड़का जिन मारियो ।

अंगद-रावण संवाद इनके समस्त सवादों मे श्रेष्ठ है ।

कलापच्च :—भाषा व्रजभाष, क्लिष्ट पदावली । अनुप्रासिकता के फेर में पड़कर एक ही छन्द मे अनेक भाव ठूस दिये गये हैं । कवित्त, सवैये आदि की भाषा प्रसाद युक्त, सरल एवं सुव्यवस्थित है । मुहावरों का यत्र-तत्र प्रयोग भी स्तुत्य है ।

शैलीः—शैली मे केशव का व्यक्तित्व बोलता है । उनकी अपनी छाप है । छन्द-योजना सस्कृत के छन्द-योजना से मेल खाती है । इनकी शैली मे कुछ ऐसी बिलक्षण गरिमा है कि इन्हें 'कवियों का भूत या कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है ।

अलंकारः—'भूषन बिन न विराजई, कविता बनिता मित्त'। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक थे हमारे कवि नहीं आचार्य केशवदास।

यदि केशव को अलंकारप्रियता आड़े न लेती तो हम रामचंद्रिकाकार को एक श्रेष्ठतर कवि के रूप में पाते।

केशव को अलंकारों में अपना चमत्कार प्रदर्शित करने का खुलकर मौका मिला है —

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जँह एक घटी।

यद्यपि उनकी अलंकारिक योजना में स्थान स्थान पर ऐसी त्रुटियाँ रह गयी हैं जिनसे अलंकार के स्वरूप का आद्योपान्त निर्वाह नहीं हो सका। कुछ भी हो एक आचार्य के रूप में पाकर हिन्दी को केशव पर नाज है।

विशेषः—पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने केशव को हृदय हीन कहा है। यद्यपि डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने इसका खंडन किया है कि जिस व्यक्ति की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रहे उसे हृदयहीन कैसे कहा जा सकता है। केशव दास ही थे जिन्हें 'बाबा' शब्द से घोर घृणा थी, इसको वे अपने जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप समझते थे। कहा भी है :—

केशव के सन अस करी, जस रिपुहू न कराहिं।
चन्द्र बदन मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि॥

बिहारीलाल

जीवनवृत्तः—(जन्म सम्वत् १६६० मृत्यु सं० १७२४) जन्म स्थान एवं जाति के बारे मे ये दोहे कवि ने स्वयं लिखे :—

जनम लियो द्विजराज कुल, सुबस बसे व्रज आय।
मेरे हरौ कलेश सब, केसव केसवराय॥
जनम ग्वालियर जानिए, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

व्यक्तित्व :—ससुराल में रहकर जिसने जवानी की गहरी घाटियाँ चूमी

हों, उसकी रसिकता की क्या माप, चढ़ती जवानी कितनी खतरनाक होती है। स्वयं कवि के ही शब्दों में सुनिए :—

कित भींजे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
किती न अवगुन जग करत, नव वय चढ़ती बार॥

किसी गाँव से गुजरे, गदकारी गोरी गँवारिन को ही देख रसिकता छलक आयी :—

फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब।

कुशल आचार्य, स्वाभिमानी, काइयाँ एक नम्बर के, कठिन से कठिन काम को भी चुटकियों में कर देनेवाले अपौरुषेय प्रतिभा वाले थे। अन्योक्ति के माध्यम से जयसिंह को भोग विलास के ऊपर उठा जनता-जनार्दन एवं साहित्य का कल्याण किया :—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों विंध्यो, आगे कौन हवाल॥

रचना—केवल ७४३ दोहों से सुसम्पन्न एक मात्र बिहारी सतसई।

काव्य-सौन्दर्य—बिहारी की कविता में भाव और कलापक्ष दोनों का मणि-कांचन संयोग है। ऐसा प्रायः समान समन्वय कम कवियों की कविता में देखने को मिलता है। बिहारी ने दोहे ऐसे छन्द में अपनी अपरिमित प्रतिभा, कुसुमित कल्पना, प्रगाढ़ पांडित्य, एव हृदय की श्रेष्ठतम अनुभूतियों को इस ढंग से जड़ दिया है कि उनके आगे अन्य कवियों के शृंगारिक दोहे 'दरपन के से मोरचे' जाने जाते हैं। इनकी रचना में अभिव्यक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है यद्यपि उन्होंने देव की भाँति नई नई उद्भावनाएँ एवं मौलिक अनुभूतियों को अपनी कविता का माध्यम नहीं बनाया फिर भी अपने दोहों में कुछ ऐसी ताजगी डाल दी है कि पाश्चात्य साहित्य का अध्ययनशील आज का प्रयोगवादी कवि भी बिहारी के दोहों मे वही मिठास पाता है, वही सादगी और मस्ती लेता है, जो एक रीतिकाल का पगड़ी छाप रसिक व्यक्ति पाता रहा होगा। बिहारी के दोहों की इस ताजगी को देखकर हमें उन्हीं का कथन याद आ जाता है —

वह चितवनि औरै कछु, जेहि बस होत सुजान।

यद्यपि बिहारी ने साहित्य को कोई नई चीज नहीं दी। आप आर्या सप्तशती, गाथा सप्तशती, अमरुक शतक और कालिदास की शृंगारिक कविताओं को एक बार देखने का कष्ट करें तो बिहारी के काइयाँपन का पता अच्छी तरह लग जायगा कि किस सफाई से आपने वहाँ से नकल मारी है लेकिन हमें इससे कोई शिकायत नहीं, बिहारी ने उक्त स्थानों से भाव जरूर ग्रहण किए हैं किन्तु उनमें एक ऐसी पालिश चढ़ा दी है कि उनका रूप ही बिल्कुल बदल गया है, कभी कभी तो ये दोहे कालिदास, एवं अन्य पूर्ववर्ती कवियों को भी पीछे छोड़ गए हैं। बहरहाल हमें यह कहना ही पड़ेगा कि बिहारी 'मेकअप की कला' में एक ही थे। कालिदास से ही भाव उधार लेकर किस प्रकार सवाई लौटा दी, देखिये :—

स्थित क्षणं पक्ष्मसु ताड़िताधरा, पयोधरोत्सेध निपात चूर्णितः।
वलीषु तस्यां स्खलित प्रपेदिरे, चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

कुमारसम्भव के पंचम सर्ग में कवि पार्वती के तप का वर्णन करते हुए उनके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करता है। वर्षा की पहली क्वाँरी बूँद आकाश से चू पड़ी, भौहों पर क्षण भर रुकी क्योंकि वे अत्यन्त सघन थीं। फिर वहाँ से चली आई कपोलों पर लेकिन उन्होंने भी इसे शरण न दिया क्योंकि वे इतने चिकने और भरे हुए थे कि वहाँ इसके ठहरने की कोई गुन्जाइश ही न थी, फिर बेचारी (खानाबदोशों की तरह) कुचों पर आ गिरी, चूर चूर हो गई, कहाँ कठोरता से कठोर कुच और वहाँ लाज से भी कोमल वर्षा की पहली बूँद। अन्त में उसे त्रिवलियों के सुन्दर पथ से नाभि में रहने का स्थायी स्थान मिल गया। इस प्रकार कवि ने बूँदों के बहाने परोक्ष रूप में पार्वती के भौंहों की सघनता, कपोलों की मसृणता, कुचों की कठोरता एवं त्रिवली तथा नाभि की सुरम्यता एवं गहराई पर प्रकाश डाला है किन्तु बिहारी ने इसी भाव को लेकर इस पर चार चाँद लगा दिये—

पलनु प्रगटि बरुनीन बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवाँ परि छतियाँ छिनकु, छनछनाइ छपि जाति॥

छनछनाने में कितनी ध्वनि बलिष्ठता है मानों अभी अभी गर्म तवे सी तप्त वियोगिनी की छाती पर ओस बिन्दु से अश्रु छनछना गये हों। इस प्रकार कवि न केवल वाह्य सौन्दर्य वरन् अन्त सौन्दर्य का वर्णन करके कालि-

दास से एक पग आगे बढ़ गया है। वर्षा की पहली बूँद में पृथकता है किन्तु आंसू तो अपने ही हैं। अपनी ही चीज का अपने ही में लय हो जाने की कल्पना ही कितनी सुकुमार है।

बिहारी के काइयांपन पर प्रकाश डालते हुए 'हिन्दी नव रत्न' में मिश्र बन्धु लिखते हैं कि इनकी कविता मे काइयापन भरा पड़ा है अतः उसमे इशारेबाजी की भी कोई हद नहीं है, इनके पद इतने अच्छे हैं कि बहुत से मसले से हो गये हैं—

बातै हाथी पाइए, बातैं हाथी पाव।

इनके सामयिक दोहे प्रायः मौके मौके पर कहे जाते हैं।"

१. अनूठी भाव व्यंजना :—प्रायः जिन चीजों को संसार उपेक्षा की दृष्टि से देखता है उसी को बिहारी ने इस प्रकार बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया है कि उसमें लोगों को नयी ताजगी मिलती है। देखने की नयी दिशा देने की प्रतिभा बिहारी में गजब की थी। एक काली कोयल सी छोकड़ी का रूप सौन्दर्य देखिए :—

चिलक चिकनई चटक सों, लफति सटक लौं आय।
नारि सलोनी सावरी, नागिनि लौं डसि जाय॥

शब्दों का चयन देखिए, शब्द एक दूसरे से इतने गुँथे हैं, इतना लगाव है इनमें, एक दूसरे पर ऐसे टूटे पड़ते हैं जैसे तीरंदाजी सीखने वाले नुकीले वृक्ष पर लाखों लाखों निगाहें टूट जायँ।

रसिक बिहारी की चुहलबाजी इस दोहे मे देखिए—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

क्या कोई ऐसे संवाद लिखेगा? इस छोटे दोहे में आप पाइएगा एक चित्र, अनुपम संवाद, चुभती चुहलबाजी और न जाने क्या क्या! बात यों हुई एक शोख ब्रज की छोकरी कृष्ण से जी भर कर बातें करना चाहती थी, बाद मुद्दत के दिल का चाव पूरा हुआ, कृष्ण उसके घर किसी काम से आए, अवसर पाते ही अपनी सौत (बंशी) को छिपा दिया। कृष्ण जब जाने को तैयार हुए; बंशी मांगी :—

अरी ओ, कहाँ रख दी मेरी बंशी लाओ दे दो ना।

गोपी :—हमने नहीं लिया जी, हुँ बांस की वंशी क्या हुई मानों सोने की हुई (भौहों में हँसना, यानी ली तो है, पर देंगे नहीं, जो कुछ करना हो कर लो ।)

कृष्ण :—तो नहीं दोगी, जाऊँ

गोपी :—जाओ ।

कृष्ण :—जाऊँ ।

गोपी :—जाओ ।

(कृष्ण कुछ दूर गए नहीं कि वह सर पर आकाश उठाते हुए चिल्लायी अच्छा आओ ले जाओ अपनी वंशी) ।

कृष्ण :—अच्छा लाओ ।

(आकर कृष्ण ने फिर मागी ।)

गोपी :—क्या ।

कृष्ण :—वशी ।

गोपी :—कैसी वंशी, किसकी वंशी; क्या है वंशी ?

और फिर कृष्ण ने चीर हरण में जितना छकाया था उसका पाई पाई चुकता करा लिया । इस प्रकार बिहारीलाल ने इतने इतने भारी अभिनयात्मक संवाद एक छोटे से दोहे में ऐसे भर दिये हैं जैसे कोई कजरारी दुधारी आँखों में काजल की परतें भर दे :—

तभी तो मुँह से अनायास निकल जाता है :—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर ।
देखत में छोटे लगैं, घाव करे गम्भीर ॥

बकौल फिराक साहब—

कन्या अब कामिनी है होने वाली ।
आँखों को नयन बनाने वाले दिन हैं ॥

ऐसे सुहावने दिनों में पलने वाले नयनों का नटखटपन देखिए :—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मों बस नाहिं ।
ये मुँह जोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं ॥
फिरि फिरि दौरत देखिए, निचले नेक रहैं न ।
ये कजरारे कौन पै, करत कजाकी सैन ।

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे मौन में कहत है, नैनन ही सो बात ॥

बिहारी के दोहो मे इतना अपरिमित भाव-सौन्दर्य है कि सामने हूबहू चित्र सा खड़ा हो जाता है, एक एक दोहे मानों श्रेष्ठ चित्रकार के नये ताजे रंग से भरे चित्र हों :—

मंजन करि खजन नयनि, बैठी व्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै, चितवत नन्द कुमार ॥
विहँसति सकुचति सी दिये, कुच आँचर बिच बाँह।
भीजे पट तट को चली, न्हाय सरोवर माँह।
दृग थरकोहैं अधखुले, देह थकोहैं डार।
सुरति सुखित सी देखियन, दुखित गरभ के भार ॥

२ मौलिकता :—बिहारी की दृष्टि वहा पहुँची है जहाँ साधारण लोग स्वप्न मे भी नही पहुँच सकते, सम्भवतः बिहारी की ही प्रतिभा से कायल होकर किसी ने यह उक्ति बनायी होगी :—

जहां न जाय रवि, तहाँ जाय कवि।

अब बिहारी की मौलिकता की बानगी दो चार दोहों में लीजिये :—

मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन को कियो, भूषन पायंदाज ॥

नाजुक खयाली और सूक्ष्मदर्शिता में ये सच मानिये उर्दू के कवियों को भी चिढ़ाने लगते हैं :—

छाले परिबे के डरन, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकत हिय गुलाब के, झँवा झवैयत जाय ॥

'फर्शे मखमल पै मेरे पाव छिले जाते हैं' से कहीं अधिक नाजुक है यह दोहा, मखमल को तह गुलाब की पंखुड़ियों से कही कठोर होती है फिर मखमल मखमल ही है न देखने का, न सुनने का और सुगन्ध तो उसकी किस्मत में ही नहीं।

भूषन भार सम्हारिहैं, कहुँ केहि विधि सुकुमारि।
सूधे पाँय न परत महि, शोभा ही के भार ॥

बरजे दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै न सकाय।
टूटत कटि दुमची मचकि, लचकि लचकि बचि जाय॥

३. खूबसूरत खीझ :—बिहारी के हास्य मे भी एक प्रकार की ऐ शृङ्गारिक भावना है जैसे गदराये हुए कड़े अमरूदों में रसीलापन। देखिए :-

नेक उते उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जात नह-दी छिनकु, महदी सूखन देहु॥
जदपि लौंग ललितौ तऊ, तू न पहिरि इक आँक।
सदा संक बाढ़ी रहैं, रहै चढ़ी सी नाँक॥

४. अनूठी प्रकृति एवं मनोवैज्ञानिकता :—उद्‌भावना में बिहार बिहारी ही हैं —

१. दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत।
कवि आँकन के अरथ लौं, प्रगट दिखाई देत॥
२. छ्वै छिगुनी पहुँची गहत, अति दीनता दिखाय।
बलि वामन को ब्योंत सुनि, को बलि तुम्हें पत्याय॥
२. बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किये नीठ ठहराइ।
सूछम कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी ना जाइ॥

५. सात्विकता :—बिहारी के शृङ्गारिक वर्णन में एक प्रकार की स्वस्थ सात्विकता है जो उन्हें अन्य रीति कालीन कवियों से पृथक् एवं श्रेष्ठ पद प्रदान करती है। कुछ दोहों में तो ऐसी गरिमा है जिनके आगे गंगा जल की पवित्रता भी पानी पानी हो जाती है। गार्हस्थिक चित्रों में सादगी तो देखने लायक है।

मायके से आयी हुई ताजे सोलह फूलों वाली की रसोई बनाने की वेष-भूषा एवं यौवन की सात्विकता देखिए :

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति।
फिरत रसोई के वगर, जगर मगर द्युति होति॥

६. अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन :—इस शक्ति का प्रयोग कवि ने अपने विरह वर्णन में बड़ी सफलता से किया है, उनके इस प्रकार के वर्णन में एक अजीब चटकीलापन है, कुछ ऐसी मनोहारिता बरसी पड़ती है कि देखकर यही कह आता है कि कुछ नहीं कह आता।

औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिललात।
बीचहि सूख गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात॥

विरह की ज्वाला से गुलाब जल बीच में ही सूख गया, पर एक छींट भी न छू गया।

आड़े दे आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस, सखी सबै ढिग जाति॥

हद हो गई, जाड़े की रात में भी पानी से तर कपड़े की ओट कर सखियाँ पास जाती हैं।

इत आवत चलि जाति उत, चली छ सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे से रहै, लगी उसासनि साथ।

वियोगिनी क्या हुई मानों पेंडुलम हुई?

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीच।
दीने हू चसना चखन, चाहै लखे न मीच॥

विरहजन्य कृशता की चरम सीमा है। आँखों पर चश्मा चढ़ाकर भी मौत नहीं देख सकती, सम्भवतः चश्मा धूप-छाँह का रहा होगा।

सुनत पथिक मुँह माहनिसि, लुए चलति उहि गाम॥
बिन बूझे बिन ही सुने, जियति बिचारी बाम॥

ऐसे प्रयोगों को देखकर रसोत्पत्ति तो जो होती है होती ही है, हँसी आए बिना नहीं रहती।

व्यापक पांडित्य :—गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास पुराण, नीति-निपुणता एवं दार्शनिक तत्व बिहारी के दोहों मे कूट कूट कर भरे हैं। दोहों मे इन सब का सुलझा हुआ वर्णन पढ़कर कवि के व्यापक पाडित्य एवं प्रखर प्रतिभा पर स्पर्धा होती है। इस दोहे मे कवि ने अपने गणितज्ञ होने का प्रबल परिचय दिया है :—

कहत सबै बेंदी दिये आक दस गुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिए, अगनित बढ़त उदोत॥

ज्योतिष का चमत्कार देखिए :—

मंगल बिन्दु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार वृहस्पति और मगल के साथ जब चन्द्रमा एक राशि पर आता है तो घोर वृष्टि होती है इतनी कि देश का देश डूब जाय। अर्घ प्रकाश में भी ऐसा उल्लेख प्राप्य है :—

गुरू भौमसमायोगे, करोत्येकार्णवामहीन्।

'काहू पुन्यनि पाइयत, बैस संधि संक्रौन' में संक्रांति के पुण्य पर्व का उत्तम चित्रण है। वैद्यराज के रूप में कविराज को देखिये :—

मैं लखि नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वहई रोग निदान, वहै बैद औषध वहै॥

'मरज मे मुब्तला करके मरीजों को दवा देना' की कैसी फोटोग्राफी की गयी है।

नीति निपुणता की बानगी तो पहले दी जा चुकी है, सारी सतसई ही इस गुण से ओतप्रोत है, नीति निपुणता न होती तो सतसई का निर्माण ही न हुआ होता। राजनीति की कूटनीतियों का ज्ञान कवि का कितना चढ़ा वढ़ा था :—

दुसह दुराज प्रजानि कौ, क्यों न बढ़ै दुख दन्द।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चन्द॥
कहै इहै श्रुति सुमृति सो, इहै सयाने लोग।
तीन दवावत निसक हि, राजा पातक रोग॥
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान।
भलौ भलौ कहि छाड़िये, खोटे ग्रह जपदान॥

दार्शनिक गूढ़ तत्वों को कितनी सरलता के साथ कवि ने व्यंजित किया है :—

मैं समुझ्यौं निरधार, यह जग काँचौ काँच सो।
एकै रूप अपार; प्रतिबिम्बित लखियत वहाँ॥
अज्यौं तर्‌यौना ही रह्यो, श्रुति सेवक इक अंग।
नाक वास वेसर लह्यौ, बसि मुकतन के संग॥
जोग जुक्ति सिखई सबै, मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन॥

नीति पक्षः—बिहारी ने जहाँ शृङ्गार के उच्चकोटि के दोहे लिखे हैं वहीं पर नीति के सरल सुलझे हुए दोहों की भी रचना की है जो समय कुसमय

पथ-भ्रष्ट मानव को सुपथ की ओर ले चलते हैं। लोक-प्रिय इतने हैं कि जन-जन के कंठहार बन गए हैं :—

मीत न नीति, गलीत ह्वै, जो धरिए धन जोरि।
खाए खरचे जो बचै, तौ जोरिए करोरि॥
नीच हिए हुलसे रहैं, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारियत, त्यो त्यो ऊँचे होत॥
संगति सुमति न पावई, परे कुमति के धन्ध।
राखौ मेलि कपूर मै, हीग न होय सुगन्ध॥

भक्त के रूप मे वे भगवान तक को भी खरी खरी सुनाने में नहीं हिचके।

कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाइ।
तुम हूँ लागी जगत गुरु, जगनायक जग बाय॥
थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनो भयो, आजु काल्हि के दानि॥

कला पक्षः—भाषा ब्रजभाषा, छन्द एक मात्र दोहा ; दोहे जैसे छोटे छन्द मे इतने अलङ्कारों की सफल योजना करने मे बिहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिन्दी में मिल सके। अनेक दोहों में कवि ने अनुभावों की सुन्दर व्यंजना की है जिससे दोहे लक्षण रूप में भी मान्य हैं। ग्रामीण चित्र उपस्थित करने में उन्होंने कितना स्पृहणीय ग्रामीण वस्तुओं का समन्वय उपस्थित किया है:—

गोरी गदकारी हँसै, परत कपोलनि गाड़।
कैसी लसति गंवारि यह, सोनकिरवा की आड़॥
पहुला हार हिए लसै, सन की वेदी भाल।
राखत खेत खरे खरे, खरे उरोजनि बाल॥

विशेषः—डाक्टर श्यामसुन्दरदास के शब्दो में बिहारी ने घाट बाट देखने में जितना परिश्रम उठाया होगा उतना यदि वे हृदय की टोह मे करते तो हिन्दी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती।

दिनकर जी ने मौलिक दृष्टि से मूल्याङ्कन करते हुए लिखा है कि बिहारी के दोहों मे न तो कोई बड़ी अनुभूति है, न कोई ऊँची बात, सिर्फ लड़कियों

की कुछ अदाएँ हैं मगर कवि ने उन्हें कुछ इस ढङ्ग से चित्रित किया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में सिर्फ ऊँची अनुभूति या ज्ञान की बड़ी बड़ी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं में उन्हें अपने लिए चुनौती मौजूद मिलेगी। बिहारी की कविताओं में से आलोचना का यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं प्रत्युत कला और कारीगरी की पूर्णता से है, कविता कामायनी में भी सफल हो सकती है और बिहारी सतसई में भी, और दोनों की सफलताएँ अपने अपने स्तर पर अद्भुत और महान् हैं।

देव

जीवन वृत्त :—देवदत्त उपनाम देव, जन्म संवत् १७३०।

जाति एवं जन्म भूमि —द्योसरिया कवि देव को, नगर इटावे वास।

व्यक्तित्व:—रसिक, भोगीलाल के भोगों में झूम चूम स्नान करने वाले, १६ वर्ष की ही अवस्था मे रससिक्त भावविलास की रचना करने वाले, ऐसे हैं महाकवि देव जिनकी प्रतिभा के आगे किसी कवि की उक्ति के अनुसार सूर तुलसी भी मात हैं :—

सूर सूर तुलसी सुधाकर नछत्र केसौ।
सेष कविराजन को जुगनू जनाइ कै॥
कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो अब।
काव्य-रीति मोसन सुनहु चित लायकै॥
देव नभ मंडल समान हैं कवीन मध्य।
जामें भानु सितभानु तारागन आइ कै॥
उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै।
जाको ओर छोर नहिं परत लखाय कै॥

पक्के घुमक्कड़, 'जाति-विलास' में देश देश भर की स्त्रियों का वर्णन किया है। तिलंग, कर्नाटक, सिन्धु, गुजरात, कुरु, भूटान, काश्मीर, मगध,

कोशल, पटना की रूपवती स्त्रियों का सच्चा और सटीक वर्णन किया है। मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नव रत्न' मे लिखा है कि देव देशविदेश घूमे हैं, वे पूर्ण रसिक थे, अतः जहां गए वहा की स्त्रियों को इन्होंने बहुत ध्यान पूर्वक देखा क्योंकि इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का ऐसा सच्चा वर्णन किया है और जिससे सदेह भी अवश्य उठता है कि सभवतः इनका चाल चलन बहुत ठीक न था। अभिमानी उच्चकोटि के थे, जिससे कभी भी एक जगह जम कर न रहे, क्योंकि इन्हे किसी की बरदाश्त होती न थी। बहुज्ञता में वे पूर्ण भरे थे। ऐसे गुणज्ञ का देहावसान सवत् १८२५ मे हुआ।

ग्रन्थः—५२ ग्रन्थो के रचयिता। उनमें प्रमुख ये हैंः—भाव विलास, भवानी विलास, रस विलास, सुजान चरित्र, राग-रत्नाकर, प्रेम चन्द्रिका। 'देव सुधा' में इनकी सुन्दरतम कविताएँ संग्रहीत हैं।

काव्य सौंदर्यः—देव जी का काव्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है, रीतिकाल के कवियों में इतनी व्यापकता का सर्वथा अभाव है। डा० श्याम सुन्दर दास के शब्दों मे देव की सौंदर्य-प्रवृति सत्य अतः मर्मस्पर्शिनी है। उनका प्रेम यद्यपि लौकिक है परन्तु उनकी तन्मयता के कारण उसमे उनके अन्तरतम की पुकार सुन पड़ती है। यही पुकार साहित्य की उत्कृष्टता की सूचक है।" देव की प्रारम्भिक रचनाओं मे धुवाँधार यौवन का उफान है परन्तु वही भावना प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर अनुभवों के छींटों से ठंडी और सयत हो गई है। उनकी दर्शन पच्चीसियों में उनके पवित्र विचार, सूक्ष्म भावनाएँ, तथा अद्भुत रचना चातुरी का परिचय मिलता है। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, समाधि काति, और उदारता नामक गुण देव की रचना में पाए जाते हैं, पर्यायोक्ति, सुधर्मिता सुशब्दता संक्षिप्त प्रसन्नादि गुणों की भी आपकी रचना में बहार हैं' (हिन्दी नवरत्न) देव के प्रकृति वर्णन हिन्दी साहित्य में सर्वथा मौलिक और अनूठे हैं। उनमे एक प्रकार की ऐसी गरिमा समाई है जिनके कारण वे विश्व की गिनी-चुनी प्रकृति सम्बन्धिनी कविताओं में रक्खी जा सकती हैं। बिहारी को इसी स्थल पर देव बहुत पीछे छोड़ जाते हैं। इनके प्रकृति वर्णन को देखकर इनकी व्यापक सूक्ष्मदर्शिता का पता चलता है। इन्होंने प्रकृति को मानवी रूप से अलंकृत कर दिया है। 'वासन्ती प्रकृति'

का सुन्दर वर्णन देखिए। जिसमें सूर के यशोदा की वत्सलता और जयदेव के राधा की कमनीयता एक ठौर सिमट आयी है :—

डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के
सुमन झिंगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावैं हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सो उतार्यो करै राई नोन,
कंजकली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै।

फाग का वर्णन करते करते कवि ने अपनी कुशल प्रतिभा से भावों और शब्द स्वरों में ही फाग मचा दी। ध्वनि बलिष्ठता की सुन्दरता से सजी यह कविता देखिए :—

माधुरे झौरनि, फूलनि भौरनि, बौरनि बौरनि बेलि बची है।
केसरि किंसु कुसुम्भ कुरौ, किरवार कनैरनि रंग रची है।
फूले अनारनि, चंपक डारनि, लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि, चूत परागनि, देखि री बागनु फाग मची है।

चित्रों को खड़ा करने की शक्ति देव में बिहारी से कहीं अधिक थी। यह ऐसे चतुर चितेरे थे कि 'क्षणे क्षणे यन्नवता उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' के विभिन्न पोजों (मुद्राओं) का चित्र इनकी प्रतिभा के लेन्स में नहीं छूटने पाता था। दो एक चित्र देखकर देव की प्रतिभा को देख मन ही मन इनकी तुलना करने के लिये व्यर्थ प्रयत्न कीजिए :—

(१) आओ ओट रावरी झरोखा झाँकि देखौ 'देव'
देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्योस नाहिंनै।
लहलहे अंग रंगमहल के अंगन में,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहनै॥
लोने मुख लचनि नचनि नैन कोरन की,
उरति न और ठौर सुरति सराहनै।

बाम कर बार, हार अाँचर सम्हार्यो करै,
कैयो छन्द कन्दुक उछारै कर दाहिनै ॥

(२) नीबी उकसाई नेकु नयन नचाइ हँसि,
ससि मुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।

देव ने अनूठी कल्पनाएँ बहुत ही अधिक की हैं, ऐसे गुण कम ही कवियों में पाये जाते हैं।

आरसी से अम्बर मैं आभा सी उजारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द।

देव के प्रतिभा की सबसे बड़ी खूबी है उनकी 'मौलिक उद्भावना'। उन्होने जो भी लिखा मौलिक लिखा, नयी नयी उपमाएँ हृदय की असीम गहराइयों से लेकर रख दिया। यही कारण है कि आज भी उनकी कविताओं में हमें एक नूतन आनन्द और अनूठी ताजगी मिलती है। कुछ उदाहरण देखिये :—

उर में उरोज जैसे उमगत पाग हैं।

× × ×

साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।

नई नई उपमाओं से युक्त देव जी की अमर प्रतिभा की प्रतीक कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे।
ज्यों ज्यों सीरे पानी पीरे पान पलटियत।

× × ×

बड़े बड़े नैनन ते आँसू भरि भरि ढरि।
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात ॥

× × ×

देव कछू अपनो बसु ना रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूड़ि गई पंखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भइ मेरी ॥

अभिनयात्मक सरस संलाप :—देव की इसमें अपनी कला है, अपनी चित्रकारी है जिसको देखकर हमे केशव के संलापों की याद आ जाती है किन्तु यदि केशव के संलाप बादाम की सी स्वस्थता रखते हैं तो देव के

संलापों में अंगूरों की सी मिठास, शक्ति एवं मादकता निहित हैं। इस अनुपम द्राक्षारस की दो एक बूँदे चखिए :—

गोपियाँ :—कंपत हियो

कृष्ण—न हियो कम्पत हमारो क्यों।
हँसी तुम्हैं अनोखी नैकु सीत में सघन देहु।

गोपियाँ :—अंबर हरैया हरि अबर उजेरों होत,

कृष्ण :—हेरि कै हँसैं न कोई हँसे तौ हँसन देहु॥
देव दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी लोयन लसन देहु।

गोपियाँ :—हमरे बसन देहु देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु ब्रज में बसन देहु॥

अन्तिम पक्तियों में कितनी कातरता सिसक रही है, 'बतरस लालच लाल' वाली गोपी का बदला समस्त गोपियों से लिया गया। देव जी की कविता में भाषा की लावण्यता, सुन्दर शब्द चयन, कल्पना की उदात्त उड़ान, पेचीदे मजमून, चित्रांकन एवं माधुर्य भरा हुआ है। भाव पक्ष की दृष्टि से हिन्दी में तुलसी और सूर को छोड़ कर कोई भी कवि इनकी समता नहीं कर सकता। इनके अलंकार प्रधान सवैयों में भी अनूठी मर्मस्पर्शिता थिरक रही है। देव में मौलिक अनुभूति बिहारी से कही अधिक है। उन्होंने अन्तः प्रकृति का सुन्दर चित्र खींचा है जो वाह्य प्रकृति से कहीं अधिक प्रयत्नसाध्य और दुरूह किन्तु स्पृहणीय है। इस रूप में बिहारी से देव कहीं ऊँचे ठहरते हैं। एक किशोरी की क्वाँरी उमंगें देखिये जो अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में कपूर सी फुरफुर उड़ रही है :—

खरी दुपहरी हरी हरी फरी कुंज मंजु,
गुंज अति पुंजनि की, 'देव' हियो हरि जाति।
सीरे नद-नीर तरु सीतल गंभीर छाँह,
सोवै परे पथिक, पुकारै पिकी करि जाति।
ऐसे मैं किसोरी गोरी, कोरी कुम्हिलाने मुख,
पंकज से पाँव धरा धीरज सों धरि जात।

सौंहें घनस्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जात ।

पहले अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर बाद में चित्र उतारने की कला की देव ऐसे कवि से ही आशा की जा सकती है ।

पियागमन पर एक सलोनी की मासूम उमगों में जो भीड़ भरमा गई है, उसे देखिए :—

देव कर जोरि जोरि बंदत सुरन गुरु,
लोगनि के लोरि लोरि पांयन परति है ।
तोरि तोरि माल पूरै मोतिन की चौंक,
निवछावरि कौ छोरि छोरि भूषन धरति है ॥

× × ×

आवन सुन्यो है मन भावन को भावती ने,
आँखिन अनन्द आँसू ढरकि ढरकि उठै ।
देव दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरीं लौं,
केहरी सी साँसैं खरी खरकि खरकि उठै ॥
टहलै करति टहलै न हाथ पाँव, रंग
महलै निहारि तनी तरकि तरकि उठै ।
सरकि सरकि सारी, दरकि दरकि आँगी,
औचक उचौहैं कुच फरकि फरकि उठै ॥

शब्दों की स्वर साधना ने भी इसमें क्या नया रङ्ग दिखलाया है ? देव की ऐसी अनुपम कविताओं पर हिन्दी को गर्व है ।

सात्विकता :—देव के ग्राम्य चित्रों में हमें गँवई गाँव की सी ही सादगी मिलती है, न उसमें बनावट है, न किंचित् कृत्रिमता । जैसे कवि ने चित्र देखे, वैसे ही खींच दिए । नयी उपमाओं से युक्त एक सवैया देखिए—

माखनु सो तनु दूध सो जोबन, है दधि से अधिकै उर ईठी ।
जा छवि आगे छपाकर छाँछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी ॥
नैनन नेह चुवै कहि देव, बुझावत बैन वियोग अँगीठी ।
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगै मन मोहनै मीठी ॥

कवि ने कितनी चतुराई से अहीरिन से सम्बन्ध रखने वाले कार्य व्यापारों और साधनों से ही अपनी उपमाएँ जुटायी हैं।

देश देशान्तर की स्त्रियों के वर्णन में कवि ने अपने व्यापक पाडित्य, बुद्धि कौशल एवं अगाध सूक्ष्मदर्शिता को बिखेर दिया है—

कीन्हीं करेजन की दरजै, दरजी की बहू बरजी नहिं मानैं।

× × ×

चंचल नैननि सैननि सों, पटवा की बहू नटवा सों नचावै।

× × ×

जोवन जवाहिर सों, जगमग होई जोइ,
जौहरी की जोइ जग जौहरी करति है।

एक अन्य नायिका की मुँह लगी ढिठाई तो देखिये :—

थोरे थोरे जोबन विथोरे देत रूप राशि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को।
तोरे लेति रति, दुति मोरे लेति मति गति,
छोरे लेति लोक लाज, चोरे लेति चितको॥

इतनी सुन्दर अनुप्रासिक पदावली कवि देव की ही कलम मे संभव है।

कला पक्ष :—देव जी ने सवैया और घनाक्षरी छन्द विशेष रूप से ग्रहण किए हैं। (भाषा) शुद्ध ब्रज भाषा है। भापा की कोमलता, सरसता, अनुपम रस-योजना, कान्त पदावलियों का चुनाव सर्वथा मौलिक एवं अनूठा है।

अलंकार :—इनकी भाषा में पग पग पर अलंकार बिछे हैं। प्रयोग इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि भाव अलग बात करते हैं और शब्दों की वीणा अलग मुखरित होती है। कवि ने कहीं भी अलंकारों के कृत्रिम प्रदर्शन में भावों की हत्या नहीं की। अलंकार तो देव के दास थे जहाँ बुलाया, दस्तबस्तः हाजिर हुए। यमक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक की झाँकी अनेकों स्थानों में मिलती है।

कंजन कलिन मई, कुंजन नलिन मई।
गोकुल की गलिन गलिन मई कै गई॥

मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग :—कवि ने बड़ी मनोरमता के साथ किया है :—

(१) प्राण पति परमेश्वर सों साझो कहौ कौन सो ।

(२) चचल नैनि चमार की जाई, चितौनि मैं चाम के दाम चलावै ।

(३) सूझत साँझ भिया न कछू सुदिया न ब्रै कहूं कारे के आगे ।

विशेष :—(१) 'रस विलास' पेचीदे मजमूनों और ख्याली नायिका भेद से भरा है । यदि किसी श्रेष्ट विषय पर ऐसा ग्रथ बना होता तो गीता की तरह घर घर इसकी पूजा होती । (हिन्दी नव-रत्न)

(२) इनकी कविता मे समाज को प्रगति प्रदान करने मे विशेष शक्ति नही, हाला प्याला से हम कब तक खेलते रहे ?

(३) ऊहात्मकता एवं कोरी चमत्कार प्रियता सब समय एक सी सुहानी नही लगती ।

घनानन्द

कवि-परिचय :—रसिकप्रवर घनानन्द जी का जन्म भटनागर कायस्थ परिवार मे संवत् १७४६ विक्रमी में हुआ था । ये दिल्लीश्वर मुहम्मदशाह रगीले के मीरमुंशी थे और फिर अपनी योग्यता से उन्नति करते हुए उनके प्राइवेट सेक्रेटरी तक बन गए ।

मृत्यु :—इनकी मृत्यु सवत् १७६६ में हुई ।

व्यक्तित्व :—प्रारम्भ मे परम रसिक, एक मात्र कविता कामिनी के उपासक, अलमस्त, अपनी मौज के आगे किसी को भी कुछ न समझने वाले । संगीन मे दूसरे तानसेन, सुजान वेश्या के अनन्यतम प्रणयी जिसकी रूप उपासना में तल्लीन हो जाने पर बादशाह की भी परवाह न की । बात यों हुई, इनके गले मे सरगम के सुहाने स्वरों की शहनाइयाँ तो बज ही रहीं थी, गाते समा बँध जाता । प्रथम गायक, दूसरे आशिक, को भी सुजान के जिस पर बादशाह खुद लट्टू थे । इस माने मे रकीब भी ठहरे, यार लोगों ने बादशाह के कान भरे कि घनानन्द के गले मे गजब का जादू है, बादशाह ने इन्हें गाने को विवश किया, पहले तो यह किसी भी कीमत पर तैयार न हुए, परन्तु बाद मे न जाने क्या सोच कर

गाने लगे। सुजान पास ही थीं, घनानन्द सुजान की ओर मुँह कर और बादशाह की ओर पीठ करके बैठ गये, गाया, धरती पर स्वर्ग उतर आया, संगीत रुकने पर बादशाह को इनकी यह धृष्टता असहनीय जान पड़ी और उन्होंने उनकी इस बेअदबी पर राज्य-निष्कासन दिया, जिसके कारण यह सब हुआ था उस सुजान से एक बार इन्होंने अपने साथ चलने को कहा, लेकिन औरत फाहशा निकली, साफ इन्कार कर दिया। सुजान के विरह से पीड़ित हो घनानन्द वृन्दावन गये, वहाँ कृष्ण की अनुपम रूप माधुरी से प्रभावित हो लौकिक प्रेम की अजस्र धारा पारलौकिक प्रेम की पुनीत धारा में परिवर्तित हो गई, किन्तु 'सुजान' नाम इन्हें इतना प्रिय था कि उसे वे आजीवन न भुला सके और श्रीकृष्ण के ऊपर सुजान नाम का आरोप कर चारों ओर सुजान ही सुजान देखने लगे।

'अल्लाह भी मजनूँ को लैला नजर आता है।'

की सी दशा हो गई।

मरते दम तक सुजान सुजान रटते रहे, अन्तिम समय में भी इनके ओठों पर राम नाम के बदले 'सुजान का सन्देशा' था।

अधर लगे हैं आनि, करिकैं पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को ॥

काव्य-सौष्ठवः—(भाव पक्ष) घनानन्द जी एक उच्च कोटि के कवि और प्रेमी थे, उनका प्रेम किताबी प्रेम नहीं था, इन्होंने प्रेम किया, प्रेम की पीर सही थी और प्रेम की उनकी अपनी परिभाषा थी :—

अति सूधो सनेह कौं मारगु है, तहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चले तजि आपनपौ, झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इहाँ एक ते दूसरो आँक नही।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लाला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

यही 'सूधापन' उनकी कविताओं मे सीधी तरह उतर आया है, इनकी कविताओं में न तो हमे रीतिकालीन पेचीदे मजमून मिलते हैं और न प्रेम की अतिशयोक्ति पूर्ण ऊहात्मक व्यंजना। दिनकर जी के इन पंक्तियों के पक्षपाती सम्भवतः घनानन्द थे :—

बोले प्रेम विकल होता है, अनबोले सारा दुख सह सखि।

इसलिए घनानन्द जी जब प्रेम की उमस को किसी प्रकार न सम्हाल पाये तब वही उमस 'परजन्य' बनकर बरस पड़ी और वह भी सुजान के आँगन में :—

पर कारज देह को धारे फिरौ, पर जन्य यथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर, सुधा के समान करौ, सब ही बिधि सज्जनता सरसौ ॥
घन आनन्द जीवन दायक हौ, कबौं मेरियो पीर हिय परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवान कौ ले बरसौ ॥

कितना पवित्र सदेसा है, जिसमें बासना झुलस जाती है, अश्रुओं के गीत भेजने की कल्पना कितनी मौलिक एव भावपूर्ण है जो घनानन्द ऐसे भावुक पहुँचे हुए प्रेमी की ही प्रतिमा से संभव थी।

रीतिकालीन चाटुकारिता के युग में पलकर भी घनानन्द ने राजलक्ष्मी एवं राज्यश्रय पर लात मार दी। एक बार फिर घूमकर भी न देखा, दर दर की ठोकरे खायीं किन्तु 'क्षत शीश मगर नत शीश नही' की कसौटी पर खरे उतरे। लचके नहीं, भले ही टूट गए। सच्चे प्रेमियों की यही तो कसौटी है इसीलिए जो कुछ भी कहा 'स्वान्तः सुखाय' कहा, किसी को रिझाने का असफल प्रयत्न नहीं किया, जब जी मे आया, गाया और खूब गाया। घनानन्द तो इस स्कूल के थे :—

रगों में दौड़ने फिरने के हम नही कायल,
जो आँख से न टपका वह लहू क्या है?

यही कारण है कि प्रेम की सूक्ष्मतम अनुभूतियों का जितना सफल चित्रण घनानन्द की कविता मे हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। एक एक चरण आँसुओं से ढाला गया है, उच्छ्वासों के टाके लगाये गये हैं। अन्दर ही अन्दर जलते हुए ऊपर से हँसने का बहाना किये फुलझड़ियो से कवित्त जब सजकर सामने आए तो पुनः एक बार हमें भवभूति के विभूति की याद आयी। घनानन्द ने अपनी कविताओं के बारे मे निहायत ईमानदारी से कहा है :—

लोग तो लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।

इस प्रकार घनानन्द का जीवन ही एक कविता थी या उनकी कविता ही एक तरल जीवन।

प्रेमी अपने प्रेमिका के चरणों की रज पवन से ले आने का आग्रह करता है ताकि उसे आँखों का अंजन बनाए :—

ऐरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी,
तोसों और कौन मन ढरकौंहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान,
घन आनन्द निधान सुखदान दुखियानि दै।
जानि उजियारे गुन भारे अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठ पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथाहिं मूर आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायनि की हा हा नैकु आनि दै॥

घनानन्द जी ने जीवन भर वियोग का दुख झेला और अब वियोग अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। अब अपने आराध्य से उनकी केवल एक ही अनुनय है :—

ठगी लगी तिहारियैं, सुआप त्यो निहारिए,
समीप ह्वै विहारिए, उमंग रंग भीजिए।
पयोद मोद छाइए, विनोद को बढ़ाइए,
विलम्ब छांड़ि आइए, किधौ बुलाइ लीजिए।

शब्दों में कैसी अपने आपको सर्वस्व समर्पित कर देने की सी भावना है अन्दर तो वियोग का ज्वालामुखी दहक रहा है किन्तु ऊपर फुलझड़ियाँ बरस रही हैं, यही सच्चे प्रेमी की परिभाषा है। घनानन्द जी ने अपने सारे जीवन के अनुभवों को एकत्र करके रख दिया है कि आगे आने वाले प्रेमी इससे लाभ उठावें :—

जीव की बात जनाइए क्यों करि, जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि कै पीर न पावत, एक सो मानत रोइबो-रागौ॥
ऐसी वही घन आनन्द आनि जू, आनन सूझत सो किन त्यागौ।
प्रान मरैंगे भरैंगे बिथा, पै अमोही सो काहू कौ मोह न लागौ॥

संभोग शृङ्गार :—घनानन्द को विप्रलंभ शृङ्गार में आशातीत सफलता तो मिली है किन्तु ये सभोग शृङ्गार में भी अश्लीलता की कजरारी कोठरी से बचकर बेदाग निकल आए हैं। इनके संभोग शृंगार वर्णन मे जवानी की

अल्हड़ता, मस्ती और तन बदन को डुबा देने वाली रसवंती के दर्शन होते हैं परन्तु अश्लीलता की छाया छू तक नहीं गई। नैन-वर्णन देखिए :—

पैने नैन तेरे से न हेरे मैं अनेरे कहूँ,
घाती बड़े काती लिए छाती पै रहैं चढ़े।

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः के अनुसार नायिका की निकाई निहारिए :—

जब जब देखिए नई सो पुनि देखिए यो,
जानि परी जान प्यारी निकाई की निधि है।

भक्ति भाव :—घनानन्द जी अपने जीवन के अन्तिम क्षणों मे भक्त हो गये थे और संभवतः निम्बार्क संप्रदाय से दीक्षित हुए थे। उनकी भक्ति की प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

१—कृपा की महत्ता
२—वृन्दावन की वनस्थली के प्रति अनुराग।
३—गुलाम राधारानी के।

'कृपाकन्द निबन्ध' नामक ग्रन्थ में 'कृपा की महत्ता' पर ही प्रकाश डाला गया है :—

आरति निन्दनि, मिलावै नन्दनन्दनि।
आनन्दनि मेरी मति बन्दन कृपा करै॥

घनानन्द जी पहुँचे हुए भक्त के भाँति कभी यह भी दावा करने लगते हैं कि हमको उस कृपा के दर्शन हो चुके हैं :—

तन प्राननि संगम रंग अभग कृपा दरसी सब ठौर हमैं।

× × ×

गुरनि बतायौ, राधा मोहन हू गायो सदा,
सुखद 'सुहायौ बृन्दावन गाढ़ें गहि रे।

× × ×

जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी।
पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

कला पक्षः—भाव पक्ष की तरह घनानन्द जी का कलापक्ष भी निखरा और मँजा हुआ है। कला पक्ष ने कभी भी भाव पक्ष को दबाने का कृत्रिम

प्रयास नहीं किया यद्यपि कहीं कहीं लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार है। मुहावरों का प्रयोग भी लक्षणा के आधार पर हुआ है।

अलङ्कार :—घनानन्द जी की कविता में हमें स्थान स्थान पर उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक, प्रतीप की झलक दिखलाई पड़ती है किन्तु अप्रस्तुत विधान उपस्थित करने में ये अपने ढङ्ग के अकेले हैं, वे भावों के परिपोषक होकर ही आए हैं, केवल रूप रङ्ग अथवा नाम साम्य पर इन्होंने उपमा का व्यर्थ प्रयोग नहीं किया।

इनकी उपमाएँ अत्यन्त युक्तियुक्त और आप मे पूर्ण हैं :—

इस सवैये मे 'बात का बनी' से (दुलहिन) रूप कितनी विदग्धता पूर्ण शैली में बाँधा है :—

उर भौन में मौंन को घूँघट कै दुरि बैठीं बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सौं सुलसै हुलसै रस रस रूप मनी॥
रसना अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित सेज ठनी।
घन आनन्द बूझनि अक बसै बिलसै रिझवारि सुजान धनी॥

वियोग से व्याकुल हृदय की बवंडर से उपमा देना कितना मौलिक है:—

(१) अब बिन देखें जान प्यारी यों आनन्द घन,
मेरो मन भँवै भट्ठ पात है बघूरे को।
(२) बूँद न परति मेरे जान जान प्यारी तेरे,
बिरही कौं हेरि मेघ आँसुनि झरयौ करै॥ (अपन्हुति)
(३) तीखे नए नीके जीके गाहक सरनि लै लै,
बेधे मन कौं कपूत पिता मोह भयौ ना॥ (परिकर)

छन्द :—कवि ने कवित्त और सवैया छन्द का विशेष प्रयोग किया है।

रचना :—पं० विश्वनाथ मिश्र संपादित 'घनानन्द' उपलब्ध है।

विशेष :—रत्नाकर जी घनानन्द को बिहारी के समान मानने में किंचित् नहीं हिचकिचाते क्योंकि एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि :—

घन आनन्द बिहारी सम सुकवि बनावन की,
सुधि तुम्हें घाऊँ मैं।

अतः हम घनानन्द जी के बारे मे विशेष कुछ न कहकर आदरणीय शुक्ल जी के शब्द ही दुहराना श्रेयस्कर समझते हैं:—

'प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर-पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।'

भूषण

कवि परिचय :—स० १६७० के लगभग कानपूर जिले में यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर नामक ग्राम मे हुआ। पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मतिराम और चिन्तामणि इनके भाई थे। भूषण बीस वर्ष तक निरक्षर रहे परन्तु एक दिन भाभी के व्यग्य करने से घर बार छोड़ दिया और परदेश जा गम्भीर अध्ययन करने के अनन्तर शिवाजी और छत्रसाल के दरबार में जाकर सम्मान प्राप्त किया। चित्रकूट के सोलङ्की राजा के द्वारा इनको 'भूषण' की उपाधि मिली। इनकी मृत्यु संवत् १७७२ में हुई।

व्यक्तित्व :—भूषण बड़े स्वाभिमानी कवि थे, अन्य कवियों की तरह अपने आश्रयदाता की चाटुकारिता करना इन्हें प्रिय नही था, कही कही पर भूषण शिवाजी की भी, जहाँ पर उन्होने कभी अनजाने भूल कर दी है, निन्दा करने से भी नही चूके। खरी खरी सुनाना भूषण को प्रिय था इसी से उनकी वाणी मे ओज है, बल है। भूषण का स्वाभिमान इन शब्दों में स्पष्ट बोल रहा है :—

और राजा रावएक मन में न ल्याऊँ मैं तो,
साहू को सराहौं, कै सराहौं छत्रसाल को।

शिवाजी और छत्रसाल भूषण के इस व्यक्तित्व से भलीभाति परिचित थे। छत्रसाल ने तो इनकी पालकी का डंडा अपने कन्धे पर रख लिया था।

रचनायें :—शिवा बावनी, (५२ छन्द) शिवराज-भूषण, छत्रसाल दशक।

काव्य-सौष्ठव :—भूषण वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, भूषण उस युग में हुए जब कि मदिरा और वेश्या की भाति रीति-कालीन कवियों की कविता भी विलासिता की एकमात्र सामग्री रह गई थी। भूषण ने कविता कामिनी को

इस कीचड़ से निकालकर रणक्षेत्र की स्वाभिमानी धरती पर खड़ा किया, अपनी वीर रस की कविताओं द्वारा जनता की शुष्क धमनियों मे वीर रस का शुद्ध रक्त प्रवाहित किया और जातीयता का पाठ पढ़ाया। इस दृष्टि से भूषण एक राष्ट्रीय कवि के रूप में सामने आते हैं। इनकी कविता में जातीय भावों की प्रधानता है। भूषण एक वर्ग-विशेष की संकुचित धारा के प्रतिनिधि न होकर सारे राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं, उनके स्वरों मे राष्ट्र-भारती के स्वर गूँजते हैं। उनकी कविता तत्कालीन वातावरण तथा हिन्दुओं की दयनीय अवस्था की परिचायक है। भूषण के आश्रयदाता भी सारी हिन्दू जाति के नायक हैं। भूषण ने इसी नाते शिवाजी एवं छत्रसाल की प्रशंसा की है :—

कान्ह जिमि कंस पर, तेजतम अंस पर,
त्यों म्लेच्छ वंश पर सेर शिवराज है।

× × ×

बूड़त है दिल्ली सो सम्हारै क्यों न दिल्ली पति,
धक्का आनि लाग्यो शिवराज महाकाल को।

भूषण के शब्दो में ओज और संजीवनी शक्ति है जो कि निर्जीव नसों में भी प्राण फूँक देती है, उसे सुनकर किसी अज्ञात प्रेरणा से भुजाएँ फड़कने लगती हैं :—

केते भट कटक कटीले केते काति काटि,
कालिका सी किलक कलेऊ देत काल को।

भूषण की कविता में ऐतिहासिकता की यथासाध्य रक्षा की गई है। किसी भी घटना-वर्णन में भूषण ने स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया और न अपनी तरफ से कुछ घटाया बढ़ाया बल्कि ज्यों का त्यों रख दिया है।

इनका वीर रस उबा देने वाला केवल वर्णनात्मक मात्र नही है वरन् उसमें हृदय की सहज अनुभूतियों के दर्शन होते हैं। शत्रुओं की स्त्रियों की आँखों से बहते हुये आँसू शिवाजी के वीरों की शक्ति में घृत का काम करते हैं। भूषण ऐसे स्थलों पर एक चित्र सा खींच देते हैं :—

भूषण भनत देस देस वैरि नारिन मैं,
होत अजरज घर घर दुख द्वन्द वे।

कनक लतानि इंदु इंदु माहिं अरविन्द,
भरैं अरविन्दन ते बुन्द मकरन्द के ॥

× × ×

ग्रीषम के भानु सो खुमान को प्रताप देखि,
तारे सम तारे गए मूँदि तुरकन के ॥

यमकालंकार से पूर्ण भूषण का एक प्रसिद्ध कवित्त सुनिए जिसमे शत्रुओं की स्त्रियो की दयनीयता का बड़ा ही कातर चित्र उपस्थित किया गया है :—

ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं, कन्द मूल भोग करैं,
बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं ॥
भूषन शिथिल अंग, भूषन शिथिल अंग,
तीन बेर खातीं ते वे तीन बेर खाती हैं।
भूषण भनत शिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं ॥

(कला पक्ष) भाषा :—भूषण की कविता में ब्रजभाषा की प्रधानता शब्दों के तोडने मरोड़ने में खूब मनमानी की गई है। कहीं कही श्लेष और यमक के फेर में पड़कर शब्दों को विकृत कर डालने तक में वे नहीं हिचके। कहीं कही पर श्रुति सुखदता लाने के लिए अवधी की डकारात्मक परिपाटी को निस्सकोच अपनाया गया है। मुहावरों का प्रयोग बडा ही मनोहारी बन पड़ा है:—

(१) सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी तप का
(२) नाह दिवाल की राह न धावो

छन्द :—भूषण ने कवित्त (मनहरण छन्द) को ही विशेष रूप से अपनी कविता मे प्रश्रय दिया है क्योंकि वीर रस का निर्वाह जितनी सफलता के साथ इसमे हो सकता है उतना अन्य छन्द में नही। सवैया, छप्पय, दोहा छन्दो में भी भूषण ने रचना की है। 'शिवराज भूषण' मे हमें अनेक छन्द शैलियों का परिचय मिलता है। प्रसंग वश भूषण ने मधुर भावो को व्यंजित करने वाली

कोमल कान्त पदावली का प्रयोग किया है। मर्मस्पर्शी स्थलों पर उनकी भाषा स्वभावतः सुकुमार और मोम सी मुलायम हो गई है।

'रायगढ़ वर्णन में हमे इस प्रकार के भावों की झाँकी मिलती है:—

मनिमय महल शिवराज के इमि रायगढ़ में राजही।
लखि जच्छ किन्नर सुर असुर गन्धर्व हौंसनि साजही॥
चम्पा चमेली चारु चन्दन चारिहूँ दिसि देखिए।
लवनी-लवंग लतानि केरे लाखहूँ लखि लेखिए॥

× × ×

पीयूष ते मीठे फले कितहूँ रसाल रसाल हैं।

× × ×

आनन्द सों सुन्दरिन के कहुँ बदन इन्दु उदोत हैं॥
नभ सरित से प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमल कुल होत हैं।

विशेष :—भूषण ने शब्दों के तोड़ने मरोड़ने में जो अत्याचार किया है। वह सर्वथा अक्षम्य है। भूषण ने कही कहीं तो अतिशयोक्ति पूर्ण इतना बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया है जिस से यथार्थता का गला घुट गया है यह आश्रय-दाता की परोक्ष रूप से चाटुकारी नही तो क्या है? अतिशयोक्तिपूर्ण दो एक प्रमाण सामने हैं :—

दल के दरारन ते कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के।

× × ×

तारा सो तरनि धूर धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलतु है।

कही कही पर भूषण सकुचित भावना मे आकर साम्प्रदायिकता को उभारते हैं इसी से बापू ने साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में सभापति के पद से बोलते हुए भूषण की कविता के प्रचार को रोकने की अपील की थी।

भूषण की प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनके रस का चुनाव है प्रेम और विलासिता के साहित्य का ही उन दिनों प्राधान्य था उसमें उन्होंने वीर रस की रचना की यही उनकी विशेषता है। --डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

———

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

आधुनिक काल (१६०० से अब तक)

भूमिकाः—देशी राज्यो की समाप्ति एवं अंग्रेजी राज्य के आ जाने से देश का एक नया ही काया-कल्प हो गया। रीतिकालीन कविताओं की वह चिलक-चितनई अलंकार एवं ध्वनि-वैचित्र्य की छटा जो कि आश्रयदाताओं के द्वारा। कवियों को प्राप्त सहायता के ऊपर आधारित था, धीरे धीरे कम हो रही थी। राजाओं को स्वयं अपनी पेट रोटी की पड़ी थी, वह वेफिक्री और मस्ती का आलम अस्तोन्मुख हो चला था। इस दशा मे कवियों को भी अब अपने रवैये मे परिवर्तन करने की आवश्यकता पडी। समय एक सी ही स्थिति मे सदा नही टिकने देता, सपनो से कोई कब तक खेलता रहेगा, एक न एक दिन उसे कठोर धरती पर अवश्य आना पड़ेगा। जीवन की कटु वास्तविकताओं का अवश्य सामना करना पड़ेगा। गम गलत कर किसी को कब तक झुठलाया जा सकता है। सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के पश्चात् एक नए ढंग का परिवर्तन हुआ, यद्यपि उस समय भी छिट-पुट-हास-विलास हो रहा था किन्तु उसमें जान बाकी नहीं थी। वह दम तोडती हुई सामन्त शाही रूपी दीपक की आखिरी तेज मुस्कान थी। अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने पर हमारा अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य से, उसके उत्तेजित विचारो से विचार विनिमय हुआ, हमने इस विजातीय सभ्यता मे पडकर खोया तो बहुत किंतु कुछ पाया भी। वाल्टर स्काट और बर्क के विचारों और भाषणों को पढ़कर हमारी निर्जीव शिराओ मे भी वीरता एवं उद्दाम उत्साह का स्वस्थ रक्त प्रवाहित होने लगा। फलस्वरूप समाज सुधार संम्बधी राजनीतिक भावों का प्रवेश साहित्य मे अनिवार्य रूप से हुआ और इस शुभ कार्य को श्री गणेश करने का श्रेय सर्व प्रथम बाबू भारतेन्दु को प्राप्त हुआ। यद्यपि उस समय, 'सत्यार्थ प्रकाश के प्रतिष्ठित लेखक और आर्य धर्म के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय आदि महान् व्यक्तियों ने नए सिरे से कुछ सामाजिक

सुधार करके जन जन में जागृति भर दी थी, परन्तु यह अभी तक जनता तक ही सीमित थी, साहित्य में उसका प्रवेश नहीं हो सका था अतः भारतेन्दु जी ने अंग्रेजी राज्य की प्रशसा करते हुए भी क्षुब्ध होकर आँसू बहाए :—

अंग्रेज राज सुख साज सजे बहु भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

दूसरी ओर उन्होंने निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥

का सबल आंदोलन चलाया। इस प्रक र उन्होंने चार बातो की दृढ़ स्थापना की जिनका स्पष्ट प्रभाव आगे चलकर आधुनिक कविता पर पड़ाः—

(१) देश भक्ति एवं समाज सुधार की उदात्त भावना।
(२) धार्मिक सहनशीलता।
(३) प्रेम में सहानुभूति कसक एवं त्याग की भावना।
(४) निज भाषा में अपने विचारों की अभिव्यक्ति।

इस प्रकार भारतेन्दु ने कवि होने के नाते स्वयं अपनी कविता के द्वारा तथा अन्य सम सामयिक-कवियों को प्रोत्साहित करके आधुनिक हिन्दी कविता की बाल्यावस्था को सहज दुलार से सवाँरा।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

कवि-परिचय :—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० में गोपालचन्द के घर काशी में हुआ था। ये इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनके पिता का उपनाम गिरिधरदास था जो कि कविता करने के परम शौकीन थे। कहा जाता है कि जब तक वे चार पांच पद नहीं बना लेते थे तब तक वे भोजन नहीं करते थे। ऐसी प्रतिभा सम्पन्न कोख में भारतेन्दु उत्पन्न हुए। बचपन से ये बड़े नटखट स्वभाव के थे, हिन्दी तथा अंग्रेजी पढ़ाने के लिए शिक्षक घर पर ही आया करते थे। सात वर्ष की ही कच्ची आयु में एक दोहा बनाकर अपने पिता को आश्चर्य चकित कर दिया—

लै ब्यौड़ा ठाड़े भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान॥

सुन कर पिता ने आशीर्वाद दिया कि तू अवश्य मेरा नाम बढ़ावेगा और वही हुआ।

व्यक्तित्व :—स्वभाव से रसिक, अल्हड़ मस्त रसिक कन्हैया की अनुकृति के भारतेन्दु जी अपने व्यक्तित्व मे भरे पूरे थे। इनका ठाट बाट राजा रईसो का सा था, राजा रईस थे ही; जिस पर प्रसन्न हो जाते उसे निहाल कर देते। हिन्दू जाति पर इन्हे अभिमान था और इसकी रक्षा के लिए ये अपना सर्वस्व लुटाने को सदैव तैयार रहते थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उर्दू, फारसी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बॅगला, प्राकृत और संस्कृत के ये पडित थे। लिखना ही इनका एकमात्र धन्धा था। यही कारण है कि ३५ वर्ष की अल्पायु पाकर भी इन्होंने साहित्य के हर एक क्षेत्र मे अकेले वह काम किया जो एक सगठित सस्था शायद कर पाती। इसी से डा० राजेन्द्रलाल ने इन्हें राइटिंग मशीन के नाम से अभिहित किया है। जिस चीज को लिखने बैठ जाते उसे समाप्त करके ही उठते थे, अन्धेर नगरी, ऐसे उत्कृष्ट कोटि के सफल प्रहसन की रचना उन्होने एक बैठक में की थी। इनका जीवन हास्य एवं विनोद से लबालब भरा था। होली के अवसर पर भारतेन्दु खुल कर खेलते थे, एप्रिल फूल मनाने का इनका ढग हर साल प्रायः मौलिक ही होता था। अभागिन हिन्दी पर सन १८८५ मे अनभ्र वज्रपात हुआ।

रचनाएॅ :—नाटक (१) सत्य हरिश्चन्द्र (२) अन्धेर नगरी (३) चन्द्रावली (४) वैदिका हिसा-हिसा न भवति (५) सती प्रताप (६) प्रेमयोगिनी (७) विषस्य विषमौषधम्। (८) भारत दुर्दशा (९) नील देवी।

अनूदित नाटक :—(१) मुद्रा राक्षस (२) धनंजय विजय (३) रत्नावली-नाटिका (४) कर्पूरमंजरी (५) दुर्लभ बन्धु (६) पाखड विडम्बना (७) भारत-जननी।

काव्य :—(१) होली (२) प्रेम फुलवारी (३) प्रेम प्रलाप (४) सतसई-शृङ्गार।

इतिहास :—(१) काश्मीर कुसुम (२) अग्रवाल वश की उत्पत्ति (३) दिल्ली दरबार दर्पण।

काव्य-सौष्ठव :—भारतेन्दुजी की कविताएॅ कई रूपों मे मिलती हैं उनकी कविताएॅ युग का प्रतिनिधित्व करती हैं, युग की छाप उनकी कविताओं में

स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। कहीं तो भक्तिकालीन कवि का सा दैन्य और आत्म-समर्पण की भावना है, कही रीतिकालीन कवियों की सी उछल-कूद और चोचलेबाजी है तो कही शुद्ध आधुनिक स्वदेशी पुकार है। प्रमुख रूप से भारतेन्दु की कविताओं को चार भागों में बाँट सकते हैं —

(१) भक्ति प्रधान (२) सामाजिक समस्या प्रधान (३) देश प्रेम या राष्ट्रीयता प्रधान (४) शृङ्गार रस प्रधान।

भक्ति प्रधान :—भारतेन्दुजी एकमात्र राधारानी के गुलाम थे और पुष्टि सम्प्रदाय से दीक्षित थे। अपने भक्तिपूर्ण उद्‌गारो को भक्त प्रवर भारतेन्दु जी ने प्रायः पदों के माध्यम से व्यक्त किया है कवि की एकमात्र अभिलाषा है :—

बोल्यौ करै नूपुर श्रवन के निकट सदा,
पद तल लाल वंश मन मेरो विहर्‌यो करै।
बाज्यौ करै वशी धुनि पूरि रोम रोम मुख,
मन्द मुसकानि मंजु मनहि हर्‌यौ करै॥
हरिश्चन्द्र चलनि मुरनि बतरानि चित,
छाई रहै छवि जुग दृगन भर्‌यौ करै।
प्रानहू ते प्यारो रहै प्यारो तू सदाई,
तेरो पीरो पट हिय वीच सदा फहर्‌यो करै।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सूरदास और नन्ददास के भ्रमर गीत से विशेष प्रभावित थे। गीत-गोविन्द की छाप भी उनकी कविताओ में देखने को मिलती है। कवि अपने व्यक्तित्व को आराध्यदेव की सत्ता में इस प्रकार मिला देना चाहता है, कि उसमें उसका आभास मात्र तक न मिलै। 'हम न भई वृन्दावन रेनु' की भावना दूसरे रूप मे यों उभरती है :—

व्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥

जब करुणानिधि केशव इनकी करुण पुकार सुनकर भी नहीं पसीजते तो ये उनको दो चार खरी खोटी सुनाने में भी नहीं हिचकते। भक्तों की यही खीझ तो भक्त वत्सल भगवान की सर्वस्व है :—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
जागत नेकु न यद्यपि बहुविधि भारतवासी रोए।।

× × ×

प्रलयकाल सम जौन सुदर्शन असुर प्रान संहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी।।

(२) सामयिक समस्या प्रधानः –भारतेन्दु जी का मत था कि जब तक सामाजिक समस्याओं को नए सिरे से न सुधारा जायगा तब तक देश की उन्नति होना कठिन है इसी भावना से प्रेरित होकर वे समय समय पर सामाजिक आदोलनो में भाग लेते रहते थे और यथासाध्य आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। उस समय समाज में अनेको प्रकार के वाह्याडम्बर प्रचलित थे, भारतेन्दु जी इनका तीव्र खडन करते थे। इनका धर्म समन्वयवादी था। भारतेन्दु विधवा विवाह, अछूतोद्धार एव स्त्री शिक्षा के कट्टर पक्षपाती थे। वे ईश्वर को वाह्य उपकरणों मे न देखकर हृदय मे ढूँढते थे:—

नहि मन्दिर मे नहि पूजा में नहि घन्टा की घोर में।
हरीचन्द वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर मे।।

(३) देश प्रेम प्रधान:—जिस समय देश 'गुलगुली गिलमों में हाला प्याला' के साथ कविता कामिनी मे उलझा हुआ बेखटके सो रहा था उस समय युगप्रवर्तक कवि ने अपने प्रथम उद्बोधक शब्दो मे सबको जगाया, भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाइए—अपनी किस्मत ठोंकी और शीघ्र ही सचेत होने की दुहाई दी।

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

× × ×

अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछताए कछु नही ह्वैं है रहि जैहो मुँह बाई।।

अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा करते हुए भी वे वास्तविकता को नही भूले--

अंग्रेज राज सुख साज सजे बहु भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।

(४) शृङ्गार रस प्रधान :—भारतेन्दु जी ने रसखान, घनानन्द की तरह आत्माभिव्यंजनपूर्ण शैली में शृङ्गार के दोनों पक्षों का सफलता के साथ चित्रण किया है। इनको संयोग शृङ्गार में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी विप्रलंभ शृङ्गार में। प्रेमी अपने प्रिय को पाने के लिए क्या नहीं कर डालता परन्तु फिर भी अपने कार्य मे सफल नहीं होता :—

होनी अनहोनी कोनी सबही तिहारे हेत।
तऊ प्रान प्यारे भेट तुम सो भई नहीं ॥

'आँखों पर' भारतेन्दु की उक्ति कितनी दर्दनाक है, एक एक शब्द कलेजे को चीर देते हैं—

इन अँखियानि को न चैन सपनेहू मिल्यो,
तासो सदा व्याकुल विकल अकुलायगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औधि प्रान,
चाहत चलै पै वे तो संग न समाएगी॥
देख्यो एक बार हू न नैन भरि तोहि याते,
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछितायँगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
मरेहू पै आँखै ये खुली ही रहि जायँगी।

× × ×

पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥

भारतेन्दुजी का संयोग शृङ्गार कही कही अशिष्ट किन्तु स्वाभाविक बन पड़ा है :—

लाई लिवाय तमाशो बताय, भुराय कै दूतिका कुंजन माहीं।
धाय गही हरिचन्द जबै, न छिपीं वह चन्द मुखी परिछाहीं॥
अङ्क में लेत छल्यो छल कै बल कै तब आप छुड़ाय कै बाहीं।
हाथन सो गहि नीबी कढ़यौ पिय नाही जु नाहीं जु नाहीं जु नाहीं॥

कलापक्ष—भारतेन्दुजी ने ब्रजभाषा की प्रसिद्ध शैली का प्रयोग किया है किन्तु अधिक तोड़ मरोड़ नहीं किया, इनकी भाषा सर्व साधारण में व्यवहृत होने वाली सरल सरस भाषा है। शृंगार रस की सारी कविताएँ इन्होने इसी भाषा में लिखी हैं किन्तु देश प्रेम सम्बन्धी कविताएँ खड़ी बोली मे हैं। शब्दो

की सुश्लिष्ट योजना, उपमा उत्प्रेक्षा से युक्त कोमल कान्त पदावलियों से पूर्ण भारतेन्दु की कविता रसिकों का अब तक कंठहार बनी हुई है। भावों के अनुसार उन्होंने गम्भीर और हल्की भाषा का प्रयोग किया है। दो नमूने पर्याप्त होंगे। गंगा वर्णन में इनकी भाषा देखिए :—

नव उज्जवल जल धार हार-हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मनहुँ मुक्तामनि पोहति॥

× × ×

चूरन अमल वेद का भारी, जिसको खाते किशन मुरारी।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल अजीरन रोग॥

इस प्रकार भारतेन्दु जी ने साहित्य में भी अपनी समन्वयवादी रुचि को प्रधानता दी। सवैया, कवित्त, पद छन्दों में विशेष लिखा। ब्रजभाषा और खड़ी बोली को समान रूप से सवारा, इसी से उन्हे आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्मदाता होने का श्रेय दिया जाता है।

हरिऔध

कविपरिचय :—जन्म वैशाख कृष्ण ३ सं० १९२२ को आजमगढ़ जिले के अन्तर्गत निजामाबाद में हुआ पिता का नाम पं० भोलासिंह था। मिडिल परीक्षा पास करने के पश्चात् आपने क्वीस कालेज में अँग्रेजी पढना प्रारंभ किया किन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण छोड़ दिया। कुछ समय पश्चात् निजामाबाद मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गए। पाँच वर्ष के पश्चात् सं० १९४६ में गिरदावर कानूनगो नियुक्त हुए और बहुत समय तक उस पद पर रहे। सन् १९२३ में अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे अवैतनिक शिक्षक कार्य करते रहे। सन् १९४७ में ८२ वर्ष की आयु में आपका देहान्त हो गया।

व्यक्तित्व :—हरिऔध जी सीधे और सरल स्वभाव के थे, कृत्रिमता शब्द से संभवतः परिचित तक न थे। वे शुद्ध भारतीय थे। विदेशीपन तो

उनमें छू नहीं गया था। समाज के उत्कट अभिलाषी थे। इनके हृदय में प्राचीन आर्य संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। प्रतिभाशाली व्यक्तित्व में कुछ ऐसा सम्मोहन था कि जो कोई देखता इनका हो जाता। इनकी मृत्यु को सुनकर समस्त हिन्दी प्रेम ऐसे शोक मग्न हो गए थे मानों उन्होंने अपना सबसे निकट का संगी खो दिया हो। उद्गार ये थे :—

नाचतीं थी कल्पना परियाँ जहाँ, कालगति से ढह गया वह सौध भी।
हाय, वीणा वादिनी के वरद पुत्र, चल दिए सुरलोक को हरिऔध भी॥

रचनाएँ :—क (१) प्रिय प्रवास (२) वैदेही वनवास [महाकाव्य]
ख (१) चोखे चौपदे (२) चुभते चौपदे (३) पद्य प्रसून (४) रसकलश (५) पारिजात।
ग (१) ठेठ हिन्दी का ठाठ (२) अधखिला फूल (उपन्यास)
घ (१) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास।

काव्य-सौष्ठव :—सर्वप्रथम खड़ी बोली में महाकाव्य की रचना करने वाले हरिऔध ऐसे ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। ब्रजभाषा के प्रति विद्रोही भावनाओं से जन जन के मन को अनुप्राणित कर इन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली मे भी सरस और सुन्दर कविता की जा सकती है। इन्होंने संस्कृत छन्दों को हिन्दी मे भिन्न तुकान्त वर्णिक छन्द शैली में ग्रहण कर हिन्दी के छन्द शास्त्र मे एक मौलिक प्रयोग किया। इनका दूसरा महाकाव्य 'वैदेही वनवास' एक करुण रस पूर्ण महाकाव्य है जिसकी एक एक पंक्ति मानों आँसू पोछ पोछकर मिली गई है। बोल-चाल की मुहावरेदार भाषा में व्यंग्यपूर्ण, छींटे कसती हुई सूक्तियों के सग्रह 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' हैं, जिनमे तत्कालीन सामाजिक ढोंग, आडम्बर, नीति एवं धर्म के खोखलेपन की कवि ने बड़ी ही सजीव और चुभती भाषा मे धज्जियाँ उड़ाई हैं।

इनकी कुछ कसकती और फड़कती हुई सूक्तियाँ देखिये :—

आँख का आँसू ढलकता देखकर, जी तड़पकर के हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर, या हुआ पैदा रतन कोई नया॥

× × ×

जब न रख सके लाज पगड़ी की,
पगड़ियाँ फिर उछालते क्यो हैं ?

× × ×

जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूँछ क्या हैं ऐंठते !

इन चौपदो के पद पद पर मुहावरों की झड़ी लगी हुई है। नवीन प्रयोग करने में उपाध्याय जी ने सदा मौलिकता से काम लिया।

हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के कृष्ण रसिक नटनागर न होकर एक समाज सुधारक हैं और राधा कृष्ण के विरह मे घुल घुल मरने वाली न होकर

रोगी वृद्ध जनोपकार निरतासच्छास्त्र चिन्ता परा।
राधा थी सुमुखी विशाल हृदया स्त्री जाति रत्नोपमा।

देश सेविका हैं वे अपने व्यष्टि को समष्टि पर उत्सर्ग करने वाली स्त्री-रत्न हैं। उनकी आँखो मे वेदनाजन्य अश्रु नहीं लहराते वरन् सेवा-जनित हर्षोन्माद के आँसू हैं। वे केवल कृष्ण की प्रेमिका न होकर विश्व की प्रेमिका बन चुकी हैं:—

वे छाया थी सुजन सिर की, शासिका थीं खलों की।
कंगालो की परम निधि थीं, औषधी पीड़ितों की॥
दीनों की थी भगिनि, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थी अवनि ब्रज की, प्रेमिका विश्व की थीं॥

वे अपने हित को सार्वजनिक हित के लिए हँसते हँसते न्यौछावर कर देती हैं। 'पवनदूत' पर कही गई हुई उक्तियाँ इस बात की प्रमाण हैं। 'प्रियप्रवास' मे वात्सल्य और विप्रलम्भ शृङ्गार का उत्कृष्ट मार्मिक वर्णन किया गया है, उनका 'यशोदा विलाप' हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि है। 'प्रियप्रवास' की यशोदा में विश्व भर की कातर माताओं के सिसकते स्वर सुनाई पड़ते हैं। वे न तो संसार की भलाई बुराई समझती हैं और न लोक सेवा की भावना। वे तो एक सीधी सादी माँ है जो अपने प्यारे कृष्णकुमार की एक मन्द मुस्कान पर अपना सर्वस्व अर्पित करने को सदा तैयार रहती हैं। जब नन्द के साथ कृष्ण चलने को तैयार होते हैं तब वे बार बार चेतावनी देती हैं कि 'मुख सरसिज ऐसा म्लान होने न पावै'। नन्द के लौट आने पर पूछती हैं:—

प्रिय पति मेरा वह प्राण प्यारा कहाँ है ?
दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नयन तारा कहाँ है ?

पवन दूत के द्वारा राधा का संदेश सुनिये जो परोपकार की भावना पर ही टिका हुआ है :—

लज्जा शीला युवति पथ में जो कहीं दृष्टि आवे ।
होने देना विकृत वसना तो न तू सुन्दरी को ॥
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना ।
होठों की औ कमल मुख की म्लानताएँ मिटाना ॥

उद्धव को कृष्ण के समान देखकर गोपियाँ एक दूसरे से पूँछने लगती हैं :—

कमल लोचन कल क्या आ गये, पलट क्या कुकपाल क्रिया गई ?
मुरलिका वन में फिर क्या बजी, ब्रज रसा तरसा बरसा सुधा ?

भ्रमर को उलाहना देते हुए राधा की अन्तस्तल की करुण गुहार देखिये :—

अयि अलि ! तुझमें भी सौम्यता हूँ न पाती,
मम दुख सुनता है ध्यान देके नहीं तू ।
प्रिय निठुर हुये हैं दूर होके दृगो से,
मत बन निर्मोही नैन के सामने तू ॥

प्रकृति वर्णन :—हरिऔध ने प्रकृति वर्णन में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, अभी तक कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे ही ग्रहण किया था किन्तु हरिऔध ने प्रकृति को उद्दीपन के अतिरिक्त आलम्बन के रूप मे भी देखा है और उन्हें प्रकृति मानवीय कार्य व्यापार करते हुए दृष्टिगत होती है । कृष्ण के वियोग में ब्रजवासियों के साथ प्रकृति भी रोने लगती है :—

यह सकल दिशाएं आज रो सी रही हैं ।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता ॥
मन उचट रहा है काँपता है कलेजा ।
विजन विपिन में है भागता सा दिखाता ॥

कृष्ण दर्शन की लालसा मे प्रकृति कुछ कुछ प्रसन्न दिखायी पड़ती है।

अरुणिमा जगती तल बधिनी, वहन थी करती अब कालिमा।
मलिन थी नवरागमयी दिशा, तरल धार विकार विरोधिनी॥

प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप की सजीवता के साथ कवि ने उपस्थित किया है :—

नीला प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा।
बोली खिन्ना विपुल बनके अन्य गोपागना से॥
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
प्यारी न्यारी जलद तन की मूर्ति है याद आती॥

प्रकृति के उन्नायक रूप को देखकर राधा का मन पूर्ण स्वस्थ हो जाता है:—

कुजों का या उदित शशि का देख सौन्दर्य आँखों,
कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का॥
मै होती हूँ व्यथित अबहूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पॉ, मुख, मुरलिका नाद जैसा उन्हें पा॥

कला पक्ष :—उपाध्याय जी ने अपनी विभिन्न रचनाओं में विभिन्न भाषाओ का प्रयोग किया है। उन्होंने 'प्रिय प्रवास' मे संस्कृत पदावली का आश्रय लिया है एवं उसके बाद की रचनाओं मे बोलचाल के सीधे सादे शब्दों की प्रचुरता है। 'रस कलश' विशुद्ध ब्रजभाषा में लिखा गया काव्य ग्रथ है। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग कहीं कही इतना अधिक हो गया है कि केवल क्रियावाची शब्द हटा देने से पूरी की पूरी पक्ति श्लोक जान पड़ती है, हिन्दी और संस्कृत मे कुछ अन्तर रह ही नहीं जाता :—

'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु विम्बानना'

शैली :—इन्होने कई शैलियॉ अपनायी हैं, एक शैली तो सवैया, छप्पय, और मनहरण छन्द की है, दूसरी शैली संस्कृत वृत्तों द्रुतविलम्बित, शिखरिणी वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित आदि की है। तीसरी शैली इन दोनो के बीच की है जिसमे सरल शब्दों के माध्यम से प्रवाहपूर्ण भाषा मे 'वैदेही बनवास' की रचना की गई है। अनुप्रास की छटा, मुहावरों का छलकता हुआ प्रयोग, लम्बी सामासिक पदावली से इनकी भाषा पूर्णतया गठी हुई है। इनकी रचनाओं में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा ओज, माधुर्य, प्रसाद सभी गुणों का

सुन्दर निर्वाह हुआ है। कहीं कहीं पर शब्दों के सौष्ठव के कारण एक जान सी पैदा हो गयी है और एक प्रकार के संगीत ध्वनि की सृष्टि हो जाती है।

विशेष:—एक ओर संस्कृतनिष्ठ सामासिक पदावली से पूर्ण, उच्चकोटि के आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत 'प्रियप्रवास' ऐसे महाकाव्य के स्रष्टा, दूसरी ओर चुभते हुए शब्दों से व्यंग्य वाण चलाने में कुशल 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' आदि के शब्दशिल्पी महाकवि हरिऔध ने दोहरे व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व बड़ी सफलता और खूबी के साथ सँभाला है। निस्सन्देह वे खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों के सिरमौर हैं।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

कवि परिचय :—रत्नाकर जी का जन्म भाद्रपद शुक्ल ५ सं० १९२३ विक्रमी को काशी में एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास था, ये फारसी के प्रकांड पंडित थे और कविता प्रेमी व्यक्ति थे। उन्हीं की सहज देख-रेख और प्रभाव में रत्नाकर जी में काव्यांकुर उत्पन्न हुआ। भारतेन्दु जी रत्नाकर जी के पिता के मित्रों में से थे, भारतेन्दु जी ने बचपन की इनकी कुछ विशेषताओं को देखकर भविष्यवाणी की थी कि आगे चलकर यह लड़का एक श्रेष्ठ कवि होगा। रत्नाकर जी ने एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की, इसके बाद वे आवागढ़ स्टेट में नियुक्त हो गए परन्तु दो वर्ष पश्चात् ये अयोध्या नरेश के यहाँ प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये और जीवन के अन्तिम समय तक उसी पद पर रहे। अपने 'गंगावतरण' नामक काव्य की रचना महारानी अयोध्या की प्रेरणा से की, महारानी ने उस पर इनको एक हजार रुपए भी पुरस्कार स्वरूप प्रदान किये। इसी ग्रंथ पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी से भी ५००) मिले। इनका 'उद्धव शतक' नामक ब्रज भाषा काव्य श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थों में अपना एक स्थान रखता है। इसके बाद आपने 'सूर सागर' के सम्पादन मे हाथ लगाया। किन्तु दैवयोग से असमय में ही इनका सं० १९८९ में देहावसान हो गया।

व्यक्तित्व :—ये बड़े ही विनोदप्रिय एव हँसमुख व्यक्ति थे। इनके जीवन का सिद्धान्त था :—

जिन्दगी जिन्दा दिली का नाम है,
मुर्दा दिल खाक जिया करते हैं।

एम० ए० होकर भी उनकी वेष-भूषा प्राचीन ढंग के रईसों की सी थी। गोष्ठियो में जब वे कविता सुनाने बैठते थे तब उनकी मुख मुद्रा एवं विनोद-प्रियता देखने योग्य होती थी। वे निरे लीक पर चलने वाले कवि नहीं थे। उनका व्यक्तित्व इतना विशाल था कि युग भी उन पर अपनी छाप न छोड़ सका वरन् उन्होने थोड़े समय के लिए उस पर ही अपना आधिपत्य जमा लिया क्योंकि जिस समय खड़ी बोली का अटल राज्य था उस समय रत्नाकर ब्रज भाषा की कलित कुंज में वीणा बजाने में तन्मय थे, समय अपनी छटा दिखाकर उन्हें न लुभा सका।

रचनाएँ : हिंडोला, हरिश्चन्द्र, कल-काशी, गंगावतरण, उद्धव शतक, रत्नाकर १ : २।

काव्य सौष्ठव :—रत्नाकर जी ब्रज भाषा के कुशल कवि, प्रकांड पंडित और टीकाकार थे। किसी भी वस्तु के अन्तस्थल में डूब कर उसकी सतह से मुक्ता-सग्रह करने में ये अद्वितीय थे। इनकी दृष्टि अनुभावों के पर्यवेक्षण में बहुत ही सतर्क और सफल रही है, इनकी व्यंजना शक्ति सुनी सुनायी न होकर अनुभूतात्मक एवं आँखें खोलकर देखी हुई है। इसमें सदेह नहीं कि इस प्रकार की सफल योजना हिन्दी के कुछ ही कवि कर सके हैं। निम्न पंक्तियों में आप देखेंगे कि सुरागनाएँ किस प्रकार भय विस्मित मुद्रा मे आँखें फाड़-फाड़ कर घबराई हुई सी चारों ओर भौचक्की सी देख रही हैं—

सुर सुन्दरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने।
लगी मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने॥

रत्नाकर जी की प्रतिभा कितना विलक्षण और सूक्ष्म है कि वे पशु जगत के भावानुभावों का यथातथ्य चित्र अंकित कर देते हैं—

विसद वितुण्ड दबाइ कुण्डलित सुन्ड भुसुंडनि।
भय भरि नैन भ्रमाइ धाइ पैठत जल कुन्डनि॥

× × ×

जित तित दौरत दाबि पुच्छ अरु कान उठाए।

उद्धव जब कृष्ण के पास आते हैं तब किस प्रकार का उनके अन्तस्थल में भयानक अन्तर्द्वन्द्व मचता है उस सब को कितनी चित्रमयता के साथ रत्नाकर जी ज्यों का त्यों उपस्थित कर देते हैं—

आवत कछूक पूछिवें औ कहिबे को मन,
परत न साहस पै दोऊ करि लेत हैं।
आनन उदास साँस भरि उकसौंहैं करि,
सौंहैं करि नैननि निचौंहैं करि लेत हैं॥

गोपियों ने कृष्ण से संदेश कहने का जो ढंग उद्धव को बताया था वे उसे कितनी सादगी से कहते हैं कि जिसको सुनकर रोमांच हो आता है—

आतुर ह्वै और हू न कातर बनावो नाथ,
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं काँह आवत जहाँ लौं सबै,
नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥

चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता :—इस प्रकार की क्षमता प्राय: उसी कवि में हो सकती है जो अनुभावों एव सूक्ष्म निरीक्षण की बारीकियों से भली भाँति परिचित हों, क्योंकि इसमे कवि को तटस्थ रहकर केवल भाव-व्यंजना के माध्यम से, आवरण के भीतर से सारे दृश्यों को छायापट की तरह प्रस्तुत करना पड़ता है और वे चित्र इतने पारदर्शक होते हैं कि उसके भीतर से हृदय की सहज अनुभूतियाँ अपने आप झलकने लगती हैं। 'गिरा अनयन नयन बिन बानी' की सी अवस्था रहती है। इस प्रकार के कुछ चित्र देखिए :—

अवनि-अकाश-मध्य पूरि दिग छोरनि लौं,
छहरि छबीली छटा छटकति आवै है।
मटकत आवै मंजु मोर को मुकुट माथैं,
बदन सलोनी लट लटकति आवै है॥

× × ×

भेजे मनभावन के उद्धव के आवन के,
सुधि ब्रज गाँवन मे पावन जबै लगीं।

कहै रत्नाकर गुवालिनि की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगीं ॥
उझकि उझकि पद कजनि के पजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहन छवै लगीं ।
हमकौ लिख्यौ है कहा हमकौ लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा कहन सबै लगी ॥

मूक भाव व्यजना :—न कुछ कहकर सब कुछ कह देना ही इसकी विशेषता है। भवभूति ने वासन्ती आदि सखियों के द्वारा मूक भाव व्यंजना के माध्यम से राम के प्रति कितना तीखा व्यंग्य करवाया है :—

त्वम् जीवित त्वमसि मे हृदय द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोः अमृत त्वमगे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैः अनुरुध्य मुग्धा,
तामेव शान्तमथवा किमुत्तरेण ॥

रत्नाकर जी ने मूक भाव व्वजना का आश्रय ग्रहण कर प्रर्याप्त सफलता पाई है :—

उससि उसाँसनि सौं बहि बहि आँसनि सौं,
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात हैं।
सीरे तपे बिबिध सदेसनि की बातनि की,
घातनि की झोक मैं लगेई चले जात हैं ।।

उद्धव के बिदा होते समय का दयनीय संदेश सुनिए :—

रंचक हमारी सुनौ, रंचक हमारी सुनौ,
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं ॥

× × ×

नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सौं हमारी राम राम कहि दीजियौ ॥

शृंगारिक भाव व्यंजना :—रत्नाकर जी के द्वारा प्रस्तुत किये गये संभोग एवं विप्रलंभ श्रृंगार के दोनों पक्ष मर्यादित, शिष्ट एवं उत्कृष्ट हैं। सीधी-सादी अकृत्रिम शैली में हृदय की सहज अनुभूतियों को कवि ने बडी

कुशलता के साथ कविता में उतार दिया है, परकीया प्रेम की अनुपम मुग्ध भावना देखिये—

संक गुरु लोगनि के बंक तकिबे की तजि,
अक भरि सिगरौ कलंक सखि लेन देहु।
लाज कुल-कानि के समाज पर गाज गेरि,
आज ब्रजराज की लुनाई लखि लेन देहु॥

अभिसार रात्रि में एक मुग्धा कीमासूम भावनाएँ देखिए—

आज बड़े भागनि मिलैंगे ब्रजराज आइ,
साज सुख सम्पति के सिगरे सजाइ दै॥
कहै रत्नाकर हमारे अभिलाष लाख,
रजनी रंचक ताहि सजनी बढ़ाइ दै॥

× × ×

घालि गए जब ते कन्हैया नेह काननि मैं,
तब तै न नैकु कछू काहू की सुनति है॥

कृष्ण एक सलोनी की वेनी गुँथने बैठते हैं, बालों को कभी गुदगुदाते हैं, कभी वेणी छोर लेते हैं कभी फिर बाँध देते हैं, वह मुग्धा कृष्ण की इन हरकतों को देखकर कूक उठती है :—

कान्ह गति जानि कै सुजान मन मोद मानि,
'करत कहा हौ' कह्यौ मुरि मुसकाय कै॥

कृष्ण की बाँसरी की विषभरी तान को कितनी मासूमियत के साथ उलाहना दिया जाता है —

जाके सुर प्रबल प्रवाह कौ झकोर तोर,
सुर मुनि वृन्द धीर विटप बहावै है॥

गुवालिनि गुपाल सौं कहति इठलाय कान्ह,
ऐसी भला कोऊ कहूँ बाँसुरी बजावै है।

कला पक्ष :— रत्नाकर जी की भाषा कलात्मक, व्याकरण संयत शुद्ध ब्रजभाषा है। लक्षणा व्यंजना तथा ओज प्रसाद गुणों से समन्वित है। भावा-

नुकूल भाषा का स्वरूप भी स्थान-स्थान पर परिवर्तित होता गया है। भाषा में इतनी कोमलता तथा मसृणता है कि वह स्वयं अपने आप बोलने लगती है और तदनुकूल रस सृष्टि कर देती है। मुहावरों का प्रयोग भी भावों को अत्यधिक तीव्र करने में सफल हुआ है :—

घातै रहि जायँगी न कान्ह की कृपा तै इती,
ऊधो कहिवे कौ बस बातै रहि जॉयगी।

शैली :– रत्नाकर जी ने प्रायः कवित्त और सवैया छन्द में लिखा है। इनका 'गंगावतरण' एक मात्र रोला छन्द का उत्कृष्ट उदाहरण है, कहीं कहीं छप्पय भी लिखे हैं।

अलंकारः—रत्नाकर के अलंकार विधान से भावों के व्यक्तित्व में किंचित् धक्का नहीं लगा वरन् उससे भावों में एक नयी सुषमा उद्दीप्त हो उठी है। स्थान स्थान पर हमे उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास, यमक, अपन्हुति प्रतीप, वीप्सा की अनुपम छटा मिलती है।

अरुन उदै की कंजकली सी लसति है।

की उपमा कितनी मौलिक और प्रौढ़ है।

फूलन की सेज तै सुगन्ध सुखमा सी उठी,
प्रात अंगिरात गात आरस गहर है।

की कल्पना कितनी सुकुमार है।

———

द्विवेदी युग

मैथिलीशरण गुप्त

भूमिकाः - यद्यपि आधुनिक कविता का सूत्रपात भारतेन्दु जी के समय से ही हो गया था किन्तु उस समय रीतिकालीन कविता मधुश्री की खुमारी शेष थी। स्वयं भारतेन्दु जी ने अपनी अधिकाश कविताएँ रीतिकालीन परिपाटी से प्रभावित होकर ही लिखीं परन्तु फिर भी एक नया पथ प्रशस्त हो चुका था, समाज सुधार और देश भक्ति की भावना जन जन के मन मे अँगड़ाई ले रही थी,

वह जन जागरण का काल था। भारतेन्दु जी ने अपने उद्बोधन से सब सोते हुओं को झकझोर कर जगा दिया था और परस्पर प्रीति बढ़ाने को बाध्य कर रहे थे :

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होइँ हरिपद रति रहैं,
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै, सब दुख बहैं।
बुध तजहि मत्सर, नारि नर सम होहिं सब जग सुख लहैं।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं॥

ये अकुर द्विवेदी युग में राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल वायु और खाद पाकर पल्लवित पुष्पित हो उठे। स्वामी दयानन्द के सामाजिक समता-मूलक धर्म प्रचार ने भी इसको और भी उभारा। १६०५ के बंग भंग आन्दोलन ने राष्ट्रीय चेतना की बलिशाला में घृत दान कर उसे और भी प्रज्वलित कर दिया। हिन्दी हिन्दू-हिन्दुस्तान की अमर गिरा चारों ओर गूँजने लगी। अपनी पराधीनता पर हमें खेद हुआ और उस उद्बोधन काल के आलोक मे हमने अपने आपको पढ़ा और सोचा :—

हम कौन थे, क्या हो गए, और क्या होंगे अभी ?
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

इस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा स्वरूप गुप्त जी 'सरस्वती' के पुत्रो द्वारा हिन्दी साहित्य मे आए और उनकी 'भारत-भारती' एक समय समस्त हिन्दी प्रेमियों के कंठ की भारती बन गयी। तुलसीदास जी की तरह गुप्त जी भी महावीर की कृपा से रामचरित (साकेत) का निर्माण कर सके जो मानवता का एक अमर काव्य है :—

करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद।
महाबीर का यदि उन्हें मिलता नही प्रसाद॥

कवि परिचय :—गुप्त जी का जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया सोमवार [सं० १६४३ को चिरगाँव जिला झाँसी मे हुआ। आपके पिता सेठ रामचरण जी हिन्दी के विशेष प्रेमी थे एवं स्वयं कविता करते थे। कनकलता के नाम से वह भक्तिपूर्ण कविता लिखते थे, पिता के सारे संस्कार गुप्त-बंधुद्वय में (सिया राम शरण भी) उतर आए और 'साकेत' एवं 'बापू' ऐसे श्रेष्ठ ग्रंथो की रचना करवायी।

व्यक्तित्व :—गुप्त जी के सरल, सात्विक वेश को देखकर प्राचीन युग के किसी ऋषि की झाँकी सामने आ जाती है वे हिन्दी साहित्य के एकनिष्ठ मौन कलाकार हैं और उनकी कला का सृजन भी कलामात्र के लिए नही होता :—

हो रहा है जो यहाँ सो हो रहा, यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए क्या क्या कहाँ, व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ॥

कृत्रिमता एवं वाह्याडम्बर तो उनको छू तक नहीं गया। स्वभाव से अत्यन्त उदार, भावुक एव मिष्ट-मित-भाषी हैं। वैश्य कुल में उत्पन्न संस्कारों के कारण लक्ष्मी और सरस्वती की उपासना एक साथ करते हैं। वे आधुनिक हिन्दी कविता के एकमात्र परम वैष्णव कवि हैं और तुलसी की तरह राम के एकमात्र उपासक हैं, आस्तिकता तो उनमें कूट कूट कर भरी है, नास्तिक भाव आते ही गुप्त जी ईश्वर से क्षमा माँगने लगते हैं :—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नही हो क्या।
विश्व में रमे हुए नही सभी कहीं हो क्या ॥
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ॥

कभी कभी राम की उपासना मे इतने तल्लीन हो जाते हैं कि कृष्ण को भी राममय देखते हैं :—

धनुंवाण वा वेणु लो श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग ॥

गुप्तजी मे करुणा एवं सहिष्णुता की भावना कूट-कूट कर भरी है, एक बार जब वे साहित्यकार संसद के समारोह मे अध्यक्ष पद से भाषण देकर समारोह समाप्त होने पर इलाहाबाद से झाँसी लौट रहे थे उनके साथ चलने का मुझे भी सौभाग्य मिल गया, साथ में सियारामशरण जी भी थे, गुप्तजी सदैव तृतीय श्रेणी मे ही यात्रा करते हैं जबकि महादेवी जी उनको प्रथम श्रेणी मे जाने के लिए वाध्य कर रही थीं परन्तु सिर मे असहनीय वेदना होने पर भी वे अपने सिद्धान्त से विचलित न हुए, पीडा से सिर फटा जा रहा था और गुप्तजी कालिदास प्रणीत रघुवंश की असंख्य अमर पक्तियाँ गुनगुनाते जा रहे थे, मैंने सिर दबाने की उनसे प्रार्थना भी की किन्तु उन्होंने सधन्यवाद बड़ी सहृदयता के साथ मेरी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। शंकरगढ़ स्टेशन मे बहुत से पटरियों पर

काम करनेवाले कुली मजदूर अपने भारी भरकम सामान के साथ शोर मचाते हुए डिब्बे पर चढ़ आये, मै क्या देखता हूँ कि पीड़ा से कराहने वाला संवदेनशील ऋषि उनके लोहे के वजनी औजारों को रखवाने मे उनका साथ दे रहा है, यह है उनकी महान् मानवप्रियता का एक उत्कृष्ट उदाहरण जो आँखों देखा है।

काव्य सौष्ठव :—गुप्तजी स्वभाव से ही पूर्ण वैष्णव एवं सहृदय हैं और उनकी वैष्णवता का मूलाधार उनकी करुणापूर्ण उदारता ही है। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जिन पीर पराई जाणेरे' को गुप्तजी ने भलीभाँति पचाकर अपने जीवन मे उतार लिया है। उनका इस प्रकार का स्नेहालु और दयार्द्र व्यक्तित्व कविता में कई स्थलों पर उतर आया है :—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आँखों मे पानी॥

ये अमर पंक्तियाँ उनके व्यक्तित्व की परिचायक हैं। इसी नाते गुप्तजी मे गांधीवाद की छाप भी है। 'अनघ' में हमें इस प्रकार की सहनशीलता के दर्शन होते हैं :—

पापी का उपकार करो हाँ, पापों का प्रतिकार करो॥

× × ×

उत्पीड़न अन्याय कहीं हो, दृढ़ता सहित विरोध करो।
किन्तु विरोधी पर भी अपने, करुणा करो न क्रोध करो।

गुप्तजी की कविताओ को हम सुविधा के लिए तीन वर्गों में बाँट सकते हैं— (१) राष्ट्रीय (२) चरित्रात्मक (३) गीतात्मक।

(१) राष्ट्रीय रचनाओं में गुप्तजी की 'भारत-भारती' को पर्याप्त ख्याति मिल चुकी है काफी समय तक यह पुस्तक जन जन मे जागृति फैलाने के कारण अंग्रेजी राज्य में जब्त कर ली गयी थी। इसमे तीन खंड (अतीत वर्तमान् और भविष्य) हैं और उनमें वर्तमान् भारत की हीनावस्था पर आँसू बहाए गए हैं, अतीत खंड मे भारत के गौरवशाली स्वर्णिम अतीत का चित्रण है। भविष्यत् खंड में क्या होना चाहिए की भावना और सुझाव हैं। प्रत्येक पंक्तियों में एक चेतना, एक शक्ति और एक दिव्य संदेश है। 'भारत-भारती'

गुप्तजी की प्रारंभिक कृतियों मे से एक है उसकी कुछ उत्कृष्ट पंक्तियाँ देखिए :—

मानस भवन मे आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥
× × ×
सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त प्रवाह हो।
हमको तुम्हारी चाह हो तुमको हमारी चाह हो॥

'स्वदेश संगीत' मे भी राष्ट्रीय विचारधाराओ का सम्मेलन दृष्टव्य है।

(२) चरित्रात्मक :—चरित्र चित्रण एव प्रकृति वर्णन की दृष्टि से गुप्तजी की प्रारभिक रचनाओ मे 'पंचवटी' का भी अपना एक अप्रतिम स्थान है। अनेक स्थलों पर कवि द्वारा अंकित प्रकृति के मनोहारी सुश्लिष्ट चित्र मिलते हें और प्रकृति के उसी मोहक वातावरण में कवि ने वीर यती लक्ष्मण को उपस्थित करके शृ गार और वीर रस का अद्भुत सामञ्जस्य उपस्थित कर दिया है :—

जाग रहा यह कौन धनुर्धर जबकि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है॥

प्रकृति की सुषमा के साथ सीता के सुरभित सौंदर्य का समन्वय कितना सुन्दर है :—

कुछ कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या उषा थी॥

गुप्तजी ने प्राचीन भावो एवं विचारो की रक्षा करते हुए अर्वाचीन वचारो एवं भावों की अद्वितीय मीमासा की है। उन्होंने उन विषयों की ओर ध्यानाकर्षित करके उन्हें खोज निकाला है जो गोस्वामी तुलसीदास जैसे महान् स्रष्टा की सूक्ष्म दृष्टि से भी ओझल हो गए थे। उनके चरित्रात्मक काव्य ग्रथों में 'साकेत' और 'यशोधरा' का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। साकेत में परित्यक्ता कैकेयी और उर्मिला का चरित्र अंकित करके गुप्तजी ने अपनी विशाल सहृदयता का परिचय दिया है। गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी मौलिक सूझ। इस मनोवैज्ञानिक युग में यदि गुप्तजी 'गई गिरा मति फेर' का उदाहरण लेकर कैकेयी की बुद्धि परिवर्तन का प्रयास करते तो वह स्वाभाविक न जॅचता और कुछ

कुछ अमाननीय भी हो जाता। कैकेयी के मस्तिष्क में अपने आप भयानक अर्न्तद्वन्द मचता है और वही मन की सन्देहास्पद मनोवृत्ति का समर्थन पाकर प्रौढ़ हो जाता है :—

भारत से सुत पर भी संदेह बुलाया तक न उसे जो गेह।

गुप्तजी ने अपने काव्य ग्रंथ में नारी मर्यादा का निर्वाह बड़ी ही कुशलता एवं सतर्कता के साथ किया है, स्थान स्थान पर उनको कृतियों में हमें आदर्श नारी जीवन के उदात्त चित्र मिलते हैं, वे नारी की सत्ता को पुरुष की अपूर्णता का पूरक मानते हैं, जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का साधन समझते हैं। नारी जाति की सहज उक्ति सुनिए :—

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम सा पात्र हम।
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें,
और निज भव भार यों हलका करें॥

'साकेत' के अनेक स्थलों पर हमें नारी जीवन के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कैकेयी का चरित्र उपस्थित करने में कवि को यथेष्ट सफलता मिली है। कैकेयी के व्यक्तित्व में समस्त नारी जाति का व्यक्तित्व बोलता है, उसका मनोविज्ञान समझ लेना समस्त नारी जाति के स्वभाव से पूर्ण परिचित हो जाना है, एक माँ के रूप में भरत के लिए जो कुछ भी अच्छा बुरा कैकेयी करती है समस्त माताएँ अपने पुत्रों के लिए वही करना चाहेंगी, किन्तु जब वह देखती है कि मेरा भरत भी मुझसे रूठ गया तब वे अपने आपको रोक नहीं पाती, करुणा का करुण उच्छ्वास स्वयं फूट निकलता है, वह सिंही अब गोमुखी गगा बन गयी है। उसका दैन्य अब कितना निरुपाय है :—

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके कहे क्यों चूके।
छीने न मातृ पद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम दुहाई करूँ और क्या तुमसे।

पश्चात्ताप इतनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है कि वह स्वयं उस अग्नि में जलने लगती है :—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में थी एक अभागिन रानी।
निज जन्म जन्म मे सुने जीव यह मेरा,
धिक्कार! उसे था महास्वार्थ ने घेरा॥

उर्मिला की दयनीयता पर दयनीयता स्वयं आँसू बहाये बिना नहीं रहती।

आ मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आजा,
पिस मुझसे चन्दन लता मुझी पर छाजा।

पूर्ववर्ती कवियों द्वारा चिर उपेक्षिता उर्मिला के वियोग का वर्णन करके गुप्तजी ने अपनी विशाल सहृदयता एवं भावुकता का परिचय दिया है। वियोगिनी उर्मिला एक स्वाभिमानिनी क्षत्राणी है, पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई किस प्रकार पति चिंतन में अपना सारा समय काटती है, उसे अपने पति पर गर्व है, चिंतन पर उसे अमित श्रद्धा है, असमय में ही हल्का कामोद्दीपन होने पर वह उसे चुनौती देती हुई कहती है कि :—

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनि, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन पटु, तुम कटु गरल न गारो॥
मुझे विकलता तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मै कोई, जो तुम जाल पसारो॥
बल हो तो सिन्दूर बिन्दु यह, यह हर नेत्र निहारो।
रूप-दर्प कन्दर्प तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो यह मेरी चरण धूलि उस रति के सिर पर धारो॥

चौदह वर्ष पश्चात् वनवास से लक्ष्मण लौटते हैं, सखि उर्मिला से शृंगारादि प्रसाधन करने को बाध्य करती हुई, कहती है :—

'आओ आओ तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ।
बरसों की मैं कसक मिटाऊँ बलि बलि जाऊँ॥

किन्तु उर्मिला जो अब नारीत्व के पावन सात्विक शृंग पर आसीन है वह वाह्य प्रदर्शन पर विश्वास नहीं करती आन्तरिक प्रेम को ही सब कुछ समझती है :—

हाय सखी शृंगार मुझे अब भी सोहेंगे,
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे।
मैंने जो यह दग्धवर्तिका चित्र लिखा है,
उसमें तू क्या आज उठाने चली शिखा है।

नहीं नही प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी मैं हूँ नाथ मुझे वैसा ही पावें।

वस्त्रालंकार तो पाए जा सकते हैं पर 'यौवन उन्माद' कहाँ से लाया जा सकता है। पातिव्रत प्रेम के पद पर आसीन उर्मिला आज शासन की नहीं वरन् सेवा की प्यासी हैं और यही तो नारी जीवन का प्रेम है, श्रेय है, सर्वस्व है।

आदर्श नारी पात्रों में दूसरा स्थान यशोधरा का है जिसका स्थान उर्मिला से कहीं व्यापक और असीम है क्योंकि उर्मिला के वियोग की अवधि तो सीमित ही थी किन्तु यशोधरा के गौतम तो चोरी चोरी गए हैं, कुछ कह भी नही गए। उसका नारीत्व जग कर कहता है :—

स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमी भेज देती है रण मे, क्षात्र धर्म के नाते।
सखि वे मुझ से कह कर जाते॥

यशोधरा अपने आप मे पूर्ण रूप से भरी पूरी है। अपनी साधना पर उसे अटल विश्वास है तथागत के पुनरागमन पर वह साधारण लोगों की तरह मिलने स्वयं नहीं जाती। वाध्य करने पर स्पष्ट कह देती है कि :—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान।
यशोधरा के अर्थ हैं, अब भी यह अभिमान॥ मैं निज राज भवन में।
उन्हें समर्पित कर दिए, यदि मैंने सब काम।
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम॥ यहीं इसी आँगन में।

गुप्त जी ने संसार के प्रति जहाँ भी उदासीनता एवं उसकी निस्सारता की भावना प्रकट की है वह उनके हृदय की मार्मिक गहरी अनुभूतियों की प्रतीक है; गुप्तजी ने जीवन का सच्चा स्वरूप देखा है। वह ऊपर ही ऊपर

बाहरी चटक मटक पर खो जाने वाले व्यक्ति नहीं वरन् आत्मा की अथाह गहराइयो में डुबकी लगाने वाले सात्विक पुरुष हैं :—

रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह वह कब तक है प्राण पात्र
भीतर भीषण कंकाल मात्र,
बाहर बाहर है टींम टाम। ओ क्षण भंगुर भव राम राम।
उन विषयो मे परितृप्ति हाय,
करते हैं हम उल्टे उपाय।
खुजलाऊँ क्या मै बैठ काय,
हो जाय और भी प्रबल पाम। ओ क्षण भंगुर......

× × ×

देखी मैंने आज जरा।
क्या ऐसे ही हो जायेगी, मेरी यशोधरा।

गीतात्मक :—झंकार, साकेत, यशोधरा, द्वापर आदि में गुप्त जी ने उत्कृष्ट कोटि के गीत हिन्दी साहित्य को दिये हैं। 'झंकार' उनकी छायावादी कृति है। उसके गीत ईश्वरपरक हैं। झंकार के गीतों मे हमें रहस्यवादी भावना का स्फुरण मिलता है, किन्तु 'झंकार' के गीत अन्यान्य छायावादी गीतों की तरह गूढ़ न होकर हृदय की सहज अनुभूतियो से स्निग्ध एव रससिक्त हैं। गुप्त जी का गीतिकाव्य न तो विश्व प्रेम या ईश्वर से उपकरण संग्रह कर सका है और न राष्ट्र-प्रेम से वरन् व्यक्ति-साधना के उच्छ्वास का व्यक्तीकरण उन्होने अपने गीतों मे किया है। गुप्त जी विशुद्ध मानवतावादी हैं, वे इसे ईश्वर से भी उच्चकोटि की साधना मानते हैं :—

भव मे नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश नहीं मै यहाँ स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

कला पक्ष :—(भाषा) गुप्त जी के प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा अध-पकी, रूखी एवं इतिवृत्तात्मक मात्र है। उसमें सरसता एव परिष्कार का

अभाव है किन्तु 'जयद्रथ वध' तक पहुँचते पहुँचते उनकी भाषा में एक अनुपम प्रवाह और कोमलता अपने आप आ गई है। उत्तरा की उक्ति सुनिए :—

कुछ राजपाट न चाहिए पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही।
हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही।।

'साकेत' में तो हमें गुप्त जी का भाषा पर असाधारण अधिकार देखने को मिलता है, भावानुकूल भाषा स्वयं बोलने लगती है, एक चित्र सा सामने खिंच जाता है :—

अरुण पट पहिने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद मे।
स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला,
नाम इसका उचित ही है उर्मिला।
हैं करों में भूरि भूरि भलाइयाँ,
लचक जातीं अन्यथा न कलाइयाँ।।

व्याकरण संयत भाषा में गुप्त जी अन्त्यानुप्रास की अनुपम झांकी प्रस्तुत करके भावोत्कर्पिता में चार चाँद लगा देते हैं। गुप्त जी की भाषा में हमें लम्बी लम्बी सामासिक पदावलियाँ न मिलकर कोमल कान्त पदावली के दर्शन होते हैं। चित्रमयी भाषा का प्रयोग गुप्त जी की अपनी विशेषता है किन्तु उनकी भाषा मे मुहावरों के प्रयोग का अभाव खटकता है। उर्दू के शब्दों का प्रयोग गुप्त जी ने प्रायः बहुत कम ही किया है। उनके सम्वादों की शैली में नाटकीय गुण विद्यमान है।

विशेष :—डा० वार्ष्णेय के शब्दों में 'गुप्त जी की भाषा में जो प्रसाद गुण है वह ईर्ष्या की वस्तु है, तुक के आग्रह में वे कभी कभी त्रुटियाँ कर देते हैं, उपमोचिस्तनी के साथ ठीक ठनी वास्तव में तुक के आग्रह से भी वे ऐसे शब्दो का प्रयोग कर बैठते हैं जिनका प्रयोग साहित्य और सौन्दर्य की दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता।' गुप्त जी ने व्यापक बनने का असाधारण प्रयत्न किया है। सिक्खों के लिए गुरुकुल, गुरु तेगबहादुर एवं मुसलमानों के लिए काबा कर्बला नामक काव्य लिखा है। इधर उन्होंने 'विष्णुप्रिया' और 'जय-भारत' नामक महाकाव्य की सृष्टि की है। हिन्दी काव्य साहित्य को यह उनकी

महान् साहित्यिक देन है। 'जयभारत' का प्रारम्भ नहुष के वक्त की घटना से हुआ है एवं समाप्ति युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण से। 'जयभारत' के द्वारा गुप्त जी ने अपने कवि जीवन की आरम्भ काल की महत्वाकाक्षा को गौरव के साथ पूर्ण किया है।

सब मिलाकर मैथिलीशरण गुप्त ने सम्पूर्ण भारतीय पारिवारिक वातावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य शुरू से अंत तक प्रेरणा देने वाले काव्य हैं।'' 'मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी भाषी जनता को निरन्तर प्रेरणा दी है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

जयशंकर प्रसाद

छायावाद

भूमिका :—

जयशंकर 'प्रसाद' छायावादी युग के प्रवतक माने जाते हैं। छायावाद का जन्म इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। रीतिकालीन अश्लीलता एवं उच्छृङ्खलता के प्रतिकार स्वरूप उपदेशात्मकता स्वाभाविक थी किन्तु प्रतिक्रिया होने पर भी जब कुछ फल प्राप्त न हो सका, युवक वर्ग के अदम्य साहस एवं अथक प्रयत्न करने के फल स्वरूप निराशा ही हाथ लगी तो पलायनवादी बन जाना स्वाभाविक ही था। कोलाहल की अवनी तजकर किसी निभृत कुन्ज के क्रोड़ में शयन करना अभीष्ट ही था। जीवन में निरन्तर प्राप्त होने वाली असफलताएँ एवं वैयक्तिक प्रेम की प्रतिस्पन्दन शून्य परनिर्भरता मनुष्य को एकान्तप्रिय पलायनवादी तथा अन्तर्मुखी बना देती हैं, वह बाहरी दुनियाँ से नाता तोड़ कर अपने आप मे ही डूबा रहने मे अधिक सुख मानता है, अपने मनोराज्य में ही स्वर्ग का निर्माण कर लेता है। सासारिक प्रेम को नगण्य समझकर अव्यक्त से नाता जोड़ने का प्रयत्न करने लगता है।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल-जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को ॥

इस वाद के जन्म लेने का एक कारण यह भी था, संवत् १९७० के आस-पास कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि नोबुल पुरस्कार से पुरस्कृत हुई और उनकी अव्यक्त के प्रति रहस्यात्मक प्रेम भावना से ओत प्रोत कविताओं की प्रसिद्धि सारे भारत में हुई, हिन्दी प्रदेश भी इससे वंचित न रह सका, परिणाम स्वरूप अनुकरण की भावना लेकर कवि समुदाय रहस्यवाद, चित्रभाषावाद एवं छाया-वाद लेकर चल पड़े। छायावाद को हम दो अर्थों में विशेष रूप से ग्रहण करते हैं, प्रथम तो रहस्य के रूप में जहाँ कवि उस अज्ञात, अनन्त, सूक्ष्म आकाशी प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त कलापूर्ण व्यंजनात्मक शैली में प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति करता है। ये रचनाएँ उन पहुँचे हुये साधु फकीरों-बाउलों की वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो कि समाधि अवस्था में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में Phanstasmata (छाया) कहते हैं, इसी से बंगाल में उन संतों की वाणियों के अनुकरण पर जो आध्या-त्मिक भावों से पूर्ण भजनों का निर्माण होने लगा वे छायावाद के नाम से प्रख्यात हुए और शनैः शनैः यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से उठकर साहित्यिक क्षेत्र मे भी आ गया। महादेवीजी इसी अर्थ को लेकर छायावादी काव्य क्षेत्र में पदार्पण करने वाली कवियित्री हैं।

छायावाद का दूसरा प्रयोग सन् १८८५ में फ्रांस के प्रतीकवादी पद्धति से प्रभावित होकर सामने आया, ये प्रतीकवादी प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत प्रतीकों को अपनी रचना मे लेकर चलते थे, सुख के स्थान पर उषा, अंतर्द्वन्द के स्थान पर प्रेमिका की अलकें, शुभ्र के स्थान पर हिमानी, अन्धकार के स्थान पर निराशा, मानसिक व्याकुलता के स्थान पर झंझावात का प्रयोग होता था इस पद्धति पर चलने वाले प्रसाद, पन्त, निराला आदि हुए।

छायावाद के सम्बन्ध में विचार वैभिन्य है। हम हिन्दी के अधिकारी विद्वानों की छायावादी परिभाषा नीचे देते हैं :—

(१) छायावाद एक अर्थ में एक शैली विशेष है, दूसरे अर्थ में वस्तु की दृष्टि से यह पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्य क्षेत्र में व्यवहृत आध्यात्मिक प्रतीकवाद का अनुकरण मात्र है।

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

(२) छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है, जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण हैं, इसका आधार नवजीवन के स्वप्नों और क्षुब्ध भावनाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी व वायवी है और अभिव्यक्ति प्रायः प्रतीकों द्वारा है।

(डा० नगेन्द्र)

(३) "मानव तथा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान" छायावाद है। (नन्ददुलारे वाजपेयी)

(४) आत्मा व परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और यही छायावाद। (डा० रामकुमार वर्मा)

(५) किसी वस्तु मे एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा आरोप करना छायावाद है, यह वस्तुवाद और रहस्यवाद के बीच की कड़ी है।

(गंगाप्रसाद पाडेय)

(६) छायावाद गीति काव्य है, प्रेम काव्य है।

(डा० देवराज)

(७) छाया एक अनुभूति विशेष है, सौन्दर्यानुभूति।

(डा० सत्येन्द्र)

(८) छायावाद अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की भगिमा मात्र है। कविता के क्षेत्र मे जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब उसे छायावाद के नाम से अभिव्यक्त किया गया। (प्रसाद जी)

(९) स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया ही छायावाद है।

(महादेवी वर्मा)

छायावाद के उपकरण :—

(१) प्रकृति को आलम्बन रूप में देखना, उसमें मानवीय भावनाओं का आरोप करना। पन्त जी ने प्रकृति के दृश्यों को नारी के रूप में देखा है एवं इस प्रकार तादात्म्य की स्थिति में पहुँचे हैं।

(२) वैयक्तिकता :- इसका चरम उत्कर्ष हमें बच्चन जी की कविताओं मे मिलता है, कवि वाह्य संसार से नाता तोड़कर अपने आप में ही गक हो जाता है :—

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।

× × ×

प्यास वारिधि से बुझाकर भी रहा अतृप्त हूँ मैं।

कामिनी के कुच कलश से आज कैसा प्यार मेरा ॥

(४) अतीत के प्रति करुण भावना (बैठ खंडहर मे करता रहा कभी निशि भर अतीत का ध्यान—दिनकर)

(५) नीति-विद्रोह, प्रतीक पद्धति, ध्वन्यात्मकता आदि इसकी अन्य प्रमुख विशेषताएं हैं।

जयशंकर प्रसाद

कवि परिचयः—जन्म काशी में एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में संवत् १६४६ को हुआ। इनक पिता का नाम श्री देवी प्रसाद था, पितामह जो बड़े ही दानीऔर सहृदयशील थे, सुँघनी साहू के नाम से समस्त काशी में प्रसिद्ध थे, कहते हैं कि वे प्रातःकाल गंगा स्नान से लौटते समय अपना कम्बल, कुरता और लोटा तक भिखमगों को दे डालते थे। उनकी इस दयाशीलता एवं सहृदयता का प्रभाव शिशु जयशंकर पर विशेष रूप से पड़ा। प्रसाद जी के पिता भी अपने पिता की तरह उदार, साहित्यिक एवं भावुक व्यक्ति थे। उनके यहाँ सदा साहित्यिकों का अड्डा बना ही रहता था। बाल्यावस्था में पिता का देहान्त हो जाने पर प्रसादजी की पढ़ाई स्कूल मे न चल सकी। इनके बड़े भाई श्री शम्भूरत्न जी ने घर पर ही इन्हें वेद, उपनिषद्, पुराण, अंग्रेजी, संस्कृत आदि पढ़ने का सुन्दर प्रबन्ध करवा दिया था किन्तु

दैवयोग से उनकी भी मृत्यु हो जाने से प्रसाद जी का सारा जीवन ही अस्त व्यस्त हो गया, फिर भी बड़े साहस के साथ आपने पारिवारिक जीवन की उलझनों को सुलझाया और इन उलझनों में भी अपनी साहित्यिक धारा को सर्वदा अक्षुण्ण रक्खा। प्रसाद जी ने तीन व्याह किए, अंतिम पत्नी से श्री रत्नशङ्कर उत्पन्न हुये जो आजकल अपना पैतृक कारबार कर रहे हैं। प्रसाद जी स्वभाव से ही मौजी एवं रईस तबियत के आदमी थे। दानशीलता तो उनको अपने पितामह से वसीयत के रूप में मिली थी, साहित्यिक कार्यों मे अधिक समय देने के कारण वे अपना व्यवसाय भी ठीक से नही देख पाते थे, फलतः खर्च अधिक और आमदनी कम होती जा रही थी। इस प्रकार आर्थिक चिंताओं से दिन प्रति प्रसाद जी व्यग्र रहा करते थे, फिर भी अपनी सहज मस्ती और भावुकता को किसी भी कीमत पर वे छोड़ने को तैयार नहीं थे। दलबन्दी और तर्क वितर्क के दलदल से वे कोसों दूर थे। प्रेमचन्द, विनोद-शङ्कर व्यास, रायकृष्णदास आदि उनके अभिन्न मित्र थे। धन का मोह उन्हे नहीं था, उन्होने एकेडेमी और ना० प्र० सभा द्वारा प्राप्त पुरस्कार को लौटा दिया था। धार्मिक मनोवृत्ति एवं स्वभाव से ये गंभीर स्वभाव के थे। अभागिनी हिन्दी के दुर्भाग्य से सन् १९३७ मे प्रसाद जी राजयक्ष्मा के कारण इहलोक को छोड़कर अमरता में मिल गए।

व्यक्तित्व :—प्रसाद जी का कद ठिगना, रग गेहुँआ और जिनकी मुख काति देखकर ब्रह्मचर्य भी काप जाय, ऐसा था उनका अनुपम दैवी व्यक्तित्व। कुछ ऐसा भान होता है कि मनु के माध्यम से कवि ने मानो अपने व्यक्तित्व की ही व्याख्या कर डाली है :—

अवयव की दृढ़ मास पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें सचार।

तरह तरह के फूलों के विशेष प्रेमी किन्तु भ्रमरवृत्ति से कोसों दूर, नौका विहार के अनन्यतम प्रणयी। कसरती इतने कि एक हजार बैठक और पाँच छै सौ दण्ड से भले ही ज्यादा हो जाय, कम न होने पावे। सेर आध सेर बादाम चबाना तो साधारण बात थी। प्रसाद जी के व्यक्तित्व के बारे में नगेन्द्र जी के विचार देखिये :—

'शान्त गंभीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चांदनी की हँसी हँस रहा हो—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूलरूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था इसलिये वे शिव के उपासक थे। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचाकर शिव ही बने रहे, उनका कंठ चाहे नीला हो गया हो परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था, वे बड़े गहरे जीवन के द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह जहर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था, उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुये आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।' 'आँसू' के माध्यम से भी प्रसाद की जीवन पर्यन्त वेदना का अनुमान लगाया जा सकता है :—

> वेदना विकल फिर आयी, मेरी चौदहों भुव में।
> सुख कहीं न दिया दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन में ॥

यही संक्षेप में प्रसाद का प्रसादत्व है।

काव्य सौष्ठव :—प्रसाद जी का जन्म उस समय हुआ जब कि एक ओर ब्रजभाषा अपनी आखिरी सांसों से दम तोड़ती हुई भी पुनः जीने का व्यर्थ प्रयास कर रही थी और दूसरी ओर खड़ी बोली इतिवृत्तात्मकता के माध्यम से अपने को सँवार रही थी। प्रसादजी की प्रारम्भिक रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं, समस्यापूर्तियों के द्वारा इनकी कविता का सूत्रपात होता है। प्रसाद जी की जिनमें अपनी छाप है, अपनी मौलिकता है, अपनी नवीन शैली और नवीन राह है वह हमें उनकी उत्तर कालीन रचनाओं आँसू, लहर, कामायनी में देखने को मिलेगी। 'आंसू' प्रसादजी के विरह गीतों, का संकलन है। केवल इन चार पंक्तियों के ऊपर ही इसका प्रासाद खड़ा है :—

> जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छायी।
> दुर्दिन में आंसू बन कर, वह आज बरसने आयी ॥

आँसू विप्रलंभ शृङ्गार की उत्कृष्ट कृति है, इसमे अतीत कालीन संयोग सुख की सलोनी स्मृतियां रह रह कर उभर आती है :—

आती है शून्य क्षितिज से, क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।
टकराती बलखाती सी, पागल सी देती फेरी॥

उनका प्रियतम से मिलन भी कितनी नवीन अपूर्वता के साथ होता है:—

मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे।
हम रहे देखते अपलक, यक उतरे हुए नशे से॥

उस मिलन पर्व पर वसन्त की राका मुस्करा रही थी, उस मिलन कुंज पर सुख सपनों से शिथिल होकर अलसायी चादनी सो रही थी और इन ढरकीले क्षणों मे वे शशि मुख पर घूँघट डाले आन्चल में दीप छिपाए कौतूहल से आए। वह खेल, रसरग, आँखमिचौनी पहले : —

मादक थी मोहमयी थी, मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है, वह मधुर प्रेम की पीड़ा॥

उद्दाम यौवन का कितना नवीन एवं मौलिक चित्रण इन पंक्तियो में है:—

काली आखों मे कितनी यौवन मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली॥
कोमल कपोल पाली मे, सीधी सादी स्मित रेखा।
जानेगा वही कुटिलता, जिसने भौ में बल देखा॥

अन्त में कवि आंसू की सार्थकता सिद्ध करतं हुए उसे नव जीवन संचार करने का साधन मानता है।

सब का निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिमकन सा आसू इस विश्व सदन में॥

'लहर' प्रसाद जी की 'आँसू' से भी प्रौढ़ रचना है जिसमें उनके प्रसिद्ध गीत संग्रहीत हैं। उनका एक उद्बोधन गीत हिन्दी साहित्य संसार में अपने ढंग का एकमात्र अकेला है, इसकी शब्दावली इतनी मधुमिश्रित एवं श्लिष्ट है कि इससे वीणा की सी मधुर तान तथा भैरवी एवं विहाग की सी दूरस्थ प्रेरणा मिलती है जो कि म्लान मन के लिए संजीवनी तुल्य है :—

बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट पर डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी
खग कुल कुल कुल सा बोल रहा, किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लायी, नवमुकुल नवल रस गागरी
अधरो मे राग अमन्द पिए, अलकों मे मलयज बन्द किए
तू अब तक सोयी है आली, आँखो में भरे विहाग री

प्रसाद जी की यौवन के प्रति एक नवीन उद्भावना देखिए :—

ओ लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?

× × ×

मेरे आँखो की पुतली में तू बन कर प्राण समा जा रे।

कामायनी : आधुनिक युग की रामचरित मानस मानी जाती है। मानवता ने रामचरित मानस के पश्चात् कामायनी, में ही उन्मुक्त सांस ली है, यह मानवता की पूर्णाहुति है। सुमन जी के शब्दो में 'यह कवि के जीवन की भी पूर्णाहुति है मानो इसके बाद लिखने को कुछ बाकी नहीं बचा।' कामायनी मानव संस्कृति और मानवीय मनोविकारो का रूपक है। इसमें उनके काव्य की समस्त विशेषताओं का विकास उत्कृष्टतम रूप में हुआ है, निस्संदेह कामायनी विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। कामायनी देश काल की सीमा से परे व्यापक मानवता का महाकाव्य है। प्रसाद जी का यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है इसलिए मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हुए भी सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। प्रसादजी ने आमुख मे ऐसी घोषणा स्वयं की है।

कामायनी का मानवीय सौन्दर्य :—प्रसाद जी सूक्ष्मदर्शी हैं और यही सूक्ष्मदर्शिता जब रंगीन कल्पना से मढ़ कर पाठकों के सामने आती है तो एक स्वर्गीय आनन्द देती है। प्रसाद जी अमूर्त भावों और विचारों के एक सफल कवि हैं। शुद्ध मानवीय सौन्दर्य का सूक्ष्म चित्रण कामायनी में ही सर्व प्रथम हुआ है :—

चिन्ता कातर वदन हो रहा पौरुष जिसमें ओत प्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत॥

× × ×

तरुण तपस्वी सा वह बैठा साधन करता सुर श्मशान।

प्रसाद जी ने 'सी सी करिवे मे सुधा शीशी सी ढरकाने वाली' नारी को कितने उदात्त भावों से देखा है उसे वे सृष्टि की एक मात्र पूजनीय सम्पत्ति मानते हे। नारी के प्रति उनकी पवित्र भावना देखिए :—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल मे॥

बिहारी ने गर्भिणी का चित्र खींचने में जो विगर्हणा दिखायी है, उसमें पवित्र मातृत्व के बीच वासना की एक दीवार खड़ी हो जाती है :—

दृग थिरकौंहें अधखुले, देह थकौंहैं ढार।
सुरति सुखित सी देखियत, दुखित गरभ के भार॥

किन्तु प्रसाद जी द्वारा चित्रित गार्भिणी श्रद्धा का श्रद्धालु चित्र देखिए जिसमे वासना की भावना अचेतन मन मे भी नही उठती :—

केतकी गर्भ सा पीला मुँह, आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुछ कृशता नयी लजीली सी, कम्पित लतिका सी लिए देह।
मातृत्व बोझ से झुके हुए, बँध रहे पयोधर पीन आज।
कोमल काले ऊनों की, नव पट्टिका बनाती रुचिर साज॥

प्रसाद जी के सौन्दर्य चित्रण में एक अनिर्वचनीय शोभा है, एक मूल्यवान् मौलिकता है जो उनके व्यक्तित्व को इतर कवियों से सुरक्षित रखती है।

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥

लज्जा ऐसी लजवन्ती भावना का चित्रण प्रसाद जी चित्रमयी भाषा में करते हैं जो उनकी प्रसादमयी लेखनी से ही निसृत होने योग्य था :—

लाली बन सरल कपोलों में आँखों में, अजन सी लगती।
कुंचित अलकों सी घुंघराली, मन की मरोर बन कर जगती॥

चचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ, जो बनती कानों की लाली।।

'काम' का मनोहर चित्रण देखिए, जिसमें भावों के स्वर अलग सरगम दुहराते हैं और शब्दों की शहनाइयाँ पृथक सुहाग के गीत गाती हैं :—

मधुमय वसन्त जीवन वन के, बह अन्तरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरों में।।
क्या तुम्हें देखकर आते यो, मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता मे अलसायी, कलियो ने आँखें खोली थीं।
जब लीला से तुम सीख रहे, कोरक कोने में लुक रहना।।
तब शिथिल सुरभि से धरणी में, बिछलन न हुई थी सच कहना।।

प्रसाद जी के प्रश्न करने की परिपाटी भी कितनी मौलिक एक अनूठी है :—

कहा मनु ने "तुम्हे देखा अतिथि! कितनी बार।
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार।।

प्रसाद जी की सूक्तियाँ: पतनोन्मुख और सब ओर से हताश, निराश जीवन को जीवन यात्रा में पुनः ताज़गी के साथ प्रेरित करने वाली हैं, उनमें वही शक्ति है जो एक कीमती संजीवन रस में होती है। अपनी लम्बी बीमारी मे मानसिक संतुलन के बिगड़ जाने से मैने प्रसाद जी की इन अमर पक्तियों को गुनगुनाकर पुनः जीवन पाया है, इन पंक्तियों में असीमित संवेदना शक्ति, प्रबल प्रेरणा और अमित विश्वास है :—

(१) जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य बरदान, इसे तुम कभी न जाना भूल।।

(२) इस पथ का उद्देश्य नहीं है, शान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं।।

कला पक्षः—प्रसादजी की भाषा दो रूपों में मिलती है-प्रथम व्यवहारिक, द्वितीय सस्कृत प्रधान। मनोभावों के सूक्ष्म चित्रण में इन्होने संस्कृत प्रधान

भाषा का प्रयोग किया है। कवि का शब्द चयन अत्यन्त सजीव और गठा हुआ है। भावानुकूल शब्द-चित्रण इनकी विशेषता है :—

बुलबुले सिंधु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुंतला धरती, दिखलाई देती लूटी॥

× × × ×

'हिमाद्रितुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्जवला स्वतन्त्रता पुकारती"

मे ऐसे शब्दों की मन्द्रध्वनि हो रही है मानों कहीं यही आसपास रणभेरी बज रही हो। शैली मे स्वाभाविक शालीनता, गंभीर अध्ययन एवं व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। यदि एक ओर उसमे सागर की सी अथाह गम्भीरता है तो दूसरी ओर बच्चों की सी अल्हड़ता। उनकी रचनाओ में हमें रूपक, उत्प्रेक्षा उपमा एवं अनुप्रास के सफल प्रयोग मिलते हैं, रूपकों में विशेष रूप से नारी सापेक्ष्य प्रकृति की सागरूपकता दर्शनीय है। इनकी रचनाये प्रसादान्त होती हैं। प्रसाद जी का हिन्दी साहित्य में अपना .एक विशिष्ट स्थान है। माँ भारती का यह अमर अजेय पुत्र युग युग तक जियेगा।

— — —

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

आकाश पाताल को दहला देने वाले 'जागो फिर एक बार' ऐसे अमर घोष के स्रष्टा निराला जी का जन्म माघ शुक्ल ११ सं० १९५३ वि० को हुआ था। उनके पिता का नाम पं० रामसहाय त्रिपाठी था। निराला जी का यह भरा पूरा शरीर और ऊँची काठी उनके पिता की ही देन है। निवास स्थान उन्नाव जिला का गढकोला नामक स्थानथा किन्तु बङ्गाल मेदनीपुर के महिषादल राज्य में इनके पिता नौकरी करते थे अतएव यही निराला जी का जन्म हुआ और कवीन्द्र रवीन्द्र की ही मातृभूमि का पड़ोसी होने के कारण तद्जन्य सस्कार बचपन में ही उगने लगे। बचपन से ही स्वभावतः विद्रोही थे, किसी बँधी

परम्परा में चलने से इनकी आत्मा घुटने लगती थी। स्कूल की बँधी बँधाई पढ़ाई छोड़कर कुश्तीबाजों में नाम लिखा लिया, संगीताचार्यों के संसर्ग से संगीत भी सीखी। प्रारम्भिक शिक्षा बङ्गला में ही मैट्रिक करने के बाद राम-चरितमानस पढ़ने की तीव्र आकांक्षा से अपनी धर्मपत्नी से हिन्दी सीखी, तदनन्तर संस्कृत और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। पिता के देहान्त के पश्चात् स्वयं भी महिषादल राज्य में नौकर हो गये किन्तु दुर्भाग्य से पत्नी का देहान्त हो जाने के कारण उनके जीवन में एक विचित्र परिवर्तन आया, नौकरी छोड़ छाड़ कर सं० १९७८ में द्विवेदी जी के प्रेरणास्वरूप 'समन्वय' का सम्पादन करने बेलूर मठ चले गये और वहीं पर उन्हें भारतीय दर्शन को नये सिरे से पढ़ने का मौका मिला। इसके पश्चात् कलकत्ते से प्रकाशित 'मतवाला' और लखनऊ की 'माधुरी' के सम्पादक रहे। अब प्रयाग के दारागंज में निश्चित रूप से रहते हैं। यद्यपि वे अब अपनी वृद्धावस्था में हैं किन्तु युवकों को भी मात कर देने वाला अदम्य साहस और उत्साह अब भी उनकी नस नस में चटक रहा है। कविता जब कभी अब भी लिखते रहते हैं। इधर उन्होंने कुछ नवीन शैली की गजलें लिखी हैं।

व्यक्तित्व :—आर्वयुगीन देवोपम ऊँचा लम्बा स्वस्थ कद, महर्षियों की सी दार्शनिक दिमाग में कुछ खोजती सी रहस्यवादी आँखें, 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' के परिष्कृत संस्करण वाले निराला का निराला ही व्यक्तित्व है। बड़ी से बड़ी विपत्तियों में भी हिमालय सी गुरु गम्भीरता लेकर किन्हीं [illegible] ी सी आँच में पिघल कर बहने लगते हैं। [illegible] में जब किसी ने हेमवती के असामयिक [illegible] न हो वे पंडाल से निकल कर विक्षिप्तों [illegible] मन बड़बड़ाने लगे : बेचारी अच्छा [illegible], इतनी कच्ची उमर में चली गई, क्या [illegible]?

[illegible] नहीं इसीलिए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इतना हाथ [illegible] [illegible] परन्तु उन्होंने [illegible] की [illegible] से पीड़ित पुरुष के

इलाज तथा घर खर्च के लिये दे दिया। जाड़े मे गर्म कोट पहने घूमने निकलेगे, सड़क पर किसी नंगे वस्त्रहीन को देखकर अपनी पोशाक उतार कर देंगे, उसके झिझकने पर दो एक डाट भी लगा देंगे, खुद एक लुंगी और गाढ़े की वनियाइन पहने जाड़ा काट देंगे, ऐसा है इस देवदूत का निराला पौरुष, निराला व्यक्तित्व, निराला वेष, निराला स्वभाव।

काव्य सौष्ठव :—व्यक्तित्व के अनुरूप निराला जी की काव्य प्रतिभा भी हिन्दी साहित्य में सर्वथा निराली और मौलिक है। बंग संस्कृति में पलने से तदनुरूप सस्कृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था, स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारो का प्रभाव 'समन्वय' के सपादन काल में पड़ चुका था, इसी से उनकी रचनाओ मे वेदान्त तथा दर्शन की स्वस्थ छाप है। अद्वैतवाद के 'सोऽहम्' सिद्धान्त के निराला जी अनुयायी हैं :—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मै चचल गति सुर सरिता
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मै कान्ति कामिनी कविता
तुम प्रेम और मैं शान्ति

निराला जी का रहस्यवाद 'विराट सत्ता और शाश्वतज्योति' का पर्याय है। निराला जी की स्वच्छंदवादिता उसमें सोने मे सुहागे का सा काम करती है, उन्होंने अमूर्त चित्रण मे ही विशेष सफलता पाई है, उसमें एक मनोवैज्ञानिक पद्धति से समस्याओं को सुलझाने का हल है। तथ्य का तत्वान्वेषण है :—

शयन शिथिल बाहें, भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर वसन मुक्त कर दो
छूट छूट अलस, फैल जाने दो पीठ पर

कल्पना से कोमल, ऋजु कुटिल प्रसारकामी केश गुच्छ
तन मन थक जाय, मृदु सुरभि समीर मे, बुद्धि बुद्धि मे हो लीन
मन मे मन, जी मे जी, एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं मे।

कितना सुलझा और स्पष्ट चित्रण है जो आत्मा की असीम गहराई का

पता देता है। निराला जी के इस प्रकार के कितने ही स्वस्थ प्रौढ़ चित्र हिन्दी साहित्य के अनमोल रत्न हैं :—

तम के अमार्ज्य रे तार-तार, जो उन पर पड़ी प्रकाश धार
जग वीणा के स्वर के बहार रे जागो

× × ×

क्या हुआ कहाँ कुछ नहीं सुना, कवि ने निज मन भाव में गुना
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की
देखा सामने मूर्ति छल छल, नयनों में छलक रही अनपल
उपमिता न हुई समुच्य सकल तानों की

निराला जी का दर्शन 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त पर आश्रित है, वे प्रत्येक दृश्य पदार्थ का अवसान आनन्दमयी अवस्था मे देखने के आकांक्षी हैं। सच तो यह है कि उनका दर्शन मस्तिष्क मे चढ़कर बोलने के कारण कहीं कहीं दुर्बोध और क्लिष्ट बन गया है किन्तु इतना होते हुये भी वे हृदय से भक्ति और प्रेम का पल्ला नही छोड़ते। एक निस्सहाय भक्त के समान अपने भगवान को पुकार उठते हैं :—

डोलती नाव प्रखर है धार, सँभालो जीवन खेवनहार।

इस प्रकार निराला जी का रहस्यवाद परोक्षप्रियता तथा व्यक्तगोचर स्वरूप को समन्वयवादिता पर आधारित है। सत्तेप में यही उनकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि है।

भाव पक्ष :—निराला जी के भावो में एक प्रकार की ऐसी गरिमा है जो तदनुरूप वातावरण की सृष्टि कर देती है। यह कवि के निश्छल सात्विक देवोपम व्यक्तित्व के ही कारण संभव हो सका है। हिन्दी के अन्य धुरंधर कवियों ने पवित्र भावों की सृष्टि की है किन्तु ईमानदारी से न लिखे जाने पर उनके आभ्यंतर वहिरंतर मे बेमेलपन होने से कृत्रिमता आ गयी है किन्तु निराला की पवित्र साधना से वही गीत तपकर स्वर्णोपम हो गये हैं। निराला जी की अत्यंत लोकप्रिय भारती-वंदना देखिये :—

भारति, जय विजय करे, कनक शस्य कमल धरे।
लंका पदतल शतदल, गर्जितोर्मि सागर जल,

धोता शुचि चरण युगल स्तव कर बहु अर्थ भरे।
मुकुट शुभ्र हिम-तुषार, प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशायें उदार, शत मुख-शतरव मुखरे।

प्रस्तुत गीत मे धूप दीप नैवेद्य की सी सुरभित गरिमा है। जिसका जीवन ही अपने आराध्य के चरणों में विखरने को बना है।

भावनाओं मे तपी साधना निहित होने के कारण वह इतनी सजीव हो जाती है कि तदनुरूप चित्र हूबहू खिंच जाते हैं :—

दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह सध्या सुन्दरी परी सी, धीरे धीरे धीरे।
नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन नहीं।
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप चुप चुप"।
है गूँज रहा सब कही।

'वह तोड़ती पत्थर शीर्षक कविता में कवि ने उसकी उस कातर दृष्टि को देख लिया है। जो सब के लिए सम्भव नही। कितना करुणोत्पादक सजीव चित्र है—

उस भवन की ओर देखा, छिन्न तार, देखकर कोई नहीं
देखा मुझे उस दृष्टि से, जो मार खा रोई नही

कितने सरल भोले-भोले शब्दों में कवि पत्थर तोड़ने वाली का चित्रण करता है :—

श्याम तन, भर बँधा यौवन, नत नयन प्रिय कर्मरत मन।

'विधवा' शीर्षक कविता में मानो निराला जी की पुंजीभूत वेदना ही सिमट आयी है।

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शात भाव में लीन।
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन।
दलित भारत की ही विधवा है।

अपनी भरी जवानी में मरनेवाली पुत्री 'सरोज की स्मृति पर' लिखी गयी कविता में कितनी करुणा, कितनी घुटन है जो कि निराला जी के माध्यम से हिन्दी कलाकारों की ही अपनी दयनीयता है :—

धन्ये मै पिता निरर्थक था, कुछ भी तेरे हित न कर सका
जाना तो अर्थागमोपाय, पर रहा सदा सकुचित काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर, हारता रहा मैं स्वार्थ समर ।
सोचा है नत हो बार बार, यह हिन्दी का स्नेहोपहार
यह नहीं हार मेरी भास्वर ।

प्रकृति के क्रीड़ा विलास का निर्वाह करते हुये प्रतीक पद्धति पर लिखी गई 'जुही की कली' शीर्षक कविता कवि के उद्दाम यौवन और प्रगाढ़ रसिकता की द्योतक है :—

निर्दय उस नायक ने, निपट निठुराई की
कि झोकों की झड़ियों से, सुन्दर सुकुमार
देह सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल, चौंक पड़ी युवती

निराला जी की 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता शोषकों के प्रति शोषितों की खुली चुनौती है। कुकुरमुत्ता दीन हीन शोषित जनता का प्रतीक है और गुलाब अभिजात वर्ग का। प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में 'इस रूपक में परम्परागत भाषा, संगीत, उपमाएँ, शब्द चित्र आदि सब विलीन हो गये हैं और एक नयी कला का जन्म हुआ है, यह कला कुकुरमुत्ता के ही समान बंजर धरती की उपज है उसमें रूप रेखा आदि की कमी है। वह भावों की सुकुमारता से नही गुदगुदाती, वह पाठकों को सोचने के लिये विवश करती है। 'कुकुरमुत्ता' के समान उसकी एक सामाजिक उपादेयता है'। कुकुरमुत्ता की गुलाब के प्रति तीखी खुली चुनौती सुनिए : —

अबे सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू, रङ्गोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट

कितनों को तूने बनाया है गुलाम
माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा घाम
चाहिये तुझको सदा मेहरुन्निसा,
जो निकाले इत्ररू ऐसी दिशा

'बेला' निराला जी के नये गीतों का सग्रह है। इस सग्रह में कवि ने एक नयी दिशा की ओर कदम उठाया है। फारसी के छन्दशास्त्र पद्धति के अनुसार पृथक पृथक बहरों (छन्दो) मे गजलें लिखी हैं जो निहायत नफासत, फसाहत से ढकी एव पुरलुत्फ हैं। भाषा और अनूठे भावो की सादगी पर सौ सौ दोशीजा जवानियाँ झूम झूम कर कुरबान हो जाती हैं। मुलाहिजा फरमाइए :—

हँसी के तार होते हैं ये बहार के दिन, हृदय के हार होते हैं ये बहार के दिन
निगह रुकी कि केशरो की वेशिनी ने कहा, सुगंध भार के होते हैं ये बहार के दिन

× × ×

किनारा वह हमसे किये जा रहे हैं, दिखाने को दर्शन दिये जा रहे हैं
जुड़े थे सुहागिन के मोती के दाने, वही सूत तोड़े लिए जा रहे हैं

× × ×

स्नेह की रागिनी बजी, देह की सुर बहार पर।
वर विलासिनी सजी, प्रिय के अश्रु हार पर॥

कलापक्ष :—निराला जी की भाषा शुद्ध परिमार्जित एव संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली है, उस पर बंगाली का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भाषा मे उर्दू, फारसी एवं विदेशी शब्दों का भी मेल है जिससे भाषा मे कभी कभी एक विचित्र सजीवता एव निखार आ जाता है। कही कहीं भाषा बौद्धिक तत्वों से दबकर अत्यधिक दुर्बोध हो गयी है तो कही सीधी-सादी बोलचाल की भाषा के सहारे एक चित्र सा खड़ा हो गया है। भावों के उतार चढ़ाव के साथ भाषा में भी गति विनियम हुआ हैं। 'भिक्षुक' शीर्षक कविता देखिए :—

वह आता दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता

निराला जी की भाषा में एक प्रकार का निराला ओज है, एक दहाड़ है जो उनकी ही लौह लेखनी से निसृत होना संभव था। जन्मजात विद्रोही होने के कारण परम्परागत पथ पर न चल कर स्वच्छंद छन्दों को ही इन्होंने अपनी कविता का माध्यम बनाया। शैली में नाटकीय तत्वो का भी अभूतपूर्ण मिश्रण हुआ है। बड़ी बड़ी पदावलियों से युक्त उनकी शैली कहीं कहीं साधारण भावभूमि से बहुत ऊपर उठकर केवल मस्तिष्क की वस्तु बन जाती है। इनकी अलकार योजना भाव योजना की ही अनुवर्तिनी है। सागोपांगरूपक और उपमानों का निर्वाह करने मे निराला जी विशेष कुशल हैं।

छन्दो के क्षेत्र में मुक्त छन्द के प्रवर्तक निराला जी ही समझे जाते हैं। इनके मुक्तक छन्दों मे भाव स्वातंत्र्य की अपूर्व छटा दर्शनीय है। इस छन्द में मात्रा तथा वर्ण विधान का कोई बन्धन नहीं रहता। प्रत्येक पंक्ति अपने आप में पूर्ण रहती है। पन्तजी के शब्दों मे 'स्वच्छंद छन्द' ध्वनि अथवा लय पर चलता है।' निराला के सजीव छन्दों में शक्तिशाली ध्वनि बलिष्ठता मिलती है, विषयानुरूप एक चित्र सामने खड़ा हो जाता है :—

अरे वर्ष के हर्ष, बरस तू बरस बरस रसधार
पार ले चल तू मुझको, वहाँ दिखा मुझको भी निज
गर्जन भैरव संसार।

रचनाएँ :—अनामिका, परिमल, गीतिका, अपरा, बेला, नये पत्ते।

———

सुमित्रानन्दन पन्त

कवि-परिचय :—२१ मई सन् १६०० । प्राकृतिक सौन्दर्य का सुकुमार संस्करण अल्मोड़े जिले का 'कौसानी' ग्राम पत जी की जन्मभूमि । पिता का नाम प० गगादत्त था । बाल्यावस्था से ही पत जी प्रकृति-प्रेम एवं साधु-सेवी थे । उन्हीं के शब्दों में 'मैं शर्मीला और जन भीरु था, प्रकृति को एकटक निहारा करता था ।' १६१६ मे मैट्रिक पास करके १६२१ को म्योर सेन्ट्रल कालेज में भरती हो गए । किन्तु असहयोग आदोलन के प्रभाव में पड़कर एफ० ए० के अतिम वर्ष से सन्यास लेकर कविता के क्षेत्र में आए । १६२२ में उनकी प्रथम रचना 'उच्छ्वास' प्रकाशित हुई जिसके द्वारा हिन्दी में एक नए युग का सूत्रपात हुआ । इस प्रकार क्रमशः १६३०, ३५, ३६, ३७, से लेकर अब तक उनकी ग्रन्थि, पल्लव, गुञ्जन, युगात, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, मधु-ज्वाल, युग-पथ, उत्तरा वाणी आदि कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं । इस समय 'शून्य' नामक उपन्यास लिख रहे हैं ।

व्यक्तित्व :—

'कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु मे जीता सिसकता गान है ।
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं, मधुर लय का कही अवसान है ॥

आँसुओं से भी आर्द्र प्रस्तुत पक्तियाँ पन्त जी के कारुणिक व्यक्तित्व की साक्षी हैं ।

वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान ।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ॥

कविता कवि के व्यक्तित्व की ही पर्याय हैं, इस प्रकार पन्त जी हमें एक सीधे-सादे, निरीह, कृत्रिम वातावरण से बहुत दूर नैसर्गिक गुणों से ओत-प्रोत भावुक कवि के रूप में दिखाई पड़ते हैं :

घने रेशम से काले बाल, धरा है सिर मैंने पर देवि
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार

अपने दैनिक कार्यक्रमों में बहुत ही नियमित स्पष्ट एवं मितभाषी, स्वच्छ हृदय पन्त जी में हमें आधुनिक युग के एक ऋषि आत्मा के दर्शन होते हैं, कोई भी अपरिचित व्यक्ति उनके आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

काव्य सौष्ठव :—स्वयं कवि के शब्दों मे ही 'वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी न किसी रूप में वर्तमान है।' प्रकृति की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को संवेदनशीलता के साथ व्यक्त करने मे पन्त जी को विशेष सफलता मिली है। और उसी में उनकी कल्पना का सुन्दर प्रस्फुटन हो सका है। प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होने के नाते कवि सांसारिक यौवन के आकर्षण से मुग्ध नहीं होता :—

छोड़ द्रुमो की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बालजाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को

'वीणा' उनकी सर्वप्रथम कृति है, जो कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि से विशेष प्रभावित है। 'ग्रंथि' एक प्रेमप्रधान शोकान्त खड काव्य है जिसमें प्रेम की तीव्र अनुभूति का चरमतम विकास हुआ है। प्रेम के विषय मे कवि की अनुभूत्यात्मक भावपूर्ण उक्ति सुनिये :—

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की, जो अपागो से अधिक है देखता।
दूर होकर और बढ़ता है तथा, वारि पीकर पूछता है घर सदा॥

'वारि पीकर घर पूछना' में पन्त जी की एकान्त हिंदी निष्ठता परिलक्षित होती है। अपनी वस्तु अनजाने दूसरे के द्वारा अपना ली जाने पर एक प्रकार की विवशता और प्राणों में कसकने वाली वेदना होती है उसे कितनी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है :—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का ग्रंथि बन्धन हो गया वह नव कुसुम
मधुप सा मेरा हृदय लेकर किसी अन्य मानस का विभूषित हो गया

'पल्लव' में पहुँचते पहुँचते कवि की कविता अपने बाल सुलभ चांचल्य को छोड़कर प्रौढ़ता और गम्भीरता के कक्ष में प्रवेश करती है। पल्लव की रचनाओं में कल्पना और भावना की प्रधानता है। वीचि-विलास, विश्व वेणु

नक्षत्र, निर्झरगान आदि उनकी कल्पनाप्रधान कविताएँ हैं। मौन निमन्त्रण, छाया, बादल आदि में हमें पन्तजी की प्रौढ़ रहस्यात्मक भावना के दर्शन होते हैं। विवेकानन्द और रामानन्द के दार्शनिक विचारों के अध्ययन से कवि प्रकृति के सुख-स्वप्न के काल्पनिक नभ को छोड़कर चिन्तनशीलता एवं कर्मठता की ठोस भूमि पर उतरता है, वह अधिक दार्शनिक बन जाता है। ससार के नग्न सत्य का अनुभव करता है एवं संसार की परिवितनशीलता और असामयिक बज्राघात के प्रहार से क्षुब्ध हो निरुपाय अश्रुपात करता है :—

खुले भी न थे लाज के बोल, खिले भी चुम्बन शून्य कपोल
हाय रुक गया यही संसार, बना सिन्दूर अंगार
वातहत लतिका यह सुकुमार, पड़ी है छिन्नाधार

× × ×

मधुर बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अन्धकार अज्ञात

× × ×

खोलता इधर ज म लोचन, मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण
किसी को सोने के सुख साज, मिल गये यदि कुछ क्षण में आज
चुका लेता दुख कलही व्याज, कालको नहीं किसी की लाज

'पल्लव' के पश्चात् 'गुंजन' में पन्तजी की सौन्दर्यानुभूति एक नया मोड़ लेती है। उसमें अल्हडता के स्थान पर सयम एवं गम्भीरता आ जाती है। जिसे 'आत्मा का उन्मन गुंजन' कहा गया है। गुंजन की कविताओं मे एक दार्शनिक शृङ्खला का क्रमिक विकास है। गुंजन का कवि चिन्तनशीलता मे सुख और दुख दोनों के महत्व को समान स्वीकार करता है और दोनों के समन्वय में ही जीवन का बास्तविक सौन्दर्य देखता है :—

सुख दुख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरण।
फिर घन मे ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अतिदुख से, जग पीड़ित रे अति सुख से।
मानव जग में बँट जावे, दुख सुख से और सुख दुख से।

युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या उनकी कविताओं के उत्तरोत्तर विकास की मंजिल के सुदृढ़ मील के पत्थर हैं। जिसमें कवि मानवता और मानवमात्र की पूजा की ओर उन्मुख हुआ है :—

तुम मेरे मन के मानव, मेरे गानों के गाने
मेरे मानस के स्पंदन, प्राणों के चिर पहिचाने

'ताज के प्रति' शीर्षक कविता में मानवता के अभिशाप की ओर कवि की उक्ति कितनी विडम्बनापूर्ण है :—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन
जब विषण्य निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन
शव को हमें दें रूप रंग आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का

'मानव' शीर्षक कविता में वे स्वर्ग तक को उस पर न्यौछावर कर देते हैं :—

सुन्दर हैं विहँग सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

× × ×

न्यौछावर स्वर्ग इसी भूपर, देवता यही मानव शोभन।
अविराम प्रेम की बाहों में है मुक्ति यही जीवन बन्धन।

'युगवाणी' साम्यवाद एवं सौन्दर्य भावना की व्यापक अनुभूति से प्रभावित पन्त जी की प्रौढ़ रचना है। नारी जागरण के प्रति पन्त जी की विशेष आस्था है। विश्व के सौन्दर्य के प्रति कवि का विशेष मोह है :—

इस धरती के रोम रोम में, भरी सहज सुन्दरता।
इसके रज को छू अकाश, बन मधुर विनम्र निखरता।

'ग्राम्या' में कवि ने ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं पर सूक्ष्मता के साथ विचार किया है किन्तु काल्पनिक होने के कारण उनमें कृत्रिमता आ गयी है। कवि ने ग्रामीण जीवन की रंगीनी के चित्र खींचे हैं :—

उन्मद यौवन से उभर, घटा सी नव असाढ़ की सुन्दर।
खिसकाती लट, शरमाती झट, वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युगघट।

अपनी उत्तरकालीन कविताओं में पन्त जी स्वप्न नीड़ का आसरा छोड़ लोक कल्याण की मगलमयी भावना से प्रभावित होकर जन जन की मगल कामना करते हुये दृष्टिगत होते हैं।

अपनी प्रतिभा को भी जन कल्याण की भावना मे परिवर्तित करने का प्रयत्न है। अपनी वाणी को मानव मात्र के प्रति प्रेम की सहज अनुभूति मे व्यक्त करने को विवश होते हैं।

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द
ज्योतितकर जन मन के जीवन का अन्धकार
तुम खोल सको, मानव उर के निःशब्द द्वार
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हे क्या अलंकार

कला पक्ष :—पन्त जी की भाषा कोमल कान्त पदावलियों से अलंकृत माधुर्य गुण से ओत-प्रोत एवं संगीत की रसात्मक स्वर-लहरी से स्निग्ध है। खड़ी बोली की सरसता, कोमलता, मधुरता का सहज दान देकर उसको हर प्रकार से भावबोध कराने के योग्य बनाया है। उनकी भाषा मे सस्कृतगर्भित गरिमा होने पर भी कर्कशता और अबोधता नही आने पायी। शब्द चयन और शब्द चित्र उपस्थित करने में पन्त जी ने स्वाभाविकता और कलात्मकता का प्रौढ़ परिचय दिया है। कहीं कहीं व्याकरण के नियमों का भी तिरस्कार किया गया है किन्तु वह भी भाषा मे प्रवाह और स्वाभाविकता लाने के लिए, इस-लिए वह दोष क्षम्य है। पन्त जी की पद योजना पर अंग्रेजी, बंगला और सस्कृत की पद योजना का विशेष प्रभाव पड़ा है। भाषा के साथ ही साथ पन्त जी की रस योजना भी अत्यन्त रसवती बन पड़ी है। शृंगार के संयोग वियोग पक्षों को समान रूप से सफलता के साथ अभिव्यक्त करने में पन्त जी ने विशेष कुशलता दिखलाई है। लाक्षणिक वैचित्र्य, अनुपम शब्द-सौष्टव एव विशेषण विपर्यय पन्त जी की भाषागत विशेषता है। पन्त जी की अभिव्यंजनशीलता मे अंग्रेजी का विशेष प्रभाव है। चित्रमयी भाषा लिखने का पन्त जी को बेहद शौक है। मर्म पीड़ा के हास, धूल की ढेरी, मधुमयगान, मधुर दाह, स्वरमयी वेदनाआदि शब्दावली अंग्रेजी शब्दावलियों के समानान्तर है। पन्त जी की चित्रमयी भाषा में एक अनुपम माधुर्य और ध्वनि-बलिष्ठता है।

मारुत ने जिसकी अलकों में, चंचल चुम्बन उलझाया।
अन्धकार का अलसित अंचल, अब द्रुत ओढ़ेगा संसार।
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार।

अलंकार :—पन्त जी की अलंकार योजना अत्यन्त स्वाभाविक है। उनका अलंकार प्रयोग भावाभिव्यक्ति का माध्यम बन कर ही मुखरित हुआ है। कवि ने अपनी कविताओं में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उत्प्रेक्षा आदि का विशेष प्रयोग किया है। उपमा अलंकार का प्रयोग कितना प्रशंसनीय है जिसमें मौलिकता के साथ साथ सहज सुकुमारता भी है :—

बाल रजनी सी अलक थी डोलती, भ्रमित सी शशि के वदन के बीच में
अचल रेखाकित अभी थी कर रही, प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में

छन्द योजना : –पन्त जी की छन्द योजना मे एक वेग है, एक प्रवाह है, एक गति है। यदि एक ओर उद्दाम यौवन का धुँवाधार चढ़ाव है तो दूसरी ओर समय और शालीनता का उत्तरदायी उतार भी। छन्द योजना मे संगीत तत्व की प्रधानता है। लय का आग्रह है। पन्त जी ने रूपमाला, रोला आदि के अनुकरण पर मात्रिक छन्दो में ही अपने भावों को व्यक्त किया है। छन्द योजना पर अंग्रेजी छन्दो का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। पन्त जी ने खड़ी बोली को सुन्दरतम, कोमलतम एवं सरसतम स्वर देकर शिवत्व की स्पृहणीय मैत्री निभाई है। 'मैं सृष्टि एक रच रहा नवल' के अनुसार उन्होंने भाषा की एक नवीन सृष्टि का ही निर्माण किया है।

निस्संदेह पन्त जी का स्थान आधुनिक कवियों में सर्वोच्च है।

———

महादेवी वर्मा

कवियित्री-परिचय :—जन्म संवत् १६४६ फर्रुखाबाद में हुआ। इनके माता-पिता संस्कृति सम्पन्न एव आचार-निष्ठा वाले विशुद्ध भारतीय थे। फलस्वरूप प्रारभिक संस्कार सास्कृतिक साँचे मे ढले। इनकी माँ मीराँ के पदों का गान बड़ी ही भक्तिपूर्ण मधुर स्वरलहरी मे किया करती थीं जिससे प्रेरणा पाकर आपमे काव्याकुर प्रस्फुटित हुआ। 'पद्मविभूषण' प्राप्त देवी जी इस समय प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या के पद पर हैं। देश की प्रमुख समाज सेविका एवं सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यों में योग देने वाली जाग्रतशील महिलाओ मे आप वरेण्य हैं। इसके साथ ही आप राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत पार्लियामेन्ट की माननीया सदस्या भी हैं।

व्यक्तित्व :—

(१) तुझमें हो तो आज तुम्ही मैं बन दुख की घड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत बिखरी पंखुरियाँ देखो ॥

(२) मैं नीर भरी दुख की बदली।
मेरा परिचय इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली ॥

रचनाएँ : - (१) नीहार (२) रश्मि (३) नीराज (४) साध्यगीत [यामा]।

काव्य-सौष्ठव :—आपने हृदय के सूक्ष्मतम कोमल भावों को कोमल सरस एवं मधुर शब्दों में बड़ी सफलता के साथ व्यक्त किया है। नीहार, रश्मि, नीरजा एव साध्यगीत इनकी काव्य-यात्रा के चरण चिन्ह हैं। कविता का विकास क्रमशः नीहार के अंधकारमिश्रित झिलमिल उदय से होकर रश्मि एव नीरजा में प्रौढता पाकर साध्यगीत मे पूर्ण परिणति पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है। इस समय देवीजी ऋगवेद की ऋचाओं का हिन्दी भावानुवाद कर रही हैं। ऋग्वेद के उषासूक्त का भावानुवाद करने में देवी जी के जीवन की सम्पूर्ण सात्विक साधना सिमट आई है :—

दिवजाता शुभ्राम्बर-विलसित, नूतन आभा से आभासित,
भू सुषमा की एक स्वामिनी, शोभन अलोकित विहान दे !
अरुण किरण के वाजिचन्द्ररथ, ले करती जो पार क्रांति पथ,
निशि तम-हारिणि यह विभावरी, हमें यजन गौरव महान दे !
दिन दिन नव छवि में आ आकर, गृह गृह मे आलोक बिछाकर,
ज्योतिष्मती प्रात की वेला, ऐश्वर्यों में श्रेष्ठ दान दे !
जागे द्विपद चतुष्पद आकुल, दिग्दिगन्तचारी पुलकाकुल,
जिसका आगम देख उषा वह, कर्मपन्थ सबको सभान दे !

'नीहार' में देवीजी की काव्य-प्रतिभा की रूप रेखा का निर्माण होता है। एक अव्यक्त पीडा से आप की छन्द योजना सिहर रही है। भावना की गहराई मन को झकझोर देने की शक्ति रखती है किन्तु कवियित्री का गान किसी निश्चित उद्देश्य के लिये नहीं है। स्वयं कवियित्री ने इसे स्वीकार किया है। 'नीहार' के रचना काल में मेरी अनुभूतियो में वैसी कौतूहलमिश्रित वेदना उमड़ आती थी जैसी बालक के मन मे दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाता है। 'रश्मि' को उस समय आकार मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक चिन्तन प्रिय था। परन्तु 'नीरजा' और 'साध्यगीत' मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सके जिसमे अनायास ही मेरा हृदय सुख दुख मे सामंजस्य का अनुभव करने लगा।' 'रश्मि' मे कवियित्री की वेदना कदाचित् चिंतनशील होने के कारण स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होती है। पीड़ा आत्म-प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है एवं कवियित्री की दृष्टि वहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। भावों मे एक प्रकार की उदात्त भावना आ जाती है। 'नीहार' का धुँधलापन मिटने लगता है, सवेदना दृष्टि व्यापक हो जाती है, आत्मेतर सुख दुख भी उनकी आत्मीयता में आ जाती है। वे 'पर' को 'स्व' मे बदल देती हैं। अभाव में सुख खोजने लगती हैं और वह असीम सुख विराट से नैकट्य स्थापित करने मे विशेष सुख मानता है। देवीजी ने कबीर की आध्यात्मिक भावना को मीराँ की सुमधुर संगीतपूर्ण भाषा में व्यक्त करने का सराहनीय प्रयास किया है। वे कण कण में, अणु-परमाणु में उस विराट की झाँकी देखती हैं। 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' तक पहुँचते पहुँचते देवी जी का हृदय

सुख दुख में सहज सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। 'साध्यगीत' में भावुक मन प्रणय के गंभीर गीत गाता हुआ जाग उठता है और दिवस अवसान की आकांक्षा धीमी न होकर प्रखर वेग से गतिशील हो उठती है। प्रियतम को रिझाने के लिए वे शृंगार सजाने का उपक्रम करने लगती हैं। 'शशि के दर्पण में देख देख' मे यही भावना है किन्तु फिर भी 'क्यों वह प्रिय आता पार नहीं, की खीझ के अनन्तर 'रे पपीहे पी कहाँ' में बोध जाग्रत होता है। आराधना के पश्चात् आराध्य की कोटि मे पहुँचकर वे स्वय तदाकार हो जाती हैं :—

> हो गई आराध्य मैं चिर विरह की आराधना ले
> विरह का युग आज दीखा, मिलन के लघु पल सरीखा
> दुख सुख मे कौन तीखा, मै न जानी औ न सीखा
> मधुर मुझको हो गये सब, मधुर प्रिय की भावना ले

प्रसाद जी एव देवी जी की काव्य-प्रतिभा पर तुलनात्मक प्रकाश डालते हुये आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि उनकी 'कविताओं मे प्रसाद की भाँति ही एक प्रकार का सकोच है। वे भी प्रतीकों के माध्यम से और सतर्क लाक्षणिकता के सहारे अपने भावावेगो को दबाती हैं। लाक्षणिक-वक्रता और मनोवृत्तियो की मूर्त योजना मे ये प्रसाद के समान ही हैं। फिर भी प्रसाद की वक्रता में जितनी स्पष्टता है उतनी उनकी आरभिक रचनाओं मे नहीं है। प्रसाद जी आरभ से ही कुछ बुद्धि-वृत्ति के हैं, वे रूपक को दूर तक घसीट और सँभाल ले जाने की क्षमता रखते हैं। महादेवी प्रारंभ से ही अत्यधिक सवेदनशील हैं, उनमे अनुभूति की तीव्रता प्रसाद से अधिक है इसीलिये वे प्रसाद जी के समान लम्बे रूपको का निर्वाह नही कर पातीं। वे पूर्ण रूप से गीति-काव्यात्मक प्रवृत्ति की हैं। बहुत जल्दी उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लिया। महादेवी जी की कविताओं मे 'चिरंतन' और 'असीम' प्रिय अत्यन्त कोमल मोहक और उत्सुक प्रणयी के रूप में चित्रित हुआ है। यहाँ सारी प्रकृति उसकी प्रतीक्षा मे सजग और उत्सुक दिखाई पड़ती है। महादेवी की यह रहस्यवादी भावना सम्पूर्ण रूप से वैयक्तिक है।... व्यक्तिगत अनुभूतियों की तीव्रता और मर्मस्पर्शिता मे महादेवी जी की रचनाएँ अपूर्व हैं। वे पाठक के चित्त मे वेदना की अनुभूति भरती हैं और खोई हुई

वस्तु के मिल जाने की आशा से उत्पन्न होने वाले उल्लास का वातावरण उत्पन्न करती हैं। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी महादेवी जी के काव्य मे किसी 'मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन' मानते हैं जिसका आधार तो पार्थिव है किन्तु स्वरूप अपार्थिव। वे दार्शनिक दृष्टि से मीराँ और महादेवी को एक ही पथ के पथिक मानते हैं। कल्पनाधिक्य से उनके काव्य में एक प्रकार की रहस्यात्मकता निरंतर बनी रहती है। 'महादेवी जी की कवितायें इतनी अंतर्मुख हैं कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पंदनों, उनकी ध्वनियो और संकेतों से सुपरिचित नहीं, और दूसरा यह कि वे काव्य के एक एक बन्ध को एक एक चित्र के रूप मे सजाना चाहती हैं। जिसमे वस्तुओ और व्यापारों की योजना सश्लिष्ट हुआ करती है और चूँकि वे मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तु व्यापारो के द्वारा ध्वनित करना चाहती हैं इस लिये यह कार्य उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है। महादेवी जी की शक्ति भावना के विश्लेषण मे है, प्राकृतिक रूपो और उपमानों द्वारा उसे व्यंजित करने मे नहीं। वाह्य निरपेक्षता और अंतरङ्गता जो महादेवी जी में एक सीमा तक बढ़ी हुई है, उनकी काव्यशक्ति को परिपूर्ण विकास नहीं दे रही है।' इसके अतिरिक्त देवी जी की कविताओं मे नारी सुलभ सात्विकता एवं शालीनता सवत्र प्राप्य है। उनकी वेदना में उत्तरोत्तर परिष्कार एवं नूतन सौंदर्य मिलता है। अज्ञात के प्रति अनुराग की भावना होने के कारण प्रणय में सूक्ष्मतम ऐन्द्रिकता जो अतीन्द्रियता का पर्याय बनकर व्यक्त हुई है, मिलती है।

वेदना महादेवी जी की आत्मा का अंग बन गयी है इसका कारण उन्हें जीवन में बहुत प्यार और दुलार का मिलना था। पार्थिव दुःख की छाया के पड़ने पर वह और भी गंभीर होता चला गया। उन्होने स्वयं लिखा है—दुःखी मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो संसार को एक सूत्र मे बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँच सके, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।, इसी के समानन्तर डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि महादेवी जी का एकाकी जीवन उनके काव्य में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। किसी अभाव ने ही उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है, सुख और दुलार के आधिक्य ने नहीं। अतिशय सुख और

दुलार की प्रतिक्रिया से उत्पन्न दुःख का आकर्षण यामा और दीपशिखा की सृष्टि नहीं कर सकता। परन्तु इस अतृप्ति को स्थूल शारीरिक अर्थ ग्रहण करना महादेवी जी के संस्कृत एवं संयत व्यक्तित्व के प्रति अपराध होगा, क्योंकि और नहीं तो स्वभाव से ही पुरुष और स्त्री कवियों के लिखे हुये प्रणय-गीतों में उनकी प्रकृति के अनुसार अन्तर मिलना अनिवार्य है। पुरुष कवि का प्रणय निवेदन अधिक व्यक्त, अतएव ऐन्द्रिक एव रूमानी होगा। स्त्री का प्रणय निवेदन संयत, अतएव गार्हस्थिक होगा। पुरुष में रोमास की उन्मुक्तता होगी, नारी में स्थायित्व का बन्धन। "महादेवी का प्रेम चेतना की उस महत्वाकाक्षा का प्रतीक है, जहाँ व्यक्ति चेतना अपने को सर्वात्म चेतना के समकक्ष रखने को उत्सुक रहती है क्योंकि प्रेम की सफलता, निष्ठा और चरम परिणति पूर्णतामय अद्वैतभाव मे ही होती है।...महादेवी जी की आत्मा किसी दार्शनिक ब्रह्म मे विलीन होकर अपना अस्तित्व अन्य रहस्यवादियों की भाँति विसर्जित नहीं करना चाहती, वरन् उसका लक्ष्य जीवन के शत शत बन्धनो को स्वीकार करते हुये अपनी स्थिति को इतना व्यापक एवं विराट बना देता है कि स्वयं उसमे उस ब्रह्म की विराटता का आरोप हो सके। यही महा-देवी के रहस्यवाद की सबसे अलग विशेषता है। यदि ऐसा न होता तो विश्व के प्रति महादेवी का अनुपम अनुराग तथा इससे कण-कण के प्रति उनकी ममता की कोई आवश्यकता ही न होती।"

भाषा शैली :—देवी जी की भाषा मे संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। भाषा परिष्कृत, परिमार्जित, सुश्लिष्ट एव मधुर है। इनकी भाषा में खड़ी बोली का सुकुमारतम स्वरूप दिखाई पड़ता है। सस्कृत की कोमलकात पदावली का पुट सर्वत्र मिलता है। सयुक्ताक्षर एव कर्ण कटु शब्दों का नितान्त अभाव है, ध्वनि से ओत-प्रोत सगीतपूर्ण भाषा लिखने मे ये सिद्धहस्त हैं। 'मधुर मधुर मेरे दीपक जल' नामक गीत इसका साक्षी है। कुशल शब्द-शिल्पी के साथ साथ चित्रकर्त्री होने के नाते भाषा में सहज चित्रमयता आ गयी है। इन्होंने अनेक व्याकरण-असम्मत प्रयोग भी किये हैं। जैसे 'तुम बिन उन बिन' किन्तु वे अप्रिय न होकर सार्थक और सुन्दर बन पड़े हैं।

साहित्य और समाज

(साहित्य समाज का दर्पण है)

समाज एव साहित्य के अविच्छिन्न सम्बन्ध को सम्यक् रूप से जानने के लिए विश्लेषणात्मक रूप से दोनों को जानना आवश्यक है। साहित्य के विभिन्न मनीषियों एव विचारकों ने साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। द्विवेदी जी के शब्दों में, 'ज्ञानराशि के संचित कोष का नाम साहित्य है।" डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार—"सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है, उसी के सचित भंडार का नाम साहित्य है।"

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, "मार्च आफ लिटरेचर" मे आचार्य फार्ड मेडक्स साहित्य के विषय मे इस प्रकार विचार प्रकट करते हैं :—

"साहित्य पुस्तकों की वह समष्टि है, जिसे मनुष्य आनन्द की प्राप्ति के लिए अथवा सस्कृति के उपलाभ के लिये पढ़ते और पढ़ाते चले जाते हैं। साहित्य का विशेष गुण यह है कि उसकी उत्पत्ति कवि के कल्पनापूर्ण निरीक्षण हृदय से होती है।"

समाज व्यक्ति की समष्टि है। विभिन्न प्रकार के व्यक्ति जब संगठित रूप से विचार विनिमय करते हैं, व्यावहारिक रूप से जीवनचर्या के लिए वस्तु विनिमय करते हैं तभी एक समाज का प्रारम्भ होता है। शब्दान्तर मे समाज व्यक्तियो का समूह है जहाँ एक दूसरे से व्यावहारिक सम्बन्ध निरन्तर चलता रहता है।

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्रत्येक युग का श्रेष्ठ साहित्य अपने युग के प्रगतिशील विचार द्वारा किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रभावित होता है। साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्य में उस युग की वाणी स्पष्ट सुनी जा सकती है। साहित्य उत्तमोत्तम विचार का समूह है और इन विचारों की आधार-भूमि समाज है। अतएव समाज एवं साहित्य में परस्पर

अविच्छिन्न सम्बन्ध है। समाज, राष्ट्र एव युग की उपेक्षा करके साहित्य चिर-काल तक जी ही नही सकता और न उसके द्वारा सामाजिक हित एवं उन्नति हो सकती है। फलस्वरूप वह साहित्य निरुपयोगी हो जाता है। समाज एवं साहित्य के अविच्छिन्न सम्बन्ध को समझने के लिए द्विवेदी जी के शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं :

"जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक सगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनीतिक स्थितियो का, सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता या असभ्यता का निर्णायक, एक-मात्र साहित्य ही है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य रूपी आइने मे ही। इस आइने के सामने जाते ही हमें तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवन-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी।"

साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि कहा जाता है। वह समाज के भावों को व्यक्त करके उन्हें शक्तिशाली बनाता है। इस प्रकार कवि की रचना सामाजिक भावो की मूर्ति बनकर समाज का प्रतिनिधित्व करने लगती है। अरब के मरुस्थल एवं खजूर के वृक्षों के बीच रहने वाला साहित्यकार अपनी प्रेमिका के गर्दन की उपमा सुराही के समान और उसकी चाल की उपमा ऊँट की चाल की भाँति देता है। तात्पर्य यह कि साहित्यकार के आस-पास के वायु-मण्डल मे अर्थात् समाज मे जिस प्रकार के भाव होते हैं, जिस प्रकार की परि-स्थिति होती है उसी का प्रभाव उस पर पड़ता है। उसकी रचनाओ मे युग की छाप प्रत्यक्ष होती है। वीरगाथा काल मे जब कि चतुर्दिक वीरता का ही बोल-बाला था, कवि वीर काव्यों की ही रचना करते थे। उनकी रचनाये वीरता की कथाओं से ओत-प्रोत होती थीं। भक्तिकाल की रचनाओ मे भक्ति भावना ही प्रबल थी। रीतिकाल की रचनायें नायिकाओं के शृंगार वर्णन से ही ओत-प्रोत हैं। आधुनिक काल के प्रारम्भ में क्रमशः स्वातन्त्र्य प्राप्ति की अदम्य आकांक्षा अनर्थक प्रयत्न करने पर भी सफलता की किरणें न दिखाई ५

पलायनवादी प्रवृत्ति, सर्वहारा वर्ग का शोषकों के प्रति विद्रोह आदि भारतेन्दु-कालीन कविताओं एवं छायावाद तथा प्रगतिवाद की कविताओं में स्पष्ट रूप से उभर आया है, इन सबका समष्टि मे हम यही अर्थ निकाल सकते हैं कि युग अथवा समाज की विचारधारा जैसी होगी ठीक वैसे ही साहित्य का निर्माण होगा। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र जी ने साहित्य और समाज की अविच्छिन्नता पर विचार प्रगट करते हुये लिखा है :—

"जो समाज के प्रति विद्रोही है, समाज की नीति धर्म की मर्यादाओं की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य सृजन के लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिए जाते हैं। वे लोग जो विश्व के साहित्याकाश में द्युतिमान नक्षत्रों की भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भ में तिरस्कृत रहे, पर अन्त मे उसी समाज द्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकास में समाज की लाछना की वैसे ही परवाह नहीं की, जैसे समाज के गौरव की। उनके कल्पनाशील हृदय ने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस वे उसी की ओर सीधी रेखा में बढ़ते रहे। यह समाज का काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियों ने अपना काम इतना ही रखा कि जो अपने भीतर अद्भुत लौ उन्होंने जलती हुई पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें। समाज ने उन्हें आरम्भ में दरिद्र रखा, अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनाये तक दीं, हँसी उड़ाई—यह सभी कुछ ठीक। जो कल्याण मार्ग उन्होंने थामा, उसी पर वे लोग सबके प्रति आशीर्वाद से भरे ऐसे अविचल भाव से चलते रहे कि समाज को दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सत्शक्ति है, जब कि समाज की अपनी मान्यताओं मे सुधार की आवश्यकता है।"

"साहित्य के अमर स्रष्टा के रूप में इस भाँति हम देखते हैं कि वे ही लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपने को अपनी राह पर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिनें। जैसा भी कुछ

वे थे उसी रूप मे उन्होंने समाज के सामने अपने को प्रगट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महत् पुरुष भी गिनता हो लेकिन चूंकि समाज की नीति धारणा बहुत धीमी चाल से विकसित होती है, इसलिए समाज को बरबस उन्हें दुश्चरित्र और दुःशील मानना पड़ा है। उनकी महत्ता के प्रकाश मे निस्सन्देह समाजसम्मत धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है फिर भी वे सहसा इतनी विकसित नही हो सकती कि हर प्रकार की महत्ता उनकी परिभाषा मे बँध जाय यही कारण है कि आज जिस ईसा को दो-तिहाई दुनिया ईश्वर के तुल्य मानती है, उसी को शूली चढ़ाये बिना भी दुनिया से नहीं रहा जा सका। ईसा का दुनिया से क्या सम्बन्ध था? वह त्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था। दुनिया ने उसके साथ क्या सम्बन्ध बनाया? उसे फाँसी दी और इस तरह अपनी व्यवस्था निष्कंटक की और अब दुनिया ने उसके साथ क्या सम्बन्ध बना रखा है दुनिया कहती है, वह प्रभु था, अवतार था।"

साहित्य समाज से ही प्रभावित रहता है। यही नही दूसरी ओर उसका विलोम भी है। समाज भी साहित्य से ही प्रभावित होता है। यही तो मानी हुई बात है कि साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। समाजगत विचारों से वह प्रभावित होता है और अपने पर पड़े हुए प्रभाव से अपनी अद्भुत कल्पना का सामंजस्य करके एक रोमाचकारी लहर पैदा कर देता है। जब साहित्य में वह लहर समाज के बीच आती है तब नव-उत्थान की भावना एव नव-विचार जन-जन के हृदय-पटल पर छा जाते हैं। तुलसी-साहित्य ने राम की असीम उदारता, अकारण कृपालुता, भक्तवत्सलता से परिचित कराया। समाज का प्रत्येक प्राणी दुःख में, विवाह में, शोक मे, सम्पत्ति मे, विपत्ति मे, प्रत्येक स्थिति मे राम को अपने समक्ष पाकर स्वयं को धन्य समझने लगा। यह साहित्य का ही तो प्रभाव समाज पर पड़ा। लोक-विहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिए, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से स्थापित करने के लिए उन्होंने रामचरित का आश्रय लिया। जिसके बल पर लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुए।

अन्ततोगत्वा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज से साहित्य प्रभावित होता है और साहित्य से समाज। दूसरे शब्दों मे साहित्य और समाज में

अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है किन्तु जहाँ समाज का प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य पर पड़ना अवश्यम्भावी है, वहाँ साहित्य का समाज पर उतना नहीं, इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण है।

काव्य और मानव जीवन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा देते हुये लिखा है कि जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ज्ञान दशा है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था का नाम रस दशा है, इसी रस दशा की प्राप्ति के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसी का नाम कविता है। कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है। जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए को कुछ काल तक के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता मे लीन किये रहता है, उसकी अनुभूति सब की अनुभूति होती या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।'

काव्य के माध्यम से मानव युगों-युगों से जगत के नाना रूपों के साथ तादात्म्य का अनुभव करता चला आया है। मानव की अनुभूतियों के संग्रहीत रूप का ही नाम काव्य है। वर्सफील्ड ने इसी सृष्टि को सामने रखकर काव्य अथवा साहित्य को मानव-समाज का मस्तिष्क माना है। काव्य मानव-समाज के उत्थान-पतन का साक्षी है। उसकी सभ्यता और संस्कृति का निर्देशक है। उसके मन एवं प्राण का सर्वस्व है।

कविता और मानव जीवन का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। मैथ्यू आर्नल्ड ने तो कविता को जीवन की आलोचना के रूप मे स्वीकार किया है। उन्होंने

स्पष्ट कहा है कि कवि का महत्व इसी में है कि वह अपने विचारों को जीवन और जीवन-यापन के प्रश्न पर लगाये, नीति का विरोध करने वाली कविता जीवन का विरोध करती है, नीति के प्रति उपेक्षित कविता जीवन से दूर भागने वाली पलायनवादी कविता है।' साकेतकार ने कला के महत्व एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि :—

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ

उपयोगितावाद इस युग की सबसे बड़ी माँग है। जगत एव जीवन की जटिल समस्याओं से विमुख कला को लक्ष्य करके गुप्त जी ने लिखा है कि : —

मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही

मावन जीवन मे भौतिकवादिता को प्रधानता देने का अर्थ यह है कि शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाले काव्य के स्वरूप की उपेक्षा की जाने लगी। यदि ध्यान से मावन जीवन की उत्थान-पतन की पिछली घड़ियाँ गिनी जाये तो स्पष्ट पता चलेगा कि जिस काय को सहस्रों उपदेशक करने में असमर्थ रहें उसको सहज ही मे काव्य ने अपनी प्रतिभा से कर दिखाया। दिल्ली के नादिरशाही रक्तपात को रोकने का साहस 'कशे न मॉद कि दीगर बतेगे नाजकुशी' ने ही किया था। तुलसी की रामायण ने निराश एव निस्सहाय तथा जीवन-सग्राम से दूर भागती हुई जनता को िस प्रकार शक्तिशील सौन्दर्य की सजीवनी पिला कर कर्मयोगी बनाया एव जीवन के प्रति आस्था प्रदान की। कोई भी हिन्दू अपना सर्वस्व छोड़ने को प्रस्तुत हो जायेगा किन्तु यदि आप उसे रामायण छोड़ने को बाध्य करे तो वह िसी भी कीमत में तैयार न होगा।

मावन-जीवन का सभ्यता के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। संस्कृति सभ्यता की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। इसी सभ्यता एव सस्कृति का सुरुचिपूर्ण परिष्कार करना साहित्य का एक मात्र कर्त्तव्य है।

संघर्षों की अविचलित परम्परा का नाम ही जीवन है। इस जीवन-रूपी पौधे को हरा-भरा रखने वाला एवं संजीवनी शक्ति प्रदान करने वाला एकमात्र साहित्य ही है। यदि मानव जीवन से काव्यजन्य मधुरता खींच ली जाये तो वहाँ मरु की नीरसता के सिवा क्या बचेगा, इसीलिए कहा गया है कि :—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्,
भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

विज्ञान इस युग का सबसे बड़ा वरदान है किन्तु हमने अपनी दूषित साधना से इस वरदान को अभिशाप में बदल लिया है। हम अपने कमरे मे लेटे लेटे सात समुद्र पार लंदन के घन्टेघर की आवाज़ तो रेडियो से सुन सकते हैं या सुनते हैं किन्तु हमारे कानों को हमारे पड़ोसी की आह-कराह नही सुनाई पड़ती। विज्ञान की कृपा से हम आकाश के सितारों की दूरी नाप सकते हैं, पानी में मछलियों की भाँति जल-क्रीड़ा कर सकते हैं किन्तु धरती पर चलना हमें भूल गया है।

यह मनुज जो ज्ञान का आगार, यह मनुज जो सृष्टि का शृंगार।
वह अभी पशु है निरा पशु हिंस रक्त पिपासु,
बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु
यह मनुज ज्ञानी शृगालों कुक्करों से हीन
हो, किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन
देह ही लड़ती नहीं है जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंश मे इसके कला विज्ञान
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल। (कुरुक्षेत्र: दिनकर जी)

विज्ञान मनुष्य को केवल भौतिक प्राणी समझता है यही कारण है कि वह अपना सर्वस्वदान करके भी मनुष्य को सुखी नहीं बना पाया। काव्य मनुष्य की आध्यात्मिक साधना को ऊर्जस्वित करता है। इसी से प्राणी उसकी छाया में जाकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। काव्य समाज को

जीवनदान देकर नवजीवन का संचार करता है। वह हमें असद् की ओर न ले जाकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख करता है। मनोरंजन के साथ साथ हमे मानसिक स्वास्थ्य एवं सन्तोष प्रदान करता है।

साहित्य समाज का दर्पण है। समाज के बनाने बिगाड़ने मे साहित्य का प्रमुख हाथ रहता है। लोककल्याण की भावना से प्रेरित हो स्वान्तः सुखाय तुलसीदास जी ने रामायण की रचना की थी किन्तु साथ ही वे इसकी उपयोगिता को भूले नहीं थे :—

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीटि तरुनी तनु पाई। लहहि सकल शोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

दिनकर जी ने भी कहा है कि—

'धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा, कब जलेगा विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त,
हो, सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण ?

एक मात्र साहित्य या कविता ही इस महान् कर्तव्य एवं यज्ञ को पूर्ण कर सकने की सामर्थ्य रखती है। उसी के आलोक एवं अमृत की धार से जली सूखी रसा के प्राण पुनः जीवन पाते हैं।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

'सत्य शिवं सुन्दरम्' का आदर्श-वाक्य हमारी भारतीय संस्कृति की आधार शिला से अत्यधिक मेल खाने के कारण हमारे घर की वस्तु बन गया है, इसमें किसी प्रकार की विदेशी महक नहीं आती। इन शब्दों की आत्मा में ब्रह्म या उपनिषद वाक्य की सी गरिमा निहित है। किन्तु वस्तुतः यह यूनानी दर्शन शास्त्री अरस्तू के 'The True, the Good, The Beautiful' का अनुवाद मात्र है।

भारतवर्ष की अध्यात्मिक मनीषा के लिए यह विचार कोई नवीनता लेकर नहीं आया। हमारे यहाँ तीन तत्व माने गये हैं :—

सत् तत्व (प्रकृति)
चित् तत्त्र (जीव)
आनन्द तत्व (ब्रह्म)

इन तीनों के योग से 'सच्चिदानन्द' का प्रादुर्भाव होता है जो ब्रह्म का पर्याय है। प्रकृति, चित् और आनन्द तत्व से शून्य होने के कारण अपूर्ण हैं इसी प्रकार जीव मे आनन्द तत्व का अभाव है। आनन्द-तत्व को पाने के लिए ही जीव महती साधना करता है और उसको पाकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म ही आनन्द है या यों कह लीजिए कि आनन्द ही ब्रह्म है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं।

शिवं और सुन्दरंम् का भाव हमें किरातार्जुनीयम् आदि ग्रन्थों मे प्राप्त होता है :—

हित मनोहारि च दुर्लभं वचः (भारवि)

गीता मे भी भगवान कृष्ण ने वाणी के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सत्यं, प्रियं और हितं इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है :—'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्य प्रियहितं च यत्।' इन तीन शब्दों में सत्यं शिव सुन्दरम् का स्वरूप

विद्यमान है। हितं शिव का पर्याय है और प्रिय सुन्दरम् के लिए प्रयुक्त हुआ है।

हित की भावना से साहित्य का जन्म होता है। उस साहित्य या काव्य मे जो रस या आनन्द रहता है वह सुन्दरम् का रूपान्तर है। सौन्दर्य ही सब का आधारफलक है किन्तु वह सौन्दर्य वाह्य चमक-दमक का द्योतक नही है। सुन्दर वही है जो अपने आन्तरिक सौन्दर्य के कारण मन में एक स्थायी अनुरंजनकरी भावना छोड़ जाता है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर के रूप मे स्वीकार किया गया है। कर्मयोग और ज्ञानयोग कर्म और उपासना के क्षेत्र मे जिस फल की प्राप्ति कराते है वही काव्य के सुरम्य क्षेत्र मे भाव के द्वारा उपलब्ध होता है। काव्य का आश्रय ग्रहण कर हमारा व्यथित चिंताशंकुल मन थोडी देर के लिए अपने आस-पास के वातावरण का विस्मरण कर लौकिक बन्धनों से मुक्ति पाकर लोकोत्तर आनन्द का साक्षात्कार करता है जो उसका एक-मात्र काम्य है, एक-मात्र इष्ट है। इस प्रकार के ब्रह्मानन्द की अनुभूति सत्य शिवं सुन्दरम् से समन्वित काव्य के द्वारा ही हो सकती है।

सत्य और सौन्दर्य के समन्वित रूप का प्रतिपादन करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र कहते हैं कि :–'सत्य की पूजा सौन्दर्य में है। विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।' साहित्य और कला की आराध्या हंसवाहिनी सरस्वती का शृङ्गार बिना वीणा के पूर्ण नही हो सकता। इसीलिए 'वीणापुस्तकधारिणी' कहकर उनकी वन्दना की जाती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि काव्य के उद्देश्यों में 'सद्यः परिनिर्वृत्तये' (शीघ्र ही उत्कृष्ट आनन्द देना) के साथ 'शिवेतरक्षतये' (अमगल का नाश) और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' (प्रिया का सा मधुर उपदेश) मे हित और सौन्दर्य दोनों ही बातों का समन्वय हो जाता है। कवीन्द्र ने अन्यत्र कई स्थलों मे सत्य शिव सुन्दरम् के रूपो का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न ढग से किया है :—

(१) यह बात सत्य है कि हमारी क्षुधित प्रवृत्ति जहाँ पत्तल डालकर बैठती है उसके निकट ही प्रायः सौन्दर्य का आयोजन होता है। फल से केवल हमारा पेट ही नहीं भरता, किन्तु वह स्वाद में, रूप में और गन्ध मे सुन्दर भी होता है। यदि वह बिल्कुल सुन्दर न होता तो भी हम उसे पेट के लिए ही खाते।

हमारी इतनी बड़ी आवश्यकता के होने पर भी वह हमे एक-मात्र पेट भरने की दृष्टि से नही, सौन्दर्य की दृष्टि से भी आनन्द प्रदान करता है। यह सौन्दर्य मानों हमारी ऊपरी आय है।

(२) जितनी भी मंगल वस्तुएँ हैं उनका समस्त संसार के साथ एक अत्यन्त गम्भीर सामंजस्य है; उनका समस्त मनुष्यों के मन के साथ एक निगूढ़ मेल है। यदि हम सत्य के साथ मंगल का पूर्ण सामंजस्य देख सके तो फिर सौन्दर्य हमारे लिये अगोचर नहीं रहता। करुणा सुन्दर है, क्षमा सुन्दर है, प्रेम सुन्दर है। शतदल कमल के साथ, पूर्णिमा के चन्द्रमा के साथ उसकी तुलना की जाती है। हमारे पुराणों में लक्ष्मी केवल सौन्दर्य और ऐश्वर्य की ही देवी नहीं है वह मंगल की भी देवी है। सौन्दर्य मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।

(३) सत्य तो यह है कि सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण रूप से विकसित होता है वहाँ अपनी प्रगल्भता को छोड़ देता है। वहीं पर फूल अपनी वर्णगन्ध की अधिकता को फल की गम्भीर मधुरता मे परिणत कर देता है और उसी परि-णति मे ही—उसी चरम विकास में ही सौन्दर्य और मंगल एक हो जाते हैं।

(४) जहाँ हमें सत्य की उपलब्धि होती है, वही हमें आनन्द की प्राप्ति होती है। जहाँ हमे सत्य की सम्पूर्णतया प्राप्ति नहीं होती वहाँ हमें आनन्द का अनुभव नहीं होता। जिस सत्य मे हमे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती उसे हम जानते तो हैं परन्तु हमने उसे प्राप्त नहीं किया है। जो सत्य हमारे लिए पूर्ण रूप से सत्य होता है, हमें उसी से प्रेम होता है और उसी से हमे आनन्द प्राप्त होता है।

(५) आधुनिक कवि कहते हैं :—'Truth is beauty, beauty is truth' हमारी शुभ्रवसना कमलालया देवी एक साथ मूर्तिमान् "Truth" सत्य और "Beauty" सौन्दर्य हैं। उपनिषद् भी कहते हैं :—'आनन्द रूपममृत यद्विभाति'—यानी जो कुछ प्रकाशित हो रहा है वह उसी का आनन्दरूप है, उसी का अमृत रूप है। हमारे पैरों की धूलि से लेकर आकाश के नक्षत्रों पर्यन्त सब कुछ ही सत्य और सब कुछ ही सौन्दर्य है—सब कुछ ही 'आनन्द रूपममृत' है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् विज्ञान धर्म और काव्य के परस्पर सम्बन्ध का परिचायक है। विज्ञान कोरमकोर सत्य, निखालिस सत्य का दर्शन चाहता है, शिवं उसके लिए गौण है और सुन्दरम् की तो वह परवाह नही करता। वह एक-मात्र नग्न सत्य चाहता है। वह चन्द्रवदनी के मुख की काति न देख एक्सरे से अस्थि पिंजर देखने का अभ्यासी है। उससे बीभत्सता से कोई परहेज नही। वह केवल 'सत्य ब्रूयात्' का पक्षपाती है, 'प्रियं ब्रूयात्' से उसकी पटती नही। धार्मिक शिवं की ओर अग्रसर होता है, वह शिवं में ही सत्य को देखता है। वह लक्ष्मी का मागलिक घटों से अभिषेक कराता है क्योंकि जल जीवन है, कृषि का सर्वस्व है। मानव-मात्र का एक-मात्र प्राप्य है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्य और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है उसी प्रकार लक्ष्मी मे शिव और सुन्दरम् का समन्वय है। शिव कल्याण करने वाले के नाते ही असिव वेप होते हुए भी कृपालु शिवधाम कहलाते हैं। 'शिवसंकल्पमस्तु की भावना इसी की परिचायक है। धार्मिक कोरे सत्य को ग्रहण न कर उसमें मंगल का भी समन्वय कर लेता है। वह इहलोक के साथ साथ परलोक की भी चिंता करता है। आत्मा को प्रेयस के साथ-साथ श्रेयस की ओर ले जाना ही परम कर्त्तव्य समझता है।

साहित्योपासक सत्यं शिवं सुन्दरम् तीनों की आराधना करता हुआ सुन्दरम् की विशेष अर्चना करता है। वह 'सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यम प्रियम्' का अनुयायी है। वह हित को मजुल रूप मे देखता हुआ सत् चित् आनन्द के समन्वित रूप की उपासना करते हुए ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है।

अब 'सत्य शिव सुन्दरम्' का समन्वय काव्य में किस प्रकार होता है, इस पर हमे विचार करना चाहिए। जो सत्य नही है वह कभी सुन्दर नही हो सकता एव सुन्दर वास्तविक अर्थ में क्षणिक आनन्ददायी न होकर स्थायी और शाश्वत होता है। कहा भी गया है कि "A thing of Beauty is a joy for ever"--सुन्दर वस्तु स्थायी आनन्द की सृष्टि करती है। यह स्थायित्व उसे सत्य के द्वारा ही प्राप्त होता किन्तु साहित्यिक सत्य और ऐतिहासिक सत्य मे अन्तर है। इतिहास उसी को सत्य स्वीकार करता है जो साधारणतया "होता है" परन्तु साहित्य मे आदर्श की भावना से प्रेरित हो 'हो सकने' को

ही सत्य मान लिया जाता है। साधारण तौर से एक और एक दो होते हैं किन्तु साहित्य मे एक और एक एक ही होता है। सत्यं और सुन्दरम् के साथ शिवं का भी उसी प्रकार घनिष्ट सम्बन्ध होता है जिस प्रकार सत्यं और शिवं के साथ सुन्दरम् का। जो वस्तु सत्य तथा स्थायी है वह कल्याणकारी होगी ही, असत्य वस्तु कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। वाह्य सौन्दर्य विना आन्तरिक सौन्दर्य के कुरूप है, सुन्दर से सुन्दर मनुष्य भी आचरणहीन होने पर हमारा प्रिय न बन सकेगा। दूसरी ओर कुरूप व्यक्ति भी अपने चरित्र एव शील स्वभाव के सौंदर्य से हमारा प्रीति-भाजन बन जायगा। इसी प्रकार काव्य का परम-चमत्कारिक रूप भी यदि कल्याणकारी नहीं है तो वह वास्तविक सौंदर्य की सृष्टि करने मे सदैव असमर्थ रहेगा। सत्यं शिवं सुन्दरं से समन्वित रूप ही ब्रह्मानन्द की अनुभूति करा सकता है।

कभी कभी काव्य में सत्य मिथ्या का रूप धारण कर सुन्दर की रक्षा करता है। 'मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता' या 'निज जननी के एक कुमारा' मे कवि ने उसी काव्यगत सत्य का पालन किया जो सुन्दर की भावना से ओत-प्रोत है। यद्यपि वाह्य रूप मे वह असत्य भाषित होता है। 'शकुन्तला नाटक' मे अँगूठी और दुर्वासा शाप की कथा कवि-कल्पना प्रसूत है किन्तु यह उस सत्य की रक्षा करती है जो दो प्रेमियो के लिए इष्ट है, दुष्यन्त ऐसा प्रेमी राजनीति में फँसकर भी अपनी प्रियतमा की कभी अवहेलना नहीं कर सकता, इसी की सुन्दर पूर्ति इस कवि कल्पना द्वारा करायी गयी है। आज-कल 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त के अनुसार सत्य और शिवं की उपेक्षा करते हैं किन्तु ऐसा करना कदापि उचित नही। गुलाबराय जी का मत है कि "जनता सुन्दर की उपासक है किन्तु सुन्दर को सत्यं और शिवं के अलंकारों से अलंकृत देखना चाहती है। यह बात ठीक है कि सुन्दरं किसी दूसरे के शासन मे नहीं रह सकता और उस पर उसके ही नियम लागू होंगे तथापि वह मनुष्यों की मनोवृत्तियों मे विद्रोह नहीं उत्पन्न करेगा। साम्य ही सुन्दरं का मुख्य लक्षण है। नीति की रक्षा मे सुन्दर की भी रक्षा है। गङ्गा जल की भाँति काव्य मे पवित्रता और प्यास बुझाने तथा नीरोगता प्रदान करने का गुण एक साथ होना चाहिए। सत्य काव्य माता के दूध की भाँति तुष्टि और पुष्टि दोनों का विधायक और प्रेम का प्रतीक है। × × ×

कवि अपने भाव को संसार तक पहुँचाना चाहता है। उसके पास लोगों के हृदय-द्वार खोलने के लिए सौन्दर्य की ही कुंजी का आवेष्ठन चढ़ा कर कटु से कटु सत्य को ग्राह्य बना देता है। सौन्दर्य के साम्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश है। सौन्दर्य जितना ही सत्याश्रित और मंगलमय होता है उतना ही वह दिव्य कहलाता है। सत्य शिव और सुन्दर के इसी समन्वय के कारण काव्य देवत्व से प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मानन्द सहोदर रस का स्रष्टा और प्रसारक होता है।"

कला और उसका उद्देश्य

कला की व्याख्या न करनी उसकी सबसे बड़ी व्याख्या होगी क्योंकि कला का आनन्द लूटते लूटते कला को पूरी तरह से पहचानने की स्वाभाविक प्रथा को छोड़कर उसकी व्याख्या करना ऐसे ही है जैसे किसी कमनीय कुसुम को जी भर कर देखने और सूँघने की अपेक्षा चाकू से छील करके उसके अंदर की रचना की खोज करना। प्रकृति सौन्दर्य की अक्षय निधि है, इसी से हमारे हार्दिक भावों को प्रेरणा प्राप्त होती है, जाग्रति एवं नवीनता मिलती है, कला की सहायता से वे भावनाएँ विकसित होकर आनन्द की सृष्टि किया करती हैं। मनुष्य की चेतना सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ साथ निरंतर विकसित होती है, सतत प्रगतिशील रही है और उसी के सहारे वाह्य सृष्टि से सम्पर्क स्थापित कर उसने अपने आन्तरिक भावों को प्रकट करने का सुन्दर प्रयास किया है। मनुष्य की अभिव्यञ्जना दार्शनिक एवं वैज्ञानिक होने के नाते बौद्धिक होती है किन्तु कलात्मक होने पर वह विशुद्ध भावात्मक हो जाती है।

'शुक्रनीति' में कला की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि गूँगे के लिये जो साध्य हो वही कला है। साहित्य और संगीत से कला को पृथक रक्खा गया है परन्तु गूँगे लोग भी लिखने में सफल हो जाते हैं। आजकल ललित साहित्य की कला का मुख्य अंग बन गया है। नाटक, काव्य, निबन्ध, उपन्यास, कहानियाँ ये सभी कला के अन्दर आ जाते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से कला के दो भाग किये जा सकते हैं :—

(१) उपयोगी कला।

(२) ललित कला।

उपयोगी कला का सम्बन्ध बाह्य है तो ललित कला का आंतरिक। मन के सौंदर्य का ही प्रकटीकरण ललित कला का मुख्य लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में हृदय के अमूर्त भावों को मूर्त वस्तु द्वारा व्यक्त करना ही कला का प्रमुख कार्य है। यदि ये मूर्त वस्तुएँ अमूर्त भावों का आश्रय बनने के अतिरिक्त यदि स्वयं ही साध्य बन जाँय और इन्द्रियजन्य तृप्ति का दान करने लगे तो वहीं कला का घोर पतन समझिये। इसीलिये कला और विलासिता एक दूसरे के पास पास रहती हुई भी आपस में मेल नहीं खातीं। त्यागी मनुष्य जीवन के प्रलोभनों से बहुत दूर भागता है, तपस्वी उन पर विजय प्राप्त करता है, तांत्रिक उनके वशवर्ती होता हुआ भी उन्हीं में से परम तत्व की झाँकी पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है और कला, इन प्रलोभनों के विषय का तटस्थ भाव से अनुशीलन का ब्रह्मानन्द सहोदर का आनन्द अनुभव करती है।

वस्तुतः कला न व्यक्तिगत है और न सामूहिक। वह तो उभयपदी कहा जा सकता है और उसका आनन्द भी तटस्थ तन्मयता से लिया जा सकता है। कला भोग से उठा कर त्याग की ओर ले जाने वाली है, भौतिकता से हटाकर अध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने वाली है। विषय से हटाकर परमानन्द की ओर प्रेरित करने वाली है।

कला में नग्नता के दर्शन कराने के पक्ष विपक्ष में बहुत ही विवाद एवं चर्चाएँ उठी हैं लेकिन नग्नता में भी पवित्र भावना का मेल कराया जा सकता

है। दक्षिण भारत में गोम्मटेश्वर की नंगी मूर्तियाँ हैं, वे इतनी बड़ी हैं कि बहुत दूर से भी उन्हें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है पर इन मूर्तियों के चेहरे पर मूर्तिकारों ने ऐसी सात्विकता भर दी है कि वह पवित्र नग्नता दर्शक को पवित्रता की दीक्षा देती है। चाहे पुरुष का शरीर हो या स्त्री का, पशु पक्षियों का हो या अप्सराओं का, उसमें वीभत्सता है ही नहीं। अश्लीलता शरीर के ऊपर नहीं वह तो मन के भावों में है।

कला के प्रयोजन के संबंध में बहुत पहले से चर्चाएँ होती रही हैं :

'काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये।'

प्रथम दो प्रयोजन तो आज भी ज्यों के त्यों हैं। फिर भी कला को यहीं तक सीमित रखना उसका अपमान करना होगा। कुछ विद्वानों का कहना है कि जीवन की चिरंतन समस्याओं को सुलझाने की शक्ति कला है। कला स्वतंत्र, स्वयम् निरपेक्ष जीवन दर्शन है। केवल इतना ही अन्तर है कि प्राचीन काल में इसे मोक्ष का साधन स्वीकार किया गया था और आज इसे आत्मानुभव का साधन मान लिया गया है।

वर्तमान काल में कला के प्रयोजन इस प्रकार निर्धारित किये गए हैं :—

(१) कला कला के लिये।
(२) कला जीवन के लिए।
(३) कला जीवन की वास्तविकता से मुक्त होने के लिए।
(४) कला नीरस व्यवहार से छूटकर जीवन मे आनन्द लाने के लिए।
(५) कला सेवा के लिए।
(६) कला आत्मप्राप्ति के लिये।
(७) कला आनन्द के लिए।
(८) कला विनोद विश्राम के लिए।
(९) कला सृजन की अदम्य वृत्ति को तृप्त करने के लिए।

साहित्य-देवता माखनलाल जी चतुर्वेदी ने कहा है कि कला का रस शाश्वत अमरत्व है और चिंतन से चढ़कर निश्चय तक बढ जाना उसका सुकोमल पथ है यह सम्भव नही कि अपने रक्त से बनी हुई आत्म-प्रकटीकरण की भूख का वह अपमान कर सके। पूजा की पवित्रता आ जाने के बाद सूझों की

समर्पण-शीलता अपनी नहीं, अपने अभिमत की वस्तु हो जाया करती है। यदि ऐसी कला को कलाकार रोके तो साधु विनोबा उस पर यह अपराध लगाये बिना नहीं छोड़ते कि कलाकार अपने माधुर्य भरे पुरुषार्थ का अथवा पुरुषार्थ भरे माधुर्य का आत्मविलासी हो गया है, स्वयं उपभोग करने लगा है। ××× यह सच है कि कला की कलम को वे नहीं छू सकते जो तन्मयता उत्पन्न न कर सके, कला की कलम में दर्पण की तरह समाज के उचित बल और भविष्य के संकेत का दर्शन होना चाहिए। कहते हैं कला जीवन का प्रतिबिम्ब है। वह प्रतिबिम्ब कैसा जो बिम्ब की कमियाँ सुझा न सके। × × × 'प्रभु करे यह मस्तक और मस्तकशील उस देश की आराधिका के स्वरों के खिलवाड़ बन सके। जिसके आकर्षण से प्रभावित मुरलीधर कहला सके। जीवन हमारा कृष्ण हो, कला हमारी राधिका हो और हम ऐसे तीर्थ यात्री हों जो अपने देवत्व पर अपना मस्तक चढ़ा सके। अपना सब कुछ समर्पित कर सकें।'

सच्ची कला आत्मा का विकास करने में महत्त्वपूर्ण योग देती है। साथ ही प्राणी-मात्र के प्रति करुणा से प्रेरित होकर समाज-सेवा एवं दया करके अपनी आत्मा का स्वयमेव विकास कर लेती है। कला में विनोद तो है ही किन्तु प्रत्येक मनुष्य में 'एकोऽहं बहुस्याम्' एक से बहुत बनने की जो अदम्य वृत्ति है उसकी तृप्ति के लिए मनुष्य जब हृदय के गूढ और उत्कृष्ट भावों को साकार रूप देने के लिए प्रेरित होता है उस समय उसका वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होता है। आचार्य कालेलकर की धारणा है कि जहाँ तक व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन में संस्कारिता संयम और आर्यता या कुलीनता नहीं आई है वहाँ तक सारा ज्ञान, सारी सत्ता और कला का जीवन खतरे में ही है। कला की शुद्धि की रक्षा के लिए भी कलाकारों को जीवन शुद्धि का स्वच्छता का आग्रह रखना होगा। कला द्वारा जीवन का सदाचार पुष्ट किया जा सकता है। कला द्वारा समाज व्यवस्था में सहयोग, समाधान सामर्थ्य, समृद्धि और सुसंगति का संगीत भरा जा सकता है। कला के विकास में कला की अपेक्षा घटिया दर्जे का आदर्श न होना चाहिए। लेकिन कोई यह कहे कि हम कला रसिक हैं, कलाकार होने का दावा करते हैं, कला के नाम से लोगों को अपनी तरफ खींच सकते हैं और फुसला सकते हैं इसलिए हमारे वर्ताव पर या सर्जन पर सदाचार, धर्म, शिष्ट संकेत, कानून या लोकरूढ़ि

इनमें से किसी का भी बन्धन न होना चाहिए तो उनसे नम्रता के साथ कहना पड़ेगा कि आप मन के लड्डू खा रहे हैं—आपके ससर्ग से समाज तो सुरक्षित है ही नही लेकिन हम जानते हैं कि कला भी सुरक्षित नही है। कला का मुख्य प्रयोजन तो ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द ही है। सदाचार और सामाजिक सामर्थ्य—ये उसके अवश्यम्भावी गौण फल हैं। शुद्ध कला के द्वारा अगर हमे जीवन के सभी रस मिलते रहे तो जीवन के गिरने का कोई डर नही रहता। बिगाड़ तो तभी होता है जब रस के नाम पर हम दूसरी चीजे खोजने लगते हैं।

इस प्रकार हम इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कला का प्रयोजन एकमात्र आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति है, शेष वस्तुएँ उसके लिए प्रधान न होकर गौण हैं।

कला और नीति

कला का एक मात्र काम्य आनन्द है जो प्रयोजन से परे है। सुन्दर प्राकृतिक सुषमा देखने से हमें जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है वह किसी स्वार्थ या प्रयोजन के तराजू में नहीं तोला जा सकता। इन्द्र-धनुष की सतरंगी आभा से हमारा कोई व्यावहारिक लाभ सिद्ध नहीं होता फिर भी हमारे हृदय में उसे देखकर अज्ञात आनन्द की विद्युत्धारा कौंध जाती है। इस आनन्द को विश्लेषण करना या इसे परिभाषा के साँचे मे ढालना मानो इसका सबसे बड़ा अभिशाप होगा। तुलसी ने बहुत पहले कह दिया था :—

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' या सूर ने कुछ दूसरे ढंग से इसी को व्यक्त किया था :—

'ज्यो गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै।'

किन्तु नीति का सम्बन्ध चेतन मन के साथ है एवं चेतनता तथा बौद्धिकता का परस्पर घनिष्ट संबंध है। चेतन मन इस प्रकार की सहज भावुकता को स्वीकार न करके तर्क के तत्वों को उसमें खोजने लगता है। वह कला के 'आनन्द रूपममृतम् की किंचित् परवाह न करके उसकी चीर-फाड़ करने को उतारू हो जाता है। हमारे उपनिषदों में पाँच पृथक्-पृथक् कोषों की चर्चा की गई है :—

(१) अन्नमय कोष (अर्थ नीति की व्यवस्था)
(२) प्राणमय कोष (धर्म नीति की व्यवस्था)
(३) मनोमय कोष (काम नीति की व्यवस्था)
(४) विज्ञानमय कोष (ज्ञान नीति की व्यवस्था)
(५) आनन्दमय कोष (नीति से परे स्वयं आनन्द स्वरूप)

अन्तिम आनन्दमय कोप ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान एवं साधनाओं का अंतिम साध्य है, शेष चार तो उस चरम लक्ष्य तक पहुँचने के सोपान मात्र हैं। इन

चारों कोषों की स्थित को पार कर जब कोई आनन्दमय कोष के कक्ष में प्रवेश करता है उस समय उन सम्पूर्ण नीति नियमो का बोझ बाहर ही उतार फेकना पड़ता है :—'रहिमन उतरै पार, भार झोंक सब भार में'। आनन्द कक्ष में तो विशुद्ध आनन्द ही आनन्द है, वहाँ सहज प्रेम का व्यापार होता है। वहाँ पाप-पुण्य, सुख-दुख, आनन्द-विषाद अपने स्वाभाविक अन्तर को छोड़कर एकाकार हो जाते हैं।

विश्व का यह अनन्त चक्र जो युगों युगो से किसी अदृश्य सर्वशक्तिमान् द्वारा सचालित हो रहा है जिसमे सुख-दुख, घृणा-द्वेष, हास्य-रोदन के बुद्बुद उठकर अपने आप ही विलीन होते रहते हैं। क्या यह भी किसी नीति नियम से परिचालित है। यह तो उस भूमा की सहज क्रीड़ा मात्र है। ठीक इसी प्रकार कला भी नीति के नियमो से बहुत ऊपर उठी हुई आनन्द का ही सहज प्रकाश है।

'रामायण के मूल आदर्श के भीतर हमें कौन सा नीति-तत्व प्राप्त होता है। उसके भीतर केवल राम की विपुल प्रतिभा की स्वाधीन इच्छा का लीला-चक्र विस्तृत रूप से अत्यन्त सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है। रामायण से यदि हमे केवल यही तत्व पाकर सतोष करना पड़े कि उसमे पितृ भक्ति, भ्रातृ स्नेह तथा पातिव्रत्य का उपदेश दिया गया है तो यह महाकाव्य अपनी आनन्दात्पादिनी महत्ता को खोकर एक अत्यन्त क्षुद्रतम नीति ग्रन्थ में परिणत हो जाता है। कहते हैं, राम की मानसिक स्थिति सर्वदा सब समय वैसी ही रहती थी। उनकी प्रतिभा की विपुलता अपने आप में आबद्ध न होकर प्रतिक्षण नाना रूपों मे, नाना क्षेत्रों मे, अपने को विस्तारित करने के लिए उन्मुख रहा करती थी। उसकी गति प्रतिक्षण वर्तमान को भेद कर सुदूर भविष्य की ओर प्रवाहित होती रहती थी। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, तथा भाई भाई के बीच तुच्छ स्वार्थ ही छीना झपटी की अत्यन्त हास्यकर तथा नीच प्रवृत्ति के प्रबल प्रकोप की आशका करके उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता तथा वज्र कठिन दृढ़ता के साथ महत् त्याग स्वीकार किया और अपने गृह में घनीभूत स्वार्थभाव को त्याग के करुणाविगलित रस से बहाकर साफ कर दिया। उन्होंने पिता का प्रण निभाया, इस बात पर हमें उतनी श्रद्धा नही होती, जितनी इस बात पर विचार करने से कि उन्होने इस स्वार्थमान ससार के प्रति दिन के व्यवहार की

यवनिका भेदकर सुदूर अनन्त की ओर अपनी प्रतिभा की सुतीक्ष्ण दृष्टि प्रेरित की। उनकी इस इच्छा शक्ति के वेग की प्रबलता के कारण ही हमें इतना आनन्द प्राप्त होता है और हृदय बारम्बार सम्भ्रम तथा श्रद्धा के साथ उनके पैरों तले पतित होना चाहता है।' (इलाचन्द्र जोशी)

'कश्चिद् कान्ता विरह गुरुणा' से प्रारम्भ होने वाला कालिदास का मेघदूत जो आँसुओ से भी आर्द्र है, हिचकियों से भी हल्का है, हमें कौन सी नीति की बोझ हमें दुर्वह हो उठता। हमे तो वहाँ 'प्रेमराशी भवन्ति' के दर्शन होते हैं। वहाँ आनन्द ढेर का ढेर इधर उधर बिखरा पड़ा है। धरती से आकाश तक वहाँ एकमात्र आनन्द ही आनन्द है जो तुच्छ सुख-दुख घृणा-तृष्णा से बहुत दूर है।

जर्मनी के कई समालोचकों ने महाकवि गेटे को राजनीति से शून्य रहने के अपराध में लांछित किया था, इस पर महाकवि ने अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया था :—

'जर्मनी मुझे प्राणों से प्यारा है, मुझे बहुधा इस बात पर दुख होता है कि जर्मन लोग व्यक्तिगत रूप से इतने उन्नत होने पर भी समष्टि के विचार से इतने ओछे हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ जर्मन लोगों की तुलना करने से हृदय में व्यथा का भाव उत्पन्न होता है और इस भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान मे मैं इस व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ क्योंकि उनका सम्बन्ध समस्त विश्व से है और उनके आगे राष्ट्रीयता की सीमा तिरोहित हो जाती है।

गेटे ने इसी प्रकार के विचार अन्य स्थलो पर भी व्यक्त किये थे :—

'सत्य की इस सरल उक्ति पर लोग विश्वास नहीं करना चाहते कि कला का मात्र उन्नत ध्येय उच्च भाव को प्रतिबिम्बित करना है।'

अपने युग के महान् मनीषी टाल्सटाय ने अपनी पुस्तक -'कला क्या है' में अनीतिमूलक ग्रन्थों की तीव्र निंदा करके कला के भीतर नीति का होना परमावश्यक बतलाया था किन्तु उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'अन्ना कैरेनिना' नीतिगत संकीर्णता से मुक्त विशुद्ध आनन्द की पृष्ठ-भूमि पर टिका हुआ था। उसमें किटी के गार्हस्थ जीवन की शाति, आनन्ददायी शोभा अवश्य हृदय

को आनन्द रस से द्रवीभूत कर देती है परन्तु हतभाग्या अन्ना के विपुल संघर्षों एवं कटुताजन्य दुर्नीतिमूलक विषाद को देखकर प्रत्येक पाठक की समवेदना उसके हाथ सहानुभूति प्रकट करने के लिए सिसक उठती है। स्वयं ग्रन्थकार तक उसके जीवन के प्रति सहानुभूति प्रकट करने को विवश हो जाता है। प्रारम्भ मे ग्रन्थकार का प्रमुख उद्देश्य किटी के गार्हस्थ्य तथा नीति अनुमोदित जीवन को सरसता और अन्ना के संघर्षपूर्ण नीति विरुद्ध जीवन के बीच भेद-भावना की प्रकटीकरण करके एक निश्चित नैतिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना था। किन्तु आगे चलकर ग्रन्थकार ऐसा करने के लिए अपने आप को असमर्थ पाता है, अभागिनी अन्ना के उन्नत चरित्र की विषादमयी जटिलता देखकर उसका सिद्धान्त शिथिल पड़ जाता है और वह मानव-चरित्र की स्वाभाविक दुर्बलता का समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ हो जाता है। उनकी नीति आँसुओ की तरल धार में बह जाती है। निष्ठुर दण्ड, क्षमा में घुल मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है, वह शासित व्यक्ति के साथ मानवत्व की भाव भूमि पर पहुँच कर उसकी उच्छ्वासो मे अपनी हिचकियाँ गूँथ देता है। वहाँ उनकी सहृदयता, भावुकता, तन्मयाता के साक्षात् दर्शन होते हैं और उसकी कला श्रेष्ठ कलाविद् की आत्मा का प्रतिनिधित्व करती परिलक्षित होती है।

अन्त में श्री जोशी जी के विचारों में यही कहना अधिक न्यायसंगत होगा कि जहाँ किसी नीति को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का मूल उद्देश्य रहता है वहाँ वह संकीर्णता का प्रचार है पर जहाँ सौंदर्य तथा मगल से पूर्ण स्वाभाविक छवि चित्रित करके ही चित्रकार अपना काम पूरा हुआ समझता है वहाँ उस आदर्शमय चित्र की स्वाभाविक सरलता हृदय को उन्नत बनने मे सहायक होती है।

हिन्दी के उपन्यास साहित्य की गतिविधि

उपन्यास रचना के प्रमुख तत्वों की संख्या छः मानी जाती है :—

(१) कथावस्तु (२) चरित्र-चित्रण (३) कथोपकथन (४) देशकाल (५) शैली तथा उद्देश्य ।

उपन्यास का जन्म सन् १६०० के आस-पास माना जाता है। प्रारम्भ में केवल अंग्रेजी तथा बगला उपन्यासों के अनुवाद-मात्र ही उपलब्ध होते हैं। मौलिक उपन्यासों का एकान्त अभाव था। नाटक और उपन्यास के तत्व सम्पूर्ण जीवन का चित्र खींचने के कारण समान हैं किन्तु दोनों में वातावरण, वेश-भूषा एव शैली का अन्तर विद्यामान है। उदाहरण स्वरूप :—

(१) नाटक में दृश्य काव्य होने के कारण पूर्ण आनन्द की प्राप्ति दर्शन द्वारा ही सम्भव है जब कि उपन्यास केवल श्रव्य काव्य या पाठ्य मात्र है।

(२) नाटक मे लेखक तटस्थ रहकर पात्रों के द्वारा ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है जब कि उपन्यास में वह इस बन्धन से मुक्त रहता हुआ स्वतंत्र अभिव्यक्ति करता है।

(३) दोनों में पात्रों की संख्या समान रहते हुए भी दोनों का विकास विभिन्न दिशाओं एवं विभिन्न परिस्थितियों में होता है।

(४) नाटक में वर्णनात्मकता न होकर मार्मिकता एवं संक्षिप्तता विशेष होती है। यहाँ तक कि उपन्यास के कथानक दस बीस पृष्ठ तक जा सकते हैं जब कि नाटक के कथानक साधारण बातचीत की लम्बाई में बँटे रहते हैं।

(५) दृश्य काव्य मे घटनाओं का चयन करते समय रंगमच की अनुकूलता का विशेष ध्यान रक्खा जाता है जब कि उपन्यास मे इसकी कोई परवाह नहीं की जाती। हिन्दी उपन्यास साहित्य का विकास गद्य साहित्य के उत्तरोत्तर

विकास के ही साथ हुआ है। इसे हम सुविधा के लिए तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) प्रथम उत्थान काल :—उपन्यास का प्रारम्भ भारतेन्दु जी के समय में हुआ। उनका सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'पूर्व प्रकाश और चन्द्रमा' जो एक प्रकार से सामाजिक है, माना गया है। इस काल में अनूदित उपन्यासों की संख्या अधिक है जैसे :—

(१) श्री निवास दास का 'परीक्षा गुरु'।

(२) श्री राधाकृष्ण दास का 'निरुत्साह हिन्दू'।

(३) पं० बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी'।

(४) श्री गदाधर सिंह का 'दुर्गेश नंदिनी'।

(२) द्वितीय उत्थान काल :—इस काल में मौलिक एवं अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यासों की सृष्टि अधिकाधिक संख्या में हुई। सूची इस प्रकार है।

अनूदित उपन्यास :—१—श्री कार्तिक प्रसाद खत्री :—(१) इला (२) प्रमीला (३) जया (४) मधुमालती।

२—श्री रामकृष्ण वर्मा :—(१) ठग वृतान्तमाला (२) पुलिस वृतान्त-माला (३) चित्तौर चातक (४) अकबर।

३—श्री गोपालराम गहमरी :—(१) भानुमति (२) चतुर चंचला (३) देवरानी जेठानी (४) दो बहिनें (५) नये बाबू (६) बड़ा भाई (७) तीन पतोहू आदि।

इस काल के उपन्यास का मुख्य विषय वीरता, चपलता एवं मक्कारी के साथ सामाजिक सुधार तथा सस्ता मनोरंजन प्रस्तुत करना था। अरबी, फारसी, संस्कृत सभी भाषाओं के शब्दों की खिचड़ी इन उपन्यासों की पुस्तकों मे मिलती है। मुहावरो का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है। बंगभाषा के अतिरिक्त उर्दू, मराठी, गुजराती और अँग्रेजी से भी उपन्यास अनूदित किये गये।

मौलिक उपन्यास :—श्री देवकीनन्दन खत्री प्रथम मौलिक उपन्यास लेखक हैं। उन्होंने नरेन्द्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, चंद्रकान्ता चार भाग, चद्रकान्ता सतति २४ भाग नामक लोकप्रिय उपन्यासों की रचना की। कहा

जाता है कि इनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर कई विदेशी पाठकों ने हिन्दी सीखी थी। ये उपन्यास वर्णनात्मक एवं घटना प्रधान हैं तथा अधिकतर जासूसी तिलिस्मी तथा ऐयारी से भरे हुये हैं। भाषा साफ सरल, और बोधगम्य है।

किशोरीलाल गोस्वामी सामाजिक उपन्यास लेखकों में पहले उपन्यास लेखक माने जा सकते हैं। इनके उपन्यासों में सामाजिकता, वासनाओं के रूपरंग, चित्ताकर्षक वर्णन एवं किंचित चरित्र-चित्रण पाया जाता है। उपन्यास अधिकतर ऐतिहासिक हैं। कुछ प्रसिद्ध उपन्यास ये हैं :—

(१) रजिया बेगम (२) लीलावती (३) लवंगलता (४) तरुणतपस्विनी।

श्री हरिऔध जी के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' उपन्यास भी मिलते हैं। श्री लज्जाराम झा ने छोटे-छोटे उपन्यासों द्वारा प्राचीन हिन्दू मर्यादा एवं हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता का सजीव चित्र उपस्थित किया है। जैसे :—

(१) बिगड़े का सुधार (२) धूर्त रसिकलाल।

(३) तृतीय उत्थान काल :—इस काल के उपन्यासों की शिल्पविधि में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। यथातथ्यवाद की प्रवृत्ति के साथ उपन्यासों से काव्य का रंग हटा दिया गया एवं उनमें शील भावना का भी समावेश किया गया। पात्रगत अस्वाभाविकता का भी अंशतः परिहार किया गया। श्री प्रेमचन्द जी के उपन्यास इसके साक्षी हैं विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) घटना वैचित्र्य प्रधान होंने के कारण साहित्यिक गुणों का प्रायः अभाव है।

(२) मानव के पारस्परिक सम्बन्धों की मार्मिकता को ध्यान में रखकर उपन्यासों की रचना की गयी जैसे निर्मला, गोदान, सेवा सदन, रंगभूमि।

(३) समाज के भिन्न भिन्न वर्ग की परस्पर स्थिति और उनके संस्कारों को चित्रित करने वाले उपन्यास जैसे :—

कंकाल, तितली, कर्मभूमि आदि।

(४) समाज के पाखडी कुत्सित व्यभिचारपूर्ण अड्डों पर एक निर्मम प्रहार जैसे :—दिल्ली का दलाल ।

(५) भिन्न-भिन्न जातियों एवं मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सम्बन्ध पर जोर देने वाले उपन्यास जैसे :—राम रहीम

(६) अर्न्तवृत्ति अथवा शील वैचित्र्य और उसका समुचित विकास करने वाले जैसे :—ग़बन ।

(७) वाह्य एवं आभ्यान्तर की रमणीयता का समान रूप से चित्रण करने वाले उपन्यास जैसे :—

मंगल प्रभात, सुखदा, सुनीता, विवर्त आदि ।

बीसवीं शताब्दी में उपन्यास कला की पर्याप्त प्रगति हुई है । प्रेमचन्द जी से पूर्व के समस्त उपन्यास घटना प्रधान थे । किन्तु प्रेमचन्द जी ने सामाजिक-विश्लेषण तथा मानव चरित्र के मर्मस्पर्शी स्थलों का चित्रण किया है । इस युग के उपन्यासों मे स्वाभाविकता का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है ? इस काल के प्रमुख उपन्यासकार ये हैं :—

(१) श्री प्रेमचन्द (२) श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (३) श्री प्रताप-नारायण लाल (४) श्री जैनेन्द्र (५) श्री वृन्दावन लाल वर्मा (६) श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी (७) श्री भगवती चरण वर्मा (८) श्री राहुल (९) श्री इलाचन्द जोशी (१०) श्री अज्ञेय (११) फणीश्वर नाथ रेणु ।

श्री प्रेमचन्द जी उपन्यास-सम्राट माने जाते हैं। उनकी उपन्यासगत विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(१) सामाजिक विश्लेषण एवं मानव चरित्र के मर्मस्पर्शी स्थलों का चित्रण ।

(२) समस्या-प्रधान, चरित्र-प्रधान, कथा प्रधान, भावना-प्रधान, कला-प्रधान उपन्यासों की सृष्टि ।

(३) चरित्र-चित्रण के सर्वांगीण पक्षों का मार्मिक उद्घाटन ।

(४) समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग (विशेषतया दलित एवं श्रमिक वर्ग) का चित्रण।

आधुनिक उपन्यास प्रगतिशीलता से पूर्ण हैं। इनमें उत्थान पतन, अन्तर्द्वन्द, रुदन, पीड़ा, करुणा आदि सभी बातो का समुचित समावेश किया गया है। इनमें समाज की घटनाओं का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है किन्तु यह कल्पना असत्य पर आधारित न होकर शाश्वत सत्यों से परिचालित रहती है। उपन्यास में लेखक किसी एक ऐसी शाश्वत घटना का विश्लेषण करता है जिसमें युग-युग की समस्याएँ अपने काल की गुत्थियों को सुलझाया करती है।

हिन्दी कहानी साहित्य की गतिविधि

कहानी की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के मत इस प्रकार हैं :—

(१) 'कहानी वह आख्यान है जो एक घन्टे में पढ़ा जा सके' (एच० जी० वेल्स)।

(२) 'कहानी घटनाओं का वह तारतम्य है जो किसी परिणाम पर पहुँचता है'—(फास्टर)।

(३) 'छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक ही बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही सा प्रभाव डालने के उद्देश्य

से लिखा गया हो। उसमे उन सारी बातों को बहिष्कृत कर दिया जाता है। जिनसे प्रभाव के अग्रसर होने में बाधा उत्पन्न होती है। वह स्वतः पूर्ण होती है' (एडगर एलिन)।

(४) 'कहानी सकट या उलझन मे पड़े हुये पात्रो का कलात्मक बर्णन है जिसका कोई निश्चित परिणाम हो।'

(५) 'जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उल्टा सीधा चलता रहता है, इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति या स्वाभाविक गति का प्रदर्शन ही कहानी है' (श्री इलाचन्द जोशी)।

(६) 'जीवन की स्थिति, विशेषकर रागात्मक चित्रण ही तो कहानी है'—(श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी)।

(७) 'आधुनिक कहानी साहित्य का एक विकसित कलात्मक रूप है' जिसमें लेखक कल्पना शक्ति के सहारे कम से कम प्रात्रों और चरित्रों के द्वारा कम से कम घटनाओं और प्रंसगों की सहायता से मनोवांछित कथानक, चरित्र, वातावरण, दृश्य अथवा प्रभाव की सृष्टि करता है'—

डा० श्री कृष्णलाल

(८) 'छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमे एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला वर्णन हो' —श्री गुलाब राय।

कहानी के तत्व :—१ (कथावस्तु) यह मानवता की आभ्यंतर अनुभूतियो के चित्रण में सहायता पहुॅचाता है तथा पाठक की चेतना को उद्बुद्ध करता हुआ आनन्द की प्राप्ति कराता है। कथावस्तु की प्रेरणा के मूल में कोई समस्या रहस्य अथवा कोई मौलिक भाव आवश्य निहित रहता है साथ ही यह भी आवश्यक है कि कथावस्तु का आरभ, विकास, विस्तार और अन्त परस्पर सबद्ध सूत्र की भाॅति पृथक न किये जा सके। इसका निर्वाह तारतम्य के साथ होना परमावश्यक है।

चरित्र चित्रण :—पात्रो के चरित्र चित्रण मे सजीवता, स्वाभाविकता तथा हमारी रागात्मक वृत्तियों को तृप्तिदान देनेवाली शक्ति होना आवश्यक है। चरित्र

चित्रण चाहे प्रत्यक्ष विश्लेषणात्मक हो चाहे परोक्ष नाटकीय। दोनों में पात्र के व्यक्तित्व की पूर्ण रक्षा होनी चाहिए।

३ कथोपकथन :—वार्तालाप स्वाभाविक हो। भाषा पात्रानुकूल हो। तथा पात्रों और चरित्रों की परिस्थितियों के अनुकूल हो। नाटकीय सौंदर्य कथोपकथन की आत्मा है।

४ वातावरण :—प्राकृतिक स्थानों, कालो आदि से संबंधित वातावरण पात्रों के मनोविज्ञान में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देते हैं। मानसिक वातावरण में पात्रों के अन्तर्जगत की झाकी प्रस्तुत की जाती है।

(५) उद्देश्य :—(१) जीवन की आलोचना करना एवं उसके प्रमुख तथ्यो का उद्घाटन करना।

(२) जीवन के प्रति निश्चित दृष्टिकोण उपस्थित करना।

(३) पाठकों का मनोरंजन एवं आनन्द की प्राप्ति कराना।

(४) एक सदेश देना जो स्थायी हो।

(६) शैली :—सरलता, मनोरंजकता, प्रभावपूर्णता, चित्रोपमता एवं सुन्दरता श्रेष्ठ शैली के लक्षण हैं। अच्छी कहानी मे इन सब का समावेश होता है।

भारतीय कथा कहानियो का आरंभ उपनिषदों की रूपक कथाओं, महाभारत एव जातक के उपाख्यानों से होता है किन्तु हिन्दी की कलापूर्ण कहानियों का इतिहास केवल ४०-४५ वर्ष की आयु रखता है। भारतीय कथा साहित्य के विकास के तीन युग माने जाते हैं। पहला युग उपनिषदों, महाभारत अथवा बौद्ध साहित्य की कथाओं का है, इन कथाओं में जीवन के गंभीर तत्त्वों की सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। दूसरे युग का विकास १३५० से होता है जब कि उत्तरी भारत में मुसलमानो का अधिकार हो चुका था अतएव इस्लामी छाप का पड़ना आवश्यक था। फलस्वरूप 'किस्सा तोता मैना 'गुलबकावली' 'छबीली भटियारिन' 'सारंगा सदावृज जैसी कहानियों का व्यापक प्रचार हुआ। लैला मजनूँ तथा शीरीं फरहाद की प्रेम कहानियाँ भी जनता में बड़े चाव से पढी जाती थी। इनमें हास्य विनोद एवं वासना का खुला प्रदर्शन

था। इन कहानियों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति को मढ़ना अन्याय होगा। इस युग की सीमा रेखा 'रानी केतकी की कहानी' मे सिमट आई है। जासूसी कहानियाँ भी इसी परम्परा की देन हैं।

भारतीय कथा साहित्य के विकास में तीसरा युग अपना महत्पूर्ण स्थान रखता है। इसका प्रारम्भ बीसवी शती से होता हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं भौतिक विचारधारा की सौगात लेकर यह युग आया है जिसका प्रभाव जनता की रुचि, विचार, भावना, आदर्श एव दृष्टिकोणो पर व्यापक रूप से पड़ा। इसी प्रभाव से प्रभावित हो साहित्य के मान एवं दृष्टिकोण भी बदले। प्राचीन कहानी के विषय एव उपादान शिक्षा, प्रेम एवं मनोरजन मात्र ही थे, उसमे मानव की वाह्य प्रकृति का ही चित्रण अधिक मिलता है किन्तु आधुनिक कहानी के अन्तर्गत समग्र जीवन का स्पंदन मिलता है, मानव की अन्तः प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभावो से यह कहानी साहित्य अछूता नहीं है, इसी से भौतिकता एव स्वाभाविकता के प्रति दृढ़ आग्रह इन कहानियों में मिलता है। आदर्श के स्थान पर यथार्थ का चित्रण अधिक हुआ है। वातावरण-चित्रण के कौशल से असभव को भी सभव बनाने का प्रयत्न आज के कहानीकार की प्रमुख विशेषता है। उदाहरण के लिये चतुरसेनी जी की 'दुखवा मैं कासे कहू मोरी सजनी' नामक कहानी ली जा सकती है।

आधुनिक कहानियों की आत्मा और वातावरण की भिन्नता इनके रूप और शैली पर आश्चर्यजनक प्रभाव डालती है। जो मौखिक परम्परा से दूर मुद्रण यंत्रों के सहयोग से प्रचार या पाश्चात्य कहानियो की रूप शैली से प्रभावित है।

आधुनिक कहानी के लिये कथानक आवश्यक होता है किन्तु अनिवार्य नही। कथानक के बिना भी वातावरण और प्रभाव की सहायता से कहानी लिखी जा सकती है, उदाहरण के लिये प्रेमचन्द की 'पूस की रात' और अज्ञेय की 'रोज' कहानी है। अनेक आधुनिक कहानियों मे चरित्र का भी स्थान गौण है, पूर्ण रूप से चरित्र चित्रण के लिये कहानी मे स्थान की कमी है। वातावरण और प्रभाव की सृष्टि ही कहानी का उद्देश्य बन जाती है। आधु-

निक कहानियों में कल्पना शक्ति का प्राचुर्य है। गंभीरता, मानव की अन्तः प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण, वातावरण का प्रभावशाली चित्रण, नाटकीय सौन्दर्य का निर्माण एवं कल्पना का आधिक्य है। पात्रों, घटनाओं तथा प्रसंगों की अपेक्षाकृत कमी है। "अस्तु आधुनिक कहानी साहित्य का एक विकसित कलात्मक रूप है जिसमें लेखक अपनी कल्पना शक्ति के सहारे कम से कम पात्रों अथवा चरित्रों के द्वारा, कम से कम घटनाओं और प्रसगो की सहायता से मनोवाछित कथानक, चरित्र, वातावरण, दृश्य अथवा प्रभाव की सृष्टि करता है"—(डा० श्री कृष्णलाल)।

बीसवी शती के प्रारम्भ में अंग्रेजी और संस्कृत से अनूदित कहानियाँ मिलती हैं। सर्व प्रथम मौलिक कहानियों में ग्यारह वर्ष का समय (पं० रामचन्द्र शुक्ल) 'ग्राम' (प्रसाद), 'दुलाई वाली' का स्थान सर्वोच्च है। इस समय की कहानियों के दो रूप मिलते हैं (१) आदर्शवादी (२) यथार्थवादी। आदर्शवादी कहानियों मे अतीत का गौरव गान है, यथार्थवादी कहानियों में सामाजिक जीवन के दृश्य हैं। आदर्शवादी कहानियों के उपासक प्रसाद जी हैं। प्रेमचन्द जी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पक्षपाती हैं। प्रेमचन्द जी ही एक ऐसे मौलिक प्रथम कहानीकार थे जिन्होने कहानियों को बाह्य घटनाओं के बन्धन से छुड़ा कर मानव जीवन की अन्तः प्रकृति का उसमे समावेश कर सजीवता प्रदान की। उदाहरण के लिए 'घास वाली' 'रसिक सम्पादक' 'अजग्योझा' 'वज्रपात' 'पंच परमेश्वर' कहानियाँ ली जा सकती हैं।

प्रसाद जी की अध्यात्म परक भावना एव भावुक व्यक्तित्व ने उनकी कहानियों को वह गरिमा प्रदान की है जो उनको एकाकी सर्व श्रेष्ठ मौलिक ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास के धूमिल पृष्ठों से जो अक्षय भाव निधि वे खोज निकालते हैं उसमें आदर्श और यथार्थ की भावना का मणिकाचन संयोग है। ममता, पुरस्कार, आकाश दीप, मधुवा, गुण्डा कहानियाँ इसका उदाहरण हैं।

आधुनिक कहानियों में मानव जीवन के साधारण पहलू के अतिरिक्त असाधारण परिस्थितियों में चरित्रो की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी होने लगा। जैनेन्द्र जी की कहानियों में एक अजीब सी घुटन और दार्शनिकता है। भगवती

प्रसाद वाजपेयी एवं व्यास की कहानियाँ मनोविज्ञान की मिठास बिखेर कर मौन हो जाती हैं। मानव जीवन के चिरन्तन एवं सामयिक सत्यों की व्यंजना भी आधुनिक कहानियों की विशेषता है। सुदर्शन की 'कमल की बेटी' तथा संसार की सबसे बड़ी कहानी' इसकी साक्षी हैं।

आधुनिक कहानियों मे सामयिक सत्यों की व्यंजना को विभिन्न रूप मिलने लगे। सामयिक सत्यों को पुराण कथा का रूप भी दिया जाने लगा। उग्र की 'देश भक्ति' तथा मोहनलाल महतो, वियोगी, की 'कवि' नामक कहानी देखी जा सकती है।

प्रभाववादी कहानियों के चित्रण मे किसी सामयिक सत्य का चित्र उपस्थित किया जाता है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार का 'काम काज' कहानी इस उद्देश्य की पूर्ति करती । सामयिक सत्य की व्यंजना व्यग्यात्मक कहानियों के द्वारा की गई है। भगवती चरण वर्मा की 'दो बाँके' तथा प्रेजेन्टस एवं 'प्रायश्चित' कहानी है। 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' में एक ऐतिहासिक सत्य की कितनी व्यंग्यात्मक, तीक्ष्ण, प्रभावपूर्ण व्यंजना वर्तमान है।

आधुनिक कहानियों का चरम विकास उसके आध्यान्तरिक दृष्टिकोण के रूप मे होता है, ऐसी कहानियों में जीवन की तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं मे चेतनता का आरोप करके मानवीय सत्यों की व्यंजना की जाती है। कमला कात वर्मा की 'तकली' तथा 'खंडहर' कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

हास्यपूर्ण कहानियों में जीवन के सत्यों की सरल अभिव्यजना होती है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव, श्री शिक्षार्थी, श्री गोपालप्रसाद व्यास, श्री बेढब बनारसी एवं केशवचन्द वर्मा की कहानियों में शिष्ट किन्तु जीवन्त हास्य के दर्शन होते हैं।

कथा चरित्र-चित्रण, घटना, कार्य, वातावरण तथा प्रभाव आदि से पूर्ण कहानियों का सृजन द्रुतगति से होता जा रहा है। इन कहानियों में जीवन का समग्र चित्र मिलता है। जीवन की सरसता, विषमता, उलझन, कटुता, विद्रूपता, आक्रोश एवं विद्रोह इनमें खुलकर खेलता है। युग के हृदय की प्रत्येक धड़कन इन कहानियों की सास में अपने को दुहराती है। यह हिन्दी का सौभाग्य

है कि उसके कहानी साहित्य को अज्ञेय, जहूर बख्श, ख्वाजा अहमद अब्बास, यशपाल, मन्मथनाथगुप्त, रागेय राघव, विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, श्री धर्मवीर भारती जैसे कहानीकार मिले हैं। इनकी कहानियों में नये युग की खेती लहलहा रही है। 'कहानी' के विशेषांकों का प्रकाशन भी कहानी साहित्य के इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना है। इसमें हिन्दी की कहानी साहित्य की कला का भविष्य बहुत ही स्वच्छ एवं उज्जवल दिखाई पड़ रहा है।
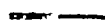
हिन्दी साहित्य में निबन्ध एवं उनका विकास

डा० जानूसन ने निबन्ध की परिभाषा निर्धारित करते हुए लिखा है कि 'निबन्ध मस्तिष्क की वह उद्भावना है जिसमें विचारों की योजना अनियमित तथा अव्यवस्थित हो।' अतः पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार निबन्ध वह साहित्यिक प्रयास है जिसमें विचारों की विशृंखलता, अनेकता तथा किसी भी विषय की स्वच्छन्द व्याख्या प्रस्तुत की गयी हो, जिसमे विचारक्रम तथा एकता का अभाव हो। निबन्धों में व्यक्तित्व की छाप होना परमावश्यक है।

निबन्ध की कोई विशेष परिभाषा नहीं प्रस्तुत की जा सकती क्योंकि विषय के अनुसार इसके रूप और परिभाषा मे अनेक विभिन्नताएँ हैं और किसी लक्षण से इसका परिचय नहीं दिया जा सकता, फिर भी सामान्य रूप से 'किसी विषय विशेष की सम्यक् रूप से संगठित और क्रमिक व्याख्या ही निबन्ध है।' कुछ लोग सागोपाग शब्द से इसका रूप निर्धारित करते हैं लेकिन निबन्ध किसी

विशेष दृष्टि से नही लिखे जाते । उनकी एकपक्षीय विवेचना नहीं हो सकती इसलिए इस शब्द की अपेक्षा अनिवार्य रूप से निबन्ध को नहीं है । निबन्ध में क्रमबद्धता आवश्यक है। विचारों और दृष्टिकोणों की विकासोन्मुखता परमावश्यक है और इसका विस्तार एक पृष्ठ से लेकर ५०० पृष्ठों तक हो सकता है । निबन्ध के लक्षणों के साथ यह क्रमबद्धता किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचनी चाहिये और इस विवेचना का तथ्य अतिम अनुच्छेद या वाक्य मे प्रकट होनां चाहिये लेकिन इसके अपवाद भी हो सकते हैं। यह केवल किसी विषय विशेष पर विचारों का अभिव्यंजन भी हो सकता है । श्री प्रताप नारायण मिश्र के निबन्धों में अनेक प्रकार की शैलियाँ हैं उन्होंने ड, आप, दाँत पर बड़े ही विचित्र एव कौतूहलपूर्ण निबन्ध लिखे हैं । उन्होंने वैज्ञानिक प्रणाली की परवाह न करके जिस स्वतंत्र और उन्मुक्त हृदय से अपने विचारों की अभिव्यञ्जन पाठकों के हृदयों तक पहुँचायी है उससे निबन्ध की यही परिभाषा बनती है कि निबन्ध विचारों के प्रकट करने का एक माध्यम मात्र है ।

डा० श्याम सुन्दरदास ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार की है :—'हमारी समझ मे निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमे किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक और पाडित्यपूर्ण विचार किया जाय'। अतः भारतीय विद्वान विषय के पूर्ण क्रमबद्ध तथा सम्यक् विवेचन को निबन्ध कला का गुण मानते हैं ।

निबन्ध प्रायः तीन प्रकार के माने गये हैं :—

(१) भावात्मक निबन्ध :—निबन्ध मस्तिष्क की सहज अनुभूतियो का अभिव्यक्तिकरण है उसमें हमें तर्क नहीं चाहिये और न विज्ञान। उदाहरण— आँसू, चन्द्रोदय ।

(२) विचारात्मक निबन्ध :—इसमे लेखक अपने विचारो का सम्यक् प्रतिपादन करता है । उसमे विचारो को प्रधानता रहती है । वर्णनात्मकता तथा भावुकता की कमी, विचारधारा को क्रमबद्धता से सजाकर भावों का अभिव्यक्तिकरण एवं व्यक्तित्व के प्रकाशन बिना प्रस्तुत करना विचारात्मक निबन्धो की विशेषता है । उदाहरणस्वरूप शुक्ल जी के चिन्तामणि के निबन्ध ।

(३) वर्णनात्मक निबन्ध :—इनमें किसी वस्तु या स्थान विशेष व वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। लेखक का उद्देश्य उस वर्णन के द्वारा पाठक की उद्दिष्ट विषय की पूर्ण जानकारी कराना होता है। व्यक्तिगत निबन्धों की कोटि मे आत्मकथा, जीवनी एव संस्मरण आदि आते है। विषयों की दृष्टि से निबन्धो का विभाजन इस प्रकार है :—

(१) राजनीतिक। (२) साहित्यिक।

(३) सामाजिक। (४) विविध।

निबन्ध विचारों की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम किन्तु कठिन माध्यम है। कहा भी गया है कि गद्य 'कवीना निकषं वदन्ति' यानी गद्य या निबन्ध ही कवियो की कसौटी है। निबन्धों मे भावों की गूढ़ गुम्फित परम्परा, विषय का सम्यक् प्रतिपादन, भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति, वाक्यों मे अन्विति, भावानुकूल भाषा का निर्वाह एवं व्यक्तित्व का प्रकाशन सब साथ साथ सफलता एवं स्वच्छता के साथ होना चाहिये, साथ ही स्वाभाविकता की भी पूर्ण रक्षा हो। इन्हीं गुणों से युक्त निबन्ध उच्चकोटि के निबन्धों की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

विकास :—हिन्दी साहित्य में निबन्धों का सब प्रथम सूत्रपात १६ वीं शताब्दी में हुआ। निबन्ध साहित्य को चार कालों मे बाँटा जा सकता है :—

(१) भारतेन्दु युग। (२) द्विवेदी युग।

(३) शुक्ल युग। (४) आधुनिक युग।

(१) भारतेन्दु युग :—इसे निबन्ध कला की दृष्टि से निबन्धों का शैशव-काल कहा जा सकता है क्योंकि इस काल में साधारण विषयों पर साधारण श्रेणी के ही निबन्ध लिखे गए। न तो उनमें भाषा की विदग्धता है, न भावों की प्रौढ़ता एवं क्रमबद्धता। गम्भीर चिंतन का सर्वथा अभाव है। इस युग के श्रेष्ठ निबन्धकारों में पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं स्थूल से स्थूल विषय पर सफलता के साथ निबन्ध लिखे। आँख, नाक, कान, चन्द्रोदय, कल्पना, आँसू, आत्मनिर्भरता आदि उनके निबन्ध सर्वथा मौलिक कहे जा सकते हैं। भट्ट जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ

होते हुये भी अंग्रेजी तथा उर्दू के प्रभाव से न बच सकी। भाषा विषयानुकूल है। व्यक्तित्व की छाप निबन्धो में सर्वत्र है। धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों पर हास्य रस के मनोरंजक लेख लिखने वालो में प्रताप नारायण मिश्र का नाम श्रद्धा से लिया जाता है। 'होली' और 'बन्दरो की सभा' इनके सुन्दर निबन्ध हैं। उनमें स्थान स्थान पर बड़ा ही महीन व्यग्य किया गया है।

भारतेन्दु जी स्वयं उच्चकोटि के निबन्धकार थे। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी विषयो पर निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धो मे गम्भीरता, चिंतनशीलता तथा उच्चकोटि की भावात्मकता है। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' 'श्रुति रहस्य' 'मित्रता', तथा 'अपव्यय' इन के प्रसिद्ध निबन्ध हैं।

द्विवेदी युग :—इसमें हिन्दी भाषा की शिथिलता तथा व्याकरणजन्य त्रुटियों का पर्याप्त परिहार हो गया था। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी की सतत साधना से लेखको की भाषा व्याकरण के दोषों से मुक्त हो भली भाँति प्रौढ़ता को प्राप्त हो रही थी। अन्य विषयों की तरह निबन्ध साहित्य भी भाषा की दृष्टि से उन्नत भूमि पर आ गया था परन्तु कलात्मक दृष्टि से उसमे अभी उतना निखार नहीं आ पाया था। स्वयं आचार्य जी के निबन्धों मे विचारों की अव्यवस्था, गूढ़ चिंतन का अभाव, विषय के प्रतिपादन की अक्षमता वर्तमान है। द्विवेदी युग के निबन्धकारों मे माधव प्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, गोपालराम गहमरी तथा अध्यापक पूर्ण सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी ने साधारण से साधारण विषयों से लेकर साहित्यिक विषयो (कवि और कविता, भाषा और व्याकरण) तथा समालोचनात्मक विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को अपनाया परन्तु वह पडिताऊपन तथा क्लिष्टता से रहित नहीं है फिर भी उनके निबन्धो में ओज, प्रसाद, माधुर्य गुणों का समावेश है। उनके निबन्धों में शिष्ट हास्य एवं व्यग्य के दर्शन होते हैं।

भावात्मक निबन्ध लिखने वालों में माधव प्रसाद मिश्र का नाम आता है। उन्होंने 'यात्रा' 'तीर्थस्थान' 'सब मिट्टी हो गया' 'धृति' 'क्षमा' आदि भावपूर्ण निबन्ध लिखे। इनकी शैली सरल सुबोध होने के कारण सुन्दर प्रभाव

छोड़ती है। स्थान स्थान पर चुटकियों के द्वारा आपने शैली में पर्याप्त मनोरंजकता ला दी है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का 'शिव शम्भू का चिट्ठा' हास्य एवं व्यंग्य प्रधान सुन्दर निबन्ध है। जिसमें वर्तमान शासन प्रणाली के प्रति एक विद्रूप भरी दृष्टि फेंकी गयी है। गुप्त जी की भाषा पर उर्दू की छाप है। गहमरी जी की भाषा चटपटी तथा कौतूहल प्रधान है। गुलेरी जी की भाषा में गम्भीरता एवं शिष्ट हास्य तथा अर्थ गौरव के दर्शन होते हैं।

शुक्ल युग :—यह निबन्ध साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है। क्योंकि इस युग में लिखे गए निबन्धों में पर्याप्त शिष्टता, प्रौढ़ता, प्रतिपादन कुशलता, कलात्मकता, गम्भीर चिंतनशीलता एवं सूक्ष्मदर्शिता विद्यमान है। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में डा० श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाब राय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल साकृत्यायन, डा० रामकुमार वर्मा, डा० रघुवीर, शान्ति प्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्र एवं महादेवी के नाम प्रमुख हैं। शुक्ल युग में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे गए। विषयानुकूल प्रौढ़ तथा परिष्कृत भाषा में निबन्ध लिखे गए।

भावात्मक निबन्ध लिखने वालो में अध्यापक पूर्ण सिंह का स्थान श्रेष्ठ है। आपके 'सच्ची वीरता' तथा 'प्रेम और मजदूरी' आदि निबन्धों में उच्चकोटि की निबन्ध कला के दर्शन होते हैं। शैली में चित्रोपमता है। भाषा अनुप्रासिक प्रवाहमयी किन्तु कहीं-कहीं दुर्बोध हो गई है। डा० श्याम सुन्दर दास के निबन्धों मे पूर्णता, चिन्तनशीलता, विषय की स्पष्ट व्याख्यात्मकता तथा भावों की गूढ़ता विद्यमान है। भाषा में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का विशेष प्रयोग किया गया है। शैली सरल, सुबोध एवं गठी हुई है तथा स्वाभाविकता एवं प्राजलता से पूर्ण है।

इस युग के प्राण आचार्य शुक्ल जी हिन्दी के सर्वोच्च निबन्धकार माने जाते हैं। 'चिन्तामणि' एवं 'विचार वीथी' उनके निबन्धो के संग्रह हैं जिनमें श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, करुणा, लोभ, प्रीति आदि मनोविकारो पर बड़ी ही मनोवैज्ञानिक गंभीरता एवं सूझ के साथ निबन्ध लिखे गये हैं। आपके निबंधों में गम्भीर चिन्तनशीलता, विचारों की गूढ़ गुम्फित परम्परा, विषय का सम्यक

विवेचन तथा भाषा की प्रौढ़ता लक्षित होती है। भावो, विचारों एव वाक्यों का कसाव इतना अधिक है कि यदि बीच से एक वाक्य निकाल लिया जाए तो पूरी की पूरी प्रसगावली झनझना उठेगी और स्पष्ट कह देगी कि हमारे साथ अत्याचार किया गया है। 'तात्पर्य यह है कि' के द्वारा गूढ़ से गूढ भावो को यथासाध्य व्याख्यात्मक शैली से बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। भाषा मे सस्कृत के तत्सम् शब्दों के साथ उर्दू और अंग्रेजी के शब्द भी यत्र तत्र प्रयुक्त हुए हैं। भाषा और भावों में गम्भीरता होने पर भी शुक्ल जी की शैली नीरस और उबा देने वाली नही बनने पाती क्योंकि वे स्थान स्थान पर चुभती हुई युक्तियों एवं लोकोक्तियो तथा शिष्ट हास्य के द्वारा शैली को मनोरंजकता प्रदान करते चलते हैं। शुक्ल जी की शैली सुरुचिपूर्ण एवं प्रभावशाली है। यही कारण है कि 'जहाँ उनके निबन्ध बुद्धि पथ पर चलते हैं वहाँ हृदय पथ का भी परित्याग नहीं करते।'

बाबू गुलाब राय के 'काव्य के रूप' 'सिद्धान्त और अध्ययन' एवं 'प्रबन्ध-प्रभाकर' में उच्च कोटि के निबन्धो का संकलन है। 'मेरी असफलताएँ' तथा 'जीवन पथ' में हास्यपूर्ण निबन्ध संकलित किये गये हैं। भाषा संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिन्दी है किन्तु कहीं-कहीं चुटकी लेने के लिए उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों का संग्रह 'अशोक के फूल' तथा 'विचार और वितर्क' है। इनके निबन्धो में प्रतिपाद्य विषय का सम्यक् विवेचन, विचारों की गम्भीरता, विवेचनशीलता तथा एकात्मकता विशेष रूप से पायी जाती है। उनकी शैली दर्पण की तरह स्वच्छ स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक है। भाषा संस्कृतनिष्ठ है किन्तु कही कहीं उर्दू अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। भारतीय सस्कृति की सुन्दर जानकारी कराने मे द्विवेदी जी के अतिरिक्त कोई अच्छा गाइड पाठकों को नही मिल सकता। ऐसा हम विश्वास दिलाते हैं।

श्री शातिप्रिय द्विवेदी ने विचारात्मक एवं भावात्मक श्रेणी के निबन्ध लिखे हैं। 'जीवन यात्रा' एवं 'साहित्यिकी' आप के निबन्ध सग्रह हैं। शैली में गतिशीलता, स्वाभाविकता एवं हास्य विनोद पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। भाषा

अलंकारिक एवं संस्कृतनिष्ठ है इसी से वह दुर्बोध हो गई है। दुरूहता एवं पुनरावृत्ति भी कहीं आ गई है।

हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवियित्री महादेवी जी के 'अतीत के चलचित्र' तथा 'शृङ्खला की कड़ियाँ' दो प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह उपलब्ध हैं। उनमें महादेवी का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। निब-धों में स्त्री सुलभ भावुकता अलंकारिता एवं कल्पना का प्राचुर्य है। राधाकृष्ण दास की 'साधना' भावुकतापूर्ण निबन्ध का संग्रह है। इसकी शैली पूर्ण रूप से काव्यात्मक है। भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं भावावेशमयी है।

प्रसाद जी के 'काव्य कला और निबन्ध' में काव्य कला, रहस्यवाद, छायावाद, रस आदि पर शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये निबन्ध एकत्रित किए गये हैं। उनमें गंभीरता, विवेचनशीलता, एव मौलिकता भरपूर है। हास्य तथा व्यंग का सर्वथा अभाव है।

आधुनिक युग :—इस युग के निबन्धकारों में डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, शिवदान सिंह चौहान, कन्हैया लाल सहल, अज्ञेय, डा० राम विलास शर्मा, प्रभाकर माचवे आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में अन्य विषयों की अपेक्षा साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष पर समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गये हैं। डा० नगेन्द्र के 'विचार और अनुभूति' में समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह है। 'हिन्दी उपन्यास,' उनका कथात्मक निबन्ध है। जिसे मनोरंजक शैली में प्रस्तुत किया गया है। शिवदान सिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, यशपाल नवीन युगीन समाजवादी प्रगतिशील निबन्धकार हैं।

आधुनिक युग में निबन्धों की अपेक्षा उपन्यास और कहानी साहित्य का विशेष निर्माण हो रहा है किन्तु पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कभी-कभी उच्च-कोटि के निबन्धों के दर्शन होते रहते हैं। उनको देखकर निबन्ध-साहित्य का भविष्य उज्जवल दिखाई देता है। किन्तु दुःख इस बात का है कि इतनी प्रगतिशीलता के होते हुए भी निबन्ध साहित्य शुक्ल जी के निबन्धों की भूमि से आगे नहीं बढ़ सका।

भक्ति काल की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अब तक के लेखकों की प्रायः यही धारणा रही है कि भक्तिकालीन साहित्य के सृजन के मूल में कुशासनों एवं अत्याचारों के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थिति की प्रेरणा काम करती रही है। आचार्य शुक्ल एवं डा० श्यामसुन्दर दास प्रभृति विद्वानों ने इसी मत को समीचीन माना है। फलस्वरूप आगे के इतिहास लेखकों ने इसी की परिपुष्टि की है किन्तु इस मत के मूल में ही त्रुटि थी और यह त्रुटि विदेशी विद्वानो की भ्रमात्मक दृष्टि की परिचायक है। हिन्दी साहित्य के प्रारभिक विदेशी लेखक डा० ग्रियर्सन आदि ने देखा कि यूरोप में धर्म ने जीवन के स्वाभाविक विकास में अवरोध उत्पन्न कर भयानक रक्तपात कराया, उसने अफीम की तरह मनुष्य की जागरूकता को कुण्ठित कर चेतनाशून्य कर दिया। अतः विदेशी विद्वानों की विचार धारा को स्वीकार करके इन इतिहास लेखकों ने धर्म को उसी रूप में देखा जिस रूप मे इसे यूरोप में देखा गया था। इसी से इन लोगों ने स्वीकार किया कि अवश्य ही निश्चित रूप से भक्तिकालीन साहित्य के मूल मे वह निराशा-भावना निहित थी जिससे मुक्ति पाने के लिये साहित्य की सृष्टि की गयी ताकि निराश, पतित, पराजित एवं चेतनाशून्य जाति भक्ति भावना के आनन्द को प्राप्त कर अपने जीवन का परिष्कार कर भौतिक जीवन की शून्यता को धार्मिकता से परिपूर्ण करे। आचार्य शुक्ल ने भी इसीलिये विश्वास किया कि उनके समय मे भी धर्म की आड़ लेकर देश के राष्ट्रीय आन्दोलनो को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा था। प्रो० मोतीसिंह ने स्पष्ट कहा है कि 'सन्त कवियों के प्रतिनिधि कवि कबीर में जो अदम्य आत्म-विश्वास, निर्भीकता, रूढियों और जर्जर मर्यादाओं के प्रति हुंकार और चुनौती का स्वर है वह किसी क्लीव, निराश और पराभूत जाति के जीवन मे सम्भव है? तुलसीदास ने

रामचरित मानस मे राम के जिस ओजस्वी, लोकरक्षक, मर्यादा पालक और राष्ट्र के संरक्षक रूप और आदर्श की प्रतिष्ठा की है वह भी राजनीतिक दासता में पड़ी हुई जाति के लिए नई आशा, आस्था और कर्तव्य का प्रेरक है। सूरदास ने भी अडिग आस्था के साथ जैसी रस सिक्त और मुग्धकारी रचनाएँ की हैं उनमें भी निराशा की कोई रेखा नहीं दृष्टिगोचर होती। वास्तव में भक्ति की वेगवती धारा अनन्त छोटी मोटी विरल धाराओं के संयोग से इतनी सलिलवती हुई जिससे पूरा राष्ट्रीय-जातीय-जीवन प्लावित हुआ। ये शतशः जल-धारायें सुदूर अतीत के अदृश्य मार्गों और टेढ़े-मेढ़े रास्तों से आती हुई कैसे एक निश्चित आकार धारण करती है—वह समाज शास्त्र की एक बड़ा ही दिलचस्प कहानी होगी।'

यह तो निर्विवाद ही है कि भक्ति का विकास द्रविड़ देश में हुआ, रामानंद के अथक परिश्रम एवं साधना से वह उत्तर भारत की अपनी चीज बन गयी। इसका प्रभाव उत्तर भारत की संस्कृति पर आश्चर्यजनक रूप में पड़ा। द्रविड़ जाति के सम्बन्ध मे विद्वानों की धारणा है कि पहले यह जाति भारत के उत्तरी भाग में वर्तमान थी और सिन्धु घाटी की सभ्यता से पारस्परिक रूप मे प्रभावित थी। दोनों सभ्यताओं में अनुपम साम्य है। कहा जाता है कि कालान्तर में यह जाति नीचे बढ़ती हुई दक्षिण दिशा की ओर चली गई। आर्यों ने आरण्य संस्कृति को प्रश्रय दिया और इस प्रकार अपनी सभ्यता का विकास किया। धीरे-धीरे ये लोग भी अपना क्षेत्र व्यापक बनाते गये, द्रविड़ सभ्यता को भी आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। द्रविड़ जाति की सशक्त भक्ति भावना ने आर्य जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। ये प्रभाव अनेक रूपो से आर्य जीवन पर घटित हुए। अतः इनमें स्वभावतः विभिन्नता एवं विविधता आ गई। किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि जातियो का प्रभाव आर्य जाति पर पड़ा। ध्यान देने की बात यह है कि उपरोक्त संस्कृतियों मे स्त्री-उपासना की प्रधानता है, आर्य जाति पुरुष उपासना को प्रोत्साहन देती है। अब भी दक्षिण मे देवदासियो की प्रथा प्रचलित है जो भगवानके निमित्त मन्दिरों मे दान कर दी जाती हैं। उपरोक्त प्रो० सिंह ने इसी आधार पर अपने मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'भक्ति का मूल उत्स आर्येतर जातियों का जीवन था। इसके अनेक दूसरे आनुषगिक

प्रमाण भी मिल सकते हैं। भक्ति आदि के अन्तर्गत अवतारवाद, मूर्ति पूजा और उसी में तीर्थ व्रत आदि का महत्व पाया जाता है। नदी, वृक्ष आदि भी महिमान्वित होकर पूजा और आराधना की वस्तु हो जाते हैं। थर्स्टन ने करीब सौ वृक्षो की नामावलि दी है जिनकी पूजा किसी न किसी जाति में होती आरही है। उसी मे अश्वत्थ (पीपल) न्यग्रोध (बरगद) तुलसी आदि के वृक्ष हैं। आर्य-पूर्व जातियो मे नदी-वृक्ष आदि की पूजा निश्चित रूप से प्रचलित रही है। उसी प्रकार ग्राम देवता की पूजा भी वेदबाह्य और निंदित है। आज के लोक जीवन मे इसका व्यापक प्रचार भी आर्येतर जातियों के जीवन से आया है। तीर्थो की महिमा भक्ति में बहुत मानी गई है। आचार्य क्षिति मोहन सेन ने तीर्थ का अर्थ बताया है। नदी के किनारे ऐसे स्थान जो तरण योग्य हों। नदी के किनारे के लोग भिन्न अवसरो पर एकत्र हुआ करते थे और वही से तीर्थो का महत्व बढ़कर धार्मिक रूप हुआ। इस प्रकार आर्येतर स्रोतों से निकलकर भक्ति भाव धारा जन सामान्य मे अपना प्रभाव विस्तार कर रही थी। इष्ट की व्यंजना आज के उपलब्ध साहित्य मे बहुत विलम्ब से हुई मालूम होती है और इसी कारण इसके एक काल विशेष में प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होने के कारण अनेक प्रकार की अटकल बाजियाँ लोगों ने लगायी हैं। सस्कृत साहित्य मे तो भक्ति काव्य की अभिव्यजना अप्रतिहत रूप से वाल्मीकीय रामायण से अनेक रामायणों द्वारा होती हुई तुलसी की रामायण तक आती है, हिन्दी में अवश्य सर्व प्रथम रामचरित मानस के रूप मे रामकथा की मार्मिक व्यजना देखने को मिलती है किन्तु जैन अपभ्रंश में स्वयंभू ने जैन रामायण लिखी है जो आज उपलब्ध है। हो सकता है कि देशी भाषा में और भी रचनायें हों किन्तु वे अभी प्रकाश मे नहीं आयी हैं उसी प्रकार कृष्ण भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ पुराणों में प्रभूत मात्रा में मिलती हैं और उनसे अनुप्राणित जयदेव का गीत गोविन्द, बॅगला में चंडीदास और हिन्दी मैथिली में विद्यापति की रससिक्त रचनायें तो उपलब्ध ही हैं। सूरदास और विद्यापति के बीच कृष्ण काव्य की लुप्त कड़ी को खोजने की आवश्यकता है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे ठीक ही इस कथा की ओर संकेत किया है कि सूरदास का कृष्ण काव्य सम्भवतः लोक जीवन में चली आती हुई महती-परम्परा पर आधारित है। अवश्य ही हिन्दी में जो भक्ति साहित्य मिलता

है उनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है। मध्यकाल में उसकी प्रचुरता काल और परिस्थिति सापेक्ष नहीं है और न यह उस समय की तात्कालिक आकस्मिक उपज है। वास्तव में देश के लोक जीवन के अन्तराल में यह भक्ति परक भावधारा आदि काल से ही प्रवाहित होती चली आ रही थी और संस्कृत साहित्य में उसकी एक संबद्ध कड़ी है। हिन्दी में भी भक्ति काल से अभिहित होने वाले समय में एकाएक इसका आविर्भाव नहीं हुआ वरन् हिन्दी के आदि काल से ही सिद्ध, नाथ जैन और भक्ति काल के क्रमिक विकास की सीढ़ियाँ हैं।

आर्य लोग जब आरण्य संस्कृति के पश्चात् उन्नति करते कृषि सभ्यता तक पहुँच गये और उनका समस्त जीवन एक मात्र कृषि पर ही आधारित हो गया तब उनकी परम्परागत पूजा पद्धति एवं अनुष्ठानो में भी परिवर्तन आया। राम और कृष्ण काव्य में कृषि-संस्कृति की स्पष्ट रूप से झलक मिलती है। जनक की पुत्री सीता हल चलाने से ही उत्पन्न हुई थीं और बलराम का दूसरा नाम हलधर था। वेदकालीन गोमांसभक्षी आर्य कृषि की उपादेयता को समझकर पशुपालन मे लग गये, इस प्रकार उस समय की धार्मिक मान्यताओ एवं पद्धतियों में जबरदस्त परिवर्तन आया। भक्तिकाल में धर्म और भक्ति का एक स्वाभाविक विकास देखने को मिलता है। रामानुज वल्लभ तथा चैतन्य आदि आचार्यों तथा इनकी शिष्य परम्पराओं ने जिस भक्ति का प्रतिपादन किया, आगे चलकर वही धारा सहस्रमुखी होकर भारतीय संस्कृति को सींचने लगी। कबीर, मीराँ, सूर, तुलसी आदि की रससिक्त एवं भक्तिमयी साहित्य साधना इसकी साक्षी हैं।

जैन, बौद्ध, नाथ आदि संप्रदायों उनकी विभिन्न शाखाओं उपशाखाओं के मत-मतान्तरों की एक विकसित जीवन्त परम्परा थी जो उत्तरोत्तर गतिशील होती गयी और मध्ययुग विदेशी संस्कृति के प्रभावों से टकराकर अनेक आन्दोलन के रूप में परिवर्तित होती गयी। शैव, शाक्त, वैष्णव आदि की भक्ति सम्बन्धी अनेकों मनोरंजक कथाएँ हैं। इसीलिए विचारकों ने भक्ति भावना के मध्यकालीन रूप को आदि कृषि सभ्यता का स्मारक एवं जीवन्त इतिहास घोषित किया है।

पर्याप्त खोज के अभाव में शुक्लजी प्रभृति आलोचकों ने भक्ति आन्दोलन को मुस्लिम शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप माना था। यवनों की सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भक्ति आन्दोलन और साहित्य पर अप्रतिहत गति से पड़ा। परम्परागत भक्ति धारा को इस नवीन संस्कृति के संयोग से संजीवन शक्ति ही मिली और यह धार्मिक चेतना समस्त देश के कोने कोने में व्याप्त हो गयी। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि भक्ति साहित्य किसी नैराश्यपूर्ण अथवा पतनोन्मुख स्थिति का परिणाम न होकर परम्परागत विकास सूत्र का रूप था।

हिन्दी कविता में वीर तथा राष्ट्रीय भावना

हिन्दी साहित्य मे यद्यपि नव रसों का विधान है किन्तु उनमें प्रधानता शृङ्गार, वीर एवं शान्त रस की ही है इसीलिये महाकाव्य जो समग्र जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है उसमें उपर्युक्त तीन रसों मे से एक का होना प्राणवत् अनिवार्य है। यदि हम विश्व साहित्य के प्रारम्भिक विकास पर एक दृष्टि डालें तो हमें सर्वत्र वीरता का ही वैभव दिखाई पड़ेगा। चाहे हम स्पेन्सर की 'दि फेयरी क्वीन' उठा लें चाहे ट्रोजन युद्ध की वीर गाथा। वाल्मीकीय रामायण में राम रावण का विकट युद्ध वर्णित है, महाभारत तो मानो 'सूचिकाग्रे न दातव्यम् बिना युद्धेन केशव' की ही भूमि पर टिका है। दाँते की 'डिवाइन कामेडी' में कवि के भग्न हृदय की वीरता आत्मत्याग के व्याज से प्रस्फुटित हुई है। अतः यह सिद्ध ही है कि न केवल हिन्दी साहित्य का शैशव काल वीरता के घोर कर्कशनाद से पूरित था अपितु विश्व साहित्य के इतिहास का उषाकाल

वीरता की ऊर्जस्वित रक्ताभा से रंजित है। अन्तर केवल विभिन्न देशों की विभिन्न परिस्थितियों से उत्पन्न वीरभावना के दृष्टिकोणों का है।

भारत में राष्ट्र और राष्ट्रीयता का स्वरूप प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान समय तक अनेक बाने पहन चुका है। प्रागैतिहासिक काल में भारत-वर्ष एक राष्ट्र के रूप में अवस्थित था, इसके अभ्युत्थान के मूल मे आध्यत्मिक चेतना साकार थी इसीलिये इस युग की वीरभावना समाज कल्याण और बन्धुत्व के बीजों से ओत-प्रोत है। राजनीतिक और सांस्कृतिक अभ्युदय के लिये जन-जन का हृदय एक ज्वलत शिखा से देदीप्यमान था। डा० सुधीन्द्र ने लिखा है "भूमि भूमिवासी जन" और जन स कृत तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है। भूमि अर्थात् भौगोलिक एकता, जन अर्थात् जनगणकी राजनीतिक एकता और जन सस्कृति अर्थात् सास्कृतिक एकता तीनों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है। राष्ट्र भौगोलिक, राजनीतिक और सास्कृतिक इकाइयाँ पूंजीभूत हैं। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर उस युग में भारत की भूमि, जन एव संस्कृति के गौरव गान गाये गये हैं। 'जम्बू दीपे भरत खण्डे आर्यावर्ते, एवं 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' मे भारत के एक राष्ट्र की आत्मा ध्वनित होती है। इसी आदर्श राष्ट्रीय भावना ने चक्रवर्ती राजाओं को प्रेरणा दी तथा वे जनता जनार्दन के सेवक बनकर ही सब के सिरमौर बने। इन राजाओं मे भारत राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा एवं उत्थान की व्यापक आकांक्षा उद्दीप्त थी। राम से लेकर हर्ष तक भारत की कल्पना एक राष्ट्र के रूप में रही किन्तु मुस्लिम काल में वही भावना दुर्भाग्यवश प्रादेशिक एवं प्रान्तीय हो गई। आपस की टकराहट एवं संघर्ष ने सामाजिक सुख शान्ति एवं मेल को दूभर कर दिया। इस प्रकार देश की राष्ट्रीय एकता• एवं सास्कृतिक महत्ता को आक्रमणकारियों ने नष्ट-भ्रष्ट करके उसकी जड़ को भी उखाड़ फेकने की कोई कोर कसर नहीं उठा रक्खी।

वीर गाथा काल :—यह हिन्दी साहित्य का शैशव काल था। इस समय भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर थी। ईर्ष्या, द्वेष, कलह का घोर साम्राज्य था। मानो हि महतां धनं, जो मान राजपूतों का सर्वस्व था वही उनकी पारस्परिक कलह जन्य अवनति का प्रधान कारण बना। विदेशी

आक्रमणकारियों ने भारत की इस दुर्बलता एव दुरवस्था से पूरा लाभ उठाया। पारस्परिक फूट तो इतनी थी कि पृथ्वीराज के आवाहन करने पर भी भारत के राजे महाराजे विलास वैभव मे डूबे रहे, उन्होंने कभी अपने भविष्य के बारे में नहीं सोचा। यद्यपि कुछ वीर पुरुषो एव नरेशों ने अपनी प्राचीन महत्ता स्वतन्त्रता, धर्म संस्कृति, आचार-विचार एव स्वातन्त्र्य प्रेम को नहीं छोड़ा। पददलित होने पर भी आर्य धर्म एवं आर्य संस्कृति के संरक्षक बने रहे।

राजनीतिक परतन्त्रता के उन दुर्भाग्य की घड़ियो मे हिन्दी कविता का वीर भावना एक राष्ट्र पर आश्रित न होकर 'राज्य-भक्ति' मे सिमिट गई थी। उस युग के कवि का एक मात्र काम राजा की प्रशस्ति के गीत गाना, पराक्रम वर्णन करना, कन्यापहरण में वीरता का वर्णन करना तथा युद्ध क्षेत्र मे वीरो को उत्साहित करने के लिये वीर काव्य की रचना करना था। नरपति का 'खुमानरासो', शार्ङ्गधर का 'हम्मीर रासो', नाल्ह का 'बीसलदेव रासो', चन्द का 'पृथ्वीराज रासो', जगनिक का 'आल्ह खण्ड' एवं भट्ट केदार तथा मधुकर की 'जयचन्द प्रकाश' एव 'जय मयंकजस चन्द्रिका', इस युग की प्रसिद्ध कृतियाँ ह। जिनमे इन्होंने अपने अपने आश्रयदाताओं के गुण, पराक्रम एव शौर्य का गान किया है। चाटुकारिता की छाप स्पष्ट है। सेना के प्रमाण काल का पूर्ण चित्र खींचकर विपक्षियों की पराजित भावना का चित्रण कवि ने इस प्रकार उपस्थित किया है :—

> अम्भर दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झपिअ।
> कमट पिट्ट टटपरिअ, मेरु मंदर सिर कपिअ॥
> कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह सजुत्ते।
> किअउ कट्ठ हा कन्द! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥

उस समय राजपूती रस्सी वाह्य आक्रमणों के द्वारा क्षति ग्रस्त होकर अधजली अवश्य हो गई थी किन्तु उसकी ऐंठन अब भी ज्यों की त्यो थी। दिल्ली कन्नौज की प्रतिद्वंद्विता ही कविता का एक विषय रह गया था। जरा जरा सी बातो मे बद्धपरिकर हो जाने पर तलवारे म्यानो से निकल पड़ती थी। जगनिक के आल्ह खण्ड की छाया पर वर्तमान कवि के द्वारा प्रणति युद्ध कौशल की सजीव झाँकी देखिये :—

दगी सलामी दोनो दल माँ, धुँअना रह्यौ सरग मँडराय ।
तौपै छूटी दोनों दल माँ, रण माँ होन लगे घमसान ।
अररर अररर गोला छूटैं, कड़ कड़ करैं अगिनियाँ बान ।
रिमझिम रिमझिम गोला बरसैं, सननन परी तीर की मार ॥

युद्ध का वर्णन, सेना की तैयारी, शस्त्रों की खनखनाहट, तलवारों की छप-छपाहट एवं कायरों की भगदड़ के वीरोल्लास पूर्ण चित्र इतने साफ, धुले, सजीव और किसी युग में नहीं मिलेंगे क्योंकि राजस्थान के कवियों की आँखों ने शिव के ताडव नृत्य की तरह प्रकृति का क्रूर नृत्य देखा था, जीवन की कठोर वास्तविकताओं का सामना करते हुए युद्ध के नक्कारे की ध्वनि के साथ काव्य के स्वर संजोये थे। स्मरण रखने की बात है कि इस काल मे वीरता की ध्वनि शृङ्गार के सितार से ध्वनित हुई है। उस समय के रासो ग्रन्थों में थोड़े बहुत शृङ्गार के पुट के साथ ऐसी ही वीरता के दृश्य मिलेंगे। इस युग की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई, प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध की योजना प्रशंसनीय तथा वर्णन प्रभावोत्पादक एवं रसात्मक है। मुक्तक गीतों में वीरों और वीरागनाओं के हृदय मे उठने वाले मार्मिक भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

भक्तिकाल :—इस युग में वीरता का कारण व्यक्तिगत न रहकर सार्व-जनिक हो गया। मुगलों के अत्याचार एव मुसलमानों की धर्मांधता ने हिन्दू जाति को निराश्रित कर दिया। उस विचित्र स्थिति में उनका भगवान की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही था। सूर और तुलसी ने 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' के आधार पर अत्याचारियों का नाश करने वाले कृष्ण, राम का गौरव गानकर हिन्दुत्व की गिरती दीवारों मे पलस्तर लगाया। सूर ने मुख्यतः शृङ्गार और वात्सल्य का चित्रण करने में भक्तों की लाज रक्षा, विरद रक्षा एवं धर्म रक्षा के निमित्त वीर-रस की सुन्दर मार्मिक अभिव्यजना की :—

आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौं गगा जननी को, सातनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खण्डौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
सूरदास रण भूमि विजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

तुलसी ने राम के पौरुष, वीरता एवं उत्साह का चित्रण कितनी सजीवता से किया है :—

नानायुध सर चाप धर, जातुधान बलवीर।
कोट कगूँरनि चढ़ि गये, कोटि कोटि रणधीर ॥

ध्वनि वलिष्ट वीर रसात्मक प्रसंग की एक झाँकी और देखिये :—

मत्त-भट-मुकुट-दसकण्ठ साहस-सइल
सृंग-विच्छुरनि जनु ब्रज्र टाँकी।
दसनि धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठु,
सेपु सकुचित, सकित-पिनाकी।

नर-काव्य के रचयिता केशवदास वीर गाथा काव्य की भावनाओं के आस-पास ही मँडराते रहे। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' में राम रावण युद्ध एवं राम की सेना के साथ लवकुश के युद्ध का वर्णन बड़ी ही भावोत्तेजक शैली में किया है।

रीति काल :—'छत्र प्रकाश' के कवि गोरे लाल एव सूदन की कविताओं मे भारत, भारतवासी एवं भारत के धर्म सस्कृति से प्रभावित ओज और शक्ति का विपुल साम्राज्य है। उनके काव्य के नायक जनत्राता, संस्कृति धर्म के संरक्षक एवं हिन्दुत्व के उद्धार कर्ता थे। 'शिवाबावनी' 'शिवराज भूषण' एवं 'छत्रसाल दशक' के अमर कवि भूषण हिन्दी ससार के होमर हैं। उनकी आग उगलती फौलादी लेखनी से विप्लव विद्रोह एवं दर्प की उच्छ्वसित चिनगारियाँ निकल कर पातशाही को उखाड़ फेंकने की शक्ति रखती हैं। भूषण की कविता मुगलों के अत्यधिक अत्याचार की प्रतिक्रिया स्वरूप है। इसीलिए उसमें क्षुब्धता एव आक्रोश की भावना है :—

बूड़ति है दिल्ली सम्हारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आन लाग्यो शिवाराज महाकाल कौ।

उन्होंने शिवाजी को धम रक्षक कह कर हिन्दुत्व के नाते उनका यशगान किया :—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो आनि रसना सुघर में।

हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में ॥

वर्तमान काल :—शुद्ध व्यापक राष्ट्रीयता का सूत्रपात भारतेन्दु से प्रारम्भ होता है। उनकी वीर-भावना अखिल भारत को लेकर चली। वे युग पुरुष थे। उन्होंने नवीन युग की आशा-आकाक्षाओं को वाणी प्रदान की, फलस्वरूप भारतीय आत्मा का विद्रोह युगो की भीषण सुषुप्ति के बाद सहसा फूट पड़ा :—

आवहु ! सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

राज्य एवं राष्ट्र की मंगल कामना ही भारतेन्दु की क्रान्ति का लक्ष्य था। उन्होंने उसे संयत रूप से जनता के सामने रक्खा। क्रान्ति के उग्र रूप, आत्म-बलिदान की सच्ची प्रेरणा एवं महानाश के ताडव अट्टहास का उनमे अभाव है। आधुनिक युग संक्रमण संक्रान्ति, प्रलय-महानाश एवं सर्वाङ्गीण पुनर्जागरण का है। यह वीर भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सहारे आदर्श एवं दर्शन पर आधारित है। हिंसा के बदले आत्म-बलिदान की भावना का प्राधान्य है। गुप्त जी की 'भारत-भारती' एवं हरिऔध की देश सेविका राधा, चिर उपेक्षिता उर्मिला एवं यशोधरा को हम बलिदान की पवित्र वेदी पर यदि आत्मोत्सर्ग करते पाते हैं तो दूसरे छोर पर अंचल की कविताओं में अग्नि विध्वंसात्मक कणो की ज्वाला देखते हैं। गुप्त बन्धु सियाराम शरण ने 'बापू' शीर्षक कविता में गान्धीवाद का सुन्दर परिचय दिया है :—

जान लिया तुमने विशुद्ध अन्तःकरण से
सत्ताधारियों के प्रहरण से, नाश नही जीवन का
बीज उसमें है चिरन्तन का।

नवीन जी के 'कवि कुछ ऐसे तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए' में हमे उत्कट विद्रोह की भावना मिलती है। निराला जी के 'जागो फिर एक बार' में हमारे युग का विद्रोह विद्रही स्वरों में बोल रहा है। प्रगतिवादी कवि अपने आश्रयदाता के गीत न गाकर किसान, मजदूर, पीड़ित, और शोषित के गीत गाता है। पन्त जी की 'युग वाणी' मे साम्यवाद की पूरी छाप है। उन्होंने

राष्ट्रीयता के संकुचित घेरे में न बँधकर विश्वजनीन मानवता की पुकार की है :—

> क्षुद्र क्षणिक भव भेद जनित, जो उसे मिटा भव सघ भाव भर।
> देश काल औ स्थिति के ऊपर, मानवता को करो प्रतिष्ठित ॥

दिनकर जी की 'हुकार' मे युग की हुंकार अँगड़ाई लेती है। उनमें उत्साह, साहस, जीवन, एव जाग्रति की भावना एकाकार हो मृत प्राणों मे बिजलियाँ फूँक देती है :—

> धर कर चरण विजित शृङ्गों पर झडा नही उड़ाते हैं।
> अपनी ही उँगली पर जो, खजर की जग छुड़ाते हैं।

सुभद्रा जी की 'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' में भारतीय वीरांगनाओं का शौर्य बोल रहा है और 'एक भारतीय आत्मा' के 'एक फूल की चाह' मे एक शहीद का आत्मवलिदान। 'भैसा गाड़ी' मे आज के युग की दरिद्रता, पीड़ा एवं दैन्य एक ठौर होकर अपने भाग्य को कोस रहा है :—

> चाँदी कि टुकड़ों को लेने, प्रतिदिन पिटकर भूखों मरकर।
> भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर।

सुमन जी की 'मास्को अब भी दूर है' कविता साम्यवादी विचारो की पुष्टि करती है। आज चीन की जन-क्रान्ति एव रूस की लाल क्रान्ति शोले भड़का कर हमारी कुम्हलायी आत्मा को एक बार पुनः झकझोर कर विद्रोह करने की निमन्त्रण दे रही है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान का विकास

हिन्दी-साहित्य का शैशव काल वर्णनात्मक होने के कारण प्रायः मनोविज्ञान से शून्य है, उसमें सर्व-प्रथम भक्तिकाल में विद्यापति सूर, तुलसी, मीराँ और की कविताओं में मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। यद्यपि इन कवियों में भी उतनी उच्चकोटि की चमत्कारमयी मनोवैज्ञानिकता नहीं आ पाई फिर भी उस बौद्धिक जड़ युग के लिए कम गौरव की वस्तु नहीं है। मानव स्वभाव एवं मनोद्वेगों का परिचय जिस खूबी से इन कवियों ने किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। सूर ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल से प्रारम्भ कर उनकी यौवनकाल तक की प्रेमलीला का जो भावपूर्ण मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है उससे उस अंधे कवि के हृदय की विराट गम्भीरता, रस स्निग्धता एवं आर्द्रता का परिचय मिलता है, उदाहरणार्थ :—

तुम पै कौन दुहावै गैया,
इत चितवत उत धार चलावत यहि सिखयो है मैया।

दो प्रेमियों की पारस्परिक रस-स्निग्धता इन शब्दों के रग रग मे मनोविज्ञान के मुख से बोलती है। तुलसी का अयोध्या काड मानो मनोविज्ञान का महल ही है। उसमें मानव के स्वार्थ और परमार्थ, प्रेम और घृणा तथा अन्तरात्मा की परस्पर विरोधी उलझनों के सघर्ष और विघर्ष का जो मार्मिक और विस्फोटात्मक वर्णन किया गया है वह मध्यम युग के शेक्सपियर और उन्नीसवीं सदी के डास्टाएव्सकी के मनोवैज्ञानिक सधान-विधानात्मक चित्रण से किसी अंश में भी न्यून नहीं है बल्कि अधिक उन्नत है—इसीलिए कि उसका ध्येय उनकी तुलना में अधिक कल्याणकारी है। विद्यापति के पदों मे मनोविज्ञान की अपेक्षा रसिकता की मात्रा अधिक है। मीराँ के मार्मिक पदों में मानो मनोविज्ञान की मिठास साकार हो गयी है :—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी मेरो दरद न जानै कोय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहि कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटै जब बैद सँवलिया होय॥

रीति-कालीन कवियों की कमजोर दृष्टि मानव मन के ऊपर ही ऊपर अपने कल्पित स्वप्नों को सहलाती रही। उसे केवल ऊपर स्तर की छिछली वासनात्मक प्रवृत्तियों के ही दर्शन हो सके इसलिए उसी में उनकी ऊहात्मक उक्तियाँ उड़ उड़ कर मंडराती रहीं, टूट टूट कर लालची गिद्धो की तरह गिरती रहीं। उनकी सारी प्रतिभा इन्हीं पेचीदे मजमूनों में ही खप गयी। द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मकता का ही अधिक जोर रहा। अन्तर्विज्ञान का जैसा दिवाला इस युग में निकला वैसा किसी युग में नहीं।

छायावादी युग में कवि और लेखक इतिवृत्तात्मकता से ऊब कर मनोविज्ञान की ओर झुके। किन्तु इस युग में मानव की अन्तर्प्रवृत्तियों के निरपेक्ष विवेचन और विश्लेषण के स्थान पर अपनी कल्पित स्वछन्द प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। प्रगतिवादी कवियों से तो मनोविज्ञान की आशा करना दुराशा मात्र है। प्रयोगवादी कवि अपनी कलापूर्ण मनोवैज्ञानिक रचनाओ से हमारे स्वप्न को पूरा करते हुए हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत कर रहे हैं। उदाहरण के लिए कुछ प्रयोगवादी कविताएँ देखिये :—

वह मित्र का सुख
ज्यों अटल आत्मा हमारी बन गयी साक्षात् निज सुख
वह मधुरतम हास
जैसे आत्म परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त होकर
आत्मा के मित्र मेरे (गजानन माधव मुक्ति बोध)

जीवन मे फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर सी
वैभव की वे शिलालेख सी यादें आतीं
एक चाँदनी भरी रात उस राज नगर की

रनिवासों की नंगी बाहों सी रंगीनी
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की।

(गिरिजा कुमार माथुर)

× × ×

भीगा दिन पश्चिमी तटों पर उतर चुका है
बादल ढकी रात आती है
धूल भरी दीपक की लौ पर मन्दे पग धर
गीली राहें धीरे धीरे सूनी होती
जिन पर बोझिल पहियों के निशान हैं
माथे पर की सोच भरी रेखाओ जैसे।
पानी रंगी दिवालो पर, सूने राही की छाया पड़ती
पैरो के धीमे स्वर मर जाते हैं, अनजान उदास दूरी में॥

(माथुर)

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ मे निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टॉगों पर
खड़ा नत ग्रीव, धैर्य धन गदहा है

× × ×

सरग था ऊपर नीचे पताल था
अपच्च के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का; खद्दर का खाल था (नागार्जुन)

कथा-साहित्य के क्षेत्र मे सर्व-प्रथम प्रेमचन्द जी की रचनाओं में मनोविज्ञान की झलक मिलती है किन्तु वह हृदय के तारो को झकझोर कर ऊपर-ऊपर से टकरा कर रह जाती है। सच तो यह है कि वे मानव जगत के वाह्य संघर्षों की अत्यधिक व्यस्तता के कारण अन्तर्संघर्षों की ओर मुड़ ही न पाए। उनके समस्त उपन्यासों में वाह्य जीवन के घात-प्रतिघातों की प्रधानता है, अन्तर्जीवन की झाँकी एवं सूक्ष्मता का अभाव होने के कारण उनकी कला और साधना अधूरी रह जाती है। कारण स्पष्ट है क्योंकि उसी वाह्य जीवन-चक्र का चित्रण

सच्ची सफलता के साथ किया जा सकता है जो अन्तर्जीवन चक्र पर आधारित हो। इसलिये जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपना कर दूसरी की उपेक्षा करेगा उनकी एकागीयता निरर्थक सिद्ध होगी। इसीलिये इतने अधिक सफल और लोकप्रिय प्रेमचन्द के ऊपर भी उन्ही के प्रशंसक आलोचकों ने आरोप लगाया कि औपन्यासिक कला के चमत्कार प्रदर्शन में और जीवन के किसी भो मार्मिक सत्य के उद्‌घाटन में वह पूर्णतया असफल रहे।

आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के लेखक बकिम बाबू थे। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'विष-वृक्ष' 'कृष्ण कान्त की वसीयत नामा' और 'रजनी' में उच्च कोटि का मनोविज्ञान मिलता है। इनके पश्चात् रवीन्द्र-नाथ की 'ऑख की किरकिरी' में मनोरम मनोविज्ञान के दर्शन होते हैं। जिसकी पूर्णाहुति 'घरेबाहरे' में हुई है। उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्‌घाटन के साथ वाह्य जीवन के सघर्षो का चित्रण ऐसी कलात्मक मार्मिकता के साथ किया गया है जो कवीन्द्र की ही लेखनी से संभव था। रवीन्द्र के पश्चात् शरद् बाबू ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया किन्तु वे उसमें स्वयं उलझ कर रह गये। मनोवैज्ञानिक पात्रों के चरित्र-चित्रण मे जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता होती है उसका उनमे एकान्त अभाव है। इसीलिए उनके नायक निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अत्यन्त कायर, दुर्बल चरित्र एवं आत्मघाती सिद्ध होते हैं। यद्यपि उनके प्रति शरद् ने पूर्ण सहानुभूति प्रदर्शित करके आदर्श रूप में पाठकों के आगे रखा है।

पूर्ण मनोविज्ञान के चित्रण की दृष्टि से जिस लेखक के ऊपर हिन्दी साहित्य को गर्व है वह हैं श्री जैनेन्द्र जी। उनकी 'परख' 'त्यागपात्र' 'सुनीता' और 'विवर्त' में उच्चकोटि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुद्ध मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि विद्य-मान है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता की दृष्टि से तो वे रवीन्द्र नाथ जी को भी पीछे छोड़ जाते हैं, 'सुनीता' का उदाहरण सामने है। 'सुनीता' में क्रातिकारी हरि प्रसन्न सुनीता को अपनी सब कुछ बनाने की इच्छा रखते हुये भी अपनी क्राति-कारी दल के बीच उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है। दूसरी ओर सुनीता का पति श्रीकान्त उन दोनों के बीच की घनिष्ठता मे सहायक सिद्ध

होता है। ध्यान देने के स्थल तो वे हैं जहाँ विमला और सुनीता पतन के गढ़े में गिरते-गिरते स्वयं संभल कर अपने अपने जीवन साथियो को भी सँभाल लेती हैं। जैनेन्द्र जी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने उन जटिल गुत्थियों की बड़ी सफाई के साथ सुलझाने की चेष्टा की है और इसमें सफल भी हुए हैं क्योकि हरिप्रसन्न जैसे विचित्र जीव के मनोविज्ञान को पढ़ लेना असाधारण प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। उन्होंने उसकी गहनतम अंधकारमयी हृदय की गुफाओं में अन्तर्चेतन रूप से पड़ी हुई टेढ़ी मेढ़ी प्रवृत्तियों को जिस बारीकी एवं सफाई से सुलझाया है, सुनीता जैसी जटिल प्रकृतिवाली नारी के मनोभावों का जिस खूबी से आपरेशन किया है वह उनको 'उच्चकोटि के कला के डाक्टर' की उपाधि श्रद्धा के साथ प्रदान करता है। 'सुनीता' के पात्रों की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वे अन्तर्जगत की दुर्गम घाटियों में गिरते पड़ते अग्रसर होते हैं, विकास का पथ खोजते हैं। दोनों के बीच संघर्ष की लहरें उठती हैं और अन्त में दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण कर वे जीवन में सामंजस्य का सूत्र पकड़ने की ओर द्रुत गति से उन्मुख होते हैं। इसी बात में जैनेन्द्र जी के मनोविज्ञान की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

जैनेन्द्र जी के पश्चात् मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र में शेखरःएक जीवनी के यशस्वी लेखक अज्ञेय जी का नाम लिया जाता है। पुस्तक के नायक शेखर के चरित्र का विकास प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक ही मूलगत आधार को लेकर हुआ है और वह आधार है उसका अत्यन्त क्षुब्ध, तीव्र, गहन सर्व-ग्रासी अहंभाव। इसी अहंभाव का प्रस्फुटन लेखक ने अपनी प्रतिभा के सहारे अनेक कलात्मक रंगों से रजित करके किया है। साथ ही विचित्र दार्शनिक सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। व्यक्ति के अहंभाव के चरम विकास को ही शेखर ने जीवन का एकमात्र उन्नत ध्येय स्वीकार किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि शेखर के रूप में मानों अज्ञेय ही बोल रहे हैं।

इलाचन्द्र जी के उपन्यासों 'घृणामयी' 'संन्यासी' 'पर्दे की रानी' 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासिता' में अज्ञेय जी से ठीक विपरीत व्यक्ति के अहंभाव की एकान्तिकता पर निर्भय होकर चोट की गयी है। जोशी जी का स्वयं का कथन है कि 'आधुनिक समाज मे पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही

है त्यों त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्मविनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषितवर्ग है नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है। इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता में बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं, साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयकर रूप से जुटते चले आ रहे हैं। आज की नारी शरत् युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में न पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव मे अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नही करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझ कर व्यक्ति और समाज के अत्याचार का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा मे जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्‌घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।'

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान का क्रमशः विकास देखते हुए कहना पड़ता है कि हिन्दी का मनोविज्ञान उपन्यास एवं कहानी साहित्य मे आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है। निबन्धों के क्षेत्र मे शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' मे संगृहीत निबन्ध मनोविज्ञान की सर्वोत्तम देन हिन्दी साहित्य को है। लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि हिन्दी का मनोविज्ञान भारत की अन्य सभी भाषाओं के मनोविज्ञान के समानातर तेजी से उन्नति के पथ पर अग्रसर हैं। आज का युग ही मनोविज्ञान का है। कुंजड़े की दूकान मे दो पैसे की मूली खरीदने से लेकर बैंक में चेक भुनाने तक हमे मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। मनोविज्ञान इस वैज्ञानिक युग की मानो आत्मा है। अन्त मे जोशी जी के ही शब्दो में कहना विशेष अच्छा

लगता है कि आज के हिन्दी साहित्य का मनोविज्ञान 'न पाश्चात्य जगत के किसी मनोवैज्ञानिक स्कूल का आश्रय प्रार्थी रह गया है, न रवीन्द्र अथवा शरद् की औपन्यासिक रचनाओ के आधार का। आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जीवन के स्वतंत्र अवयवों के स्वतंत्र सत्यो को विश्व साहित्य के प्रागण में आत्मविश्वास के साथ रखने का दावा करता है।

—

संत कवियों की सामाजिक मान्यताएँ

सन्त कवि जीवन संग्राम में जू ते हुए कमल की तरह कीचड़ से ऊपर उठकर सदैव लोक कल्याण के चिन्ता में व्यस्त रहे हैं। तटस्थ भाव से उन्होंने खुली आँखों से समाज की क्षणभंगुरता, असारता, खोखलापन और ढोंग के दर्शन किए हैं। उनकी आध्यात्मिक साधना और ईश्वर भक्ति से संबंधित भावनाओं में सामाजिक आदर्शों के संकेत प्राप्त होते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। अपने चारो ओर के वातावरण को भौतिकता की आँच मे सुलगते तथा माया-मरीचिका मे सतप्त देखकर इन महापुरुषो को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसी भाव को लेकर उन्होने उपदेश दिये। उन्होने लौकिक जीवन की क्षणभंगुरता, आपसी कलह तथा विरोध आदि के कारण लोक-जीवन-संबन्धी बातों को छोड़कर चिरंतन, अनन्त एव शाश्वत तत्व का आश्रय ग्रहण किया और उसकी प्राप्ति के लिए तदनुकूल जीवन के आदर्श एवं सामाजिक मान्यताएँ निर्धारित की।

सन्त कवि अपने समय से कितने प्रगतिशील थे। आज के विषम परिस्थति एव उलझी हुई समस्याओं के सुलझाने की कुंजी सन्त-साहित्य मे विद्यमान्

है। उन्होंने मानव-मात्र में समता लाने के लिए अथक प्रयत्न किये। सन्त कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि ने सामाजिक साम्य की प्रतिष्ठा कर वर्णभेद, जातिभेद तथा धर्मभेद को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। ईश्वर की उपासना के सामान्य क्षेत्र में उतर कर पारस्परिक ऊँच-नीच की भावना को भुलाकर सब के लिए कल्याण-पथ का प्रदर्शन किया। उन्होंने समाज की रूढ़िवादिता एवं सामाजिक व्यवस्था पर कठोर आघात करते हुए समन्यवादी मार्ग को अपनाया। संघर्षात्मक सिद्धान्तो एवं विचार धाराओं के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया।

व्यक्तियों का सामूहिक रूप ही समाज है अतः व्यक्तियों का आचार-विचार परक चिंतन ही मिल-जुल कर सामाजिक मान्यताओ का निर्धारण करता है। व्यक्तिगत आचरण तथा उपदेशो द्वारा निर्गुणोपासक कवियों ने प्रधानतया इन सामाजिक आदर्शों की स्थापना की है :—

(१) सत्य की प्रतिष्ठा एवं असत्य का त्याग।

(२) सत्संग पर जोर।

(३) त्याग, परोपकार, दया, उदारता एव सादे जीवन की मान्यता।

(४) काम-क्रोध और मद-मोह का त्याग।

(५) ईश्वर पर अटूट विश्वास, अद्वैत भावना।

(६) समता सिद्धान्त।

(७) वर्ण एव वग भेद-भाव का वहिष्कार।

(१) सत्य की प्रतिष्ठा एव असत्य का त्याग :—सत्य ईश्वर का दूसरा रूप माना गया है। सत्य ही एक ऐसा सार्वभौम शाश्वत तथ्य है जो सभी देश काल एवं समाज मे समान रूप से प्रतिष्ठित है, समाज की सुव्यवस्था एवं उन्नति के लिए सत्यपालन अत्यन्त आवश्यक है। सत्य से शून्य कोई भी पुष्ट समाज अधिक दिनों तक अपना अस्तित्व नही रख सकता। सत्य कभी दो नहीं हो सकता, सदैव एक होता है। आज के संसार में जो मार-काट, खींचा-तानी हो रही है उसी एकमात्र सत्य की उपलब्धि के लिए, किन्तु आज की सभ्यता उससे कोसों दूर है। समाज की विषम से विषम गुत्थियाँ एकमात्र

सत्य के सहारे सहज ही में सुलझायी जा सकती हैं। इसलिए सन्त कवियों ने सत्य को अपनी साधना का प्रथम सोपान माना है और बराबर सत्य पर विशेष बल दिया है :—

सॉच बराबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदय सॉच है, ताके हृदय आप॥

इन भक्त एवं सन्त कवियों का मुख्य उद्देश्य हमारे सामाजिक जीवन में सत्य संबन्धी चेतना की जागृति करना था और वे इस काम में आशातीत सफल हुए। पाखंड और आडम्बर के विरोध मे मन, वचन, कर्म की एकता एव सत्यता पर जोर डालते हुये उन्होंने जीवन के सामान्य तथ्यो का निर्धारण किया। तुलसीदास जी ने सैद्धान्तिक सत्य की अपेक्षा व्यावहारिकता पर अधिक जोर दिया :—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

× × ×

करनी बिन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकुर ज्यों भूँकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥

सरल और सच्चा जीवन बिताने वाले इन संतों ने सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग के विपरीत जो कलुषित आचरण देखा था उसका जीवन भर घोर विरोध करते रहे। असत्य पर आधारित रूढ़ियों, पाखंडों और आडम्बरों से सामाजिक चेतना का ह्रास होता है, भीरुता आती है। आत्मविश्वास कुंठित होता है। तथा विभिन्न वर्गों एवं सम्प्रदायों के बीच भेद-भाव की दीवार खड़ी होती है। कबीर ने अपने युग के असत्य को छिपाने वाले पाखंडों को जिन विकृत रूपों मे देखा था वे थे :— वर्ण और धर्म भेद, मूर्ति पूजा का ढोंग, आन्तरिक शुद्धि के बिना तीर्थ व्रत आदि का आडम्बर, बाह्य प्रदर्शन पर विशेष ध्यान। इसीलिये सन्तों ने आन्तरिक शुद्धि एवं सत्यता पर विशेष बल दिया है। उन्होंने डके की चोट पर कहा कि :—

साधू भया तो क्या भया, माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भँगार॥

मूड़ मुड़ाये हरि मिलै, सब कोउ लेइ मुड़ाय।
बार-बार ले मूड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय॥
साईं से साँचे रहो, साईं साँच सुहाय।
भावै लाँवे केश रख, भावै घुरड़ि मुड़ाय॥

नानक ने तो आन्तरिक शुद्धि के बिना व्रत, नियम, तीर्थ आदि सब को निस्सार घोषित किया है :—

बरतु नेम तीरथ भ्रमे, बहुतेरा बोललि कूड़।
अंतरि तीरथु नानका, सोधन नाहीं मूड़॥

ईश्वर को मन्दिर मस्जिद की सीमित साम्प्रदायिक दीवालों के भीतर केन्द्रित करने-वालो को संत कवियों ने कितनी तीव्र फटकार सुनाई है :—

यह मसीत, यह देहरा, सत गुर दिया दिखाय।
भीतर सेवा बन्दगी, बाहरि काहे जाय॥

इन संत कवियों ने हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र आदि का भेद भी बनावटी माना है और उसे आडम्बरयुक्त ठहराया है। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी को क्षणभंगुर एवं मिट्टी होने वाला बतलाया है :—

माटी के घर साज बनाया, नादे बिन्दु समाना।
घर विनसे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥
एकै हाड़ त्वचा मल मूत्रा, एक रुधिर-एक गूदा।
एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को सूदा॥

(२) सतसंग पर जोर :—विवेक एवं चेतना के प्रबुद्ध के लिये, विकारों के शमन के लिये तथा आत्मिक विकास और जीवन के यथार्थ आनन्द के लिये सन्तों के सतसंग को श्रेष्ठ साधन के रूप में स्वीकार किया है। तुलसी ने तो यहाँ तक कहा है कि :—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला यक अंग।
तुलै न ताही सकल मिलि, जो सुख लौ सतसग॥

एक घरी आधी घरी, आधी में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की, हरे कोटि अपराध॥

सन्तों ने शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक सतसंग को सदैव श्रेष्ठ ठहराया। अतः सतसंग का सामाजिक जीवन के परिष्कार एवं उत्थान की दृष्टि से बहुत महत्व है। भक्तों ने तो सतसग को पारस मणि के समान बताया जो स्पर्श मात्र से निकृष्ट से निकृष्ट धातु को भी 'कंचन करत खरो'। सभी भक्त कवियों ने सतसग पर बहुत जोर दिया :—

आज दिवस लेऊँ बलिहारा। मेरे घर आया राम प्यारा॥
आँगन बँगला भवन भयो पावन। हरिजन बैठे हरजस गावन॥
करूँ दंडवत चरन पखारूँ। तन, मन, धन उन ऊपर वारूँ॥

त्याग परोपकार दया उदारता एवं सादे जीवन की मान्यता :— सन्त कवियो ने मानव समाज में यथार्थ साम्य स्थापना करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। परोपकार का भाव समाज मे एक दूसरे के स्वार्थ साधन के साथ साथ विकास का मार्ग है, इससे समाज में समृद्धि, आनन्द एवं सन्तोष-भावना की वृद्धि होती है। एक ही रोटी के टुकड़े को कई लोग बराबर बराबर बाँट कर खालें, भले ही आधे पेट, किन्तु उससे जो उदारता एवं संतोष मिलता है वह अमूल्य है। त्याग, दया, परोपकार, उदारता एवं सादे जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा इन कवियों ने की :—

हाड़ बड़ा हरि भजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देय।
अकिल बड़ी उपकार कर, जीवन का फल येह॥
ऋतु वसन्त जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात॥
जो तोकूँ काटा बुवै, ताहि बुवै तू फूल।
तोको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥
सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर प्रेम प्रसूति॥

(४) काम क्रोध मद मोह का त्याग :— साधना के मार्ग में इन दुर्गुणों के कारण अनेक विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं, भक्ति के तो ये सहज शत्रु हैं। अतः

सन्त कवियो ने इनसे परहेज करने मे ही मानसिक स्वास्थ्य लाभ पाया है और बारम्बार इनसे दूर रहने का आदेश दिया है।

(५) ईश्वर पर अटूट विश्वास एवं अद्वैत भावना :—सन्त कवियों द्वारा प्रतिपादित समस्त आदर्शों के मूल मे ईश्वर की सत्ता के प्रति अटूट विश्वास की भावना प्रतिष्ठित की है। ईश्वर का अद्वैतभाव से दर्शन और उनकी सर्व-व्यापकता पर विश्वास हमें सत्य की ओर ले चलता है तथा भौतिक परिस्थिति की विषमता उपस्थित होने पर भी आचरण एवं व्यवहार में सन्तुलन स्थापित करता है। सन्त कवियो का दृष्टिकोण बहुत उदार है, उसका सामाजिक महत्त्व बहुत उच्चकोटि का है। 'ज्ञान समुद्र' के प्रारम्भ में भक्त कवि सुन्दरदास ने इस परम तत्त्व चिन्मय ब्रह्म की वन्दना करते हुये कहा है :—

ब्रह्म प्रणम्य प्रणम्य गुरु, पुनि प्रणम्य सब सन्त।
करत मगलाचार इमि, नासत विघ्न अनन्त॥
उहै ब्रह्म गुरु संत उह, वस्तु विराजत एक।
वचन विकास विभाग त्रय, वन्दन भाव विवेक॥

सन्तों की यह धारणा है कि निर्गुण रूप ज्ञान तथा सगुण व्यवहार के लिये है, सेवा के लिए सगुण रूप का विधान है तथा ईश्वर के सगुण रूप इस संसार में संतजन ही हैं। पलटू साहब ने स्पष्ट कहा है :—

सत और राम को एक कै जानियै,
दूसरो भेद ना तनिक आनै।
लाली ज्यो छिपी है मेहदी के पात में,
दूध में घीव यह ज्ञान ठानै॥
फूल मे बास ज्यो काठ मे आग है,
संत में राम यहि भाँति जानै।
दास पलटू कहै सत मे राम हैं
राम मे सन्त यह सत्य मानै॥

सन्तों ने साम्य-भावना को दृष्टि में रखकर समाज के कल्याणकारी उन उपायों को विशेष प्रोत्साहन दिया है जो समाज मे व्याप्त भेद भावना (वर्ग

जाति या धर्म कोई भी) को उखाड़ सके। उन्होंने समस्त कृत्रिमता से उत्पन्न भेद-भाव को चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या व्यक्तिगत किसी भी जीवन में क्यों न हो व्यर्थ कह कर मनुष्य को पहचानने का उपदेश दिया है। मानव सेवा को सबसे बड़ा पुण्य कार्य ठहराया है। कृत्रिम एवं जड़ मूर्तियों की अर्चना की अपेक्षा सजीव मनुष्यों की सेवा-सुश्रूषा पर विशेष बल दिया है :—

जल पखान बोलै नहीं, न कछु पियै ना खाय।
पलटू पूजै सत को, सब तीरथ तरि जाय॥
हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमान मसजीद।
पलटू पूजै बोलता, जो खाय दीद बरदीद॥
हिन्दू कहूँ तो हौं नहीं, मुसलमान भी नाह।
पाँच तत्व का पूतला, गैबी खेले माहि॥
पलटू ब्राह्मन है बड़ा जो सुमिरे भगवान।
बिना भजन भगवान के, ब्राह्मन ढेढ़ समान॥
चारि बरन को मेटि कै, भक्ति चलाया मूल।
गुरु गोविन्द के बाग में, पलटू फूला फूल॥
जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मति, उनकी एकै जाति॥

(६) समता का सिद्धांत :—सन्त कवियों ने कीट कुञ्जर को एक ठहराया। दोनों की आत्मा एक होने के कारण उनमें विभिन्नता कैसी? गोरखनाथ ने भी स्पष्ट एवं खुले शब्दों मे कहा कि 'हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे, हम जोगी न रखैं किसइ के फन्दे।' कबीर के मतानुसार वास्तविक भेद न होकर केवल कृत्रिमता का ही भेद है। जन्म एवं मृत्यु के समय दोनों एक हो जाते हैं। बीच के जीवन मे कुछ बाह्य पदार्थों के आधार पर विभिन्नता को हम वास्तविकता का रूप दे देते हैं। क्योंकि :—

जन्मत सूद भये पुनि सूदा।
कृत्रिम जनेऊ घालि जग दुन्दा॥

सच बात तो यह है कि इस साधना मार्ग में सब का समान अधिकार है, यहाँ तो 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई'। 'सन्त

नानक जी भी कृत्रिम भेद भाव से घृणा करते थे उनके विचार से ईश्वर एक है, वह किसी को कोई वस्तु, वर्ण भेद पर ध्यान रख कर नही देता वरन् साधक को चाहे वह जिस वर्ग, वर्ण, जाति या धर्म का हो उसकी साधना का फल अवश्य देता है। पलटू साहब कर्म को ही प्रधान मानते हैं और वह कर्म भक्ति का पर्याय है जिसके पास यह सात्विक सम्पत्ति है वही पूज्य एव श्रेष्ठ है।

(७) वर्ण एवं वर्ग भेद भाव का बहिष्कार :—सन्त कवि प्रायः समाज के निचले स्तर के ही प्रतिभाशाली व्यक्ति हुये हैं। कबीर जैसे मुसलमान, सेना, धना, सदना, रैदास जैसे अस्पृश्य एवं निम्न श्रेणी के सन्त हुये हैं उनमें वर्ण भेद भावना, जाति या वर्ग भेद भावना की छाया तक नहीं है। ईश्वर को पहिचानने वाले सभी एक हैं। डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि 'यह साम्य भावना का फूल था जिसकी सुगन्ध आज तक इन भक्तों की वाणियों मे महक रही है।...आज भी हमे इन संतों की सामाजिक साम्य एव एकता की भावना को आदर्श मान कर सामाजिक सुधार करना है। समाज का वह निर्माण जो इन सतों की निर्मल दृष्टि द्वारा देखे तत्वों और सूक्ष्म सकेत रूप वाणियों द्वारा व्यक्त आदर्शों के सहारे होगा वह चिरस्थायी होगा। उसकी एकता और समता की नीव पर युग युग तक खड़े रहने वाले सर्व जन कल्याणकारी मूल्य भवनों का निर्माण हो सकता है अन्यथा ऊपरी साम्य पर आधारित कागज के घर एक ही झोके में न जाने कहाँ उड़ जायँगे।"

साहित्य में आदर्श और यथार्थ का स्थान

कवि या कलाकार को एक दूसरा प्रजापति माना गया है क्योंकि कल्पना के द्वारा निर्मित उसकी सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि की छाया ही होती है जहाँ उसको किसी प्रकार का असन्तुलन दिखता है वहीं वह अपनी प्रतिभा के बल पर आदर्शों के अनुकूल सुधार लेता है। कवि या कलाकार जिस प्रकार अपनी आँखों के आगे फैले ससार को देखता है ठीक उसी प्रकार चित्रण करे, भले ही वह प्रेरणा से शून्य और वीभत्स हो या उसको मनोनुकूल बना कल्पना के सहारे इतना परिवर्तन कर दे कि सत्य का गला ही घुट जाय। इन दो परस्पर विरोधी विचारों को लेकर दो वाद खड़े हो गये हैं। कुछ लोग 'जैसा देखा जाय ठीक वैसा चित्रण किया जाय' (यथार्थवाद) को महत्व देते हैं जब कि दूसरे पक्ष के लोग इसे गर्हित ठहरा कर आदर्शवाद के पक्ष का समर्थन करते हैं।

यहाँ पर आदर्श और यथार्थ पर सूक्ष्मता के साथ विचार कर लेना समीचीन होगा। यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है, उसमें पुन्य-पाप, धूप-छाँह, सुख-दुख, वेदना-हर्ष दोनो का सम्मिश्रण रहता है। यथार्थवादी वर्तमान की वास्तविकता के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक रहता है। न तो वह आदर्शों के सहारे इन्द्र के नन्दन निकुंज से परियों के साथ आँखमिचौनी खेलने के सपने देखता है और न भावी योजनाओं के चिन्तन मे व्यस्त रहता है। वह कटु मे कटु सत्य को कहने में भी संकोच नही करता। कला की अपेक्षा विज्ञान की ओर विशेष झुका रहता है। वह गुण-अवगुण मे किसी की भी विशेष परवाह न कर वास्तविकता को विशेष महत्व देता है।

आदर्शवादी स्वप्न-द्रष्टा होता है, उसकी दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर ही झूम जाती है। उसके स्वप्निल दृष्टि को अवगुण भी गुण के समान दिखाई देते हैं। वह एक प्रेमी कलाकार होता है, जो अनुराग से ओत-प्रोत रहता है,

वह संसार में ईश्वरी न्याय और सत्य की विजय देखने का अभिलाषी है। यहाँ तक कि संघर्ष मे भी साम्य देखना चाहता है। वह संसार के शोर गुल से ऊबकर उस निर्जन सागर की लहरो मे गोते लगाना चाहता है जहाँ अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम कथा कही जाती हो। यदि वर्तमान अंधकारपूर्ण है तो वह आशामय उज्ज्वल भविष्य की झाकी देखने में तन्मय रहता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आदर्श का सम्बन्ध उधार धर्म से है, जब कि यथार्थ का नकद धर्म से। आदर्शवाद जहाँ हमे चरम सीमाओं की ओर ले जाता है वहाँ यथार्थ मध्य पथ को ग्रहण करता है जहाँ से दोनों सिरे सुगमता से देखे जा हैं। यथार्थवादी लेखक, कवि की अपेक्षा आलोचक अधिक होता है। वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि को गलदश्रु भावुकता मे हृदय के साथ बहने को नही छोड़ देता अतः आदर्शवादी साहित्य लेखकों मे साधना की विशिष्टता और यथार्थवादी लेखकों मे जिज्ञासा और अनुभव की मात्रा विशेष रहती है।

आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति प्रधान होता है उसका कथानक एव नायक भी जन साधारण के बीच कुछ विशेषता रखता है इससे सामान्य लोगों की दृष्टि उसके अलौकिक गुणों की ओर स्वभावतः खिंच जाती है। उसकी शक्ति और विशेषताओ का आकर्षण धीरे धीरे प्रेम एव श्रद्धा मे परिवर्तित हो जाता है एवं जनसमाज का वह पूज्य एवं आदर्श नायक बन जाता है। दूसरी ओर यथार्थ-वाद मे यह सब संभव नहीं। आदर्श एवं यथार्थ वाद पर श्री नन्द दुलारे वाजपेयी अपने विचार व्यक्त करते हुये कहते हैं:—'ये दोनों साहित्य की चित्रण शैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यजना होती है।'

प्रसाद जी के मत से 'जीवन की अभिव्यक्ति' ही यथार्थवाद है तथा 'अभावों की पूर्ति' का दूसरा नाम आदर्शवाद है। प्रेमचन्द जी कोरे यथार्थवाद का विरोध करते हुये उसे पतन की ओर ले जाने वाला समझते हैं उनका कहना है कि आदर्शवाद से शून्य यथार्थवाद हमे निराशावादी बना देता है।

तथा यथार्थवाद से रहित कोरा आदर्शवाद हमारे पैरों के नीचे की धरती खींचकर आकाश में उड़ने को बाध्य कर देता है। हमें अधिक भीरु बना देता है। इस दृष्टि से वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के सच्चे हिमायती हैं।

श्री शिवदानसिंह चौहान आदर्शवाद को 'पलायनवाद' की संज्ञा देते हैं। उनका कहना है कि 'पलायन' का साहित्य और चाहे जो कुछ हो प्रथम कोटि का नहीं हो सकता। परन्तु यह कहना एकांगी है क्योंकि पलायनवादी प्रसाद और महादेवी आज के यथार्थवादी लेखकों से भी स्वस्थ और महान् हैं। भाव की गहराई, अनुभूति की तीव्रता और व्यंजना की शीतल सुखद छाया में क्षणों भर विश्राम पाने की इच्छा से हम इन्हीं कवियों की कविताओं का रसास्वादन करते हैं।

वर्तमान प्रगतिवाद भी आदर्शवाद के अधिक निकट है। भेद केवल इतना ही है कि आदर्शवाद विशेष व्यक्तित्व को लेकर उसके गुणों से हमारा परिचय कराता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये आवश्यक समझता है। प्रगतिवाद हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना को जाग्रत करता है। समाज के संघर्षों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। प्रगतिवाद की उर्ज्वसिता, स्वास्थ्य, ओज, दैन्य, करुणा, विलाप आदि जहाँ सामाजिक विशेषता रखते हैं वहाँ आदर्शवाद का महत्व व्यक्ति विशेष के आदर्श चरित्र पर विश्वास रखने में है किन्तु इस शंकालु युग में श्रद्धा और रीझने के स्वाभाविक गुण की कमी के कारण सामूहिक समस्याओं को सम्मुख उपस्थित कर एक स्थायी भावना की सृष्टि कर देना यदि वह प्रगतिशील साहित्य द्वारा सुलभ हो जाय तो वह हमारे लिये अधिक चिन्तनीय एवं कल्याणकारी हो सकने योग्य होगा।

आदर्शवादी साहित्य चुनाव, समन्वय, परिष्कार एवं औचित्य की ओर विशेष रूप से झुका रहता है। प्रत्येक समय की परिस्थितियाँ अपना आदर्श स्वयं गढ़ लेती हैं। हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इसके उदाहरण स्वरूप सामने रक्खी जा सकती हैं। भारतीय साहित्य की वीरगाथाएँ एवं चारण साहित्य इसका प्रतीक है। रामायण एवं महाभारत आदि आदर्शों की वृहत् राशि अपने में समेटे बैठे हैं। यह सब आदर्श मनुष्यता की धुरी पर आश्रित

हो अविकार लोक सेवा की भावना स्वीकार कर गतिशील होते हैं। यद्यपि आदर्श पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उसमे धार्मिक संकीर्णता, कोरे उपदेश की नीरसता एव काल्पनिक जीवन की आदर्शवादिता का ही प्राधान्य है। दूसरी ओर यथार्थवाद में भी गुण-दोष समान मिलते हैं। इसमें यथार्थता, सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता एवं वर्तमान जीवन के प्रति अगाध स्नेह रहता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसे नग्न चित्रण के द्वारा यथार्थवादिता की आड़ से दुराचार फैलाया जाय। यह बात अवश्य है कि यथार्थवाद अधिक से अधिक अशों मे सत्य का समर्थन करता है परन्तु कटु सत्य प्रायः परोपकार की भावना से प्रेरित नही होता। दोनों में अपनी कुछ विशेषतये हैं और दोनों में स्वभावगत आशिक त्रुटियाँ किन्तु समन्वय का मार्ग ही पूर्ण कल्याणकारी है। दोनों एक दूसरे के प्रति अन्योन्याश्रित सबध की भावना रखते हैं। क्योंकि आदर्श यथार्थ को ऊँचा उठाता है और यथार्थ आदर्श को खोखला होने से रोकता है। आदर्श पात्र हमारी त्रुटियों से हमें परिचित कराते हैं और सुधारों का निर्देश करते हैं। प्रो० रजन का कहना अधिक न्याय संगत है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों ही साहित्य अभियान के दो पहिये हैं। उनमें से एक के अभाव में साहित्य केवल शरीर मात्र अथवा निराधार प्राण ही रह जायगा।

जीवन के स्थूल कठोर सत्य की उपेक्षा न करते हुये भी हम स्वभावतः परिशाति के लिये उत्सुक रहते हैं। सघर्ष ही एक मात्र हमारा काव्य नही हो सकता। वह तो किसी विशेष स्थिति तक पहुँचाने का साधन मात्र है। हमें ठोस आधार के रूप में पृथ्वी का सहारा लेना पड़ता है तो छाया के लिये आकाश की ओर देखना पड़ता है। कोई भी कलाकर केवल कल्पना के ही लोक मे नहीं जी सकता। कल्पना के साथ साथ उसे मिट्टी से भी अपना सबंध अवश्य जोड़ना पड़ेगा। नही तो वह युग निर्माता न होकर स्वप्नदर्शी मात्र होकर रह जायगा। हमारे प्राचीन आदर्श महाकाव्यों मे भी आदर्श और यथार्थवाद का मनोहारी समन्वय उपस्थित है। 'उत्तर रामचरित' मे राम सीता का निर्वासन केवल आदर्श की रक्षा के लिए करते हैं किन्तु जब वह एक गृहस्थ दम्पति के रूप में अपने को सोचने लगते हैं तब एकाएक पागल होकर चीख उठते हैं :—

निर्भर गर्भखिन्नः भीता विवासन पटो करुणा कुतस्ते

आज के युग में यथार्थवाद का बोलबाला है यद्यपि प्रेमचन्द जी जीवन भर इसकी निंदा करते रहे। उनका कहना है कि 'यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें तो ससार नरक तुल्य हो जाए।' साहित्य का मुख्य उद्देश्य प्रेरणा के द्वारा उत्थान की ओर ले जाना है न कि पतन की ओर। आज के प्रगतिवादी आलोचक इसी को प्रेमचन्द जी की भीरुता मानते हैं और उन्हें 'पलायनवादी' कहते हैं क्योंकि प्रेमचन्द जी यथार्थ का डटकर मुकाबला नहीं कर सकते थे। प्रसाद जी यथार्थवाद को 'अभाव और लघुता' का परिचायक मानते हैं। हमारे युग में मैथिलीशरण गुप्त आदर्शवाद एव महादेवी यथार्थवाद की प्रवर्तक मानी जाती हैं। आधुनिकतम कलाकार विशुद्ध यथार्थवादी हैं। इनमे शालीनता का अभाव है। साहित्य मे 'शिव' की प्रतिष्ठा यथार्थ और आदर्श दोनो के सुन्दर समन्वय के द्वारा ही साध्य है। एडीसन इन दोनों के सम्मिश्रण मे ही कला की पूर्णता मानते हैं। प्लेटो स्वयं आदर्शवादी ही थे और कलाकार के लिए रस को एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार करते थे। दूसरी ओर अरस्तू यथार्थवादी थे। अब प्रश्न यह उठता है कि यथार्थ सत्य पर आश्रित है कवि की कल्पना जिसका आधार भी कोई न कोई सत्य ही होगा, यथार्थ के अन्तर्गत आयेगी या नहीं। कल्पना साहित्य सृष्टि में अपना प्रमुख स्थान रखती है। सत्य-सौंदर्य से समन्वित है, सत्य सुन्दर अवश्य होगा। इससे ही शिवं की प्रतिष्ठा होती है। जो वस्तु सत्य और सुन्दर होगी मंगल सूचक अवश्य होगी।

आज हमें ऐसे साहित्य की विशेष आवश्यकता है जो आदर्श से प्रेरित होकर भी जीवन के व्यावहारिकता की उपेक्षा न कर सके, जिसके वर्तमान अभाव के पीछे भविष्य का सुन्दर निर्माण निहित हो। आदर्श और यथार्थ का सच्चा सम्मिश्रण साहित्य में उपयोगिता और सौंदर्य की सृष्टि करता है। जीवन की सत्य अनुभूति और चेतना से शून्य कला का कोई अस्तित्व नहीं है, वह कालान्तर में अपने आप नष्ट हो जायगी। किसी आलोचक ने ठीक ही कहा है कि 'कला या साहित्य न तो हमारी ठोस भौतिक आवश्यकता का प्रतीक है और न काल्पनिक आदर्श की छाया मात्र। वह तो जीवन के श्रेय और प्रेम की मणि-काचन संयोग उपस्थित करता है।'

डा० भगीरथ का कथन है कि मनुष्य सदा देवता नही बना रह सकता, उसे संसार को अपना समझकर ही जीवन में आनन्द मिल सकता है। अतः हमारे साहित्य मे सजीवता का होना परमावश्यक है जिसमें कि जीवन के छोटे बड़े आनन्द, उल्लास, हँसी, परिहास, व्यंग, करुणा, विलाप आदि का जीता-जागता चित्र हो और हम कह सके कि हाँ, हमने ऐसा होते देखा है। जहाँ हम कहते हैं कि आदर्श के यथार्थ की ओर आ रहे हैं वहाँ हम तत्वतः छाया से हटकर सजीवता की ओर बढ़ रहे हैं, जहाँ इस सजीवता के पास आकर हमारी सभी ऊँची-नीची भावनाएँ प्रबल हिलोर में झूल उठे, हमारा हृदय अनुभूत भावनाओं से भरा और स्मृतियो से विह्वल हो, हम अपने मुख से कवि के गीतों को गा उठे और समझें कि जीवन का यह नया अनुभव है। कही कविता का उद्देश्य पूरा हो जाता है। इसी स्तर पर आकर साहित्य के यथार्थ आदर्श, छाया प्रगति आदि सजीवता से सम्बन्धित हो, सभी वाद एक हो जाते हैं। यही से साहित्य की महत्ता जीवन के लिए प्रारम्भ हो जाती है और साहित्य केवल अवकाश का मनोरंजन रह कर जीवन का पोषक हो जाता है जिसके बिना समाज दुर्बल और क्षीण हो जाता है, उसमें ताजा रक्त न रहने से सुख सामग्री भी विषाद मे परिणत हो जाती है।

भारत की राष्ट्र भाषा : हिन्दी

भारतीय संविधान द्वारा बहुत वाद विवाद के पश्चात् हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा स्वीकार कर ली गयी है और उसको इस पद के लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त बनाने के लिए १५ वर्ष का समय दिया गया है, उसकी अन्य किसी भाषा से अब प्रतिद्वन्द्विता नहीं रही। उसका नैतिक, सास्कृतिक एवं सामाजिक अधिकार अब वास्तविकता मे परिणत हो गया है। भारत के प्राचीन इतिहास के सहारे हमे सूचना मिलती है कि भारत की राष्ट्र-भाषा बनाने का श्रेय सदैव मध्यदेश की ही भाषा को मिलता रहा है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है। धार्मिक आग्रह के कारण कुछ काल के लिये पाली आदि अन्य भाषाएँ भले ही भारत की राष्ट्र भाषाएँ बन गयी हो परन्तु उनके मूलाधार राजकीय सत्ता के विनष्ट होने से वे भी अपना गौरव खो देती थीं एवं केवल एक प्राचीन धार्मिक भाषा अथवा प्रान्तीय विभाषा के रूप मे अपने को अक्षुण्ण रखती थीं। भारतीय मनीषा सदैव से समन्वयवादी रही है, इसी समन्वय भावना के द्वारा प्राचीन भारत की भाषा समस्या सुलझायी गयी थी। प्राचीन भाषाविदों ने संस्कृत को सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं की मूल प्रकृति तथा अन्य भाषाओं को उसकी विकृति मानकर एक ओर तो एक को अनेक कर दिया और दूसरी ओर फिर अनेक में से एक को प्रधानता देकर उसे जनता-जनार्दन में प्रचलित राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में अवधी और व्रज प्रधान रूप से काव्य की भाषाएँ बनीं परन्तु सुदूर प्रदेशों की जनता में पारस्परिक आदान प्रदान के लिए मेरठ एवं बिजनौर प्रदेश की बोली खड़ी बोली का व्यवहार होता रहा। काव्य की भाषा साहित्य में पल्लवित-पुष्पित होती रही किन्तु साधारण विचार-विनि-

मय का माध्यम तो खड़ी बोली ही रही। राज-कार्य का संचालन इसी बोली के द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा। दक्षिण में तो शासक वर्ग में इसी का एक मात्र प्रभुत्व रहा। उन्नीसवीं सदी में जब विशृंखलित भारत को पुनः एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ तो ऐसे आड़े समय में खड़ी बोली ने ही अपनी सहायता दी और सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एक मात्र भाषा बन बैठी। उसके इस अप्रत्याशित विकास मे उसकी अजस्र प्राण-शक्ति निहित है। यदि खड़ी बोली में वह परम्परागत विरासत सम्हालने की शक्ति न होती तो वह कदापि भारत की राष्ट्र-भाषा नही बन सकती थी। संस्कृत भी मेरठ प्रदेश की भाषा थी और खड़ी बोली को उत्पन्न करने का श्रेय भी उसी प्रदेश को मिला। इस प्रकार खड़ी बोली को राष्ट्र-भाषा के रूप में अपनाकर भारतीय जनता ने इतिहास की पुनरावृत्ति की है।

अच्छा हो कि हम राष्ट्र-भाषा की उन क्षमताओं पर भी एक दृष्टि डाल ले जिन शक्तियों के सहारे वह किसी भी देश की राष्ट्र-भाषा होने का साहस कर सकती है :—

(१) भाषा सरल होना चाहिये ताकि अभाषा-भाषी उसे कम से कम छः महीने के अन्दर सीख सकें।

(२) वह देश की सभ्यता और संस्कृति की परिचायक हो।

(३) उस भाषा मे राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी व्यवहार के संचालन की पूर्ण प्रतिभा हो।

(४) उस भाषा को देश के अधिकाश भाग में व्यापक होने का सौभाग्य प्राप्त हो। उसकी नींव शक्तिशाली हो। अन्य प्रातीय भाषाओं से उसका घनिष्ट परिचय हो। भविष्य उज्ज्वल हो।

कहना नहीं होगा कि हिन्दी उपर्युक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। हमारी राष्ट्र-भाषा के दो रूप हैं—एक जन साधारण के व्यवहार की भषा और दूसरी राज-काज तथा शिक्षा की भाषा दोनों मे कोई विशेष अतर नहीं होता किन्तु जन साधारण के व्यवहार की भाषा; अधिक से अधिक सुलभ, सरल एव व्यवहारोपयोगी बनाई जा सकती है। यद्यपि प्रान्तों के स्थानीय सस्थाओं के काम वहीं की भाषाओं मे होते रहेंगे किन्तु सम्पूर्ण प्रान्तों को एक

सूत्र में बाँधने का काम हिन्दी के द्वारा होगा। केन्द्रीय शासन-कार्य प्रायः राष्ट्र-भाषा मे ही सम्पन्न होंगे।

जन-साधारण के व्यवहार की राष्ट्र-भाषा का सबसे बड़ा गुण सरलता होना चाहिये। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिये, जहाँ तक हो सके तत्सम शब्दों का या उन तद्भव रूपों का जो तत्सम के निकटतम हो, व्यवहारोपयोगी सिद्ध होगा। जहाँ तक उर्दू या अंग्रेजी शब्दों का प्रश्न उठता है उसके विषय में दो टूक राय यही है कि इन भाषाओं के वे प्रचलित शब्द जो हिन्दी भाषा-भाषी जनता के बीच सगे सम्बन्धी की तरह परिचित हो गये हैं, अपना लेना ही वांछनीय होगा। डाकखाना को पत्रालय या स्टेशन को धूम्रशकट विश्राम-स्थल कहना हास्यास्पद है। सनलाइट सोप को सूर्यप्रकाश वस्त्रस्वच्छक, थर्मामीटर को ज्वर-मापक यंत्र कहने में हमारी जीभ को पचास दण्ड बैठकें लगानी पडती हैं, हमें इस कष्ट से बचना चाहिये।

आये दिन उर्दू के बहिष्कार का प्रश्न संकीर्ण सम्प्रदायवादी मस्तिष्कों से उद्भूत होता रहता है। आश्चर्य है कि ऐसे विचारक यह क्यों भूल जाते हैं कि वस्तुतः हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषायें नहीं हैं वरन् एक ही भाषा हिंदी की दो शैलियाँ हैं। उर्दू को खो देने से हिंदी दुर्भाग्य से एक समृद्धि साहित्य की निधि को खो देगी। यह हमें ठण्डे दिमाग से भली प्रकार सोच लेना चाहिये। अच्छा होगा कि 'उर्दू का सम्पूर्ण इतिहास ही शैली गत खण्डों के रूप मे हिंदी साहित्य मे ग्रहण कर लिया जाय। उर्दू की सँजावट, नफासत, चुभन हिंदी साहित्य के गौरव का विषय बन जायेगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान नहीं होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जायेंगे। आपस मे फूट न रहेगी और सब से बड़ी बात होगी कि तब अपने आप एक नई भाषा का जन्म होगा।' (डा० रांगेयराघव) और यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब समस्त उर्दू साहित्य को अधिक सरल होने के कारण नागरी लिपि में लेकर, हिंदी साहित्य मे जोड़कर हिन्दी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखा जाय। भाषा का प्रश्न मुहब्बत का सवाल नहीं है। एक दूसरे की खातिर तवज्जह नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रश्न है। जनवाद उसका आधार है। आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक अन्तर्मुक्ति जनता को

समीप लाती है। यह साम्प्रदायिकता, एवं जातीयता इस समाज की विषमता के कारण है। भाषा के प्रश्न को सुलझाना इसीलिए सीधे ही हमारे जनवादी प्रगतिशील आंदोलन से सबन्ध रखता है। शोषणहीन समाज मे ही जनताएँ एक दूसरे की सीमा को तोड़कर गले मिलती हैं और पारस्परिक वैमनस्य दूर होता है।'

इसी प्रकार हमें निस्सकोच अन्य प्रान्तीय भाषाओ की शब्दावली को उदारता के साथ स्थान देना पड़ेगा जिनकी सहायता से हमारी हिन्दी अधिक शोभा एवं श्री सम्पन्न हो सकती है। ध्यान रहे कि राष्ट्र-भाषा का तात्पर्य है देश के करोड़ों व्यक्तियो की आशा-आकाक्षाओं, मान-मनुहारों एवं विचार विनिमय की भाषा, उनके सुख-दुख की धड़कनों की भाषा, उनके अश्रु और हास्य की भाषा, इसलिये हमे इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये महान साधना करनी पड़ेगी, संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता को छोड़कर व्यापकता एवं समन्वयवादिता से काम लेना पड़ेगा और एक ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करना पड़ेगा जिसके पूर्ण होने से 'सर्वे भवतु सुखिनः' का घोष आकाश से प्रतिध्वनित हो। अन्य प्रान्तवालों के लिए सुग्राह्य बनाने के लिए अपने व्याकरण की जटिलताओं को भी कम करना पड़ेगा और व्यापक सामान्य नियम बनाने पड़ेंगे। उसमें सतत प्रगतिशीलता एव प्रवाह लाना पड़ेगा। संस्कृत की भाँति व्याकरण के बन्धनों से अत्यधिक जकड़ना हानिप्रद सिद्ध होगा जिससे कि उसका विकास ही रुक जाय और वह निर्जीव भाषा कहलाने लगे। अन्य प्रान्त वाले हमारी भाषा के साथ अपनत्व जोड़ सकें, उसे इस योग्य बनाना है।

राजकाज और उच्च शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों की भाषा का कुछ क्लिष्ट होना स्वाभाविक ही है किन्तु उसे लोक-भाषा से बहुत दूर होना दुर्भाग्य की बात होगी। श्री गुलाब राय जी के शब्दों में 'पारिभाषिक शब्दावली' का सारे देश के लिए प्रमाणीकरण आवश्यक है क्योंकि जब तक हमारी शब्दावली सारे देश में न समझी जायगी तब तक न तो वैज्ञानिक क्षेत्रों में सहकारिता ही सम्भव हो सकेगी और न विद्यार्थी ही यथोचित लाभ उठा सकेंगे।'

पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में हमें सस्कृत की तत्सम शब्दावली ग्रहण करना अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा जो कि संस्कृत शब्दों मे प्रत्यय लगाकर

बनाए जा सकते हैं। अच्छा तो यह होगा कि पारिभाषिक शब्दों को गढ़ने की अपेक्षा प्रचलित शब्दों का ही प्रमाणीकरण कर लिया जाय। तर्कशास्त्र, गणित, ज्योतिष तथा राजनीति शास्त्र आदि उपयोगी साहित्य की शब्दावली हमें प्राचीन ग्रथों से अपनानी पड़ेगी और उन्हें बड़े प्रयत्न के साथ सर्व-साधारण के प्रयोग के योग्य ढालना पड़ेगा।

इस प्रकार के किंचित् योगों से सम्पन्न होकर हिन्दी, भारत की भावी कल्याण-वृद्धि के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। वर्ग-संघर्ष का अन्त करने की शक्ति अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी मे सबसे अधिक है क्योंकि उसके मूल मे जनता-जनार्दन की ओजस्विनी शक्ति है। कबीर एवं तुलसी का साहित्य जनवाद से ही बल पाकर युग-युग तक जियेगा और आज जी रहा है। भाषावाद प्रान्तों के निर्माण से राष्ट्र-भाषा की कोई हानि नहीं हो सकती, प्रान्तीय भाषाएँ फलती-फूलती रहेंगी और हिन्दी उन सब को एक सूत्र में संगठित करके अपूर्व सामंजस्य एवं शक्ति प्रदान करेगी। 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के भय का हौवा संकीर्ण प्रान्तीयवादी मस्तिष्कों की दूषित प्रवृत्ति है। हिन्दी तो समन्वय वाद के सिद्धान्त पर किसी को चूसना नहीं चाहती, बल्कि सबको समानाधिकार देकर, उन्हीं की शक्ति से पनप कर जीना चाहती है। उसका स्रोत अक्षुण्ण है, वह एक अजस्र स्रोतस्विनी के समान है।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के साथ ही उसका अपना क्षेत्र है जिसका वर्तमान एवं भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। उसकी इसी समृद्धिशीलता पर प्रकाश डालते हुए डाक्टर राम विलास शर्मा ने लिखा है :—

'हिन्दी-भाषा इलाकी भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के लिहाज से हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की तीन-चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहाँ की नदियो के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपनी अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज खाँ, हाली, मीर, अकबर, ग़ालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ो साल तक यहीं की धरती का आकाश गुँजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और मुसलमान

के खून से खींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिन्दी प्रदेश एक होकर नये जन जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसका सस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानो और मजदूरों की एकता जो जनता के संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लायेगी। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान मे रखकर अपनी जातीय परम्पराओ के अनुसार लोक-प्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास को आगे बढाना चाहिये।

इस प्रकार राष्ट्र भाषा का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही उसे दूसरी भाषाओं के साथ समझौता करना पड़ेगा। कुछ त्यागना पड़ेगा, कुछ ग्रहण करना पड़ेगा और इस प्रकार दोनों के मिश्रित रूप को अपनाकर एक नवीन रूप धारण करना पड़ेगा जो कि उसके असली रूप को ही लेकर होगा।

———

हिन्दी कविता में छायावाद और रहस्यवाद

रीतिकालीन अतिशय अलंकार प्रियता एवं द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता ने कवियों में स्थूल के प्रति विद्रोही भावना उत्पन्न कर दी। तरुण कवियों की पाश्चात्य दृष्टि ने रूढ़ि-ग्रस्त कविता के प्रति ावद्रोह किया एव द्विवेदी युग की सभी साहित्यिक मान्यताओं के विरुद्ध एक नवीन काव्य शैली को अपनाया जिसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया। 'आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व की उद्बुद्ध चेतना ने, बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, स्थूल के प्रति सूक्ष्म ने विद्रोह किया, उसकी काव्य मे छायावाद के रूप मे अभिव्यक्ति हुई। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारो के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उसको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नही आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असतोष और विद्रोह की इन भावनाओ को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थी और वहाँ से क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रो की सृष्टि कर रही थी। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई (डा० नगेन्द्र)। हिन्दी साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद जी हैं एवं निराला, महादेवी तथा पन्त इस पथ के साहसी पथिक हैं। इन सभी कवियों ने कवीन्द्र-रवीन्द्र की गीतांजलि से विशेष प्रेरणा ग्रहण की। छायावाद की परिभाषा के विषय मे विभिन्न विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं। शुक्ल जी ने इसका सम्बन्ध (Phantasmata) अर्थात् छायाभास से जोड़ा है। इसे प्रतीकात्मक शैली भी कहते हैं। ऐसी शैली में कवि मूर्त की अमूर्त से तुलना,

मानवीकरण और विशेषण विपर्यय अलकारों का प्रयोग, मनोहारी शब्दचयन एवं अन्योक्ति के आश्रय से लक्षण, व्यंजना आदि की ओर विशेष ध्यान देता है। छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति दो रूपो मे व्यक्त हुई (१) विषय पर विषयी की मनसा का आरोप (२ समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि मे ही लीन रहना। द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। सन् १६१६ के भयकर विश्वव्यापी युद्ध ने देश की सभी परपराओं मे भयानक उथल-पुथल मचा दी, काव्य के क्षेत्र में एक नैराश्य भावना का उद्रेक हुआ। जिसमें जीवन और जनता के प्रति एक विस्मरण की मनोमुग्धकारी मजुल भावना का समावेश हो गया। एक आलोचक के शब्दो में हम यों कह सकते हैं कि राजनीति में जिन प्रेरणाओ से गाँधीवाद का विकास हुआ, साहित्य मे उन्ही प्रेरणाओं से छायावाद का जन्म हुआ। नन्ददुलारे जी ने लिखा है कि 'छायावाद मे एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतत्र दर्शन की आयोजना भी, पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।

दुःखवाद :—इसमे निराशावाद, दुःखवाद एव भाग्यवाद की प्रधानता है। ससार की नश्वरता एवं क्षणभङ्गुरता पर कवि का मन कातर हो जाता है और वह पलायनवादी बन जाता है—ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे। इसी से वह एक कल्पित लोक की सृष्टि करता है। उसे सारी सृष्टि पीड़ा से परिपूर्ण दिखाई देती है। वह स्वयं अपने आप मे पीड़ित एव क्षुब्ध होकर गुनगुनाने लगता है :—

"मेरे हँसते अधर नहीं, जग की आँसू लड़ियाँ देखो,
मेरे गीले पलक छुओ मत, मुरझाई कलियाँ देखो।"

प्रकृति पर चेतना का आरोप :—छायावादी कवि ने प्रकृति को निर्जीव चित्राधार न मानकर ऐसी चेतन सत्ता के रूप मे ग्रहण किया है जो युगों-युगो से मानव के साथ स्पदनों का आदान-प्रदान करती रही है। मानव-मन मे प्रस्फुटित हर्ष-विषाद-प्रेम-करुणा आदि के मनोभाव प्रकृति मे पूर्ण लक्षित होते हैं। मानव हृदय की सहज सवेदना का पूर्ण तादात्म्य प्रकृति के साथ किया गया है :—

'सिखा दो ना अयि मधुप कुमारि, सजीले मीठे-मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरो से, करा दो ना कुछ कुछ मधुपान॥

मानवीकरण की - ला का मनोहारी रूप इन कवियों की कविता मे सहज ही देखा जा सकता है :—

सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न,
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्राक मे।

छायावाद का वाह्य रूप रंग एव रूप सज्जा अत्यन्त आकर्षक एवं मनोहारी है। गीतों मे अनुभूति एव अभिव्यक्ति के समवेत स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का इस पर विशेष प्रभाव पड़ा है। छायावाद की प्रमुख विशेषता अनुभूति की तरल भाव भंगी एव अनुपम-अभिव्यक्ति है जो ध्वनिश्लिष्ठता, लाक्षणिकता एव प्रतीक पद्धति से पूर्ण है :—

अभिनव गुंजन, छाया उन्मन, उन्मन गुंजन
नव वय के अलियो के गुंजन

(१) छायावादी कविता मे आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है।

(२) आध्यात्मिक दृष्टि से अद्वैतवाद का आश्रय लेकर छायावादी रहस्य-वाद का विकास होता है। इसमे प्रेम, करुणा, विरह आदि की प्रधानता है।

(३) जीवन मीमासा सम्बन्धी गीतो मे भावुकता का आधिक्य होते हुए भी बुद्धि तत्त्व का प्रौढ़ रूप वर्तमान है। इसमे जीवन आदर्शो तथा आशा-निराशा एवं सुख-दुख की मीमासा के गीत गाये गये हैं।

(४) आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत छायावाद की विशेष संपत्ति हैं।

(५) गाधीवाद से प्रभावित कोमल एवं मृदुल राष्ट्रीयता का प्रतिपादन छायावाद में किया गया है, उन उदात्त भावनाओं की प्रधानता है जो संघर्ष और विद्रोह में संचालित न होकर करुणा और अहिंसा में परिचालित हैं।

(६) मानव जीवन के नैराश्यपूर्ण क्षणों का चित्रण छायावाद की अपनी देन है जिसमे लौकिकता के साथ अलौकिकता का भी समावेश हो गया है।

(७) छायावादी शैली में प्रधानता अन्योक्ति, वक्रोक्ति, लाक्षणिक प्रयोग ध्वन्यात्मता एवं प्रतीक पद्धति की है। भावों की स्वच्छदता एव शब्द माधुर्य की प्रधानता है।

रहस्यवाद—इसकी प्राचीनतम धारा वेदों और उपनिषदों में मिलती है। हिन्दी में जिसका सर्वप्रथम प्रचार नाथ और सिद्ध साहित्य के द्वारा हुआ। कबीर, दादू, मलूकदास आदि ने निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादन में इसी रहस्यवाद को व्यक्त किया है। रहस्यवाद की परिभाषा पर प्रकाश डालते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों मे कोई अन्तर नहीं रह जाता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि जो चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र मे रहस्यवाद है। डा० भागीरथ मिश्र के अनुसार 'वह भावना, जो काव्य के अन्तर्गत, मानव और उसकी परिस्थितियों अथवा जगत को निराकार और सर्वव्यापी ईश्वर के घनिष्ट सम्बन्ध मे चित्रित करने की प्रेरणा देती है, रहस्यवाद कहलाती है। महादेवी जी ने रहस्यवाद का विश्लेषण करते हुए इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं :—

'रहस्यवाद ने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको साकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका, हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका। इसमें संदेह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ बन बहुतों को भ्रम मे डाल दिया है परन्तु जिन इने गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा उन्हें इस नीहार लोक में भी गन्तव्य मार्ग दिखाई दे सका।' रहस्यवाद मे सयोग तथा वियोग के सुख-दुखों की व्यंजना रहती है, साधक तथा साध्य दोनों एक दूसरे मे लीन हो जाते हैं जैसे—

हाँ सखि आओ बाँह खोल हम, लगकर गले जुड़ा ले प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावे द्रुत अर्न्तध्यान।

प्रथम रहस्यवादी कवि कबीर ने जीव और ब्रह्म की तात्त्विक एकता को स्वीकार किया है वह भेद केवल माया के झीने आवरण के कारण मानते हैं, माया के व्यवधान के तिरोहित होने पर आत्मा-परमात्मा मे कोई अन्तर नही रह जाता :—

जल में कुम्भ, कुम्भ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूट कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कहौ गयानी ॥

आधुनिक युग में अपनी आध्यात्मिक तुष्टि के लिये कवियो ने रहस्यवाद को नहीं अपनाया अपितु पार्थिव प्रेम की प्रच्छन्न व्यजना ही इस आग्रह का कारण है। 'बहिरंग जीवन में सिमटकर जब कवि की चेतना ने अन्तरंग में प्रवेश किया तो बौद्धिक जिज्ञासाएँ: जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी काव्य में स्वभावतः ही आ गईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं अतएव छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ ही हैं जो छायावाद के उत्तरार्द्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी अधिक पुष्ट हो गई हैं परन्तु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं उनका आधार कहीं भावना, कहीं दार्शनिक चिंतन और कही कहीं मन की छलना भी है।' आधुनिक रहस्यवादी कवियों मे प्रमुख प्रसाद, निराला, महादेवी, पन्त रोमाटिक युग की अंगरेजी कविता से विशेष प्रभावित हैं इसीलिये उनकी कविता मे प्रतीक पद्धति मे प्रेम मिलन, विरह, प्रतीक्षा आदि के ही गीतों की प्रधानता है। महादेवी जी को आधुनिक युग की मीराँ माना जाता है। देवी जी के गीतों मे रहस्यवाद की मूर्छना स्पष्ट उतर आई है। उनकी तन्मयता की भावना इतनी तीव्र हो जाती है कि वह स्वयं 'हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले' से लेकर 'आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा, विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा' के रूप में अपने को समर्पित कर देती हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है— 'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता है तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता।' सक्षेप में रहस्यवाद आत्मा-परमात्मा की दिव्य प्रणयानुभूति है। इस अनुभूति के गीत बड़े मर्म स्पर्शी एवं तरल हैं उसमें अतीन्द्रिय माधुर्य है, कारण स्पष्ट है मनुष्य मनुष्य रहे, भगवान् भगवान् रहें और तब दोनों अपने अपने रूप में एक दूसरे के लिए व्याकुल हो उठें। रहस्यवाद में इसी भावना को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है इसी से रहस्यवाद की सारी कविताएँ इतनी रहस्यमय इतनी स्वप्नमय, इतनी अतीन्द्रिय हो गई हैं।'

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना, जो साहित्य आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो वही प्रगतिशील साहित्य है। इस दृष्टि से तुलसीदास सब से बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित होंगे। भारतेन्दु और गुप्त जी का नाम भी इसी सूची में उल्लेखनीय है किन्तु यहाँ पर प्रगतिवाद की एक विशिष्ट परिभाषा से हमारा अभिप्राय है। इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। भौतिकवाद का आधार पंच-भूत है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नही है, विश्व में केवल एक ही सत्ता है आधिभौतिक। आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्तायें मन की छलना मात्र हैं। जगत का एक मात्र सत्य भौतिक जीवन है उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है। अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज मे भागना पलायन है, इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था समाज है जिसका आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ काम, मोक्ष मे प्रगतिवादी केवल अर्थ का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। आज के समय में को विरोधी शक्तियाँ हैं। पूँजीवाद और साम्यवाद पहला विनाशोन्मुख है और दूसरा विकासोन्मुख, इसीलिये प्रगतिवाद साम्यवाद का समर्थक है। इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुख दुःख की अभिव्यक्ति को ही महत्व देता है। व्यक्ति के सुख दुख की अभिव्यक्ति की नहीं। प्रगतिशील साहित्य सत्यं शिवं सुन्दरम् को जनहित की दृष्टि से देखता है। (डा० नगेन्द्र) हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की कुछ अपनी मान्यतायें हैं। डा० सुधीन्द्र ने उनका विश्लेषण इस प्रकार किया है :—

(१) साहित्य और कला शोषित मानवता के उत्थान का साधन बने।

(२) पूँजीवाद मानवता का शत्रु है इसलिये पूँजीवाद और उसके परिवार

साम्राज्यवाद, नातसीवाद, पाशववाद आदि सभी विनाशक वादों का सर्वनाश किया जाय।

(६) शोषण को मिटाने के लिये वर्ग-विद्रोह और वर्गसंघर्ष को उत्तेजना दी जाय, उसका व्यापक चित्रण और प्रसार हो। जन साहित्य और जन कला द्वारा जन-संपर्क और जनसंस्कृति का निर्माण करके सामाजिक क्रांति की भूमिका प्रस्तुत की जाय।

प्रगतिवाद का उद्देश्य साहित्य और जीवन में संतुलन स्थापित करना है। इसकी विधि पूर्णतः क्रांति की विधि है। जिसका आधार एकान्त भौतिक है। आदर्शवाद से मेल न खाकर प्रगतिवाद यथार्थवाद की ठोस भूमि पर टिका है। दीन हीन भूखे शोषित दलित सर्वहारावर्ग की प्रगति में योग देना ही प्रगतिवाद का मुख उद्देश्य है। प्रगतिवाद भौतिक अभाव और जनता के अभावों की पूर्ति करना चाहता है। उसकी आंतरिक इच्छा ही धनिकों और पूँजीपतियो के सुख को कम करके श्रमिकों और शोषितों के दुखः को दूर करना है। पन्त जी ने इसी को मधुर भावना मे इस प्रकार व्यक्त किया है :—

जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव जग मे बँट जावे, दुख-सुख से और सुख दुख से॥

प्रगतिवादी कवियों मे सर्व श्री पन्त, निराला, नरेंद्र, शिवमङ्गल सिंह सुमन, अंचल, केदारनाथ अग्रवाल, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, रामविलास शर्मा अज्ञेय, भारत भूषण अग्रवाल, शमशेर, प्रभाकर माचवे, रागेय राघव और गिरिजाकुमार माथुर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पन्त जी की 'ताज' शीर्षक कविता मे प्रगतिवादी भावना का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है :—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन,
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।

भगवती बाबू की 'भैंसा गाड़ी' मे दलित-तिरस्कृत और शोषित मानवता का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है। भूखे नगे कृषकों का म ‍-स्पर्शी चित्रण कवि ने यथार्थता के साथ किया है :—

वे भूखे अधखाये किसान, भर रहे जहाँ सूनी आहें

किसानों और श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना प्रगति में सुरक्षित है। निराला जी की 'वह तोड़ती पत्थर' और श्री भट्ट जी की 'श्रमिक' कविता उल्लेखनीय है। पूँजीवाद और शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह का स्वर प्रगतिवाद का अपना स्वर है। सामन्तशाही की जर्जर दीवारों को ढहाने की चुनौती भी है।

> श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक चिल्लाते, हैं।
> माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं॥
> युवती के लज्जा वसन बेंच जब व्याज चुकाये जाते हैं।
> मालिक तब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

गाँधीवाद के प्रति विद्रोह की भावना भी प्रगतिवाद मे स्पष्ट दिखाई पड़ती है। नवीन जी का विप्लवगान इसका साक्षी है। 'क्षतशीश मगर नतशीश नहीं' की भावना को लेकर प्रगतिवाद कवि चलता है। सुमन की यह कविता :—

> यह हार एक विराम है, जीवन सदा सग्राम है।
> तिल तिल मिटूँगा पर, दया की भीख माँगूगा नहीं

छायावाद की कलात्मक शैली के स्थान पर सरल, सवसाधारण के लिए बोधगम्य शैली ही प्रगतिवाद में मान्य है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ प्रमाण-स्वरूप देखी जा सकती हैं :—

> साइत और कुसाइत क्या है ? जीवन से बढ़ साइत क्या है ?
> काटो काटो काटो करबी, मारो मारो मारो हँसिया।

प्रगतिवाद मे कविता के विषय खेत-खलिहान, हल-बैल हँसिया-हथौड़ा तथा मिट्टी और मजदूर हो गये, फल-स्वरूप प्राचीन अधविश्वासों और धार्मिक परम्पराओं पर भी चोट पड़ी :—

> दिन भर अधरम करने वाले, पर नारी को ठगने वाले
> पर सपत्ति को हरने वाले, भीषण हत्या करने वाले
> धर्म लूटने के अधिकारी, टोली की टोली में निकले

(युग की गंगा—केदार)

प्रगतिवाद के अन्तर्गत स्वस्थ राष्ट्रीयता का समावेश है किन्तु वह अहिंसा वाद को कोई मान्यता नही देती क्योंकि प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली मुख्य शक्ति मार्क्सवाद है जो अहिंसात्मक एवं भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिक एवं हिंसात्मक है फिर भी राष्ट्रीयता की भावना का स्वस्थ रूप इन कविताओं मे व्यक्त हुआ है :—

हिन्दी हम चालीस करोड़, क्यों बैठे हैं साहस छोड़
यह आजादी का मैदान, जीतेंगे मजदूर-किसान
एक यही है राह सुगम, सत्यं शिवं सुन्दरम्

(१) इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन का साहित्यिक वितंडावाद है। यह विजातीय दर्शन भारतीय भावना के प्रतिकूल है।

(२) प्रगतिवाद केवल भौतिक समस्याओं को हल करने के कारण एकागी है, वह केवल युग धर्म के प्रति जागरूक हैं। चिरंतन सत्य एवं स्थायी सौंदर्य के प्रति उदासीन है।

(३) प्रगतिवाद अमर प्रेम भावना और रोमाटिक युग की सारी भावुकता को केवल पैसे से तौलता है।

(४) वह निर्माण के स्थान पर उन्मूलन एवं विकास के स्थान पर आमूल परिवर्तन में विश्वास रखता है।

(५) वह आत्मा की अपेक्षा शरीर में विश्वास रखता है, भावुकता और कला का बहिष्कार कर कुरूपता और कर्कशता को प्रश्रय देता है। आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता का पक्षपाती है इसीलिए त्याज्य है। भारतीय संस्कृति की चिरतंन मान्यताओं के विपरीत है। इसी कारण प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि पन्त जी को पीछे लौटना पड़ा। अभी कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी में एक नायवाद चला है जिसे प्रयोगवाद के नाम से पुकार जाता है। प्रत्येक युग की कविता प्रयोगवाद होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों मे अपने पूर्ववर्ती कवियों से मौलिकता लिये होती है किन्तु प्रयोगवादी कविताओं के लिये प्रयोग शब्द रूढ़ि सा हो गया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य सामग्री एवं

शैली शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने मे सफल नहीं हो सकते, निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। भाव वस्तु में छायावाद की सरल अमूर्त अनुभूतियों स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की माग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर चढ़ा और शैली शिल्प मे छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म कोमल काव्य सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त सघन और नाना रूपिणी काव्यसामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। प्रयोगवादी कविता का मूलतत्व स्वभावतः ही काव्य विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। 'दावा केवल यही है कि सातों अन्वेषी हैं वे किसी एक स्कूल के नही हैं, किसी मजिल पर पहुँचे नही अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी। प्रयोगवादी कविता का जन्म छाया-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है।

अंग्रेजी साहित्य की प्रयोगवादी कविता में भी रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है परन्तु वह व्यावहारिक होने की अपेक्षा सैद्धातिक अधिक है। सौंदर्य की परिधि में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त पुरुष, अनगढ़ और भदेस का समावेश किया गया। वास्तव मे नये कवि ने अतिशय कोमलता और मार्दव से ऊब कर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक आग्रह के साथ ग्रहण दिया :—

मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त मे, तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य धन गदहा।

किन्तु प्रयोग वादी कविताओं की प्रमुख विशेषता कल्पना के मनोरम प्रवाह में, अनुभूति की विशदता मे तथा वस्तु के मौलिक प्रतिपादन में है। उदाहरण स्वरूप श्री भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं मे भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की सादगी सराहनीय है :—

फूल लाया हूँ कमल के, क्या करूँ इनका
पसारें आप आँचल; छोड़ दूँ, हो जाय जी हल्का

'बूँद टपकी एक नभ से' मे सुन्दर कल्पना की भावाभिव्यक्ति बड़े सरल और सहज ढंग से हुई है :—

बूँद टपकी एक नभ से, किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो

हँस रही सी आँख ने जैसे किसी को कस दिया हो
ठगा सा कोई किसी की आँख देखे रह गया हो
उस बहुत से रूप को, रोमांच रोके रह गया हो

प्रयोग की दृष्टि से प्रभाकर माचवे की पंक्तियाँ दर्शनीय हैं :—

कापालिक हँसता है
पगले! तू क्यों उसमें फँसता है? रे दुनियादारी
यह महीन मल-मल की सारी
उसके नीचे नरम गुलाबी चोली से ये कसे हुये
पीनोन्नत स्तन
यह कुंकुम अक्षत से चर्चित माथा, यह तन
किसी सुहागिन की अर्थी पर,
बड़ी-बड़ी चीलों के मानों तीक्ष्ण
चक्षु ये बसे हुये पर जीवन याँ सस्ता है॥

श्री धर्मवीर भारती की कविताओं में फ्रायड के अनुसार दमित वासना का स्पष्ट विस्फोट है। रूमानी कोटि का वर्णन अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाता है स्थूल मासलता के साथ जीवन की संघर्षमयी प्रेरणा प्राप्त होने से उनकी कवितायें अन्य प्रयोगवादी कवियो से अधिक स्वस्थ एवं जीवन्त हैं।

मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत।
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद॥

× × ×

आज माथे पर नजर में बादलों को साथ कर
रख दिये तुमने सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर

× × ×

आज कल तमाम रात चाँदनी जगाती है,
मुँह पर दे दे छींटे, अधखुले झरोखे से

अंदर आ जाती है।
दबे पॉव धोखे से माथा छू निंदिया उचटाती है।
बाहर ले जाती है, घन्टो बतियाती है
ठडी ठडी छत पर, लिपट लिपट जाती है।

अन्त में निष्कर्ष स्वरूप डा० नगेन्द्र के शब्दो में यही कहना समीचीन होगा कि आज के मानव की चेतना एकात धूमिल और तमसाच्छन्न है, विज्ञान ने ईश्वर पर विश्वास उठा दिया है। जीवन मूल्यों की यह अव्यवस्था नवीन काव्य मे अत्यन्त मुखर है। छायावाद का कवि जहॉ अनजान ही अपनी कुठाओ को काम-प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता था, वहीं प्रयोवादी कवि के प्रतीक विधान में अवचेतन विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है, परिमाण स्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओ पर सीसे के पर्त की तरह जमती है। रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया है। प्रयोगवाद का कवि शब्द के साधारण अर्थ मे बड़ा अर्थ भरना चाहता है, इसके लिये तरह-तरह के प्रयोग करता है, विचित्र और अनर्गल प्रयोग करता है। अप्रस्तुत विधान को अत्यन्त असाधारण कर देने का प्रयत्न करता है।

आपेक्ष :—(१) प्रयोगवाद के आधार भूत सिद्धान्त सदोष हैं जो मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र दोनो की कसौटियो पर खोटे उतरते हैं।

(२) जब कभी बुद्धितत्व रागात्मक तत्व के ऊपर हावी हुआ है, काव्य तत्व उसी अनुपात से क्षीण हो गया है।

(३) नवीनता की झोक में मूल सिद्धांत का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है। काव्य के मूल तत्व रस प्रतीति पर दृष्टि केन्द्रित रखकर काव्य को गतिरोध और रुढि जाल से मुक्त करने के लिये नये प्रयोग स्तुत्य हैं परन्तु क्रम को उलट कर की आत्मा का आत्मा का तिरस्कार करते हुये प्रयोगों की ही महत्ता देना हलकी साहसिकता मात्र है।

हिन्दी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव

आधुनिक हिन्दी कविता पर भाषा, भाव, शैली सभी दृष्टि से पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। आधुनिक कविता की रूप रेखा में आमूल परिवर्तन आ गया है। साहित्य नित्य प्रति विकास की ओर उन्मुख होता जाता है, संस्कृति के ऊपर जब विदेशी प्रभाव पड़ता है, जब कोई जागरूक संस्कृति आपस मे मिलती है तो आदान प्रदान स्वाभाविक हो जाता है। अंग्रेजी माध्यम होने के कारण हिन्दू, मुसलमान सभी अंग्रेजी भाषा और साहित्य के निकट सम्पर्क में आए। अंग्रेजी के विख्यात कवियों एवं लेखकों ने उन्हें आकृष्ट किया। नवीन दृष्टिकोण भारतीय समाज को मिला। भारतीय साहित्य मे नवीन चेतना और नवीन गतिशीलता आई। बंगला साहित्य पर नए विचारों का प्रभाव पड़ रहा था, जिसके माध्यम से वह साहित्य मे छा गया। धीरे-धीरे हिन्दी की विचार धारा उसी दिशा में मुड़ती गई। उपन्यास, कहानी, कविता, गद्यगीत, निबन्ध, समालोचना, गद्य साहित्य, नाटकों, एवं लेखों पर पाश्चात्य प्रभाव विचार धारा के माध्यम से प्रविष्ट हुआ। कविता के क्षेत्र मे हम केवल धार्मिक भावनाओ नायक-नायिका भेदों एवं शृंगार वर्णनों की सीमित परिधि को तोड़ कर अन्य विषयों की ओर मुड़ चले। हिन्दी कविता पाश्चात्य प्रभाव के फल स्वरूप ही जीवन के इतने निकट आ सकी। विषयगत विविधता आ गई।

हिन्दी कविता में दो मूल प्रवृत्तियाँ इस युग मे प्रबल हैं एक ओर तो हिन्दी कवि प्राचीन कथानकों के माध्यम से प्राचीन संस्कृति को पूर्ण भारतीय रूप दिये हुए हैं, यहाँ के आचार-विचारों और रीति-रिवाजो का जिस पर गहरा प्रभाव है। छायावादी कवि, मीरॉ, सूर, कबीर का परम्मपरा से अपना नाता बनाए हुये हैं। दूसरी ओर कुछ कवि पाश्चात्य साहित्य-संस्कृति एवं विचार-धारा से प्रभावित होकर रचनाएँ कर रहे हैं। राष्ट्रीयता की भावना का विकास

पाश्चात्य कविता के संसर्ग से ही हिन्दी कविता मे आया। धीरे-धीरे हिन्दी कविता मे व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा होती जा रही है। प्राचीन रूढियों और विश्वास वर्तमान युग उसकी परिस्थितियों से बहुत पिछड़े हुए हैं। वे अब जर्जर हो चुके हैं। कविता को रपम्परा की सीमा में बाँध देने से विकास मर जाता है। इसकी सजीव साक्षी ये प्रस्तुत कर रहे हैं।

कविता तो हृदय से फूट निकलने वाला सगीत है। वह तो हृदय की सामान्य भाव भूमि से उभर कर ही उच्चकोटि की हो सकती है। शैली, वर्ड्‌सवर्थ, बायरन, कीट्स मिल्टन इत्यादि अमर कवि आज हमारे बहुत निकट आ गए हैं इसका सबसे बड़ा कारण है अनुभूति की सच्चाई। श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त के शब्दों में 'छायावाद के उत्तर काल में हिन्दी काव्य में और भी अनेक नए परिवर्तन हुए। इनका महत्व उतना अधिक नहीं है जितना खड़ी-बोली के प्राथमिक कवियों और छायावाद का था। आधुनिक हिन्दी के प्रथम और द्वितीय चरण मे उदीयमान पूँजीवाद की विचार धाराओं से हमारा साहित्य प्रभावित हुआ था। पहले महासमर के बाद भारतीय जनता के सघर्ष तीव्रतम होने लगे और राष्ट्रीय आन्दोलन जन-आन्दोलन बन गया। सन् १९३० के लगभग बलवती किसान सभायें बनी, जिनमें तीव्र वर्ग चेतना थी। मजदूर आन्दोलन के अभिमान का अभिनन्दन लेनिन पहले कर चुके थे। इस वस्तु-स्थिति का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा था। मार्क्स की विचारधारा प्रेमचन्द, पन्त एवं राहुल जैसे महारथियों के साहित्य को नई दिशा दे रही थी और यशपाल, शिवदानसिंह चौहान तथा राम विलास शर्मा आदि को प्रेरणा दे रही थी।

निश्चित रूप से पूँजीवाद के विरुद्ध आन्दोलन एवं मजदूरों के प्रति सहानुभूति की भावना से सम्बन्धित अनेक कविताएँ हिन्दी में इसी समय रची गई। कुछ की भाषा-शैली एक प्रकार से वही थी जो पाश्चात्य देशों से ज्यों की त्यों अपना ली गई थी किन्तु समझदार साहित्यकों ने भारतीय परिस्थिति, भाव धारा, एवं चिन्तन को दृष्टि में रखकर सच्चे जीवन के चित्रों को सफलता पूर्वक चित्रित किया। इन कवियों में अनुभूति की प्रधानता है। पलाश वन, कुकुरमुत्ता, लाल निशान, मिट्टी और फूल इत्यादि रचनाएँ इसका ज्वलंत

उदाहरण हैं । तार सप्तक के अनेक कवियों ने कविता की भाव व्यंजकता में अपना अनूठा योग दिया । दूसरा सबल प्रबल प्रभाव फ्रायड का हिन्दी कविता पड़ा । फ्रायड के मतानुसार हमारी विचार धारा के मूल में काम भावनाएँ ही हमे प्रेरित करती हैं जिसमें भावनाएँ एवं आकांक्षाएँ मरुस्थल की प्यास की तरह निराश एवं विकल हैं । अज्ञेय की कविता इसका उदाहरण है । मार्क्स और फ्रायड का प्रभाव भारतीय विचारधारा पर पड़ा ही है । पर साथ ही कुछ अन्य ह्रासोन्मुखी यूरोपीय वादों का प्रभाव हिन्दी कविता को जकड़ रहा है जिससे हिन्दी कवि को बचना होगा । सच्चा साहित्य वही है जो हमारी सद्-प्रवृत्तियों को चेतना दे, हमे कल्याण पथ की ओर प्रशस्त करे और यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि हम किसी की झूठ अनुकृति न कर जीवन के सच्चे अनुभवों को व्यक्त करें । आज हिन्दी कविता कितने मोड़ से होकर गुजर रही है । उस पर पाश्चात्य साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान एवं विभिन्न वादो का प्रभाव पड़ा है । पर उसे अपना मार्ग स्वयं ही निश्चित करना होगा । हर्ष का विषय है कि आज के कवि की दृष्टि इस ओर जा रही है वह मानवता के कल्याण-पथ की ओर जा रहा है ।

हिन्दी कविता को कोरी नकल की प्रवृत्ति एवं अंधानुकरण से बचना होगा तभी वास्तविक उन्नति सम्भव है । छन्द—विधानों मे भाव की अभिव्यक्ति में विषय की विविधता में जो पाश्चात्य प्रभाव पड़ा वह निश्चित रूप से बहुत गहरा है । नवीन विचारधारा एवं नवीन चिन्तन के फलस्वरूप हिन्दी कविता को नवीन दृष्टिकोण भी मिला है जो पाश्चात्य साहित्य की बहुत बड़ी देन है ।

हिन्दी के मुसलमान कवि

"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए"

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

मुसलमानों के आक्रमण सातवी सदी से प्रारम्भ हो गए थे फलस्वरूप नव आगन्तुक मुसलमानो और हिन्दुओं के बीच दीर्घ समय से भयकर सघर्ष होता रहा। यह आक्रमणकारी अपनी कटुता में इस सीमा तक पहुँच गए कि उन्होंने मूर्ति खडन के साथ ही इतने सहस्रों वर्षों के सचित ज्ञान विज्ञान एवं अमूल्य साहित्य को भी नष्ट कर देना चाहा। विशाल पुस्तकालय-जला दिए गये, किन्तु कालान्तर मे इस साम्प्रदायिक स्थिति मे आश्चर्य जनक अन्तर आ गया और एक समय ऐसा आया जब सामान्य जनता पारस्परिक विभेदों को मिटा कर एक दूसरे के निकट आती जा रही थी। दो विभिन्न सस्कृतियाँ जब एक दूसरे से मिलती हैं तो धर्म, कला, साहित्य सभी पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। मुसलमान शासको की उदार प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी के कवि दरबारों मे आश्रय प्राप्त करने लगे। हिन्दी के प्रति मुसलमानो मे अभिरुचि उत्पन्न हुई। कितने ही संस्कृत हिन्दी के ग्रथों का अरबी फारसी में अनुवाद कराया गया।

साधारण जनता मे भाषा का आदान-प्रदान बना रहा। साथ ही अनेक मुसलमान ऐसे थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे वह अपने साथ हिन्दू सस्कार लिए हुए थे और नवीन धर्म को अपनाये हुये थे।

यवन शासकों के युग में धार्मिक-भावना का प्राबल्य था। भारतीय सभ्यता और सस्कृत ने तो यवनों को प्रभावित किया ही पर धामिक चिन्तन का प्रभाव उन पर बहुत गहरा पड़ा। कृष्ण-भक्ति की पावन सरिता में अवगाहन कर उनका कण्ठ भी कृष्ण का गुण-गान करने लगा। कृष्ण के नयनाभिराम

बालगोपाल चितचोर नटनागर एवं गोपियों तथा राधा के उत्कट प्रेम ने उन्हें आकृष्ट किया। 'ताज' इसी रूप पर आसक्त थी। राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानो की दृढ़ कठोर सत्ता स्थापित थी किन्तु धर्म तो मनुष्य को उदार बना देता है। धार्मिक क्षेत्र मे 'हिन्दू' 'तुरुक' सब समान हैं। मुसलान कवियों ने भारतीय कथानकों को लेकर अमर साहित्य का सृजन किया। उनकी भाव की अभिव्यक्ति अपनी थी, जिसमे प्रेम और विरह के मार्मिक चित्रण सूफी फकीरों की भाँति उन्होंने अंकित किए। उनका योग पाकर हिन्दी कविता में अनुपम अभिवृद्धि हुई।

हिन्दी का जब विकास हो रहा था। उस समय अमीर खुसरो ने अपनी पहेलियों एव मुकरियों द्वारा अत्यन्त लोक-प्रियता प्राप्त कर ली। खुसरो ने हिन्दी और उर्दू का सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित किया। उन्होंने विभिन्न विषयों पर बड़ी ही मनोग्राही एवं चटपटी शब्दावली में रचनाएं की। इनका स्वभाव अत्यन्त विनोदी था। इनकी शैली पर उनका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। इनका विनोद उच्चकोटि का होता था। स्वयं अकबर बादशाह इनकी असाधारण बुद्धि और सूझ-बूझ की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते थे। इनकी हिन्दी रचनाओं मे उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता है। उन्होंने अनेक पहेलियों, मुकरियाँ, दो सुखने इत्यादि लिखे। खुसरो की रचनाओं में भाषा का सरल रूप देखने को मिलता है। इन्होंने खड़ी बोली और ब्रज भाषा मे रचना की। उर्दू का पुट होने के कारण उसमें सुन्दर प्रवाह एवं गतिशीलता है। उदाहरण स्वरूप :—

दो सुखन—

सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई ? परदा न था।
मोसे वह सिंगार करावत
आगे बैठ के मान बढ़ावत
बासे चिक्कन न कोउ दीसा
एक सखि साजन ना सखि (सीसा)

खुसरो की भाषा की यह विशेषता है कि वह हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये ही सहज है, इसीलिए अमीर खुसरो इतने अधिक लोक-प्रिय हो गए।

खुसरो के पश्चात् ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्तर्गत कबीर का नाम आता है। वे एक सच्चे सुधारक थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो संस्कारों से युक्त होने के कारण वे दोनों धर्मों की स्वाभाविक त्रुटियों एवं वाह्याडम्बरो से भली भाँति परिचित थे। उन्होने भारतीय अद्वैतवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्य-वाद, हठयोगियो की साधना परक प्रणाली एव वैष्णवो के प्रपत्तिवाद का सम्मिश्रण कर अपना एक पृथक पंथ चलाया। जीवन भर वे वाह्याडम्बरों पर तीव्र फटकार करते रहे और 'सहज साधना' करने पर जोर देते रहे। उनकी भाषा मे अडिग आत्मविश्वास समन्वित ओजपूर्ण प्रवाह है। भक्ति काल के निर्गुण कवियों मे कबीर जाज्वल्यमान ध्रुव नक्षत्र की तरह हैं।

प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत सूफी कवियों का योग भुलाया नहीं जा सकता। इन प्रेम की पीर वाले कवियों ने भारतीय कथानकों के माध्यम से सूफी धर्म की आध्यात्मिकता को वाणी प्रदान की। इन प्रेमाश्रयी कवियों मे कुतुबन, मंझन, नूर मुहम्मद, उसमान, एव मलिक मुहम्मद जायसी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जायसी ने अमर काव्य 'पद्मावत' की रचना मसनवी शैली के आधार पर की और यह शैली इतनी लोकप्रिय बनी कि कविप्रवर तुलसीदास ने इसे दोहे-चौपाई की पद्धति मे ढाल कर अपनी रामायण लिखी। आत्मा परमात्मा के मिलन की सरस झांकी 'पद्मावत' में प्रतीकों के माध्यम से बड़ी ही तन्मयता के साथ कवि ने प्रस्तुत की है। जायसी का 'नागमती विरह वर्णन' वाला बारहमासा हिन्दी काव्य साहित्य में अन्यतम है। इस प्रकार हिन्दू मुसलनानों के बीच पड़ गई दरारों में जायसी ने अपनी मीठी वाणी का मरहम लगाकर अत्यधिक सफलता पाई। कबीर की कर्कश वाणी को वह सफलता न मिल सकी थी। इस दृष्टि से जायसी का महत्व कबीर से कहीं अधिक है।

जायसी के पश्चात् मुसलमान कवियों में निपुण नीतिज्ञ रहीम के ऋण सदैव हिन्दी काव्य पर रहेगा। धार्मिक कट्टरता से सर्वथा शून्य रहीम विशुद्ध मानव थे। वे अपने चित्त को चकोर की भाति बनाकर निशि-वासर कृष्णचन्द्र की ओर देखते रहते थे जीवन की सहज अनुभूतियों से ओत-प्रोत होने के कारण उनके दोहे आज भी सर्व साधारण की गुत्थियों को सुलझाने का उत्तरदायित्व बड़ी ईमानदारी से वहन करते जा रहे हैं।

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही रखौ गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाटि न लैहै कोय॥
अमी पियावत मान बिन, रहिमन मोहि न सुहाय।
प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देय बुलाय॥

रस की खान रसखान तो कृष्ण भक्ति में अपने आपको इतना डुबा चुके थे कि उनके ऊपर करोड़ों हिन्दुओं को न्यौछावर करने को जी करता है। प्रेम की उत्कट अभिव्यंजना करने में रसखान अपने ढग के बेजोड़ मुसलमान कवि हैं। रागात्मकता एवं मर्मस्पर्शिता तो रसखान के व्यक्तित्व में घुली-मिली थी—

जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
बासुरी बाजयगो, धौं विष बगराय को॥

रसखान अपने प्रियतम पर इतने आसक्त हो चुके हैं कि उनकी एक एक प्रिय वस्तु पर अपनी आत्मीयता की छापा लगाने को व्यग्र हैं :—

मानुष हौं तो वहीं रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गॉव के ग्वारन।
जो पसु हो तो कहा बसु मेरो, चरों नित नन्द धेनु मझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को, जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हों तो बसेरो करौं, मिलि कालिन्दि कूल कदम्ब की डारन।

वे लकुटी और कामरिया पर तीन लोकों के राज्य को सहर्ष छोड़ने को तैयार हैं। करोड़ों सोने के भवनों को करील के कुंजो पर न्यौछावर कर देते हैं। शर्त यही है कि—

रसखान कबौं इन ऑखिन सो, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।

रसखान की तीव्र अनुभूति का प्रगाढ़ माधुर्य 'ताज' को भी सौभाग्य से प्राप्त हो गया है। वह कितने भोलेपन से नन्द के कुँवर पर रीझ उठती हैं और गर्व के साथ कहने लगती हैं :—

नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पर
हौं तो तुरकानी, हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं॥

रीतिकाल मे अनेक मुसलमान कवि हुए। उनमे रसलीन व आलम के

नाम भी उल्लेखनीय हैं। उनके रचित कितने ही दोहे बिहारी के नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत यकबार ॥

आलम के सवैयों में हमें शृङ्गार की पराकाष्ठा के साथ साथ वियोग की हूक भी सुनाई पड़ती है जो हमारी रसस्निग्धता को चुनौती देती हुई झकझोर देती है—

आलम जौन से कुंजन में करी केलि घनी तहाँ सीस धुन्यौ करैं।
नैनन मे जो सदा बसते, तिन की अब कान कहानी सुन्यौ करैं ॥

मध्यकाल में जहाँ मुसलमान कवियों ने हिन्दी कविता को अपना सहृदय योग दिया था वहाँ आधुनिक युग मे अंग्रेजों की कूट नीति के कारण दोनों के बीच चौड़ी खाईं तैयार हो गई। जिससे हिन्दी कविता मुसलमानों के योग-दान से वंचित रही। नजीर अकबरबादी ने 'कन्हैया के बालपन' एवं 'होली' पर अवश्य अपनी सहृदयता सौगात के रूप मे अर्पित की। संकीर्ण मनोवृत्ति, एवं हिन्दी उर्दू विवादों द्वारा वह कटुता बढ़ती गई। इतना अवश्य कहा जा सकता है कुछ प्रगतिशील उर्दू के लेखक कवियों—सरदार जाफरी, फिराक, जोश मलीहाबादी— की पुस्तकों का हिन्दीकरण अवश्य हो रहा है।

—

हिन्दी साहित्य की महिला साहित्यकार

साहित्य क्षेत्र मे महिला वर्ग ने समय समय पर हिन्दी साहित्य की वृद्धि की है। यद्यपि हिन्दी के आदिकाल मे देश की सामाजिक स्थिति मे महिलाओं का क्षेत्र केवल घर ही तक सीमित रह गया था। शिक्षा का स्त्रियों मे अभाव था क्योंकि पर्दे की प्रथा बढ़ती गई थी। कितनी ही प्रतिभाएँ विलुप्त हो गई होगी कौन जाने? किन्तु फिर भी समय समय पर महिलाओं ने अपनी योग्यता का परिचय दिया है। वीर गाथा काल मे हमे ऐसी कोई महिला का उल्लेख नहीं मिलता जिसने हिन्दी साहित्य मे योग दिया हो। वीर काव्य के युग की प्रवृत्तियाँ शृंगार और युद्ध होने के कारण महिलाएँ जौहर और रूप की परिधि में ही बँध गई थीं। ऐसा कोई व्यापक विषय उनके अनुकूल न था। भक्ति साहित्य मे उत्कर्ष के साथ ही महिलाओं ने हिन्दी साहित्य में योग दिया। महिलाओं की प्रवृत्ति के अनुकूल विषय भक्ति साहित्य मे विद्यमान था। कृष्ण को इन्होंने प्रियतम के रूप में वरण किया। जिस तरह कबीर की आत्मा 'हरि मेरे पिय मैं तो राम की बहुरिया' का पद गा रही थी। अनेक स्त्रियाँ तो सहज ही में इस भावना को अपनी आत्मा की गहन अनुभूति से गा उठीं) सहजो बाई दयाबाई की भावानुभूति अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट हैं, तथा भक्ति रस से परिपूर्ण है। भक्ति के आवेग मे सहजो बाई किस प्रकार अपने भावों को सरलता से व्यक्त कर देती हैं :—

"बाबा? काया नगर बसावौ।
ज्ञान दृष्टि सूँ घट में देखौ, सुरति निरति लौ लावौ
पाँच मारि मन बस कर अपने तीनों ताप नसावौ।

भक्ति साहित्य की सर्व-श्रेष्ठ कवियित्री हैं राजरानी मीराँ जिनकी अमर पीयूषवाणी ने भारतीय जीवन में उज्ज्वल अमृतमय स्रोत बहा दिया। मीराँ

के पद आज भी घर घर गूँजते हैं। मीराँ जो अनुभव करती हैं वही कहती हैं। उनके भाव सात्विक सरलता से व्यक्त होते जाते हैं। मीराँ के प्रेम में दाम्पत्य भाव की प्रधानता है। कृष्ण उनके प्रियतम हैं उनके जनम जनम के साथी हैं जिसके वियोग मे वह मीन की तरह तड़पती हैं—उस वेदना को शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता, यह तो वही जनता है जो उसको अनुभव करता है मीराँ के हृदय की विकलता कौन जान सकेगा—

हेरी ? मै तो प्रेम दिवाणी, मेरो दरद न जाने कोय

× × ×

दरद की मारी बन बन डोलूँ वैद मिल्या नहि कोय
मीराँ की प्रभु पीर मिटे जब वैद सँवलिया होय

मीराँ अपने हृदय की भावना के अनुसार ही समस्त प्रकृति को देखती है। वियोग में पपीहे की वाणी भी उन्हें बुरी लगती है :—

"पपीहरा रे ! पिव की वाणी न बोल।"

मीराँ हिन्दी साहित्य की अमर 'तारिका' है। उनकी पदावलियों में भाव भाषा एव शैली की अपनी विशेषता है। मीराँ के पदो का प्रचार भारत के कोने-कोने मे है।

मुसलमान कववित्रियों मे 'ताज' और 'शेख' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ताज ने कृष्ण के मनोहर रूप से आकर्षित होकर कितना सुन्दर पद कहा है :—

"नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
हौं तो तुरकानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं"

शेख का ब्रजभाषा पर सुन्दर अधिकार है। हिन्दी में बरवै छन्द सर्वप्रथम किसी स्त्री द्वारा ही रचा गया। पति के नौकरी पर चले आने के उपरान्त उसने अपना विरह इस प्रकार व्यक्त किया—

प्रेम पिरि कौ बिरवा चलेहु लगाय
सींचन की सुधि लीजौ, मुरझि न जाय

रहीम कवि ने इसी के आधार पर इस छन्द को 'बरवै" नाम दिया। मध्यकाल में अनेक स्त्रियों ने कविताएँ लिखी। विषय की दृष्टि से उन्हें सहज रूप से व्यक्त करने का माध्यम मिल गया था। गिरधर कविराय

की स्त्री ने उच्च कोटि की कुण्डलियाँ रचीं। इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। जिनमें हास्य विनोद के अतिरिक्त नीति व्यवहार की कुशलता भी है। कुण्डलियों के प्रारम्भ में ये अपना नाम "साईं" लिख देती हैं :—

"साईं अवसर के परे, को न सहै दुख-द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वे राजा हरिचन्द।"

प्रताप कुँवर बाई, रत्न कुँवर बीबी, चन्द्रकला बाई, जुगल प्रिया आदि कवयित्रियों ने व्रजभाषा और राजस्थानी में अपनी कवितायें रची। इनमें अधिकाश रानियाँ थीं। कुछ साधारण स्त्रियाँ थीं।

मध्यकालीन युग में जहाँ धार्मिक भावना प्रबल थी धीरे-धीरे समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हुआ। मुगल शासकों का स्थान अँग्रेजों ने ले लिया था। देश के समक्ष ऐसे दासत्व का समय आया जब कि ओजपूर्ण वाणी में सुभद्रा कुमारी चौहान को समस्त देश के वीरों से ललकार कर कहना पड़ा :—

'वीरों का कैसा हो वसन्त"

सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं में देश प्रेम अनूठे ढंग से व्यक्त हुआ है। जहाँ वह एक ओर वीरता भरी उत्साहपूर्ण कविता का सृजन करती हैं वहीं दूसरी ओर मातृ-हृदय की समस्त अनुभूति से अनुप्राणित होकर कहती हैं :—

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख सुहाग की है लाली
शाही शान भिखारिन की
है मनोकामना-मतवाली

सुभद्रा कुमारी चौहान की अमर कृति "झाँसी की रानी" उनकी सजीव भाषा-शैली की प्रमाण है।

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी।
दूर फिरंगी को करने की सबने मन मे ठानी थी।

छायावादी युग की प्रमुख कवियित्री महादेवी वर्मा हिन्दी साहित्य में अपना अमर स्थान बनाये हुए हैं। मानव हृदय की सूक्ष्मतम अनुभूतियों का भावपूर्ण चित्रण उनकी कविता में हुआ है। स्मृति की रेखाओ में हल्के इन्द्र-धनुषी रंगों का सम्मिश्रण है। कल्पना के सम्मोहन में हृदय बँध-बँध जाता है। सुमधुर कल्पनाएँ भाव-भूमि से उभरती हैं जिसमे कवियित्री का हृदय बोल उठता है-उनका प्रेम निष्काम है। वहाँ केवल समर्पण की भावना है वह अपने प्रियतम को निरन्तर खोजती हैं, मिलन की आकांक्षा करती हैं—इस मिलन की साधना में वह रत हैं :—

जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने सन्देश
पथ मे बिछ जाते बन पराग···

महादेवी वर्मा सफल कवियित्री होने के साथ ही कुशल गद्यकार भी हैं। इनकी "शृङ्खला की कड़ियाँ" भारतीय नारी जीवन का एक मात्र प्रतीक है। "अतीत के चलचित्र' में भाव की अभिव्यक्ति सजीव बन पडी है। महादेवी जी के लेखों मे बौद्धिक प्रखरता है।

कविता के क्षेत्र के अतिरिक्त कहानी और उपन्यास क्षेत्र में भी नारी ने सहयोग दिया है। महिला कहानीकारों द्वारा लिखी गई कितनी ही सफल कहानियाँ दैनिक जीवन के चित्रो को लेकर उभरी हैं। जिसमे नारी जीवन का मनोविज्ञान प्रमुख है। कहानी लेखिकाओं मे शिवरानी देवी, श्रीमती उषादेवी मित्रा, श्रीमती सौनरिक्सा, श्रीमती सत्यवती मल्लिक, कुमारी कंचन लता सब्बरवाल इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने शिक्षा मनोविज्ञान पर महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की है।

वर्तमान युग में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला है, निश्चित रूप से महिलाएँ साहित्यक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का विकास करके स्पृहणीय साहित्य का सृजन कर सकेंगीं।

हिन्दी साहित्य में समालोचना की गतिविधि

हिन्दी साहित्य मे वर्तमान समालोचना का रूप हरिश्चन्द युग से प्रारम्भ होता है। समालोचना की गतिविधि मे समय समय पर क्रमशः उन्नति होती गई। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निर्णयात्मक समालोचना 'कालिदास की निरकुशता' नामक पुस्तक में उपस्थित की जो समालोचना क्षेत्र में नवीन गतिविधि उपस्थित करती है। भारतीय साहित्य मे आलोचना की परिपाटी थी। टीकाएँ भाष्य आदि आलोचना के उदारण हमें प्राप्त होते हैं किन्तु आलोचना की पुरानी परिपाटी और आज की परिपाटी में मौलिक अन्तर आ गया है। आधुनिक समालोचना का आरम्भ पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ है। समालोचना का पूर्व रूप केवल नोट्स के रूप मे था कवि की कृति के सम्बन्ध में कुछ शब्द ही आलोचना का पूर्व रूप था। आलोचना को तीन काल मे विभाजित किया जा सकता है। (१) प्रारम्भिक काल (२) मध्य काल (३) आधुनिक काल।

अलोचना के प्रारम्भिक काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो मार्ग प्रदर्शित किया उसके पश्चात् तो अनेकों विद्वनों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। बालकृष्ण भट्ट, एवं बद्री नारायण चौधरी के आलोचना पूर्ण लेख प्रकाशित हुए, जिसने समालोचना साहित्य को गतिविधि दी।

श्रीनिवास दासकृत "संयोगिता स्वयंवर" काफी समय तक आलोचना का विषय बना रहा। समालोचना-पद्धति पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा अतः उसी परिपाटी पर हिन्दी साहित्य मे समालोचना का प्रणयन हुआ। उस समय आलोचना पुस्तक-परिचय के रूप मे ही थी। गुण और दोषों का विवरण मात्र उपस्थित कर दिया जाता था। समालोचना के क्षेत्र मे महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने अनेक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हमारे समक्ष रखे किन्तु तत्कालीन आलोचको की दृष्टि केवल दोषों तक ही सीमित रही। पुस्तक परिचय के रूप में महावीर

प्रसाद स्वयं परिश्रम से समालोचना लिखते रहे। मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' समालोचना को एक परिष्कृत रूप देता है। उन्होंने देव का स्थान बिहारी से अधिक श्रेष्ठ माना फिर क्या था ? हिन्दी समालोचना क्षेत्र में एक वाद उठ खड़ा हुआ। 'देव' और 'बिहारी' 'बिहारी और देव' नामक कितनी ही समालोचना की पुस्तकें निकलीं। स्वर्गीय प० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रंथ मे तुलनात्मक समालोचना की नींव डाली। 'देव और बिहारी' की तुलनात्मक समालोचना पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने की। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने आलोचना करते समय अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। यह निष्पक्ष समालोचना का पूर्व रूप था। इन्होंने यद्यपि देव को प्रमुखता दी थी किन्तु बिहारी ने भी उन्हें आकर्षित किया था। लाला भगवान-दीन ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक लिखी जिसमें बिहारी को श्रेष्ठता प्रदान की।

समालोचना से हमारा तात्पर्य सम्यक् प्रकारेण गुण दोषो का विवेचन करते हुए आलोचनात्मक पद्धति का प्रतिपादन करना है। आगे चल कर आलोचना के कितने ही रूप विकसित हुये।

व्याख्यात्मक समालोचना—गुण और दोषों की पूर्ण व्याख्या इस प्रकार की आलोचना पद्धति में हमे प्राप्त होती है। व्याख्यात्मक समालोचना की भाँति तुलनात्मक समालोचना (जिसमे दो समान कवियों की कृति को लेकर उनकी तुलना की जाय) का विकास हुआ इसी प्रकार क्रमश. ऐतिहासिक समालोचना का (जिसमे आलोचना उस कृति विशेष पर समय का प्रभाव बतलाता हैं) विकास हुआ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना, प्रभावात्मक आलोचना क्रमशः विकास की शृंखला में आती गईं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्मामसुन्दर दास ने समालोचना क्षेत्र में गम्भीरता का सृजन किया। फलस्वरूप प्रौढ़ आलोचना का रूप विकसित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसी ग्रंथावाली' मे तुलसीदास की, भ्रमरगीत-सार से सूर की, जायसी ग्रथावली' मे जायसी की आलोचना पुस्तकों के प्रारम्भ मे भूमिका के रूप में उपस्थित की। डा० श्यामसुन्दरदास ने ऐतिहासिक समालोचना को पथ-प्रशस्त किया। उन्होंने 'तुलसीदास' नामक पुस्तक में

तुलसीदास जी की जीवनी पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जो हिन्दी साहित्य में उच्चकोटि की समालोचना समझी गई। तुलसीदास जी की जीवनी और उनकी अन्तःप्रवृत्तियों का इसमें विश्लेषण भी उपलब्ध है। पश्चिमी समालोचना के सिद्धान्तों ने हिन्दी समालोचना को एक नवीन रूप दिया। पश्चिमी-पूर्वी सिद्धान्तों के मिश्रण से जो समालोचना का रूप आधुनिक युग में आया वह अत्यन्त परिष्कृत था जिससे आलोचना क्षेत्र में सर्वतोमुखी उन्नति सम्भव हो सकी। डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, एवं 'शिलीमुख' भाव सौन्दर्य के साथ कलापक्ष को प्रधानता देते हैं। प्रगतिवादी आलोचको में श्री अज्ञेय, शिवदान सिंह चौहान और डा० रामविलास शर्मा हैं जो भौतिक प्रतिमानों पर अधिक बल देते हैं।

डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामरतन भटनागर, डा० माता प्रसाद गुप्त आदि प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं एव समय का निर्धारण करने के कारण इतिहास को अपना आधार बनाते हैं। आज दिन प्रति दिन पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से आलोचना क्षेत्र में सर्वांगीण उन्नति होती जा रही है।

समालोचना सम्बन्धी कितने ही ग्रथ प्रकाशित हुए हैं। समालोचना कार्य भी वास्तव में बहुत बड़ी कला है। शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रंथ अत्यन्त प्राचीन समय से ही लिखे जा रहे थे। पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्त के अध्ययन के आधार पर श्याम सुन्दरदास जी ने 'साहित्यालोचन' नामक पुस्तक लिखी। हडसन, रिचार्ड्स, वर्सफील्ड आदि प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक हैं इनके सिद्धान्तों का प्रभाव हिन्दी समालोचना पर विशेष रूप से पड़ा।

हिन्दी समालोचना क्षेत्र में यथेष्ट प्रगति हुई है। डाक्टर सूर्यकान्त ने 'साहित्य मीमासा', पं० राम दहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' आलोचना-सिद्धान्तों के ग्रंथ लिखे। गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन' इस दृष्टि से सफल ग्रंथ है। 'काव्य मे रहस्यवाद' 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' 'आदर्श और यथार्थ' 'रहस्यवाद-छायावाद' आदि आलोचना की सुन्दर पुस्तके हैं। हिन्दी उपन्यासों, कहानियों, नाटकों तथा काव्य पुस्तको पर निरन्तर समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आधुनिक युग मे कुछ समालोचक फ्रायड से प्रभावित होकर आलोचना कर रहे हैं। डा० नगेन्द्र फ्रायड के सिद्धान्तों के आधार पर अपनी आलोचना

के मापदण्ड निश्चित करते हैं, वे फ्रायड के मनोविज्ञान से अधिक प्रभावित हैं। आलोचना क्षेत्र म दिन प्रति दिन उन्नति होगी इतनी तो निश्चित है पर समालोचक को सतर्क होने की आवश्यकता है। उसका कार्य बहुत उत्तरदायित्व का है।

नन्द दुलारे बाजपेयी ने 'हिन्दी समीक्षा की प्रगति' नामक लेख मे लिखा है कि 'हमारी समीक्षा का भविष्य उन प्रतिभा सम्पन्न और अध्ययनशील तरुण लेखको पर अवलम्बित है जो समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानते हैं, साथ ही जो साहित्य की अपनी परम्परा और विशेपता का ज्ञान रखते हैं। सामाजिक जीवन विकास के साथ साथ काव्य-पद्धति और काव्य-स्वरूप की अन्तरंग और प्रशस्त अभिज्ञता रखने वाले दृष्टि-सम्पन्न लेखकों के हाथों में ही हमारा समीक्षा साहित्य सुरक्षित रह सकता है।

हिन्दी साहित्य में आज अनेक अच्छे समीक्षक दृष्टिगत होते हैं :—

शिवनाथ, बच्चन सिंह, गंगा प्रसाद पाडे, जानकी बल्लभ शास्त्री, डा० देवराज, जगन्नाथ प्रसाद, नलिन विलोचना शर्मा, देवराज उपाध्याय, बलराज साहनी, डा० प्रतिपाल सिंह, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० दशरथ ओझा एवं नामवर सिंह आदि के सतत् प्रयासों द्वारा हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में यथेष्ट उन्नति हो रही है। हिन्दी का समालोचना साहित्य उन्नति के पथ पर दिन प्रतिदिन अग्रसर हो रहा है। इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण

प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। प्रकृति के धानी आंचल में ही मनु-पुत्र अपनी आशा-आकान्ताओ के चित्र चित्रित करता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों की सत्ता पारस्परिक अनुराग-विराग से अनुप्राणित है। शैशव का सा अरुणिम प्रभात, यौवन की सी दोपहरी एवं विषएण वृद्धावस्था सा सूर्यास्त—प्रकृति का यह परिवर्तित वेश जीवन की ही तो अनुकृति है। हिमगिरि के उत्तग शिखर, सागर की फेनिल लहरें एवं उसकी अतल गहराई मानव हृदय की उदात्तवृति, संघर्षशीलता एवं गहरी निराशा के ही तो प्रतीक हैं। प्रकृति का रम्य विरूप रूप मानव हृदय के सामने सदैव एक प्रेरणा का स्रोत वनकर आया है। सवेदन शील मनु-पुत्र को तड़ित की तपक में एक मौन संकेत मिलता है। मधुमास सौरभ के मिस उसे सन्देश भेजा करता है। वह घड़ी कितनी रोमाचकारी होती है जव :—

> क्षुब्ध जल शिखरो को जव वात, सिन्धु मे मथकर फेनाकार,
> बुलवुलों का व्याकुल संसार, वना विथुरा देती अज्ञात,
> उठा तव लहरों से कर कौन, न जाने मुझे बुलाता मौन।

प्रकृति के इन्हीं मौन-संकेतों को भाव विमुग्ध कवि वाणी प्रदान करता आ रहा है। युगों युगो से वह सिलसिला कल्पना एवं प्रेरणा के पंखों पर चढकर अनेक मञ्जिलों का मीत वन चुका है।

वीर गाथा काल की मञ्जिल तक प्रकृति की कवियो से विशेष घनिष्टता न स्थापित हो सकी। यह काल सौन्दर्य एवं शौर्य के संघर्ष का काल रहा है। जीवन तलवारो एवं नूपुरों की छपछपाहट तथा छमछमाहट में उलझा रहा। विलास पूर्ण आडम्वरों से वेष्टित सामन्ती कवि प्रकृति से सीधा सम्वन्ध स्थापित न कर सके। रासों मे जो यत्किंचित् प्रकृति वर्णन हमे प्राप्त होता

हैं उसे उद्दीपन रूप में ही स्वीकार किया है। कवि ने प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य का उपभोग अपनी उद्दाम वासना को बलवती बनाने में ही किया है। यह प्रकृति का एक मात्र वाह्य चित्रण होने के कारण एकागी एवम् जीवनी शक्ति से शून्य है।

हिन्दी काव्य मे प्रायः तीन प्रकार का प्रकृति-वर्णन उपलब्ध है—

१—अलंकारों के उपमान रूप मे गृहीत।

२—भावो के उद्दीपन रूप में चित्रित।

३—वर्णनीय विषय के रूप में वर्णित।

हिन्दी कविता में प्रकृति का चित्रण उपमान रूप में विशेष हुआ है। सन्त कवि अर्न्तमुखी होने के कारण अपने आतम-अनुभव को ही व्यक्त करते रहे। प्रकृति का मनोरम सौन्दर्य उन्हें सदैव क्षण-भगुरता का पाठ पढ़ाता रहा—

माली आवति देखकर, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लई, काल हमारी बार॥

सूफी कवि मानव तथा मानवेतर प्रकृति के बीच एक प्रकार की अभिन्नता का अनुभव करते हैं। इन कवियों ने प्रकृति को प्रायः उद्दीपन और उपमान रूप में ही चित्रित किया है। जायसी अपने प्रभु की छाप प्रकृति के विभिन्न व्यापारों मे स्पष्ट रूप से देखते हैं :—

अनु धनि तू निसिअर निसि माहा। हौं दिनअर जेहि के तू छाहा॥
चांदहि कहाँ ज्योति औ करा। सुरुज क जोति चॉद निरअरा॥
विरह के आगि सूर जरि कापा। रातिहि दिवस जरै ओहि तापा।

मध्यकाल में भावात्मक साहित्य का सृजन होने के कारण भक्त कवियो ने ऐसे भावमय अवतरणों को प्रकृति की पृष्ठभूमि से पोषित किया जो आज भी बासी नहीं हुए हैं। भक्तिकाल में प्रकृति का वर्णन यद्यपि स्वतन्त्र रूप से उतना अधिक नही हुआ। प्रकृति को वातावरण की भूमिका स्वरूप या उद्दीपन के रूप में ही स्वीकार किया गया :-

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजै
तब ये लता लगाति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुँजैं॥

× × ×

वे जो देखे राते राते फूलन फूले डार ।
हरि बिनु फूल झरी से लागति, झरि झरि परत अङ्गार ॥

तुलसीदास जी का प्रकृति-वर्णन नीति परक होने के कारण अधिक बौद्धिक एवं अस्वाभाविक हो गया है फिर भी उसकी मौलिकता अपने ढङ्ग की सर्वथा अनुपम है—

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई । वेद पढ़हि जनु बटु समुदाई ।
सस सम्पन्न सोह महि कैसी । उपकारी की सम्पत्ति जैसी ॥

रीति कालीन कवि प्रकृति की ओर नायिका के रूप-लावण्य के लिए उपमान खोजने में ही दृष्टि डालता है । अष्टयाम एवं नखशिख वर्णन से अवकाश मिलन पर जब भी वह अपनी रससिक्त दृष्टि प्रकृति के नग्न सौंदर्य पर डालता है तो वहाँ भी उसे एक प्रकार के उद्दीपन का आभास मिलता है—

वीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, वेलिन में
बनन में, बागन में, बगर्‌यौ बसन्त है ।

एक मात्र सेनापति ही अपनी प्रतिभा के कारण परम्परा से मुक्त होकर मौलिक ढङ्ग से प्रकृति का चित्रण उपस्थित कर सके :—

सेनापति माधव महीना में पलासतरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं ।
आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे मानौ,
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं ॥

इस कवि के प्रकृति-चित्र इतने सजीव एवम् मूर्तिमान हैं कि बरबस हमें मुग्ध कर लेते हैं, यद्यपि सेनापति ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही स्वीकार किया है किन्तु इतनी अधिक आत्मीयता उसके प्रति दिखाई है कि वह भी कवि के मानवीय जगत की एक अङ्ग बन गई—

वृष को तरनि तेज सहसौ किरन करि
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं ।

तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह कौ पकरि पंथी पछी बिरमत हैं ।।
सेनापति नैकु दुपहरी के ढरत होत
धमका विषम, ज्यों न पात खरकत हैं ।
मेरे जानि पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनो,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत हैं ।।

बिहारी अथवा प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों ने भावों के उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण किया है । 'चित चैत की चाँदनी चाह भरी' प्रेम के भाव को उद्दीप्त करने में सहायक होती है । देव के प्रकृति वर्णन में हमें सजीवता के दर्शन होते हैं—

देव मधुकर हूक हूकत मधूक धोखे,
माधवी मधुर मधु लालच लरे परत ।
दुहुँ पर जैसे जलरूह परसत, इहाँ
मुहुँ पर झाईं परे पुहुप झरे परत ।।

देव जी का 'डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के' नामक कवित्त हिन्दी-कविता के प्रकृति-चित्रण के प्रागण मे अपना अद्वितीय स्थान रखता है । कवि की कितनी सुहावनी सूझ है जिसमें प्रकृति की सारी सजीवता सिमट आती है—

मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै ।

यदि प्रकृति-चित्रण में काव्य-सौन्दर्य, कलात्मकता एवम् शब्द सगीत की मधुरता देखनी हो तो बिहारी के दोहों की बनस्थली मे बिहार कीजिए—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गन्ध ।
ठौर ठौर झौरत झपत, भौरे झौंर मधु अन्ध ।।

आधुनिक युग मे प्रकृति के व्यक्तित्व को एक स्वतन्त्र स्थान मिला वह पुनः अपने सम्पूर्ण यौवन के साथ बिहँस पडी । प्रकृति के विविध उपकरणों को इस युग के कवियों ने सहानुभूति शील स्पन्दन के साथ देखा एवम् प्रकृति की धड़कनों मे उसे मानवीय धड़कनों का आभास मिला

भारतेन्दुजी ने 'यमुना तट-वर्णन' में काव्योद्‌गार रूप में प्रकृति का स्वच्छन्द चित्रण किया। श्रीधर पाठक का हिमालय वर्णन भी सर्वथा सराहनीय है किन्तु द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के कारण पुनः प्रकृति-चित्रण में भावुकता का लोप हो गया। आगे चलकर पाश्चात्य प्रभाव के कारण छायावादी कवि पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि कवियों ने प्रकृति के विविध चित्र चित्रित किए। स्नेह, सहानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि लेकर जब इन कवियों ने प्रकृति को निहारा तो उन्हें प्रकृति मे निहित रहस्य का पता चला। उसमे कवि की मनस्थितियो का प्रतिबिम्ब एवम् मनोव्यथाओं की छाया दिखलाई पड़ी। पन्त जी तो प्रकृति निरीक्षण से ही अपनी कविता की प्रेरणा ग्रहण कर सके—

छोड द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन।

प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर छायावादी कवियों ने यत्र तत्र उसका मानवीकरण करते हुए बड़े ही सुन्दर चित्र उपस्थित किये। पन्त जी ने चन्द्रज्योत्सना को सुप्तावस्था की नायिका का रूप दिया है—

नीले नभ के शतदल पर, वह बैठी शारद हासिनि
मृदु करतल पर शशि मुख धर, नीरव अनिमिष एकाकिनि।

प्रसाद जी ने प्रकृति को पनघट पर पानी भरने वाली नागरी के रूप में निहारा—

बीती विभावरी जागरी,
अम्बर पनघट पर डुबो रही, तारा घट ऊषा नगरी।

मानवीकरण का सुन्दर रूप हमें निराला जी की 'सन्ध्यासुन्दरी' 'जुही की कली' तथा 'शेफालिका' मे भी देखने को मिलता है। इस प्रकार छायावादी प्रकृति-चित्रण में हमें कोमल तरलता मिलती है। इन्द्र धनुषी रङ्गों के चित्र मिलते हैं किन्तु आगे चलकर मानव जीवन की विषमता और उलझनों से खिन्न होकर प्रगतिवादी कवि प्रकृति के प्रांगण को छोड़कर मानव की आराधना करने लौट आया—

कहाँ मनुज को अवसर, देखे मधुर प्रकृति मुख।
कब अभाव से जर्जर प्रकृति उसे देगी सुख॥

आज के प्रयोगवादी कवि को तो प्रकृति की सारी चेष्टाएँ कृत्रिम प्रतीत होती हैं, वह अपने जीवन की ही गाठे सुलझाने में व्यस्त है—

वचना है चाँदनी सित,
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार

बौद्धिकता के परिणाम स्वरूप प्रयोगवादी कवि समस्त पुराने उपमान फेंककर नई दृष्टि से सोचता है—

चाँदनी चन्दन सदृश हम क्यों लिखें
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें
हम लिखेंगे चाँदनी उस रूपये सी है
कि जिसमे चमक है पर खनक गायब है।

इस प्रकारर प्रयोगवादी कविताओं की घुटन और एकरसता कवि को प्रकृति के प्रांगण में फैलने से रोककर उन्हें अपनी ही खोज करने का विवश कर रही है।

हिन्दी कविता में हास्य रस

हमारे दैनिक जीवन में हास्य का उतना ही महत्व है जितना खाने में चटनी का। हास्य प्रायः विनोद के ही लिए होता है, किन्तु फिर भी मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए हास्य, व्यंग, विनाद परम आवश्यक हैं। व्यंग भी हास्य का एक रूप ही माना जाता है जिसे हम व्यगात्मक हास्य की संज्ञा दे सकते हैं।

कविता के माध्यम से समाज का विशिष्ट रूप हमारे समक्ष समय-समय पर आता रहता है, किन्तु समाज के अन्य कोमल अंगों को जिनको हमारी समाजिक कविता नही छू पाई है, हिन्दी के हास्य रस के कवि सहज ही मे छू लेते हैं। या यों कहिए, कि हास्य रस की कविताएँ अर्थपूर्ण तथा विनोदपूर्ण दोनो ही होती हैं।

हिन्दी कविता में अब जहाँ अनेकों 'वाद' आ गए हैं और हिन्दी कविता का रूप निरन्तर बदलता ही जा रहा है, तब भी हास्य प्रधान कविताएँ निरन्तर एक ही गति से चली जा रही हैं। हास्य रस के कवि हिन्दी के आदि युग मे भी थे और अब भी विद्यमान हैं। हाँ ! उनकी शैली समय-समय पर बदलती गई और हास्य रस की कविता का रूप दिनोंदिन परिष्कृत होता गया। हास्यरस की कविताओ में यों तो सहज ही कही हुए एक बात होती है परन्तु उस बात का अपना एक महत्व होता है या तो इसमें सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन निहित होता है अथवा कोई घरेलू बात कही होती है, कल्पना के सहारे हास्यरस के कवि राजनीति के विधानों की गहराई तक पहुँच जाते हैं। हास्य-विनोद तो हमारे पूर्वकालीन कवि, सूफी कवि, सन्त कवियो आदि की कविताओं मे भी मिलता है। सूरदास और तुलसीदास ने भी इस रस का रसास्वादन किया है।

बिहारी ने कृष्ण-राधिका प्रणय पर एक छींटा उड़ाते कहा है :—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

× × ×

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

हिन्दी कविता में हास्य का प्रथम प्रयास अमीर खुसरो ने किया था। उनकी मुकरियों में हास्य स्पष्ट रूप में झलक पड़ता है।

जब मेरे मन्दिर में आवे, सोते मुझको आन जगावे।
पढ़त फिरत वह विरह के अच्छर, ऐ सखि, साजन ? ना सखि, मच्छर॥

कबीर ने हिन्दू मुसलमानों के पाखण्डों की तीव्र भर्त्सना करते हुये हास्य के जीवन्त छींटे उड़ाये हैं। 'आसन मार मन्दिर मे बैठो नाम छाड़ि पूजन लागे पथरा' अथवा 'क्या बहिरा हुआ खुदाय' के हास्य मे मन को कचोट देनेवाला व्यंग्य है।

तुलसीदास जी ने भी अपनी रचनाओं में हास्य रस का शिष्ट प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। 'विंध्य के बासी उदासी सबै' के द्वारा कवि ने तत्कालीन चारित्र्य-दुर्बल साधु समाज का अच्छा मजाक उड़ाया है। विष्णु के मुख से शंकर के ऊपर कितने मर्यादित ढग से छींटे कसे गये हैं :—

बर अनुहार बरात न भाई, हँसी करैहहु पर पुर जाई॥

सूरदास के माखन चोरी मे पकड़े हुए बालक कृष्ण यशोदा से कह ही तो देते हैं :—

मैं जान्यो यह घर अपनो है, या धोखे मे आयो।
देखत हौं गोरस मे चीटी, काढ़न को कर नायो॥

इसके अतिरिक्त भक्त के नाते भगवान को दिये गये उपालभों या चुनौतियों मे प्रौढ़ हास्य का परिचय मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविता मे इस रस को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया। उनकी काव्य रचनाएँ "चूरन का लटका" "अंधेर नगरी" 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" "पाखण्ड विडम्बना" आदि अच्छे प्रहसन हैं। भारतेन्दु बाबू का हास्य शिष्ट, सुगम एवम् सुसयत है। प्रताप-

नारायण मिश्र भी हास्यरस के अच्छे लेखक थे किन्तु उनका हास्य सतही एवं शिष्टता से कुछ दूर रहता है। राजा अकबर तथा बीरबल के हास्यपूर्ण चुटकुले प्रायः जन साधारण के हृदय में अभी तक सजीव हैं। उनके इस विनोद में सर्वदा एक सूक्ष्म व्यंग्य निहित रहता है। हास्य के इस माध्यम से राजा अपने मन्त्री से और मन्त्री अपने राजा से इस प्रकार की बातें कर लिया करते थे जो वैसे सम्भव न थीं। कदाचित् इसी व्यंग की प्रेरणा पाकर आधुनिक कवियों ने भी समय-समय पर राजनीति की आचोचना तक कर डाली है।

आधुनिक हास्यरस की कविताओं का रूप कुछ बदलता जा रहा है। यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक हास्य जगत में कुछ बारीकियाँ अधिक आती जा रही हैं। यह निर्णय करना कि आधुनिक हास्य रस में कौन कवि श्रेष्ठ है अथवा किसका स्थान प्रधान है, कठिन होगा। लिखने के विचार से अन्नपूर्णानन्द वर्मा, जी० पी० श्रीवास्तव के स्थान प्रमुख हैं। वर्मा जी की मेरी हजामत, महाकवि चच्चा, मंगलमोद बड़े ही लोकप्रिय हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव की कृतियाँ उनके शिष्ट हास्य का प्रमाण हैं। इनकी रचनाओं मे उर्दू शब्दों का आधिक्य है फिर भी उनकी भाषा लोकप्रिय और सुगम है।

आधुनिक कवियों मे भगवती चरन वर्मा ने मर्मस्पर्शी व्यंग्यात्मक हास्य का प्रयोग अपनी कविताओं में करके हिन्दी कविता के हास्यरस में अमूल्य वृद्धि की है। उनकी कविता 'भैसागाड़ी' जिसकी 'चू-चरर मरर' मे भी एक ध्वनि है एक शिष्ट व्यंग्य है जो दिल मे एक तीखा दर्द पैदा कर देता है। पं० हरीशंकर शर्मा का भी हिन्दी हास्य कविता में अपना एक स्थान है। इनकी कविताओं मे अनुप्रास का समुचित प्रयोग मिलता है।

आधुनिक 'प्रयोगवादी' युग मे हमारे हिन्दी के उदीयमान् युवक लेखकों का अपना एक स्थान है। उन्हीं मे से कुछ हास्य को भी अपने नये वाद में ढाल कर उसका रूप परिष्कृत करने का सतत् प्रयत्न कर रहे हैं। इन उदीयमान् कवियों में श्री मोहनलाल गुप्त तथा केशवचन्द्र वर्मा प्रमुख हैं। इनकी कविता जीवन के कोमल अंगों को छूकर निकल जाती है और अपने हास्य के पीछे एक अर्थ छोड़ जाती है।

परिहासमय अनुकरण (पैरोडी) जगत में कुछ कवि तो अपनी कला कृति के कारण अमर हो गए हैं, कवि 'चोंच' तथा 'भुशुंडि' की कविताएँ तो बच्चों के लिये 'लटका' बन चुकी हैं।

अमृत लाल नागर की रचनाओं में हास्य के साथ-साथ एक गहरा. व्यंग्य छिपा होता है। उनकी अपनी शैली है जो विनोदपूर्ण होने के साथ-साथ जन प्रिय भी है। जन कवि केदार की कतिपय पंक्तियाँ तो हास्य की सजीव अवतार हैं। वे अपने लक्ष्य पर अचूक वार करती हैं :—

सेठ जी के पास पूँजी का बड़ा तालाब है,
प्यार करने को मगर दिल सेठ का बेताब है।
थैलियों का मुँह खुला है, लौंडियों की चाह है,
सेठ जी का भद्र जीवन आजकल गुमराह है॥

कविता के इस माध्यम मे यदि यों ही बैठे ठाले हास्य-विनोद में अथवा चुटकुलो मे जीवन की जटिल समस्याएँ सुलझ जाएँ एव सामाजिक कुरीतियाँ हट जाएँ तो क्या यह अनुपम बात न होगी ?

—

हिन्दी कविता में नारी

मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में नारी का महत्वपूर्ण योग रहा है। नारी शाश्वत जीवन की ज्योति, प्रेरणा और शक्ति के रूप में सदैव वन्दनीय रही है। महापुरुषों के जीवन-निर्माण में नारी का सहयोग सदैव सराहनीय रहा है। नारी एक ऐसे केन्द्र विन्दु के रूप मे हमारी चेतना एवं दीप्ति को प्रबुद्ध करती रही है जिसके पावन आलोक मे जीवन मरण के स्फुलिंग जलते बुझते रहे हैं। नारी की इसी प्रतिभा से पराजित हो प्रसाद जी की श्रद्धा फूट पड़ी :—

> नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में।
> पीयूष स्रोत सी वहा करो जीवन के सुन्दर समतल मे ॥

भारत का गौरवपूर्ण अतीत नारी की अर्चना करके ही अपने को उन्नतिशील बना सका है किन्तु कालान्तर में वही मातृत्व की मिठास वासना की विषवेलि बन जाती है जिसकी छाया में तन, मन, प्राण झुलस जाते हैं। एक ओर नारी को ममतामयी, दयामयी स्नेहमयी, तप-त्याग, सेवा और स्नेह की प्रतिमा मानकर उसपर विशेषणों के फूल चढ़ाये गये हैं दूसरी ओर ठगिनी मायाविनी, 'भय अविवेक अशौच अदाया' की मूर्ति बनाकर उसकी छाती को छलनी बना दिया गया है और उसकी स्वतन्त्रता के अपहरण के लिए इस प्रकार के प्रतिबन्धों का विधान किया गया है जिसमें वह आजन्म घुटती हुई अपने व्यक्तित्व का बलिदान करती रही है। नारी जहाँ स्वस्थ मानव स्नायुओं के लिए संजीवनी सिद्ध हुई है वही लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट करा देने वाली माया रूपी अफीम भी। सम्भवतः कामान्ध मानव का अपनी शक्ति और संयम के प्रति अविश्वास का उद्घोष इसका साक्षी है :—

पिता रक्षति कौमार्य, भर्ता रक्षति यौवने ।
वार्द्धक्ये पुत्र रक्षति, न नारी स्वातंत्र्यमर्हति ॥

परतत्रता की शृङ्खला मे बद्ध नारी का यह कटु प्रलाप है किन्तु नारी के वास्तविक रूप से भी परिचित होना हमारे सौभाग्य का विषय होगा। नारी समस्त सृष्टि की संचालिका है, जीवन की उदात्त मशाल है। जिसकी ज्योति में युग का ज्ञान-विज्ञान अँगड़ाई लेता है। इसी कारण से महापुरुषो ने नारी के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने मे परम सुख का अनुभव किया है। जर्मनी के महाकवि गेटे ने 'स्त्री जाति की सगति को अच्छी आदतों की नीव" माना है। मुहम्मद साहब ने स्पष्ट घोषणा की है कि तेरा स्वर्ग तेरी माँ के तलुवों के नले है। मनु ने दृढ़ता के साथ कहा है कि 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।'

वैदिक युग के उच्च नैतिकतापूर्ण आध्यात्मिक काव्य में नारी का माहात्म्य अन्त:सौन्दर्य से विभूषित हो गरिमाजनित गौरव का अनुभव करता रहा है किंतु विरक्ति और मोक्ष की धार्मिक चेतनाओं के उग्र होने से यहाँ तक कह दिया गया—'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी।'

प्राचीन काव्य मे नारी मानव जीवन के उत्थान और पतन की उत्तरदायी रही है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में बौद्ध धर्म की दार्शनिक जटिलताओं और कुसस्कारो का विकृत प्रभाव काव्य मे स्पष्ट दिखायी देता है। सिद्ध-सम्प्रदाय के सन्तों ने नारी को विलास का साधन, मोक्ष का मार्ग और साधना की शक्ति के रूप मे स्वीकार कर 'महा सुखवाद' की सृष्टि की। इसीलिए इन सन्तो के काव्य मे वर्णित नारी का व्यक्तित्व विशृङ्खल एवं मर्यादा से शून्य है। मद्य-मासादि के निरन्तर सेवन पर जोर देकर जो आह्वान गीत इन सन्तों ने आकाश को सुनाए वे नारीजाति के लिए कलक स्वरूप हैं: —

मद्य मास च मीन च मुद्रा मैथुनेव च।
एते पचे मकारस्यु मोक्षदायिनी युगे युगे ॥

ध्यान देने योग्य है कि इन सन्तो ने नारी सेवन को महत्ता देकर, उसे मोक्ष के साधन के रूप मे स्वीकार कर एवं परम्परागत सामाजिक नैतिकता को असन्तुलित कर एक नवीन सामाजिक मान्यताओं की स्थापना की। इस अस्त

व्यस्त सामाजिक जीवन की समस्त दुराचारपूर्ण विभीपिकाओं को हटाने का सरल प्रयास प्रसिद्ध हठयोगी साधक गोरखनाथ जी ने किया :—

धन जोबन की करै न आस, चित ना राखै कामिनी पास।
नादविंद जाके घटि जरै, ताकी सेवा पारवती करै ॥

गोरखनाथ जी के 'कौलज्ञान' में नारी के परित्याग एवं वासनात्मक रूप की स्पष्ट निंदा की गयी है इस निंदा से नारी का महत्व कम नहीं होता अपितु नारी का एक सहज स्वस्थ सौंदर्यजनित स्वरूप सामने आता है। डा० हजारी प्रसाद जी ने लिखा है कि 'इस मार्ग मे कठोर ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, वाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आतरिक शुद्धि और मद्य मासादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। इस दृढ़ कण्ठ स्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में कभी भी गलदश्रु, भावुकता और ढलमुलपन नही आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलाई नही जा सकी है। (नाथ सम्प्रदाय)

वीरगाथा काल की नारी केवल वासना पूर्ति की साधन मात्र न होकर जीवन के विनाशकारी घड़ियों में प्राणों की बाजी लगाने वाली वीरागना के रूप में सामने आयी। उस काल में देश जाति धर्म और सतीत्व की रक्षा में प्राणों को उत्सर्ग कर देना उसके स्वभाव का एक अंग बन गया था। वह युद्ध भूमि मे स्वयं अपने कोमल करों से पति को अलंकृत कर उत्साह वर्धन करती हुई दृष्टिगत होती है :—

पाछा फिर मत झाँकल्यो, पग मत दीज्यो टार।
कट मत जाज्यो खेत मे, पर मत आज्यो हार ॥
नायण आजु न माण पग, काल सुणीजै जङ्ग।
धारा लागै जो धनी, तौ दीजौ घणरङ्ग ॥
भल्ला हुआ जो मारिया, बहिणी म्हारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु अह भग्गाघर एन्तु ॥
माता एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप।
अकबर सूतो ऊभकै, जाण सिराणे साँप ॥

इस काल के कवियो का नारी के प्रति दृष्टिकोण कर्त्तव्य और भावना से

प्रेरित होकर चला है। एक ओर वह कर्त्तव्य भावना को जाग्रत करने वाली सजीवनी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित हुई तो दूसरी ओर यौवनोन्माद से आकर्षित करने वाली तितली से पख लगाए सलोनी के वेष में। एक ओर उसकी चितवन का सकेत पा मानव आकाश के सितारे तोड़ लाने को तैयार हो जाता है तो दूसरी ओर उसी के कजरारे नयनों मे चुम्बनो की परते बुनने लगता है।

भक्ति काल में आचार की शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया इसलिए नारी के एकाकी विलासमय रूप की भरपेट निन्दा की गई। इन बैरागी साधुओं ने नारी के दूसरे पक्ष को देखने की कभी आवश्यकता ही नहीं समझी। इन योगियों ने नारी के सामाजिक गौरव को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर सात्विक गुणों से शून्य नारी की तामसिक प्रवृत्तियों के प्रति घोर घृणा प्रकट की। उदाहरणार्थ :—

माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत ह्वै बैठी, तीरथ हूँ में पानी।
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहैं कबीर सुनो भइ साधो, यह सब अकथ कहानी।

किन्तु यहीं पर चिन्तनीय है कि कबीर यदि नारी के प्रति प्रेम एव त्याग की आदर्श दृष्टि न रख उसे गर्हित भावना से देखते तो स्वय आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुँचकर 'हरि मोरा पीव मैं हरि की बहुरिया' बनना किसी प्रकार भी स्वीकार न करते। उन्हें वियोग में इस आदर्श प्रेम की चरम अनुभूति के दर्शन होते हैं :—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफ कै मुरझै जिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, साईं बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भइ साधो, हरो पीर दुख जोर किया।

सूफी साधकों एवं जायसी आदि कवियों की नारी भावना लौकिक प्रेम में भी अलौकिक शक्ति का संकेत करने वाली रहस्यमयी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है, आध्यात्मिक प्रेरणा एव शक्ति की संचालिका है। पद्मावती के रूप वर्णन मे जायसी ने अनन्त सौन्दर्य के दर्शन किये हैं :—

वरुणी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जनु दुइ अनी ॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने ॥
धरतीं बान वेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोंव रोंव मानुष तन ठाढ़े। सूतहि सूत वेधि अस गाढ़े ॥

सूफी सन्तों में नारी, जीवन की वास्तविक सत्ता से जीवन्त होती हुई आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख है। कबीर ने यदि आत्मा को नारी के रूप में ग्रहण किया तो जायसी आदि सूफी कवियों ने उसे धरती और स्वर्ग की अनुपम विभूति मानकर उसका गान किया।

विद्यापति की नारी (राधा) जन सम्पर्क से दूर सौन्दर्य विलास की मूर्ति मात्र है। चडीदास की नारी, जीवन के प्रेम, सौन्दर्य, भावुकता और नारीत्व के प्रति सजग है, जयदेव की नारी मासल यौवन एवं विद्युत वासना के रूप में प्रतिष्ठित है विद्यापति ने इन दोनों कवियों के नारीजन्य दृष्टि कोणों का सुन्दर समन्वय करके राधा के चित्रो का निर्माण किया है फिर भी उसके हृदय के सौन्दर्य की अपेक्षा शरीर के बाह्य चटक-मटक एवं वासना को आमन्त्रित करने वाले आकर्षण का आधिक्य है :—

देखि देखि राधा रूप अपार।
अप्रसव वे विहि आनि मिलाओल, खिति तन लावनि सार।
अगहि अंग अनंग मुरछायत, हेरए पड़ए अबीर।
मन्मथ कोटि मथन कस जे जन, से हरि महि रधि गीर ॥

× × ×

केतिक रूप निहारल सजनी नयन न तिरपित भेल।

सूर की राधा प्रणय एवं समर्पण की सौगात है। वह जीवन के समस्त वन्धनों, आकर्षण और सुखों से मुक्त होकर चिरन्तन पुरुष की प्रेमिका बनकर

उसको पाने के लिए लालायित हो उठती है। उनके लिए हरि-हारिल की लकड़ी के समान है। वे उद्धव से स्पष्ट कहती हैं :—

ऑंखियाँ हरि दरसन की प्यासी।

सूर की राधा में विश्व भर की प्रेमिकाएँ मान मनुहार करती हैं। यशोदा मे विश्व भर की माताओं का करुण वात्सल्य किसी को प्यार करने के लिए ललक उठता है। सूर ने गोपियों की तन्मयता एवं प्रेमासक्ति में हृदय की रागात्मक अनुभूतियो का सजीव चित्रण प्रस्तुत करके नारी जाति के गौरव को उन्नतिशील बनाया है।

तुलसीदास जी ने कौशिल्या, सीता, अनुसुइया आदि के माध्यम से आदर्श नारी चरित्रों की रचना की है और उन्हें समाज का गौरव सिद्ध किया है किन्तु जहाँ उन्होंने नारी को समाज, जाति, धर्म आदि में बाधा डालने वाली विलासिनी-कामिनी के रूप मे देखा है वहाँ उसे निंदनीय ठहराया है। तुलसी ने मातृत्व एवं नारियो के गुणों को सिर माथे रक्खा, किन्तु उनके वासनाजनित कामिनी पक्ष की सदैव अवहेलना की। उदाहरण स्वरूप :—

(१) सत्य कहहि कवि नारि सुभाऊ।
सब विधि अगहु अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिम्बु बरुक गहि जाई।
जानि न जाइ नारि गति भाई॥

(२) विधिहु न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥
सरल सुशील धरमरत राऊ।
सो किमि जानै तीय सुभाऊ॥

(३) नारि सुभाऊ सत्य कवि कहही।
अवगुन आठ सदा उर रहही॥
साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक असौच अदाया॥

डा० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि प्रत्येक युग के कलाकार नारी चित्रण में प्रायः उदार पाये जाते हैं। किन्तु नारी चित्रण मे तुलसीदास वेहद

अनुदार हैं। किसी भी नारी पात्र से यदि कहीं कोई भूल हो जाती है तो हमारे कवि के अनुसार सारी नारी जाति उसके लिये भर्त्सना का पात्र है।

रीतिकालीन कवियों ने नारी के मातृत्व पक्ष की उपेक्षा कर उसके वासना-त्मक पहलू को चटकीले रंगों से रंगा। बाह्य सौन्दर्य से अभिभूत हो नारी के विकृत चित्र खींचे। सर्वत्र नारी के अन्त. सौंदर्य की अवहेलना की। मातृत्व के बोझ से दबी होने पर भी उसे सुरति सुखित सी देखा। कहीं उसे काम की वाटिका, पगड़ी, शमादान एवं नवग्रह की माला बनाया तो कहीं 'कै गई काटि करेजन के कतरे-कतरे पतरे करिहाँ की' के रूप मे नश्तर के समान ठहराया। रीतिकालीन नारी का व्यक्तित्व सदैव वासना की कलुषित आँच मे झुलसता रहा। सामाजिक मर्यादा से शून्य नारी अपनी ही चकाचौंध में घुटती रही।

आधुनिक काल में भारतेन्दु ने नारी को बन्धन से निकालकर नील देवी जैसी क्षत्राणी के रूप मे उसके व्यक्तित्व को स्वीकार कर उसे प्राणों की रागिनी एवं दीप्ति की प्रतिभा घोषित की। नारी सामाजिक मर्यादा से गौरवान्वित एवं लोक-कल्याण की भावना से परिपूर्ण हो अपने व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास कर सकी। गुप्त जी एवं हरिऔध ने युगों-युगों से अभिशप्त नारी के प्रति समवेदना प्रकट करते हुए अपनी श्रद्धा के सुमन चढ़ाए। गुप्तजी ने लिखा है :—

स्वयं सुसंजित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण मे।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।

× × ×

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों मे पानी॥

हरिऔध की नारी कृष्ण के वियोग मे घुट-घुटकर मरनेवाली प्रेमिका न होकर विश्व कल्याण एवं लोक सेवा मे अपने प्रेम का उत्सर्ग कर देने वाली समाज-सेविका है। हरिऔध की नारी में जीवन की गति और देश का मान निहित है। त्रिपाठी जी ने जागरूक नारी का चित्र 'स्वप्न' की सुमना और 'पथिक' की प्रिया के रूप मे चित्रित किया है इस युग की समस्त नारियाँ समाज

की सेविकाएँ एवं राष्ट्र प्रेम मे अपने प्राणो की बाजी लगा देने वाली वीरागनाएँ हैं :—

चमक उठी सन् सत्तावन की वह तलवार पुरानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

छायावाद के युग में नारी का अस्तित्व केवल भावुकता, सौंदर्य कल्पना एवं अतीद्रिय चित्र प्रस्तुत करने का साधन बना। इससे जीवन के स्पन्दन से वह बहुत दूर जा पड़ी। फिर भी उसके मातृत्व, सहचरीत्व एवं देवत्व की सदैव अर्चना की गई और उसे मुक्त करने मे ही कल्याण दीख पड़ा :—

देवि माँ सहचरि प्राण

× × ×

मुक्त करो नारी को मानव चिर वन्दिनि नारी को।
युग युग की निर्मम कारा से जननी सखि प्यारी को॥

प्रसादजी की नारी सार्वजनीन शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। कवि की मौलिक प्रतिभा ने नारी को पुरुष की प्रेरणा एवम् शक्ति के रूप में चित्रित किया। दिनकर जी ने भी नारी की सर्वाङ्गीण प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की :—

तुम्हरे अधरों का रस प्राण, वासना तट पर पिया अधीर।
अरी ओ माँ हमने है पिया, तुम्हारे स्तन का उज्जवल क्षीर॥

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद मे नारी को न तो वह परम्परागत मर्यादित गौरव एवम् सुष्ठुता ही प्राप्त हो सकी, न उसका युगोचित उत्सर्गमयी स्वरूप ही प्रतिपादित किया गया। प्रगतिवाद मे नारी के विकृत रूपों की ही सृष्टि हुई। प्रयोगवाद अभी नए-नए प्रयोगों के फेर मे पड़ा है, नारी को नए नए मान से अलकृत करने के लिए वह सतत गतिशील है।

——— ———

विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है या अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।" वे चरित्र का विश्लेषण या तो संकेत मात्र से कथोपकथन द्वारा अथवा घटनाओं के विकास द्वारा करते हैं। प्रेमचन्द ने भावप्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं किन्तु बहुत कम। कहानी तत्वों की दृष्टि के अतिरिक्त विषय की दृष्टि से प्रेमचन्द ने वैसे लगभग सभी संभव विषयो पर कहानियाँ लिखी हैं किन्तु सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से लिखी गयी कहानियाँ सबसे अधिक हैं। उन्होंने हास्य सबधी कहानियाँ भी लिखी हैं। प्रेमचन्द की कहानियो की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए उनका यह कथन ध्यान में रखना चाहिए :—

'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जाग्रत हो, हमें मानसिक और आध्यात्मिक तुष्टि न मिले, हमारा सौंदर्य प्रेम न जाग्रत हो जो हमें सच्चे सकल्प और कठिनाइयों में विजय पाने की सच्ची दृढ़ता उत्पन्न न करे वह आज हमारे लिये बेकार है। वह सच्चा साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।" प्रेमचन्द ने अपने कहानियों की कथा-वस्तु समाज के व्यापक जीवन से ली है और उनकी कहानियों में जीवन की असख्य घटनाएँ विविध प्रकार के उच्च और नीच पात्र मिलते हैं। प्रेमचन्द ने अपने कथानकों में विविधता अवश्य उत्पन्न की है किन्तु विविधता उत्पन्न करने मे वे सर्वत्र सफल नहीं हुए। उनमे प्रायः पिष्टपेषण और शैथिल्य भी मिल जाया करता है। वैसे 'रानी सारन्धा', आत्मा-राम, पच परमेश्वर, शतरंज के खिलाड़ी, आदि अनेक कहानियाँ कथा-वस्तु की दृष्टि से कथात्मक कृतियाँ हैं। उनमें रमणीयता और सूक्ष्म निरीक्षण है। ऐतिहासिक कथावस्तु के चित्रण में भी प्रेमचन्द को सफलता मिली है किन्तु यदि वे अद्वितीय हैं तो चरित्र-चित्रण की कला में। चरित्र का वे सजीव रूप प्रस्तुत करते हैं और केवल मनुष्यों का ही नही पशु, पक्षियों का भी उन्होंने सुन्दर चित्रण किया है। वैसे तो उन्होंने सभी प्रकार के चरित्रो का चित्रण करने मे थोडी बहुत सफलता प्राप्त की है किन्तु सबसे अधिक सफलता उन्हे मध्यम वर्गीय पात्रों के चित्रण मे मिली है अथवा ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित पात्रों के चित्रण में। स्वय प्रेमचन्द के कथनानुसार उनकी कहानियों मे 'आदर्शोन्मुख

यथार्थवाद' रहता है। उनके कथोपकथन प्रभावोत्पादक और नियंत्रित रहते हैं। वे परिस्थिति और प्रभाव के अनुकूल उचित कथोपकथन का प्रयोग करना जानते हैं। उनकी कहानियों में कथोपकथन सुसम्बद्ध और अनुभूति के साथ तादात्म्य उपस्थित करने वाले होते हैं कथोपकथन की भाँति ही प्रेमचन्द वातावरण के सम्यक् चित्रण और वर्णन मे भी पटु हैं। अपने वर्णनों द्वारा वे जीवन और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जीवन की विविध परिस्थितियो का अच्छा अध्ययन किया है। वास्तव में यह प्रेमचन्द की एक विशेषता से संभव हो सका है और वह विशेषता है :—समवेदना का समावेश तथा आकर्षण के द्वारा रोचकता।

उन्होंने पश्चिम से कहानी का ढॉचा लिया, उर्दू से एक चुस्त तथा धारावाहिक शैली ली और अपने चारो ओर जीवन से प्रेरणा ली। अपने समय के राजनीतिक आदोलन का उन पर यथेष्ट प्रभाव है यद्यपि आर्य समाज का भी प्रभाव उन पर है। दीनजनों का सवेदनात्मक चित्रण करने और आदर्शवाद की दृष्टि से उन पर टाल्सटाय का प्रभाव है। वे न तो पाश्चात्य सभ्यता के अंधभक्त थे और न भारतीय समाज की रूढ़ियों के। वे भारतीय जीवन की सभी अच्छी बातों और उच्च आदर्शों के पोषक थे। पात्रों के चरित्र-चित्रण से उनके मनोविज्ञान का प्रौढ़ अध्ययन प्रकट होता है। प्रेमचन्द के संबन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि यद्यपि उन्होंने सफल ऐतिहासिक कहानियों का भी निर्माण किया है। किन्तु प्राचीनता की अपेक्षा आधुनिकता के चित्रण में ही उन्हें अधिक सफलता मिली है, उसमे भी ग्राम्य-जीवन तथा मध्यमवर्गीय और निम्नवर्गीय नागरिकों के सम्बन्ध मे। प्रेमचन्द की कहानियों को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त होने के कारणो मे से एक कारण उनकी सरल तथा स्वच्छंद भाषा शैली है, आधुनिक गद्य-निर्माताओ मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी भाषा मे स्वाभाविक ग्राहिकाशक्ति, प्रवाह, सफाई और मुहावरेदार प्रयोग हैं प्रारम्भ मे वे उर्दू के प्रवाह मे थे किन्तु शीघ्र ही उन्होने हिन्दी के दोषों का परिहार कर जन-साधारण की प्रचलित भाषा को आधार बनाकर लिखना प्रारंभ कर दिया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में प्रेमचन्द ने जीवन की अन्तिम

घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता में जनमे, दरिद्रता मे पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गये फिर भी वे अपने काल में समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे। उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा। बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिये मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते 'मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं।' प्रेमचन्द आत्माराम थे। वे शताब्दियो से पददलित अपमानित और निष्पेषित कृषको की आवाज़ थे। पर्दे मे कैद, पद पद पर लाछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे। गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकाक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आप को नि.सशय बता सकता हूँ कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँव-पचायतों से लेकर धारा-सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़ कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किये प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिये ललकते हुए भिखमङ्गो को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्यापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, साहस परायण चमारिन को, ढोंगी पडित को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है वह गलत नही है, उससे अधिक सच्चाई से देख सकने वाले परिदर्शक को अभी हिन्दी उर्दू की दुनियाँ नही जानती।"

प्रेमचन्द जी के उपन्यासो में, उनकी कला मे सच्चे भारत की आत्मा तैरती है। उनके सभी चरित्र अपनी वैयक्तिक और सामाजिक पूर्णता में भरे-पूरे होते हैं। उनके सभी पात्र सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। सभी पात्रों मे जबरदस्त सजीवन शक्ति एवं प्रेरणा है यद्यपि प्रेमचन्द सुधार वादी दृष्टिकोण लेकर चलते है, क्रांति का उपक्रम न करके समझौता कर लेते हैं, यथार्थवाद की परिणति आदर्शवाद मे कर लेते हैं, उनके सुधारक के नीचे

उनका कलाकार दब जाता है। फिर भी उपन्यासकार प्रेमचन्द प्रेमचन्द ही हैं और सब से महान तथा अपनी सानी न रखने वाला है कलम का 'मजदूर' प्रेमचन्द, मानव प्रेमचन्द जिसने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को एक करारी ठोकर देते हुए कहा :—

'मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं।"

हिन्दी में जीवनी साहित्य

(१) धार्मिक एवं भक्ति भाव के दृष्टिकोण को लेकर लिखी गयी राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, प्रह्लाद, शिवि, ध्रुव, अम्बरीष आदि आदर्श महापुरुषों की जीवनियाँ।

(२) राष्ट्रीय एवं देश भक्ति की भावना से लिखी गयी महाराणा प्रताप, लक्ष्मी बाई, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि की जीवनियाँ।

(३) आत्म-कथा के रूप में लिखी गई जीवनियाँ (मेरी आत्म-कथा) (गांधी जी) मेरी कहानी (जवाहरलाल नेहरू) इत्यादि। [यद्यपि बर्नाड्शा आत्मकथा लिखने के पक्ष में न थे]

(४) साहित्यिक व्यक्तियों की जीवनियाँ (सूर, तुलसी, कबीर, मीराँ, भारतेन्दु, प्रताप, प्रेमचन्द, पन्त, निराला इत्यादि की जीवनियाँ।)

(५) हिन्दी साहित्य मे जीवनी साहित्य पर विशेष नहीं लिखा गया, कुछ व्यक्तियों ने आत्म-परक पद्धति से कुछ रेखाचित्र अवश्य लिखे हैं। शिवरानी जी की 'प्रेमचन्द घर मे' और श्री कमलेश की 'मै इनसे मिला' पुस्तकें इस क्षेत्र में प्रशसनीय प्रयास के रूप मे हैं।

हिन्दी में भ्रमर गीत की परम्परा

(१) भ्रमर के व्याज से गोपियों ने उद्धव के ज्ञान का उपहास कर जो खरी खोटी सुनायी थी वही 'भ्रमर गीत' के नाम से अभिहित किया जाता है। सर्वप्रथम यह कथा श्रीमद्भागवत में मिलती है।

(२) इस कथा का सूत्रपात हिन्दी मे सर्वप्रथम सूर ने किया है। मुख्य आधार भागवत का ही है फिर भी पर्याप्त मौलिकता है।

(३) सूर के समानातर नन्ददास का भ्रमर-गीत-साहित्य अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक एवं चिन्तन की ओर झुका है। सखा सुन श्याम के, सुनो ब्रज नागरी का, उत्तर-प्रत्युत्तर बड़ा ही मनोहारी बन पड़ा है। इसी से तो कहा गया है—नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया।

(४) आधुनिक काल में ब्रज कोकिल सत्यनारायण जी ने भ्रमर-गीत काव्य लिखा है। जिसमें तत्कालीन राष्ट्रीयता की छाप स्पष्ट है। श्री हरिऔध का पवन-दूत, भ्रमर-गीत काव्य के आधार पर ही है। रत्नाकर जी का उद्धव शतक भी इस परम्परा से प्रभावित है। रत्नाकर जी के भ्रमरगीत काव्य मे सूर की भावुकता और नन्ददास के चिन्तन का मनोहारी सम्मिश्रण है। यही सम्भवतः इस परम्परा की अंतिम कड़ी है।

———

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

(१) प्रारम्भिक काल :—मुद्रण की सुविधा होने से, शिक्षा प्रचार, विचार विनिमय और साहित्यिक आदान प्रदान से समाचार-पत्रों का प्रचलन हुआ। १९वीं शताब्दी के आरम्भ मे 'उदन्त मार्तण्ड' का उदय हुआ। यह पत्रों का प्रारंभिक काल था। भारतेन्दु जी ने 'कवि बचन सुधा' और शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने 'बनारस अखबार' निकाला।

(२) राजनीनिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों का काल :—सवत् १९९८ मे 'अल्मोड़ा-अखबार', १९२९ मे 'दीप्ति-प्रकाश' और 'बिहार बन्धु', १९३१ में 'सदादर्श', १९३४ में बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित 'हिन्दी-प्रदीप' प्रकाशित हुए। इसके अतिरिक्त 'आनन्द कादंबिनी' 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती' आदि का प्रकाशन भी महत्व रखता है।

(३) आधुनिक काल :—विशाल भारत, विश्व मित्र (कलकत्ता); सुधा, माधुरी (लखनऊ); हंस (बनारस); चॉद (प्रयाग); प्रताप (कानपुर); विश्वबन्धु (लाहौर); आर्यमित्र (आगरा); नवयुग (दिल्ली)। प्रचारात्मक दैनिक :—हिन्दुस्तान, नवयुग टाइम्स, अर्जुन, आज, सैनिक, अमृत बाजार पत्रिका, भारत, संसार, धर्मयुग। साहित्यिक मासिक :—साहित्य संदेश, कल्पना, पाटल, वीणा, राष्ट्रभारती, ज्ञानोदय, हिन्दी डाइजेस्ट, नया जीवन, कहानी धार्मिक :—कल्याण, परमार्थ। इसके अतिरिक्त 'भूगोल', 'विज्ञान', 'मनोविज्ञान' 'अर्थशास्त्र' 'रंजना' (कामशास्त्र), धन्वंतरि (वैद्यक), सरगम (सिनेमा) आदि विभिन्न विषयो पर पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। स्त्रियोपयोगी पत्रिकाएँ :—'सरिता', 'मनोरमा'। संक्षेप में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

हिन्दी प्रचार के विभिन्न साधन

(१) हिन्दी का वर्तमान गतिविधि प्रचार की व्यवस्था, प्रचार के साधन।

(२) विभिन्न साधन (१) पत्र-पत्रिकाएँ (२) संस्थाएँ :—सम्मेलन, एकेडेमी, ना० प्र० सभा (३) परीक्षाएँ (४) चित्रपट, रेडियो (५) वाचनालय, पुस्तकालय आदि।

(३) राष्ट्रीय सरकार द्वारा पुरस्कार सम्बन्धी प्रोत्साहन, सरकारी सहायता, अभाषा-भाषी प्रान्तों मे हिन्दी के व्यापक प्रचार के लिए प्रदर्शिनी आदि का आयोजन। पारस्परिक विचार विनिमय के रूप में दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में हिन्दी की श्रेष्ठ पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत करना आदि।

हिन्दी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ

(१) हिन्दी साहित्य में भारत के प्रायः समस्त मत-मतान्तरों एवं धार्मिक सम्प्रदायों का प्रतिपादन एवं आध्यात्मिक साधनाओं का व्यापक-चित्रण मिलता है। प्रारम्भिक काल मे राष्ट्रीयता का रूप जातीयता तक ही सीमित था, भूषण की कविता स्वयं हिन्दुत्व के आगे न जा सकी। भारतेन्दु की कविता में व्यापक देश-प्रेम एवम् राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान है।

(२) हिन्दी साहित्य का प्रादुर्भाव स्वतन्त्रता में, मध्यकाल परतन्त्रता में और आधुनिक परतन्त्रता के क्रोड़ में पलकर स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण मे तरुण हो रहा है।

(३) हिन्दी साहित्य में भारतीय संस्कृति की आत्मा सुरक्षित है, भोगवाद के ऊपर त्याग की, हिंसा पर अहिंसा की, पाप पर पुण्य की, दानवत्व पर देवत्व की छाप स्पष्ट है। बहिरंग अवश्य विजातीय संस्कृति और भाषा (उर्दू, फारसी, अंग्रेजी) से प्रभावित है। भारतीय संस्कृति के अमर सन्देशवाहक रामचरित मानस, साकेत, कामायनी आदि ग्रन्थ हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक

(१) डा० वर्मा के नाटकों के बहिरंग पर वर्नर्डशा, इब्सन और मेटरलिंक के नाटकों का प्रभाव है किन्तु नाटको की आत्मा विशुद्ध भारतीय संस्कृति से परिचालित है।

(२) आपने पाश्चात्य टेकनीक को ग्रहण कर तथा उसे भारतीय आदर्शवाद के सांचे में ढालकर एकांकी के क्षेत्र में एक नये युग को जन्म दिया है। आपके एकांकी भारतीय संस्कृति एवम् भारतीय आदर्शों के अनुकूल ही अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं।

(३) आपने अनेक सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, समस्या-प्रधान, और व्यंगपूर्ण मौलिक एकांकियो की सृष्टि की है किन्तु आपकी वास्तविक प्रतिभा ऐतिहासिक एकांकियो के क्षेत्र में ही सबसे अधिक फलवती हुई है।

(४) हृदय को अधिक से अधिक स्वाभाविकता के साथ स्पर्श करनेवाली परिस्थितियों एवं पात्रों का निर्माण करने में आप अपने ढङ्ग के बेजोड़ कलाकार हैं।

(५) पात्रो की मानसिक परिस्थिति के अनुसार ही घटनाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में संवादो का प्रयोग डा० साहब की निजी विशेषता है। भाषा के कलात्मक सौंदर्य के साथ हृदयग्राही, अनुभूति जन्य, लयात्मक सरस पंक्तियों का प्रयोग (पलकों की लम्बी कोरों मे चितवन की तरह मचलती हैं) आपके एकांकियो में मिलता हैं।

(६) रंगमंच एवम् अभिनय की दृष्टि से आपके एकांकी पूर्ण रूप से सफल हैं।

(७) इन्हीं विशेषताओं के बल पर आपको एकांकी के क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त है, जो उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी को। निस्सन्देह आप एकांकी-सम्राट हैं।

लोक गीतों में भाव सौन्दर्य

लोक गीतों के सघन कुंजो की शीतल छाया में 'देखो मैया कन्हैया झोटे दे रहा' की बल खाती हुई आखमिचौनियों के बीच कभी कभी यह अज्ञात प्रश्न मन को झकझोर देता है और यह सोचने को विवश कर देता है कि पक्के शहद की तरह वह कौन सी ताजी स्वादिष्ट घड़ी रही होगी जब कि सोंधी धरती से लोक-गीत का एक अंकुर चुपके से प्रस्फुटित होकर किसी ग्राम युवती के कलकण्ठ से अनायास रातों रात 'बेला फुले अधिरात चमेली भिनसरिया हो' में फूट पड़ा होगा। मुँह-लगी कल्पना डरते डरते यह जवाब देती है कि भरी बरसात में भीगती जवानी की मदिर घड़ियो के बीच परदेश जाने वाले बालम के चरणों मे जब किसी बाला ने अपने कज्जलसिक्त अश्रुओं की प्रेमांजलि बिखेर कर सिसकियो में डूबी हुई टूटती आवाज़ से कहा होगा :—

प्रेम पिरित रस बिरवा रे पिय तुम चलेहु लगाय
सीचन की सुधि लीजो, देखहु मुरझि न जाय

गदराए गालों से फिसलकर एक बूंद गिरी होगी, वियोगिनी की उस अमानत को धरती दो दिन तक भी न संजो सकी होगी और ब्याज सहित दो जुड़े हुए दलों में लौटा दिया होगा, दो जुड़े हुए दलों का सुकुमार संस्करण अनजाने सिसक पड़ा होगा। ससुराल से अपने नैहर को आई हुई नवयुवतियाँ जब :—

करूं कौन जतन अरी ए री सखी,
मोरे नयनों से बरसे बादरिया,
भरदे रे रङ्गीले मन मोहन,
मोरी खाली पड़ी है गागरिया,

झूले की पेगों के साथ गाया होगा, तब वह अंकुर विश्वास कीजिए—लहलहा कर इतना बड़ा हो गया होगा कि उसे देखकर उम्र की सोलह धड़कनों मे कसमसाने वाली के होठों से गीत की यह दुधमुँही पखुड़ी फूट पड़ी होगी :—

मैं वेला तरे ठाढ़ी रही के जदुआ डारा

कुछ कुछ ऐसा ही धुँधला सा काल्पनिक चित्र लोक गीतों के जन्म के बारे में साकार हो उठता है। कभी-कभी यह भी सोचने को मन करता है कि जब लोक गीत शिशु का जन्म हुआ होगा उस समय कौन-सा सोहर गाया गया होगा और किसने गाया होगा।

लोक गीतों की आदि प्रेरणा आदि मानव के हृदय में अज्ञात रूप से 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगः शाश्वती समाः' के स्वरों में सिसकी है। वह पहले अन्तर्जगत से प्रारम्भ हुए और वहाँ न समा सकने के कारण बाह्य जगत में आये और अपनी व्यापकता में धरती से लेकर आकाश तक इन्द्र-धनुषी रंगों मे महक कर पूर्णिमा की चाँदनी बनकर गरीब की झोपड़ी से लेकर महलों तक बिखर गये। व्यापकता की गवाही तो एक ग्राम युवती का मलिन वेष ही दे देगा :—

काहे मन मारे खड़ी गोरी अंगना
धरती का लंहगा बादर कै चुनरी
चाँदी के बटन कसब दोउ जोबना

धनी इतने कि 'सोने की थारी माँ ज्यौंना बनायौं, पान पचासी के बीरा लगायौं, चुनि चुनि कलियन सेजा सजायौं' से नीचे बात तक नहीं करते, भले ही उनके गायक गायिकाओं को (लोहे काँसे के कड़े-छड़े मिल जायँ बहूरानी को जो, समझो उनके सौभाग्य बड़े पुरवधुओं का क्या हो श्रृङ्गार जो बिका रईसों रावों मे) कुछ न मिल पाता हो, अंजन रहित आँखों मे ही कटाक्ष की कली मुरझा जाती हो परन्तु यहाँ तो गीतों की रानी की चोली जब मैली हो जाती है तब आज्ञा दी जाती है :—

अँगिया का ध्यावहु समुन्द हिलोरउ
सुखवउ लउंग के डार

परन्तु इतना होते हुए भी "लोक गीतों में धरती गाती है, पर्वत गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, हरी भरी फसले गाती हैं, उत्सव, मेले, ऋतुएं, परम्पराएं सभी समवेत गान करते हैं। कोई गीत पहाड़ी पगडंडी की तरह ऊँचा-नीचा, कोई समतल प्रदेश के दूर तक फैले हुए क्षितिज की छवि लिए हुए रहता है। नीरव उदास दोपहरी के गीतों का रंग कुछ रगीनी और खुमारी मे डूबा हुआ सा होता है और धुँधली सन्ध्या के गीतों का रग धुँआधार यौवन-सा होता है।" इन लोक गीतों मे तुलसी, सूर, मीराँ के स्वर स्वय घिरौंधे बनाते और मिटाते हैं। सच मानिए कभी-कभी तो भावप्रवणता मे यह भवभूति और कालिदास तक को पीछे छोड़कर उन्हें चिढ़ाने लगते हैं। लोक गीतों मे शृंगार, करुण, हास्य, वीर आदि जिन रसों की भी व्यंजना हुई है वह अनूठी है। लोकगीत के दो बीज जीवन के सुख और दुख हैं जो हृदय के खेत पर उगते हैं, सुख के गीत वक्ष की उभरन से अठखेलियाँ करते हैं और दुख के गीत खौलते लहू से पनपते हैं, आँसुओं के मीत बनते हैं। लोकगीतों की कलित कल्पनाओं में एक अटूट सादगी है। ताजे बाजरे की रोटी की तरह एक अजीब सोंधी मिठास है। यह कविता की सुकुमार सहेली है, जिसका शृंगार खेत में उगे हुए सरसो के सुन्दर सुमनों से हुआ है। लोक गीतों के राम, कृष्ण, शिव, दशरथ, कौशिल्या, सीता, राधा आदि घास छील-छीलकर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले, उन्हीं के तरह चलने फिरने वाले दो पैर के जानवर हैं। तादात्म्य की चरम सीमा का इतना उत्कृष्ट प्रभाव अन्यत्र दुर्लभ है। राम वन गमन के समय माता कौशिल्या उन्हे बन जाने मे रोकती है। राम आग्रह करते हैं यह करुण संलाप देखिए जिसमें भवभूति के 'अपि ग्रावारोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदय' की पंक्ति सिसकियों के घूँघट मे रोने लगती हैं :—

हमैं बना जॉय दे कौशिल्या महतारी
बन का जो जइहौ राम भुखन मरि जइहौ
बन फल टोरि कै खाब महतारी
बनका जो जइहौं लछन प्यासन मरि जइहौ
जमुन हिलोर कै पियब महतारी
बनका जो जइहौं सीता नीदन मरि जइहौ
अँचला बिछाय कै सोवब महतारी

अन्तिम पंक्ति में तो "करुणैव मूर्तिरथवा शरीरिणी" की करुणा साकार हो उठी है। विदेह-राज की पुत्री जो :—

"पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा,
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा,
जिवनि मूरि जिमि जुगवत रहेऊँ,
दीप बाति नहिं टारन कहेऊँ"

के रूप में रही हैं, वही सीता, हाँ वही जनक-तनया अपने वल्कल आँचल को बिछा कर रात को कंकरीली भूमि पर सोयेगी और उसके मातृत्व के बोझ से गरिमान्वित पुष्ट स्तन आकाश को ओढ़ कर रात काट देंगे। करुणारस समन्वित एक दूसरा गीत देखिए :—

रामा वनै जात आज कोउ राखै
मचियै बैठि, कौशिल्या रानी सोचइ
दूधा के फीहन आजु कोउ राखै
रग महलिया से धनियाँ सोचइ
सोरहों सिंगार आजु कोउ राखै

करुणा से कलपता हुआ एक गीत और भी देखिये। सात बहिनों के बीच एक माँ का दुलारा लाड़ला बेटा है, परदेश से पर्याप्त धन कमा कर लौटता है। बहिन अपने सगे भाई के धन को छीन कर ही शान्त नहीं हो जाती वरन् वह पाषाण हृदया अपने ससुर, देवर एवं पति से उसको मार डालने का प्रस्ताव भी करती है और अन्त में सगे जीजा के हाथ सगे साले की हत्या सगी बहिन के आगे होती है चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए वह टुकुर-टुकुर अपने भाई को आखिरी हिचकियों में बिलखते हुए देख कर भी नहीं टूट जाती :—

रामा गई हैं ससुर जी के पास,
ससुर मोरी अरज सुनौ
रामा बिरना का डारउ मरुवाय,
गठरिया का घर माँ धरौ
रामा हटि जा तैं जात कुजात,
कका हमें कौन कही

रामा गई हैं सजन जी के पास,
सजन मोरी अरज सुनौ
रामा भइया का डारउ मरुवाय,
गठरिया का भीतर धरौ
रामा बहिनी धरे है दोउ हाँथ,
जिजा सिर काट लिहिन

गीत हमें यही तक रुला कर नहीं दम लेता वरन् :—

रामा बीते दिना दुइ चारि,
तौ माता का सपन भयौ
रामा बाँधि सेरा दुइ पिसा न,
तौ बेटा का ढूँढ़न चलीं

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस परिपाक की दृष्टि से लोकगीतों की धरती में अटूट सादगी है। आँसुओ से इनका जन्म होता है और हिचकियों से जाकर ये अपना दम तोड़ देते हैं।

लोकगीतों मे कला नैसर्गिक रूप से अपनी समवयस्क सहेलियों को साथ लेकर स्वाभाविकता की स्वयंवरशाला मे मन्थर गति से चलती है, उसकी गति में किंचित कृत्रिमता नहीं, एक-एक चरण नपे-तुले वजन से धरती का अलक्तक श्रृङ्गार करता है। शब्दो की मधुर किंकिणी भावो के पायल को मुखर निमन्त्रण देती है। तुलसीदास जी की इस अमर पक्ति में "घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रिया हीन डरपत मन मोरा" में कुछ ऐसा आभास मिलता है जैसे कि प्रथम पंक्ति मे आकाश फट पड़ा हो, उच्चास पवन प्रवाहित हो रहा हो और दूसरी पंक्ति ऐसी है जिसमें पेड़की का नवजात शिशु पहले पहल के मेघ गर्जन को सुनकर अपनी माँ के पंखों के आँचल में सिमट गया हो, ठीक कुछ इसी प्रकार की ध्वनिबलिष्ठता हमें बिरहा गाने वाले इस अहीर के रंगीन छोकड़े में मिलती है :—

बिरहा गावउँ बाघ की नाई,
दल बादल घहराय
सुनि के गोरिया उचकि उटि धावइ,
बिरहा का सबद ओनाय

मिश्री मे मिठास की तरह अपने पति में घुल मिल जाने वाली एक नव-युवती के विचारो की मौलिक उद्भावना देखिए :—

तन तोरा चाउर मन मोरा अदहन
नयन मूँग की दाल रे।
अपने बलम के जेवना जेवतिउँ
बिनु लकड़ी बिनु आगि रे।

सिसकियो की संगिनि जिस सलोनी का सुहाग सिसक रहा है, उसके ही शब्दों मे :—

कन्हैया वियोगिन कर गये हमको
खम्भा की ओट ससुर समुझावे,
अरे बहुअरि नाही तुम बिटिया हमारि
क्या समुझाओ ससुर तुम हमको,
हरी हरी चुरियाँ दुलम भई हमको,
गोदहि बैठि देवर समुझावें,
अरे भाभी नहीं तुम माता हमार
क्या समुझाओ देवर तुम हमको,
अरे फूलन सेज दुलम भई हमको

× × ×

रिमझिम रिमझिम दैव बरीसै, पौन बहे पुरवाई
कौनौ बिरिछ तर भींजत होइहैं राम-लखन दोउ भाई

अन्तर्पीड़ा से आकुल अत्युक्ति रहित एक नव-विवाहिता बधू की ससुराल की यातनाओं को भी जरा साँस रोक कर सुनिये :—

कपडा तो देखौ भइया मोर पहिरनवाँ रे ना
भइया जैसे सवनवाँ कै बदरी रे ना
लोहवा जरै जस लोहरा दुकनिया रे ना
मोरी बहिनी जरै ससुररिया रे ना

लगे हाथों टीकमगढ़ की जमुनिया बरेठिन की दयनीयता भी सुन लीजिये :—

गौहूँ हते सो हो गए, भुस ले गई ग्रँदवार
टोटे मे टलवा गए, बाढ़ी मे खॅगवार

जरीबाने में लिख लौ दोऊ जोबना

(गेहूँ था सो खत्म हो गया,
घाटे में बैल बिक गये,
बनिए को सवाई लौटाने मे
मेरी हँसी भी चली गयी,
अब लगान चुकाने के लिये
जरीबाने में लिख लो दोऊ जोबना)

× × ×

"दीवा बले सारी रात मेर्‌या
जाल्मा दीवा बले सारी रात
आवेगा तो पुच्छ लवागी मेरया जाल्मां
कित्थे गुजारी सारी रात"

मानो माटी के टिमटिमाते दीए के सग स्वयं वियोग टिमटिमा रहा हो।

ढोकाजती वन्द गछु, म्याल जती खोलछु
घीऊ चोरने बुहारी, का ओठ तेरो पोलछु
(जितने द्वार हैं बन्द किये देती हूँ,
सारी खिड़कियाँ खोले देती हूँ
तू घी चोर बहू है
मैं तेरे ओठों को दागूँगी।)

निम्न चुलबुले गीत को सुनकर पनघट पर घड़ों की भाँति कितने दिल टूट कर बिखर गये होंगे।

करतावल वार भाजरी जिसी
दारू मा आग लागरी
कलियादार घाघरी,
पतली कम्मर लचकत चाली

लोक गीतों में स्थान स्थान पर में वर्तमान महंगाई से ऊब कर जीने वाले प्राणों की क्षीण पुकार मिलती है परन्तु वे फिर भी पेट की आग मे झुलसते हुए गा पड़ते हैं : -

महंगी के मारे विरहा विसरिगा,
कजरी और कबीर।
देखि कै गोरिया का उभरा जोबनवां
उठै न करेजवा में पीर।

× × ×

पातर धनिया हरवाहे कै,
सिकियन कजरा देय।
दिन भर का जोते थका सोयगा
कजरा लहरिया लेय॥

अन्त में लोक गीतों की विशेष प्रशसा न करके उनकी वेगाना जिन्दगी के बारे में यही कहना काफी होगा।

आ गया कुछ याद, जी भर
आया आंसू गिर पड़े।
हम न रोये थे तुम्हारे
मुस्कराने के लिये॥

———

सहशिक्षा

सहशिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा पद्धति से है जिसमे पुरुष और स्त्री एक साथ मिलकर शिक्षा पाते हैं। प्राइमरी कक्षाओं मे तो बालक-बालिकाएँ एक साथ पढ़ती ही हैं, इस अवस्था में तो सहशिक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु वयस्क हो जाने पर एक साथ पढ़ने की समस्या उत्पन्न होती है। स्त्री शिक्षा के विषय मे तो किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नही है, अर्धाङ्गिनी होने के बाद समाज के आधे अग का शिक्षित, संस्कृतिनिष्ठ एवं सब प्रकार से विकसित होना परमावश्यक है। हमारे शिक्षा पदाधिकारी बढ़ती हुई स्त्री शिक्षा की माँग की पूर्ति करने मे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। रुपये पैसे की कमी, स्थान की कमी तथा सुयोग्य अध्यापकों के अभाव के कारण स्त्री-शिक्षा का प्रबन्ध पृथक् किया ही नहीं जा सकता। दूसरी ओर लड़कियों के माता-पिता अपनी पुत्रियों को बालकों के साथ पढ़ाने में इस सुविधा का अनुभव करते हैं क्योंकि अभी तक भारत इस क्षेत्र मे बहुत पिछड़ा है। घर मे दी जाने वाली शिक्षा अधूरी होने के साथ-साथ महगी भी पड़ती है, एक व्यक्ति के लिये यह व्ययसाध्य नहीं है कि वह भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा देने वाले अध्यापकों का प्रबन्ध कर सके। इसके अतिरिक्त जीवन में जिन सामाजिक गुणों की आवश्यकता होती है और जिनके अभाव में मनुष्य दम्भी, अनुदार तथा उन्मादग्रस्त हो जाता है उन गुणों का विकास भी घर की शिक्षा में कठिनाई से ही हो पाता है। लड़कों की भाँति लड़कियों की शिक्षा घर के बाहर होनी चाहिये।

वर्तमान समय मे स्त्रियाँ भी शिक्षा के वरदान को प्राप्त करने की अभिलाषिणी हैं, ज्ञान से अपनी आत्मा को प्रकाशित करने के अतिरिक्त वे कुटुम्ब

के आर्थिक भार को हल्का करना चाहती हैं। सहशिक्षा के बारे में भिन्न-भिन्न लोगों की सम्मतियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

देश का एक वर्ग ऐसा है जो प्रत्येक समस्याओं को पाश्चात्य दृष्टि से देखने का आदी है। वे यह भूल जाते हैं कि जो चीजे अमेरिका या यूरोप के लिये कल्याणकारी हो सकती हैं, सम्भवतः भारत के लिए हानिकारक हों। एक नाप से तौलने की यह प्रवृत्ति विवेकहीनता की द्योतक है। वे सहशिक्षा की सफलता का माप-दड रूस और अमेरिका के आधार पर निश्चित करते हैं किन्तु भारत की संस्कृति, परिस्थिति एवं सामाजिक दृष्टि रूस और अमेरिका के समान नहीं है। इतना उन्हें ध्यान में रखना चाहिये। दूसरा वर्ग सहशिक्षा के किंचित् पक्ष मे नही है, वह सामाजिक नैतिकता एवं स्वास्थ्य की रक्षा के लिए सहशिक्षा का सब प्रकार से विरोध करता है। तीसरा वर्ग कुछ भिन्न विचार रखता है। वह प्राईमरी कक्षा तक सहशिक्षा न्यायसंगत समझता है। तत्पश्चात् बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त करने तक लड़के-लड़कियों का पृथक् हटकर शिक्षा प्राप्त करना ही श्रेयस्कर समझता है। एम० ए० कक्षाओं में वह सहशिक्षा का कोई विरोध नही करता क्योंकि इस आयु तक लड़के-लड़कियाँ इतनी वयस्क हो जाती हैं कि अपनी अच्छाई-बुराई स्वयं भली-भाँति सोच सकती हैं। इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते किशोरावस्था की भावुकता, आवेश-भावना प्रायः गम्भीरता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण विवेकशीलता में परिवर्तित हो जाती है।

सहशिक्षा से लाभ :—(१) सहशिक्षा के द्वारा स्त्रियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पदार्पण करके आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती हैं और अपनी प्रतिभा को सर्वतोन्मुखी बना सकती हैं। पुरुषों के सम्पर्क मे आने से उनकी स्त्रियोचित हिचकिचाहट और शर्म दूर हो जायगी और पुरुषो के साथ समान गति से उन्नति के पथ पर प्रगतिशील हो सकेगी।

(२) जो स्त्रियाँ पुरुषों के सम्पर्क मे नहीं आतीं वे प्रायः कायर एवं डरपोक बनी रहती है एवं समय पड़ने पर पुरुषों के आक्रमणों से आहत हो अपने को समर्पित कर देती है। आजकल भीरुता दोष माना जाता है। सहशिक्षा के द्वारा यह दोष सरलता से दूर हो जायेगा।

विरोध के कारण :—हम इस समय प्राचीन और नवीन सभ्यता से

संघर्ष बिन्दु पर खड़े हैं। इन नवीन संस्कारों के कारण बालिकाओं की उच्च-सहशिक्षा की समस्या उतनी जटिल नही है जैसा इसे समझा जा रहा है। इस समस्या का हल इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। लड़को को पढ़ाने के लिए कुछ स्त्री अध्यापकों का प्रबन्ध किया जाय। इस प्रकार लड़को के लिए स्त्रियाँ हास्य और आश्चर्य की वस्तु न रह जायँगी और फिर सह शिक्षा मे पुरुष अध्यापकों एव स्त्री शिक्षको के पारस्परिक सहयोग से जो नैतिक पतन की संभावनाएँ हैं वे भी दूर हो जायेगी। एक दूसरे के मनोविज्ञान का समुचित अध्ययन करने के लिए लड़के-लड़कियों का एक साथ पढ़ना बहुत आवश्यक है।

सहशिक्षा की उपयोगिता में किसी को सन्देह नहीं करना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से तो यह पूर्ण उपयोगी है ही। यद्यपि हमारा सामाजिक वातावरण आंशिक रूप मे इसके प्रतिकूल है। इसको अनुकूल बनाने के लिए रूढ़ियो का मोह तोड़कर व्यापक सहशिक्षा का प्रचार करना आवश्यक है। विद्यार्थियों से भी इस पुनीत कार्य में बहुत कुछ योग देने की आशा की जा सकती है। वे अपनी बहनों के साथ पवित्र प्रेम का व्यवहार करें एवं उच्छृंखलता का सर्वथा परिहार कर पारस्परिक मैत्री भावना को दृढ़ बनाते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करे। इस प्रकार आत्म सयम की भावना, उदात्त दृष्टि एवं शिष्ट व्यवहार के द्वारा सहशिक्षा को सफल बनाकर देश को गौरवान्वित किया जा सकता है।

सौभाग्य का विषय है कि हमारे देश में शिक्षा के व्यापक प्रचार के साथ सहशिक्षा को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है जो प्रगति का लक्षण है। स्त्रियाँ स्वय सहशिक्षा की महत्ता को समझकर उसका मान करती हैं। इतिहास साक्षी है कि संसार के आश्चर्यजनक कार्य प्रायः स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सहयोग से हुए हैं, कितना अच्छा हो कि भारत की प्रत्येक स्त्री, पुरुष के समान ही विद्या बुद्धि एव कार्य में समान होकर देश की उन्नति मे सहायक हो सके। हमारी वर्तमान पीढी इस उत्तरदायित्व को बड़ी सजगता के साथ निभा रही है, हमें धैर्य के साथ आगे आने वाले स्वर्णिम दिनों की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

भारत की आर्थिक और औद्योगिक प्रगति पर एक दृष्टि

बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष विदेशों में कौतूहल और चर्चाओं का विषय बना रहा है। यहाँ के राजा-महाराजाओं का वैभवपूर्ण विलासी जीवन, साधुओं और भिखमंगों के विचित्र-वेश, काश्मीर का नैसर्गिक सौंदर्य, जाति-व्यवस्था एवं अन्यान्य धार्मिक अन्धविश्वास, ताजमहल की सिसकती प्रेम-गाथा चिरकाल से यूरोप, अमरीका, जर्मनी आदि देशों की भिभिन्न मनोरंजक गोष्ठियों में अपना प्रभाव छोड़कर एक आश्चर्यजनक लालसा को जगाकर वहाँ के लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचते रहे हैं। यद्यपि इन सब प्रभावों के बावजूद भी कभी भारत तथा वहाँ की आध्यात्मिकता एवं संस्कृति के विषय में उन्होंने गम्भीरता से सोचने का कष्ट नहीं किया। भारत छोड़ते दम तक वे महात्मा गान्धी के सत्याग्रह आन्दोलन को एक साधू की बकवाद से अधिक महत्व देने को तैयार न हुये।

सौभाग्य से भारत स्वतंत्र हुआ, अंग्रेजों ने शासन की बागडोर भारतीयों के हाथ में सौंपी, इस असामयिक परिवर्तन ने अनेक राष्ट्रों के दिलों-दिमागों मे आशंकाओं एवं भावी योजनाओं को पैदा कर दिया। पूँजीवादी अमेरिका का इस प्रकार सोचना स्वाभाविक था कि भारत उसकी आर्थिक सहायता के बिना जी नहीं सकता, साम्यवादी सोवियत रूस की भी धारणा थी कि भूख प्यास से पीड़ित, कपड़े लत्ते से रहित भारत स्वभावतः ही साम्यवाद का स्वागत करेगा। ऐसा किसी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि इन बेचारे भारतवासियों के स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र परराष्ट्र नीति, आर्थिक एवं औद्योगिक स्वतन्त्र गतिविधि भी हो सकती है।

दुर्भाग्यवश विदेशियों की आशंकाएँ कुछ सत्य सी तब प्रतीत हुईं जब

कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के काल में लम्बी-चौड़ी कागजी योजनाओं, परस्पर विरोधी आर्थिक नीतियों एवं स्पष्ट घोषणाओं का बार-बार उल्लेख कर भारत के नौसिखिये शासकों ने अपनी असूझ एवं अनुभवहीनता का परिचय दिया। इसके साथ ही साथ विदेशी गिद्धों ने यह भी देखा कि विचित्र देश है यह भारतवर्ष, सब साधनों के होते हुये भी ये लोग मुहताज हैं। हजारो ट्रैक्टरो के कुशल चालकों और कारीगरो के अभाव मे उपयोगिता शून्य है। विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले इंजीनियरिंग एवं अन्य वैज्ञानिक कलाओं में निपुण भारतीय छात्र भारत लौटने पर राष्ट्रोन्नति के कार्यों में पूर्व आयोजित एव समुचित प्रबन्ध के अभाव में अपनी उस सूझ-बूझ का जो उन्होने भारत की गाढ़ी कमाई के बल पर प्राप्त की है, ठीक उपयोग नही कर पाते।

भारत द्वितीय युद्ध की समाप्ति के पश्चात ही तुरन्त स्वतन्त्र हुआ। युद्ध काल के बनावटी प्रदर्शन एवं वैभव के कारण देश में मुद्रास्फीत का जोर था। भारत की जो एक मात्र संचित पूँजी थी वह ब्रिटेन मे पौंड पावने के रूप में निष्क्रिय पड़ी थी। जिसका ह्रास अनुभवहीनता के कारण तेजी से हुआ। अमेरिका की दुर्लभ मुद्रा (डालर) को प्राप्त करने के लिये भारत ने न केवल अपने कोष ही रिक्त किए, वरन् रुपये का अवमूल्यन करके भी भारी गलती की।

उस समय आर्थिक दृष्टि से ब्रिटेन अत्यन्त दयनीय था। उसकी मुद्रा (पौंड) शोचनीय थी। रुपये का अवमूल्यन पौंड के अवमूल्यन से निश्चित होने के कारण अवमूल्यन के बावजूद भी रुपये की साख गिरने नहीं पाई। चिन्तनीय है कि यदि रुपये को पौन्ड से बिल्कुल अलग कर दिया गया होता और गणतन्त्र भारत ब्रिटिश राष्ट्र मन्डल से पृथक हो जाता तो विशेष लाभ होता। ऐसा निश्चित रूप से उसी समय कहा जा सकता है जब कि पं० जवाहरलाल नेहरू की परराष्ट्र नीति को गलत बताया जाय। यह इसलिये कि भारत का वर्तमान आर्थिक और औद्योगिक जीवन ही नहीं बल्कि एक राष्ट्र के रूप मे भारत का अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसकी दृढता एवं मान्यता एक मात्र इसी राष्ट्र नीति पर टिकी हुई है। यह बात तथ्यो द्वारा भली भाँति प्रमाणित हो चुकी है।

भारत के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का भारत की परराष्ट्र-नीति से कितना अटूट संबन्ध है। इसका जबरदस्त प्रमाण तो यही है कि अपनी अत्यधिक कार्य व्यस्तता एवं उत्तरदायित्व के बीच परराष्ट्र मन्त्री पं० नेहरू ही योजना कमीशन के अध्यक्ष हैं। इसकी आवश्यकता अभी इसलिये थी कि स्वतन्त्रता के पहले और तुरन्त बाद भारत में कमी योजनाओं की नहीं थी अपितु योजनाओं के एकीकरण की थी। इसी घोर अभाव का फल यह हुआ कि देश मे ट्रैक्टरों और शिक्षित विद्यार्थियों की एकसाथ भीषण बेकारी उत्पन्न हो गयी, राष्ट्र के उन्नायकों को सतर्क होना पड़ा। फल स्वरूप प्लानिंग कमीशन की स्थापना हुई जिसने पंचवर्षीय योजना की घोषणा की।

यह तो सभी को ज्ञात है कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, देश की ८५ प्रतिशत आबादी प्रायः साढ़े पाँच लाख गाँवों में बसी है। यहाँ उपजाऊ और पड़ती भूमि की कमी नहीं है, प्रकृति की विशेष कृपा भारतवर्ष पर है। गंगा-यमुना के जल-दान से भारत की भूमि सोना उगाने मे सर्वथा समर्थ है, यहाँ के किसान कर्मठ एवं श्रद्धालु हैं, गायों, भैसो की अपरिमित राशि है। फिर भी सब साधनों के होते हुए भी देशवासी भूखे रहते हैं, आधे से अधिक किसानों को आधे पेट खाकर ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। बाढ़ एवं अकाल अलग उनके प्राणों के गाहक बने रहते हैं। इधर दरिद्रता के साथ साथ दूनी गति से जनसंख्या भी बढ़ रही है जो भारतवासियों की अशिक्षा का परिणाम है।

स्वतन्त्र भारत की प्रथम पञ्चवर्षीय योजना इन समस्त बुराइयों को दूर करने की दृष्टि से निर्मित हुई थी। यह उचित ही हुआ कि इसमें सबसे अधिक ध्यान जमींदारी-उन्मूलन, पञ्चायत राज, परिवार-नियोजन, कृषि-उत्पादन मे वृद्धि तथा नदियों में बाँध बाँधने तथा उनसे बिजली पैदा करने की योजनाओं पर विशेष ध्यान दिया गया।

इसके साथ ही वर्तमान युग मे औद्योगीकरण के महत्व को स्वीकार करते हुए कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने तथा छोटे और बड़े उद्योगों को और भी विकसित करने की योजनाएं भी बनाई गईं। यहाँ तक तो सब काम उचित ढङ्ग से सोचा एवं किया गया। इसके आगे अव्यवस्था आई। उदाहरण के

लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के दो वर्ष बाद भारतीय सरकार ने जनता को पचवर्षीय योजना की सूचना दी। इसके अतिरिक्त अनेक बाधाएँ जो स्वभावतः उन्नति के मार्ग में उठ खड़ी होती हैं, सामने आयी। देश के विभिन्न न्यायालयो मे जमींदारी उन्मूलन और इधर-उधर सब जगह हिन्दू कोड बिल की जो छीछालेदर हुई वे इस अनुभवहीनता के साक्षी हैं। परन्तु इन सब परेशानियो एवं विघ्न बाधाओं की उपस्थिति मे भी भारत ने विगत वर्षों में जो आर्थिक और औद्योगिक उन्नति की है वह सर्वथा प्रशसनीय है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे काम करती हुई ११ अनुसंधान शालाएँ, नंगल, सिंद्री, भाखड़ा, ट्राम्बे, विजगापट्टम और चितरंजन आदि प्रगतिशीलता के प्रतीक हैं। श्रमदान और भूदान के साथ-साथ सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत सहस्रो मील कच्ची सड़कें बनी हैं, ईट और गारे के पञ्चायत घर बने हैं। लोकगीत और लोक-नृत्य अपने गाँवों की संकुचित सीमा से बाहर निकल कर रेडियो स्टेशनो के द्वारा व्यापक प्रसार पाकर एक विस्तृत जनक्षेत्र का मनोरंजन कर रहे हैं। इस प्रकार की जागरूकता देश के नागरिकों की उद्‌बुद्ध चेतना की साक्षी है।

सन् १६४६-५२ तक का काल खाद्य-समस्या की दृष्टि से भारत का दुर्भाग्य काल था, देश की अन्य समस्याओं के साथ यह प्रश्न भी बड़ा जटिल था। भारत को अमेरिका से खाद्यान्न खरीदने में अपनी अमूल्य धनराशि व्यय करनी पड़ती थी किन्तु सौभाग्य से वह समस्या अब सुलझ गयी है। अब भारत को बाहर से खाद्यान्न मँगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सन् १६४६-५० मे भारत मे १६ करोड़ १० लाख एकड़ भूमि में खेती होती थी। आज २१ करोड़ एकड़ से अधिक भूमि में खेती होती है। केवल चावल की मात्रा चार वर्ष पूर्व की तुलना मे १५ लाख टन की वृद्धि हो गयी है। उत्पादन में यह आशातीत वृद्धि हल जोतने मे प्रश्रय देने से नही, वरन् बेकार पडी कृषि के अयोग्य भूमि को उपजाऊ बनाने में, तराई क्षेत्रों की दलदली भूमि को साफ करने तथा उसे कृषि के योग्य बनाने, नलकूप तैयार करने एवं नहरें खोदने में अपार धनराशि एवं जनशक्ति खर्च करने के परिणामस्वरूप हुई है।

सूती वस्त्रोद्योग की स्थिति मे भी एक आश्चर्यजनक प्रगति आयी है।

एक समय वह था कि लकाशायर के बने कपड़े का बहिष्कार करने के लिए गाँधी जी को सत्याग्रह आदोलन प्रारम्भ करना पड़ा था और एक समय यह है कि ब्रिटेन में भारत का बना कपड़ा इतनी अधिक तादाद में पहुँच रहा है कि वे भारतीय कपड़े का वहिष्कार करने के लिये आंदोलन करने का विचार कर रहे हैं। सन् १६४६ की अपेक्षा अब एक अरब गज अधिक कपड़ा भारत में तैयार होता है। दो लाख टन इस्पात और तीन लाख टन चीनी ज्यादा तैयार होती है किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से जब दूसरे देशों की ओर हम देखते हैं तो यह प्रसन्नता खीझ में बदल जाती है क्योंकि ३५ करोड़ की जनसख्या वाले भारत में कुल १२ लाख टन इस्पात तैयार होता है जबकि १६ करोड़ की आबादी वाले अमेरिका मे ८७० लाख टन तैयार होता है। इस औद्योगिक प्रगति को देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हममें स्वावलम्ब की भावना आ गयी है जो प्रगति का शुभ लक्षण है। किन्तु प्रगति जैसी होनी चाहिये थी वैसी नहीं होने पाई है, इसके कतिपय कारण ये हैं :—

(१) प्रथम पंचवर्षीय योजना मे कुल खर्च २२३६ करोड़ रुपये का होना था, किन्तु प्रथम तीन वर्षों मे केवल ६१६ करोड़ रुपये व्यय हुए हैं। अगले दो वर्षों में १३२३ करोड रुपये खर्च होंगे। स्पष्ट है कि देश मे धन की कमी न होकर उस धन के समुचित उपयोग के ज्ञान की कमी है।

(२) स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में उच्च अधिकारियो से लेकर जन-साधारण तक मे जितना नैतिक पतन हुआ है वह अत्यन्त शोचनीय है। भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी का दमन अब धीरे धीरे किया जा रहा है।

(३) धार्मिक विचारों के कारण भी भारत की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति मे बाधाएँ आ रही हैं। हिन्दू कोड बिल एवं गोवध बन्द करने के उदाहरण इसके साक्षी हैं।

(४) भारत की परराष्ट्र नीति संसार के सब राष्ट्रों को प्रसन्न रखने की है। अतः गृहनीति में भारत सरकार पूँजीपतियों और जन-साधारण की समाजवादी भावनाओं को एक समान स्तर पर रखकर दोनों को संतुष्ट रखना चाहती है। इसीलिए सात वर्ष बीत चुके किन्तु अभी तक यह नहीं तय हो पाया कि भारत

समाजवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित करना चाहता है अथवा पूँजीवाद। कभी भारत सरकार देश के पूँजीपतियों को राष्ट्रीय योजनाओं में सहयोग देने के लिये आमंत्रित करती है, कभी वर्तमान उद्योग-धन्धों को राष्ट्रीयकरण की नीति के अन्तर्गत रखने की धमकी देती है। कभी जनता से छोटी-छोटी पूँजी लगा कर कुटीर उद्योग-धन्धों के प्रारम्भ करने की अपील करती है।

अन्त मे हम श्री जगदीश चन्द्र जी अरोड़ा के शब्दो में कहना चाहते हैं कि भारत की वर्तमान आर्थिक और औद्योगिक उन्नति की तुलना सागर के विशाल तट पर उठ रहे उन बुदबुदों से की जा सकती है, जिनका अस्तित्व जागृति का द्योतक अवश्य है परन्तु जिनके नीचे सागर अभी शान्त सोया पड़ा है।

——

सिनेमा : अभिशाप या वरदान

यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि बीसवीं सदी के इस कृत्रिम युग मे सिनेमा चित्रों का प्रदर्शन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हमारे आज के जीवन से सिनेमा इतना घुलमिल गया है कि इसके बिना हम जीवन की पूर्णता पर विश्वास नहीं करते। परन्तु सिनेमा के ये निर्जीव गीत जो कि हमारे कोमल मस्तिष्क को सडा कर खोखला बना देते हैं, आज हमारे मन्दिरों की पवित्र आरती की पुन्य वेला मे जहाँ पर कभी "तमसो मा ज्योतिर्गमय" के गगन-भेदी स्वर गूँजा करते थे, वहीं पर बड़ी ठाट-बाट से अपनी लचकीली जनानी आवाजों से वासना एवं कामोद्दीपन को खुले आम चुनौती देते दिखाई पड़ते हैं। दो-चार महीने में दम तोड़ देने वाली ये आवाजें चीखती हैं, चिल्लाती हैं, हँसती हैं, रोती हैं, गाती हैं, पैशाचिक अट्टहास करती हैं और जिस किसी तरह से हमारा सर्वस्व हमसे छीनना चाहती हैं। इन डाइनों ने हमसे हमारी अपनी पुरानी संस्कृति छीनी, हमारी परम्पराएँ छीनी, हमारे पवित्र आचारो-विचारों को छीना। जहाँ देखिये वहीं सिनेमा के गीत दिन प्रति-दिन हमारे घरों में एक सगे सम्बन्धी की तरह अपना अधिकार जमाते चले जा रहे हैं। आज हमारे जीवन का यह घनिष्ट अंग हो गया है कि हम सिनेमा के ही गीत गाते हैं, सिनेमा के ही चित्रों को देखते हैं और सिने अभिनेता-अभिनेत्री बन जाना ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं। आये दिन बाजारों में रंगी-बिरंगी सिने तारिकाओं की उत्तेजित वासनात्मक मुद्राओं से चित्रित जो पोस्टरें देखने को आती हैं, वे गला फाड़-फाड कर कह रही हैं कि वह दिन दूर नहीं जब कि हमारे घर की रोटियों में भी सिने तारिकाओं के चित्र बनाए जायेंगे ताकि रोटियाँ पकने पर हम उन्हें रक्त मांस में पचाकर आत्मसात कर लें। सच बात तो यह है कि "हम सुन्दर चीजों से सुन्दर विचार की प्रेरणा पाते हैं। इन सुन्दर विचारों से सुन्दर जीवन की ओर बढ़ते हैं और सुन्दर

जीवन से सौंदर्य की पराकाष्ठा को पहुँचते हैं।" प्लेटो के एक-एक शब्द में महान् सच्चाई की छाप है। परन्तु हम पाश्चात्य सभ्यता के विषैले वातावरण से प्रभावित होकर जो अपनी भारतीय संस्कृति को विस्मृत कर बैठे हैं, उससे हमारी कभी उन्नति होने की नहीं, हमारा भारत भारत रहेगा, वह इग्लैंड कभी नही बन सकता। इग्लैंड के बाल डान्स उन्हीं को मुबारक हों। हमे चाहिए वही अपने पुराने कथ्यकली गिद्धा, करमानृत्य—हमें चाहिए – वही विहाग, सोरठ और दीपक राग। हमारा देश स्वतान्त्र तो हो गया है परन्तु सच पूछिए तो हमने अभी केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त की है। हमे अभी सास्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक स्वतन्त्रता कहाँ मिल पाई है। हमे अब अपने प्रति ईमानदार होना है, आगे आने वाली नई पीढ़ी के लिए विरासत मे कुछ छोड़ जाना है जिससे वे गुमराह न हों—हमारी परतन्त्रता की कड़ियाँ टूट चुकी हैं। हमें चाहिये—एक अमर सदेश एक नव निर्माण। अतः हम ज्ञान वृद्धि के लिए सिने चित्रों को देखना चाहते हैं और हम 'माँ' 'सिन्दूर' 'स्वयसिद्धा' 'शहीद' 'जागृति' 'दो बीघा जमीन' 'मदर इंडिया' ऐसे चित्रों का स्वागत करने को तैयार हैं। हमें चाहिए निरूपा राय की पार्वती की सी मुद्रा, हमें चाहिए श्रमशीला नरगिस का दयनीय वेष, हमे चाहिए ऐसे चित्र जिन्हें एक पिता अपनी पुत्री के साथ, एक भाई अपनी बहन के साथ निःसंकोच देख सके—उनसे हम कुछ सीख सकें और अपने दैनिक जीवन मे आई गुत्थियों को सुलझा सके। हम गीत लेखकों मे प्रदीप और नरेन्द्र का स्वागत करने को तैयार हैं—हम चाहते हैं—'हिमाद्रि तुग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' का अमर घोष फूंकने वाले प्रसाद के गीत। हम चाहते हैं आकाश-पाताल को दहलाने वाली "जागो फिर एक बार" की जागरूक महाप्राण निराला की आवाज।

हम सिने प्रेमी भाई-बहनो से प्रार्थना नहीं अपितु अनुरोध करेंगे कि वे ईमानदारी के साथ प्रतिज्ञा करे कि वे अश्लील चित्रो को प्रोत्साहन न दे। हम अपनी सरकार से प्रार्थना करेंगे कि वह अश्लील चित्रों पर प्रतिबन्ध लगा दे। सेन्सर बोर्ड के सदस्य यह जानकर कि ये चित्र हमारी भावी पीढ़ी के एक-मात्र पथ प्रदर्शक हैं—बहुत सोच-समझ कर चित्र प्रदर्शन की आज्ञा दें। अनैतिकता से फिल्म की रक्षा हो। यौन सम्बन्धी मुद्राओं एव अश्लील

गीतों का पूर्णतया वहिष्कार हो—हमें चाहिये ऐसे गीत जिसमे तुलसी की सी मर्यादा हो—सूर की तरह भक्ति भावना हो—मीरा की तरह अल्हड़ता और प्रेम की पीर हो। आज सिनेमा जीवन को सद् सस्कारों मे ढालने का शक्तिशली माध्यम है। कहना नही होगा कि जो शिक्षा तथा सस्कार माता-पिता अपने पुत्र पर और शिक्षक अपने शिष्य पर नहीं डाल सकते, वे ही और उनसे कही अधिक यह छायादार रग-विरंगी कुछ ही घंटो की दुनियाँ उन पर डाल देती है। भारत प्रारम्भ से ही अध्यात्मवादी देश रहा है। उसने रोटी और सेक्स की समस्या को बाद में और धर्म तथा संस्कृति को पहले स्वीकार किया है किन्तु दुर्भाग्य से प्राचीन काल से चली आती हुई पवित्र परंपराओं को रूढ़िवादी और जर्जर कहकर अनेक चित्रों मे उनका उपहास किया जाता है। कला के नाम पर बाहरी टीमटाम एव कामोद्दीपक शारीरिक-सौंदर्य का चतुर्मुखी स्पष्टीकरण किया जाता है। प्रत्येक सिने चित्र में ऐन्द्रिक तत्वों को गुदगुदाने वाली उद्दाम वासना को प्रदीप्त करने वाली सामग्री भरपूर रहती है। इसे मनोरंजन कहना अपने आप को धोखा देना है।

सिनेमा के विषय में चार बड़ों के विचार :—

(१)

× × × × फिल्म-निर्माताओं पर प्रतिबन्ध लगाये जाने चाहिये जिससे कि वे ऐसे फिल्म न बनायें, जो समाज और जनता के दिमाग को गन्दा करते हैं तथा स्वस्थ-साहित्य की माँग कम कर देते हैं।

यदि हम अपने नौजवानों को सही रास्ते पर बढ़ने देना और उन्हें स्वस्थ नैतिक चरित्र से पूर्ण वीर पुरुष बनाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधनों को खोजना होगा, जो उन्हें मनोरंजन के साथ ही साथ समुचित शिक्षा भी प्रदान करते हैं।

सभी सच्चे साहित्यिक 'सिनेमा के बढ़ते हुए खतरे' से चिन्तित हैं। पुराने जमाने मे लोग दिन भर के काम काज के बाद भजन कीर्तन में भाग लेते थे और भगवान् के नाम का स्मरण करते हुए सोते थे और कोई आश्चर्य नहीं कि वे भले विचारों के होते थे। सिनेमा का प्रभाव इसके बिलकुल विपरीत है।

× × × × स्वराज्य-प्राप्ति के बाद अगर हम अपने चारित्र्य में शिथिलता आने देंगे तो उसको कमाये हुए स्वराज्य को खोने की क्रिया का आरम्भ समझना होगा।

× × ×

मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि करीब बीस लाख लोग हर शाम सिनेमा देखते हैं। मुझे पता नहीं कि यह अन्दाज कैसे लगाया गया है? लेकिन अगर यह सही है कि बीस लाख लोग हर रोज सिनेमा देखते हैं तो यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के तरुणों की मनोवृत्ति पर उसका देशव्यापी परिणाम होता है। मैंने हिसाब लगाया कि मै एक साल से घूम रहा हूँ। रोजाना दो व्याख्यान देता था। इसके अलावा चर्चाएँ भी होती थीं। तो भी शायद ही बीस लाख लोगों के कानों पर मेरा सन्देश पहुँच पाया हो। अगर जितना प्रचार मेरे इतने परिश्रम से एक साल में हुआ, उतना तो हर रोज शाम को इस प्रकार होता रहता है, तो वह कोई मामूली बात नहीं है। इस बात पर ध्यान देना जरूरी हो जाता है।

इस विषय में स्वैर-वृत्ति से नहीं चलेगा। सिनेमा का नियमन सर्वसामान्य चरित्र की दृष्टि से, सदभिरुचि की दृष्टि से तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से करना चाहिए। हमारे नियमन की यह तीन कसौटियाँ होंगी। अगर हम इन कसौटियों को मान्य रखते हैं और सिनेमा का उचित नियमन करते हैं तो उसमें देश का हित है। नहीं तो, यह समझ लीजिये कि देश की रक्षा करना मुश्किल हो जायगा। मैं तो मानता हूँ कि उत्तम सेना से भी अधिक जरूरत दिमाग को बहकने न देने की तथा उसे शुद्धि के रास्ते पर चलाने की है।

(आचार्य विनोबा भावे)

(१) मजदूरों के एक समारोह में राजा जी ने कहा—सिनेमा-निर्माता लोग गरीबों की कठिन कमाई का शोषण कर रहे हैं और जनता के चरित्र को भ्रष्ट कर रहे है। × × × वे मनुष्य की कमजोरियों को जानते हैं और गदे चित्र निर्माण कर लोगों की नीच प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर उन्हें दुर्भाग्य की ओर प्रेरित करते हैं। यदि श्रमजीवी लोग बार-बार सिनेमा-गृहों में नहीं जायँगे तो वे अपना समय परिवार को सुखी बनाने मे लगा सकेंगे।

(२) छात्रों को सिनेमा देखने से विरत करने का प्रयास करते हुए आपने कहा—सिनेमा न देखकर आप लोगो को अपने घरों पर रहना अथवा अन्य कोई कार्य करना चाहिए। मैं सिनेमा व्यवसाय का विरोधी होने के कारण ऐसी बातें नहीं कह रहा हूँ, बल्कि इसलिए कि आजकल के सिनेमा-चित्र आपके दिमाग को सड़ा डालते हैं। इसके कारण आप लोग सदैव इस प्रकार की बातें सोचने लगते हैं जो आपको नहीं सोचनी चाहिये। इससे आपका न केवल नैतिक और आत्मिक पतन होगा, प्रत्युत बौद्धिक अवनति भी अवश्य-म्भावी है !

(माननीय श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी)

शिक्षा की दृष्टि से सिनेमा से एक बड़ा खतरा है। हमारी संस्कृति मे सत्य और अहिंसा का अन्यतम महत्व है। गांधी जी ने इन दोनो तत्वों को हमारी नयी शक्ति का आधार बना दिया है। शान्ति और न्याय के मान्य अग्रदूत हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू जी गाधी जी की इस विरासत की रक्षा करने मे संलग्न हैं और उन्होंने हिंसा के विरुद्ध राष्ट्र को सतर्क रहने की चेतावनी दी है, किन्तु ऐसे चित्र अपराध और हिंसा को आकर्षण बना देते हैं। रोज ब-रोज हजारों सिनेमा घरो में लाखों व्यक्तियों को अपराध, हत्या, कमीनापन और गंदे जीवन के बारीक-से-बारीक साधनों की शिक्षा दी जा रही है ! इस प्रकार जनता के उच्च मनोभावों एव सौन्दर्य भावनाओं को नष्ट किया जा रहा है। अखबारों के हास्य स्तम्भ भी हत्या, अपहरण, डकैती आदि घटनाओं को सामान्य जीवन की मान्यता देकर जनता में अपराधी मनोवृत्ति को बढ़ावा दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि सारे देश मे हिंसा और अपराधो की बीमारी फैल रही है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

मुझे मालूम हुआ है कि बहुत से युवक हजरतगंज मे लखनऊ की मुख्य सड़क पर ऐसे बुशकोट पहने हुए, जिन पर सिनेमा-स्टारों के भद्दे चित्र या गंदे डिजाइन छपे होते हैं, मटरगश्ती किया करते हैं। मुझे बताया गया है कि इसमें विश्वविद्यालय के छात्र भी शामिल हैं। मुझे इस पर विश्वास नहीं होता एक शिक्षित और सम्भ्रान्त परिवार का व्यक्ति इस प्रकार की फूहड़ वेषभूषा मे सार्वजनिक सड़कों पर कैसे निकल सकता है ?

(माननीय श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी)

कुछ दिन हुए बम्बई-मेल से यात्रा करती हुई सिनेमा की एक अभिनेत्री को देखने के लिये इलाहाबाद स्टेशन पर हजारों आदमी एकत्र हो गये। उनमे विद्यार्थियो की संख्या बहुत थी। आध घन्टे गाड़ी को रुकना पड़ा। आतुर सिनेमा प्रेमियों ने जिस डिब्बे मे अभिनेत्री बैठी थी, उसके शीशे की खिड़कियो को तोड़ डाला, जय के नारे लगाये। इस उत्पात मे चार व्यक्ति घायल भी हो गये। किसी महात्मा, महापुरुष या देश के विशिष्ट नेता के दर्शनार्थ लोगों का जमा होना जैसे उनकी नैतिकता को सिद्ध करता है, वैसे ही केवल नाच गान तथा भाव व्यक्त करने मे चतुर नाना प्रकार की कमजोरियों से भरी हुई किसी एक नटी के दर्शनार्थ भीड़ का इकट्ठा होना और उत्पात मचाना नैतिकता के निम्न स्तर का और असंयम के नग्न नृत्य का मूर्तिमान् प्रदर्शन कराता है। इसी दुर्भाग्य का उल्लेख करते हुये उत्तरप्रदेश के शिक्षा मन्त्री श्री हरगोविन्दसिंह जी ने कहा—

× × × लखनऊ मे बैठकर विभिन्न स्थानों से प्राप्त विद्यार्थियो की कृतियो के समाचार सुनकर मैं मारे शर्म के गड़ जाता हूँ। इलाहाबाद के स्टेशन पर कामिनी कौशल (सिनेमा की एक नटी) की जय के नारे लगाकर विद्यार्थियों ने जिस शिक्षा और नैतिक स्तर का परिचय दिया है क्या यही आजकल की शिक्षा का उद्देश्य है? यदि हाँ, तो मैं समस्त विश्वविद्यालयों और कालिजों का सदैव के लिये बन्द किया जाना ही श्रेयस्कर समझूँगा। क्या हम 'कामिनी कौशल की जय' बोलने के लिए ही उन्हें तैयार कर रहे हैं? एक दिन मैंने नैनीताल मे देखा कि विद्यार्थियों की बडी भीड़ चली जा रही है। पूछने पर मालूम हुआ कि किसी सिनेमा गृह में एक प्रसिद्ध एक्ट्रेस आयी हुई थी। आजकल के विद्यार्थियों को फिल्मी अभिनेताओं के जीवन की प्रत्येक बात मालूम है, परन्तु अपने देश के इतिहास और अपने नेताओं के सम्बन्ध मे उनका ज्ञान एकदम शून्य पड़ा है!

(माननीय श्री हरगोविन्दसिह जी)

——

बिनु पानी सब सून

(श्री शिवनन्दन कपूर एम० ए०)

मनुष्य का निर्माण करते समय नारायण यानी पानी पर पैर पसारने वाले ईश्वर को पानी का ध्यान जरूर रहा होगा। उनके चारों ओर पानी के अतिरिक्त और है ही क्या ? उत्तर, दक्खिन, दाहिने, बाये हर ओर से हल्की-हल्की लहरों के थपेड़े। बस गहरी नीद मे पड़े रहते हैं। जगे तो सामने लक्ष्मी जी के मुखमडल पर वही पानी की बहार। फिर ब्रह्माजी की तो बात ही निराली है। वे तो काफी ऊँचे पर अड्डा जमाये हैं। साथ ही चतुर्मुख भी हैं। इसीलिये यदि उनके हाथ में सृष्टि रचना का कार्य रहा होगा तो पहला स्थान उन्होंने पानी को ही दिया होगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी विश्व के पंच मेल रूपी पाँच सवारों में पानी का नाम गिनाया है। पर पता नहीं कैसे वे उसे दूसरे नम्बर पर बिठा गये। खानखाना रहीम भी खूब कह गये हैं :—

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून

और सचमुच पानी बिना सब सूना है। स्वास्थ्य के लिये, दैनिक कार्यों के लिये, अजी धर्म, कर्म, शर्म, कुछ भी ले लीजिये, सभी जगह पानी का ही बोल-बाला है। अभी आप का हुक्का पानी बन्द कर दें तो आप हो गये जाति बहिष्कृत। धर्म भ्रष्ट हो जाने पर तो कोई आपके हाथ का छुआ पानी भी न पियेगा, सच पूछिये तो पानी ही धर्म की निशानी है। भारत की दार्शनिकता मे इसीलिये तो इसका विशेष स्थान है। जीवन का नाम ही पानी है। तभी तो इसे पानी का बतासा या बुलबुला कह देते हैं। साथ ही :—

पानी केरा बुलबुला ऐसी हमरी जात ?

दूध का दूध और पानी का पानी

पहले के न्यायी राजा दूध का दूध और पानी का पानी ही नही करते थे, शेर और बकरी को एक ही घाट पानी पिलाने का भी दम भरते थे।

पानी में बड़ी ताकत है। पहाड़ो पर पत्थरों में जमा पानी बड़ी चट्टानें तोड़ डालता है। फिर औरत के आँख का पानी तो पत्थर के इन्सान को भी पानी कर देता है। लेकिन अगर कभी उतर गया तो लोग तो उसे बेशर्म कहेंगे ही, स्त्री समाज मे भी उसका पानी चला जायेगा। आप से भी अगर कोई अकड़ू खाँ मिल जाये तो जरा पानी से नरम हो जाइये, फिर देखिये, उनके ऊपर सैकड़ो घड़े पानी ही नही पड़ जायगा बल्कि वे खुद ही पानी पानी हो जायेंगे।

पानी भरना पड़ता है

किसी सौन्दर्यवती के चेहरे का पानी ढल जाये तो उसे रूपसियो के सामने बस पानी ही भरना पड़ता है। और यह पानी भरना क्या मामूली होता है? साहब बड़े बड़े शायर उसमे डूब गये। महाकवि केशव को भी अपने बुढ़ापे का अफसोस पनघट पर ही होता है। सोने के घड़े में चमकते यौवन के छल छल चचल पानी को देखकर वे बस अपने सफेद बालों को कोसते ही रह गये। सोने के पानी चढ़े घड़े भी असली स्वर्ण कलशों से कम आकर्षण नहीं होते। पानीदार का पानी दूसरों से सहज ही काम करा लेता है। इस पानी का गिरना, उतरना, निकलना, सब कुछ खराब है, इसीलिए पानी रखने की बात कही गई है।

पानी रखा जाता है

पानी पीकर कोसने की बात तो पुरानी है, और गहरी शत्रुता में यह भी मानते हैं कि कोई पानीदेवा भी न रहे। पर आजकल कभी कभी लोग सात-पुश्त को पानी विहीन कर देते हैं। प्राचीन काल में ऋषि लोग हाथ मे पानी लेकर शाप देते ही थे। दुर्वासा का कमंडल झुका नही कि बस प्रलय मच गया। पानी रखा भी जाता है और मौका पड़ने पर उतार भी लिया जाता है।

पितरो को भी पानी ही पिलाते हैं। पानी का बरसना और रुकना हम रोज ही देखते हैं, इसके अतिरिक्त पानी फूंका भी जाता है। लोग उसे पढ़ते एवं फेरते भी हैं। कभी कभी जब गॉव के कुये या तालाब का पानी टूट जाता है तो किसान के कोमल सपनो पर भी पानी फिरने लगता है, किन्तु यदि उसके भाग्य से पानी के देवता प्रसन्न हो गये तो बस चारों ओर पानी ही पानी है।

पानी के मोल चीजें

लोग पैसा पानी की तरह बहाना जानते हैं और चीजें भी कभी-कभी पानी के मोल बिकने लगती हैं। पानी निकाला तो जाता ही है, साथ ही पानी में आग भी लगाना प्रसिद्ध है। सुन्दर-सुन्दर वस्तुओ को देखकर यदि मुंह में पानी भरने अथवा घटने लगे तो ऐसा न कीजिएगा जिससे आपका पानी चला जाये। सोच लीजिए नल से भी पानी चला जाता है तो कितनी तक़लीफ होती है।

पानी को जवानी का पर्याय कह सकते हैं इसीलिये तो यौवनारम्भ में पानी चढता है और बुढ़ापे मे उतरने लगता है। यदि किसी कारणवश आपके चेहरे पर भी जवानी मे ही पानी की रवानी न रहे तो हवा पानी बदल आइये फिर पानी आ जायेगा लेकिन किसी ऐसे पहाड़ पर जाइये जहॉ का पानी लगे न।

'लागं अति पहाड़ कर पानी'

जगह जगह का पानी अपने-अपने ढग से लगता है। यह तो अपनी-अपनी बात है जहॉ का पानी जिसे लग जाय। पानी भी तो तरह-तरह का होता है। नदी का पानी, कुएं का पानी, नल का या बरसाती पानी, साथ ही चाय का पानी, दाल का पानी, दही का पानी, तेल का पानी, मीठा पानी, खारा पानी भी तो होते हैं। कभी कभी खून भी पानी हो जाता है किन्तु काले पानी का दर्शन कुछ दिल के काले लोगों को ही होता है।

'गहरे पानी पैठ'

बलिया का पानी और पहाड़ का पानी दोनो लगता है, लेकिन अपने

अपने ढग से। सो नबियत हो तो घाट-घाट का पानी छान कर पी सकते हैं। और जरा दम आ जाए तो गहरे पानी में पैठना भी मुश्किल नही। इसके अतिरिक्त हथियारो में तो लोग पानी रखते ही हैं। साथ ही चार एवं पाच पानी के बैल भी परखे जाते हैं।

गहरे पानी में तो लोग पैठते ही हैं, चुल्लू भर पानी मे डूब मरने का अवसर भी अक्सर आता है, पर सूखे पानी में डूबने की बात कम ही सुनी गई होगी—वैसे तो कुछ साहसी काले पानी का आनन्द ले आते हैं।

अन्त मे एक बात और कहकर कि जहाँ कोई पानी को न पूछे वहाँ एक घड़ी भी न ठहरिए, मै भी :—

'मागौं बिदा जोरि जुग पानी'

——

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सृष्टि के आदि चरण से ही मनुष्य पारस्परिक-सहयोग से सभ्यता का क्रमशः विकास करता गया। गंगा की घाटियों में बसने वाले आर्यों ने परिश्रम करके अन्न उपजाया होगा, जगली जानवरों से अपनी रक्षा की होगी। इन सभी में मनुष्य को पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पड़ी होगी। सहयोग की भावना सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रबल होती गई। मनुष्य को समाज में रहकर एक दूसरे का सहायक बनना नितान्त आवश्यक है। प्रेम और सहानुभूति तो मानवीय गुण हैं। जिस प्रकार बीज स्वयं को मिट्टी में अर्पण कर एक नये मनोरम विशाल वृक्ष को जन्म देता है उसी प्रकार मानवता का विकास एवं कल्याण भी मनुष्य की त्याग प्रवृत्ति पर आश्रित है। प्रकृति कभी अपनी उदारता में कृपण नहीं रही :—

परोपकारार्थं फलन्ति वृक्षाः परोपकारार्थं वहन्ति नद्याः
परोपकारार्थं दुहन्ति गावः परोपकारार्थमिदं शरीरः।

उदार प्रवृत्ति का मनुष्य जो मानवता के कल्याण में संलग्न है वह देवता के समान है। मनुष्य के दुख-सुख में एक दूसरे को पूर्ण रूप से सहानुभूति के साथ सहायक होना चाहिए साथ ही हमारे हृदय को अत्यन्त उदार होना चाहिए। यदि हम यह चाहें कि किसी भी प्रकार हम सुखी रहें, चाहे हमारे सुख से अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचे तो यह उचित नहीं होगा। 'राम' और 'रावण' का युद्ध मानवता और दानवता का युद्ध है। रावण द्वारा सताए गए व्यक्तियों को राम की छत्रछाया में आश्वासन मिला। राम समस्त मानवता के कल्याण के प्रतीक हैं। इसीलिए वह साधारण मानव के स्तर से कही ऊँचे उठकर 'देवता' हैं जिन्हें आज भी प्रत्येक हिन्दू जाति आदर के साथ पूजती है।" मनुष्यों की आकृति एक दूसरे से भिन्न होती है, उनके स्वभाव भी एक

दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ व्यक्ति केवल अपने ही स्वार्थ से दूसरो को सताते हैं। यह अनुचित है। स्वार्थ तो मनुष्य को संकुचित सीमा मे बाँध देता है। इतिहास साक्षी है भारत की वसुन्धरा में अनेक ऐसे उदार पुरुषों ने जन्म लिया जिन्होंने मानवता की सेवा में अपने आपको अर्पित कर दिया। ऐसी अनेक महान् आत्माओं ने भारतवर्ष में जन्म लेकर इस भारत भूमि को गौरवान्वित किया एव अन्य देशों के समक्ष उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किये। बुद्ध भगवान् का नाम आज भी समस्त ससार को नवीन आलोक प्रदान कर रहा है। उनका हृदय वृद्ध भिखारी और मृतक को देखकर द्रवित हो उठा था। तभी से उन्होंने बन बन में घूमकर तपस्या की और हृदय की शान्ति को खोजने के लिये अपना सर्वस्व एवं अपनी आयु अपित कर दी। मानव के दुख और कष्टों को देखकर कल्याण मार्ग खोज निकाला। मानवता के लिये प्राणों की बलि चढाने वाले ईसा ने संसार के समक्ष अपूर्व उदाहरण रखा। समाज के समक्ष इन्होंने इतने उच्च आदर्शों का प्रतिपादन किया कि आज इतने सहस्र वर्षों के बाद भी वे हमारे आदर्श बने हुये हैं। कालान्तर मे समाज ने इनको अपने हृदयासन पर बैठाया। श्रेष्ठ मनुष्य तो वही है जो दूसरे के दुख से दुखी होता है। मानवता का सच्चा सेवक वही है जो निस्वार्थ भाव से दूसरो के कल्याण में सहायक हो। ऐसा व्यक्ति सत है, महात्मा है, 'सुकरात' ने मानवता के हेतु हँसते हँसते विष पान कर लिया था। इन संतों का समाज ने समुचित आदर किया, उन्हें अपना आदर्श माना। सन्त का जीवन त्याग का जीवन है, हृदय की विशालता ही उसके जीवन की साधना है तभी तो वह मनुष्य मात्र से प्रेम कर उस ईश्वर से अपनी लौ लगाता है। सन्त का हृदय अत्यन्त कोमल एवं नवनीत के समान होता है। यदि सन्त होकर भी वह स्वार्थी है तो केवल आडम्बर मात्र है। सच्चे सन्त की महिमा का वर्णन तुलसीदास ने अत्यन्त सरल भाषा मे, बड़ी मनोरम शैली में किया है।

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह पर कहै न जाना
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहि सन्त सपुनीता।

प्रत्येक देश मे महान पुरुषों ने मानवता के हेतु अनेक त्याग और बलिदान

किये, महात्मा गॉधी भारतवर्ष के ही नहीं वरन् समस्त मानवता के सच्चे पुजारी हैं। गॉधी जी के जीवन का यही सबसे बड़ा सिद्धान्त था। 'प्रेम' और 'अहिंसा' का सिद्धान्त एक बार गौतम बुद्ध ने समस्त भारतवासियों को दिया था वही इस युग में महात्मा गॉधी ने जनता को दिया। गॉधी जी के उदार व्यवहार ने सबको अत्यन्त प्रभावित किया। मानवता के सच्चे पुजारी ने अन्त में अपने प्राणों को भी न्योछावर कर दिया। मनुष्य के कल्याण के लिये संत की दृष्टि में सब समान हैं, जातिगत भेद एवं देश-विदेश का अन्तर उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता है। उनके लिये तो समस्त सिद्धांत सब के लिए हैं, सब मानव हैं, केवल मानव हैं, उस एक ब्रह्म के रचे हुए। चीन के विश्वविख्यात महात्मा मोत्रोत्जे के विषय में मैन्सियद ने कहा था "यदि उनके समस्त शरीर के पिसवाने से संसार का कल्याण सम्भव होता तो वह उसे सहर्ष पिसवा देते।" कितना महान आदर्श है।

मनुष्य यदि अपनी भावनाओं को साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, एवं राष्ट्रीयता के संकुचित दायरे में बॉध ले तो इसका परिणाम कभी भी कल्याणकारी न होगा। आज नित्यप्रति होने वाले युद्धों का कारण मनुष्य की संकुचित चित्तवृत्ति के अतिरिक्त और क्या है? आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अत्याचार कर रहा है, क्रूरता का घृणित उदाहरण उपस्थित कर रहा है। इस प्रकार एक दूसरे के हृदय मे द्वेष भावना प्रबल होकर सुलग रही है। निश्चय ही मानव एक ऐसे गर्त मे गिर जायेगा, जहॉ से वह स्वयं भी उठ नहीं सकेगा। मानव को इस अंधी स्वार्थपरता को छोड कर मानवता को पहचानना होगा। समस्त मानवता के कल्याण में ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है। आज के सुधारक इस ओर सजग हैं। विश्व-शान्ति की अनेक योजनाएँ बनी हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने इसी शान्ति के संदेश देने के लिए समस्त यूरोपीय देशों का भ्रमण किया। यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करे और इस प्रकार समस्त मानव के कल्याण को अपनी दृष्टि मे रखे तभी सर्वतोन्मुखी उन्नति हो सकती है। आज के युग की सबसे बडी मॉग यही है। कोमल भावनाओं के कवि पन्त जी ने कितनी सहृदयता के साथ मानव के व्यवहार की ओर सकेत किया है। जिसका उद्देश्य मानव के हृदय में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना है—

राजनीति का प्रश्न नही रे आज जगत के सन्मुख।
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।

आज वृहत् सास्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित।
खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नव निर्मित॥
विविध जाति वर्गों धर्मों का होना सहज समन्वित।
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता मे विकसित॥

जब हम अपने दृष्टिकोण को इतना विस्तृत बना लेगे तभी सच्चे अर्थ मे उन्नति सम्भव हो सकती है। परोपकार की भावना सहृदय व्यक्ति मे ही पाई जा सकती है। यदि अणु और परमाणु बम जैसे विध्वसकारी यंत्रों का मानव के हित मे प्रयोग न किया गया तो मूल्यवान मानवता स्वयं को दानवता के हाथों सस्ते दामों में वेच देगी। निस्सदेह मनुष्य के लिए यह रसवती भू तभी स्वर्ग बनेगी जब कि—

'मानवों के हेतु अर्पित मानवो की आयु'

के सिद्धान्त को वह अपना पथ-प्रदर्शक मान लेगा।

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

कवि वरेण्य तुलसीदास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। पराधीनता मनुष्य विशेष के व्यक्तित्व को अपने में बाँध लेती है। किसी दूसरे व्यक्ति के आधीन रहकर वह अपनी भावनाओं के अनुकूल कार्य नहीं कर सकता। जब कभी उसे किसी कार्य को बाध्य होकर करना पड़ता है तो उसकी आत्मा कराह उठती है। मनुष्य स्वतंत्र रहकर ही अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। किसी समय दास-प्रथा का प्रचलन था। दास बनाए हुए व्यक्तियों का जीवन कितना दुःखमय था, वह श्रृंखलाओं मे बँधे हुये उन जानवरों की तरह थे जो काम करने के बाद पुनः बाँध दिये जाते हैं। जहाँ मनुष्य के स्वतत्र विचारों पर उनकी इच्छाओं पर कुठाराघात कर अपने को सभ्य कहने वाले मनुष्य ने मनुष्य को अपना क्रीत दास बना डाला। उस पर अनेकों क्रूर अत्याचार किए, वहाँ मनुष्यत्व की झलक भला किस प्रकार दृष्टिगत हो सकती है? इस क्रूर प्रथा के अनेको घृणित उदाहरण मानव समाज के समक्ष आये। धीरे-धीरे मनुष्य के विवेक ने इस अमानुषिक कार्य की निन्दा की और शनैः शनैः इस प्रथा का लोप होने लगा। पराधीनता कई प्रकार की होती है :—विचारों की, व्यक्ति की, समाज की, राष्ट्र की; किन्तु पराधीनता चाहे किसी भी प्रकार की हो वह कभी सुखद नहीं रही। दूसरे की सत्ता के आधीन रहकर कोई व्यक्ति, कोई समाज, कोई देश कभी भी उन्नति नहीं कर सका है। पराधीनता मनुष्य के आत्मिक विकास मे गहरी क्षति पहुँचाती है, उसका बौद्धिक स्तर कभी स्वतंत्र रूप से विकसित हो ही नही सकता। एक उर्दू के कवि ने इसी भाव को उच्छ्वसित ढग से व्यक्त किया है।

"आता है याद मुझको गुजरा हुआ जमाना
वह झाड़ियाँ चमन की, वह मेरा आशियाना।

पराधीन रह कर मनुष्य जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विकास नही कर सकता ठीक यही दशा किसी राष्ट्र की होती है। परतंत्र बनाया हुआ देश स्वतंत्र राष्ट्रों की अपेक्षा राजनीतिक एव सामाजिक दृष्टि से अपनी समुचित उन्नति नही कर पाता। दासत्व की बेड़ियों मे जकड़ा हुआ भारतवर्ष इतने सहस्रों वर्षों में अन्य देशो की अपेक्षा कितना पिछड़ गया था। किसी समय भारतवर्ष अमूल्य रत्नो की खान था। यहाँ की अपार धनराशि को विदेशी ले गए। भारत दरिद्र-नारायण देश कहलाने लगा। किन्तु भारतीय भूमि में ऐसे सजग व्यक्ति थे जिन्होंने इस दासता की बेड़ियों मे जकड़ी हुई माँ को स्वतन्त्र करा दिया। शत वर्षों के निरन्तर सघर्ष के पश्चात् आज भारतवर्ष स्वतन्त्र हो पाया है। वलिदानों से सींची हुई भूमि में फिर से गगा की घाटियाँ लहरा उठेगी। भारतीय कृषक अपने परिश्रम से बीज बोएगा, फसलें उगेंगी, जिन्हे देशवासी अपने उपयोग में लायेंगे।

स्वतन्त्र होने के पश्चात् ही हम अपनी उन्नति की योजनायें बनाने में सफल हो सके हैं। देश पर जब विदेशी जाति का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है तब देश की वास्तविक उन्नति रुक जाती है। आज भारत सरकार देश के धन-धान्य को बढ़ाने के लिए नवीन योजनाएँ बना रही है, साथ ही सास्कृतिक चेतना के हेतु पिछड़ी हुई कलाओं को, विशेष प्रोत्साहन दे रही है। 'सास्कृतिक डेलीगेशन' नित्यप्रति अन्य देशों मे भेजे जा रहे हैं जिससे दूसरे देश भी भारतीय कला से परिचित हो सकेंगे। इस प्रकार वैज्ञानिक औद्योगिक उन्नति के साथ ही कला के क्षेत्र मे भी भारतीय कला उन्नति करती जायगी। पराधीनता की इसी कराह को अकबर इलाहाबादी ने कितनी सजीदगी के साथ प्रकट किया था :—

भरते हैं मेरी आह को वे ग्रामोफोन मे।
कहते हैं आह कीजिये और दाम लीजिये॥

सबै दिन जात न एक समान

जीवन में समस्त दिन एक से ही व्यतीत नहीं होते। सुख-दुख की छाया मे लिपटा हुआ मानव, जीवन पथ पर अग्रसर होता जाता है। आकाश पर काले काले बादल छा जाते हैं जो प्रभाकर की प्रभा को ढंक लेते हैं। जीवन मे कभी एकाकी निराशा व्यक्ति के व्यक्तित्व पर छा जाती है। तब वह दुख की घड़ियाँ कितनी लम्बी लगने लगती हैं। सूनी रातें जैसे जीवन की समस्त मादकता को अपने अंधकार मे डुबो देगी। लेकिन मनुष्य को निराश होने की आवश्यकता नही। जीवन में कभी दुख है तो कभी सुख। सुख-दुख आशा-निराशा के ताने-बानो से बुना हुआ यह मानव जीवन है। यदि मनुष्य केवल एक का ही भागी बनना चाहता है तो वह वास्तव मे उसका मूल्य भी नहीं पहचान सकता। पन्त जी के इन भावों मे कितनी सन्देशवाही जीवन्त प्रेरणा है :—

> जग पीड़ित है अति दुख से,
> जग पीड़ित है अति सुख से।
> मानव जग मे बँट जाये,
> सुख दुख से औ दुख सुख से।

समय निरन्तर परिवर्तनशील है। जो आज है वह कल नहीं होगा, यह ध्रुव सत्य है। जीवन मे प्रति क्षण आवर्तन-विवर्तन होता रहता है। आज जो इतना धनवान है समाज मे जिसकी इतनी प्रतिष्ठा है, समय के एक झटके से ही वह साधारण भिखारी की तरह हाथ फैलाता हुआ भी दिखाई दे सकता है।

प्रकृति के प्रत्येक चरण मे परिवर्तन है, इसलिए शास्त्रों में प्रकृति को चेतन माना गया है। वसन्त ऋतु में सौरभ से भरा पवन इठलाता घूमता है।

फूल हवा के झोंके से झूम झूम जाते हैं। भ्रमर गुंजार करता है। कोयल किसी डाली के पीछे से उस वातावरण को स्वप्निल सौन्दर्य से भर देती है किन्तु जब पतझार आता है, सपने बिखर जाते हैं सब कुछ वीरान हो जाता है।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है :—

चढ़त चढ़त मध्यान्ह लौ अस्त होत है भानु।

× × ×

पुरुष बली नहिं होत है, समय होत बलवान।
भिल्लिन लूटी गोपिका, वहि अर्जुन वहि बान॥

चक्रवर्ती सत्यवादी हरिश्चन्द्र को डोम के घर दास का कार्य करना पड़ा। दमयन्ती को वन वन जङ्गलो मे भटकना पड़ा। जर्मनी के भाग्य-विधाता को एक दिन आत्महत्या करनी पड़ी। हम नित्यप्रति जीवन मे कितने ही लोगों को उन्नति के शिखर पर चढते हुये देखते हैं और कितने को मिटते हुए देखते हैं। व्यक्ति पर चाहे कितना दुख सुख पड़े यदि वह उन सबको एक उत्साह से झेलता जाए तो वह दुख भी सुख मे परिणत हो जायगा। मनुष्य को अपने सुख के क्षणों में अह नहीं करना चाहिये, क्योंकि न जाने उस पर किस वक्त कैसा समय आ जाय।

साधारण जीवन में हमे नित्यप्रति ऐसे व्यक्ति दृष्टिगत होते हैं जो समृद्धि अवस्था में नित-प्रति पास आते-जाते हैं, मिलते-जुलते हैं किन्तु कष्ट में पड़ जाने पर दूर भागते हैं, इस प्रकार के मित्र केवल स्वार्थ के साथी हैं। तुलसी-दास जी ने ऐसे लोगों की बड़ी तीव्र आलोचना की है। सुख और दुख वास्तव मे जीवन रथ के दो चक्र हैं जो ऊपर-नीचे आते रहते हैं। व्यक्ति के समान ही किसी राष्ट्र के ऊपर भी कभी दुख की काली घटाएँ मँडरा सकती हैं। भले ही उसकी आर्थिक स्थिति शोचनीय हो जाए, अकाल पड़े या विदेशी शत्रु उसे पदाक्रान्त कर दे परन्तु ऐसे समय में देशवासियों को हतोत्साहित नही हो जाना चाहिये। जो आज गिर रहा है कल उसी पर नींव रखी जायगी।" समय बलवान होता है। सृष्टि-चक्र निरन्तर घूमता रहता है।

उत्थान-पतन सभी कुछ तो होता रहता है। कितने ही गौरवशाली राज्य जो आकाश का आलिगन करते हैं वहाँ समय के परिवर्तन के साथ इतिहास

के पृष्ठों में सिमट जाते हैं। कितनी ही सभ्यताओं ने उन्नत विकास किया किन्तु समय के प्रवाह मे सब कुछ नष्ट हो गया। आज कितनी ही गिरती हुई सभ्यताएँ ऊपर उठ कर अपना विकास कर रही हैं। कौन जाने कल उनको क्या देखना पड़ेगा? परिवर्तन होता रहता है, सब दिन एक समान नहीं रहते। राजा, मनुष्य, भिखारी, समाज, देश, परम्पराएँ सभी के जीवन में परिवर्तन आना अवश्यभावी है।

अहे निष्ठुर परिवर्तन!

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन!

—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिञ्चन, संहार!

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार,
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झंकार!

दिवस निशि का यह विश्व-विशाल
मेघ मारुत का माया-जाल!

———

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत

मनुष्य की सफलता तथा असफलता उसके मन की जीत अथवा हार पर आधारित है। यदि हम जरा सी उलझन को बड़ा रूप देकर व्यथित हो उठें तो हम कभी भी अपनी बाधाओं को दूर नहीं कर सकते। जीवन एक संघर्ष है, दुख सुख ही का नाम जीवन है। यह सारा संसार रहस्यपूर्ण है। एक पहेली है। महात्मा बुद्ध के कथनानुसार सारे विश्व के दुख जन्म के साथ साथ ही उत्पन्न होते हैं यदि पुनर्जन्म न हो तो कभी मनुष्य को इस चक्र में फँसना न पड़े। हमारे जीवन की सफलता हमारे अदम्य साहस पर आधारित है। हमें अपना लक्ष्य सदैव उच्च रखना चाहिये। अपने लक्ष्य को समक्ष रख कर सुगम मार्ग चुन लेना ही हमारे लिए हितकर है। यदि लक्ष्य तक पहुँचने में बाधाएँ आती हैं तो उनसे व्याकुल नही होना चाहिये तथा हमें साहस और धैर्य से काम लेना चाहिये। किसी काम को यदि हम उत्साहित होकर करते हैं तो वह शीघ्र समाप्त हो जाता है, यदि उसी काम को हम पहले से ही निराश होकर तथा बे-मन से करे तो वह काम अच्छा नहीं होता है। मानव कार्यों मे मनोविज्ञान का बहुत अधिक महत्व है। शास्त्रों मे भी इसका उल्लेख है —

मनः पूतं समाचरेत्

अर्थात् मन को पवित्र होना चाहिये। हमारे अलग अलग व्यक्तित्व पर जीवन की सफलताएँ और असफलताएँ निर्भर हैं। हमें मन को पवित्र बनाना चाहिये। तभी हम उच्च लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। मन को पवित्र तथा सदाचारी बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए। दूसरे के कष्टों को अपना समझकर उससे सहानुभूति दर्शाना—हमारा एक-मात्र ध्येय होना चाहिए। हममें दृढ़ आत्मविश्वास एवं भले बुरे को समझने के लिए संतुलित बुद्धि तथा

विवेक होना चाहिए। आत्म-निरीक्षणशील पुरुष ही अपनी दुर्बलताओं को स्वय देखकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। यदि अन्य व्यक्ति उनके गुणों की उपेक्षा भी करें तो बुरा नहीं मानना चाहिए वरन् उसे चेतावनी मानकर भविष्य में सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी ने ठीक ही तो कहा है:—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान,
रसरी आवत जात ते सिल पर परत निशान।

अभ्यास करने से तो जड़ बुद्धि भी चेतन हो उठती है। जैसे निरन्तर कुएँ से पानी भरने से रस्सी के निशान पत्थर पर पड़ जाते हैं। हमें कभी भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिये, हमे अपने समक्ष :—

'हारिये न हिम्मत, बिसारिये न हरिनाम'

का आदर्श रख कर कार्य में संलग्न रहना चाहिये। इसके लिए हमारा मानसिक स्तर बहुत ऊँचा होना चाहिये। हमें अपने शक्ति पर बहुत भरोसा रखना चाहिये। उत्साहित व्यक्तियों के अनेका उदाहरण हमारे समक्ष विद्यमान हैं। लिलयथल नामक वैज्ञानिक ने सारस के बच्चों का उड़ना देख कर वायुयान का आविष्कार किया। जेम्सवाट ने भाप से पतीली के ढक्कन को उठता-गिरता देख कर भाप का इञ्जन बना दिया। इसी प्रकार एक दिन जब विश्व विख्यात वैज्ञानिक सर आईजक न्यूटन अपने उद्यान में बैठे हुये किसी गम्भीर विचार में निमग्न थे, उन्होंने देखा कि एक सेव पेड़ से जमीन पर गिर गया। इनके विशाल सूक्ष्म-मस्तिष्क में यह विचार उठा कि यह सेव—नीचे ही क्यों गिरा ? ऊपर क्यों नही उठा ? इसी आधार पर उन्होंने गुरुत्वाकर्षण शक्ति का नियम बनाया।

सशयात्मा विनश्यति - संशय करने वाले व्यक्ति कभी उन्नति नहीं कर सकते। वे कुछ काल पश्चात् अपने आप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये हमको कभी भी अपने कार्य के लिये शंकित नही होना चाहिये। हमारे सम्पूर्ण जीवन की उन्नति हमारे मन के उत्साह एव धैर्य पर ही टिकी है। इसीलिए कवि को कहना पड़ा :—

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

———

हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ

(तुलसीदास)

प्रारब्ध-खिलाडी ने मानव को अपना खिलौना बना रखा है वह जैसे चाहे वैसा ही खेल उससे खेलता है। मानव पूर्व जन्मों के संस्कार के वशीभूत होकर इस ससार मे पदार्पण करता है और पूर्व जन्म के संस्कारानुसार साथ लाता है अपना भाग्य। भाग्य ही मानव जीवन का सारथी है, जिस ओर वह चलता है उसे उस ओर ही चलना पड़ता है।

यदि किसी मानव के भाग्य में यश है तो अवश्य उसे मिलकर रहेगा। उसके जीवन में जितना यश अपयश है, हानि लाभ है वह उसको अवश्य भोगना पड़ेगा। यदि ब्रह्म ने मानव को भाग्य के हाथ न सौंपा होता तो वह फिर सुखी ही न हो जाता! जो कुछ उसके प्रारब्ध में लिखा होता है वही तो उसे भोगना पड़ता है। सृष्टि चक्र मानव को जिस ओर खींचता है उसे उस ओर विवश होकर जाना ही पड़ता है।

राजा दशरथ के कितने सुनहले स्वप्न थे, कितना सुखपूर्ण जीवन था, कितनी आशाएँ-अभिलाषाएँ थी—न जाने कितनी उमगे थीं? राम के राज्याभिषेक के पश्चात् कितना सुखपूर्ण जीवन होता दशरथ का, परन्तु क्या था? उनके साथ उनका भाग्य न था! सौतेली माँ के ईर्ष्यालु-वाण के राम लक्ष्य बने और राम को बनवास हुआ फिर दशरथ के जीवन में चारों ओर अँधेरा ही अधेरा था। ओह! कितना उजाड़ हो गया, रेगिस्तान की भाँति शुष्क दशरथ का जीवन। भाग्य मूक भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देने वाला अट्टहास करता है। दशरथ की सुखपूर्ण अभिलाषाएँ एक ही झोंके में नष्ट हो गईं। अन्तस्तल मे समाकर मुरझा गईं।

चिरकाल का वियोग था। दशरथ की आँख से एक आँसू ढलका उस संतप्त हृदय से एक आह निकली और वह शरीर सदा के लिए पृथ्वी की भेंट हो गया। पृथ्वी ने उन्हें अपने आँचल में समेट लिया। मानव जीवन की कितनी भावनाएँ अतृप्त ही रह जाती हैं। आशा के बन्धन बँधने भी नहीं पाते कि भाग्य के क्रूर हाथ मे पड़कर नष्ट हो जाते हैं। भरत जब अपने ननिहाल से लौटकर आए मुनि वशिष्ट ने यही कहकर भरत के उस टूटे हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान की थी कि "हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ।' वास्तव मे दुख की यन्त्रणामयी ज्वाला से बचने का एक ही उपाय है वह है कर्म करना और उसका निर्णय भाग्य के ऊपर छोड़ देना। जो विधि करता है वही उचित है। इसीलिये तो गीता ने कहा है।

कमण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन्

मनुष्य का कर्त्तव्य है कर्म करना और फिर जैसे भाग्य मे लिखा हो उससे संतुष्ट होना। राजा हो अथवा सामान्य मनुष्य कोई भी भाग्य चक्र से नहीं बच सकता। मनुष्य कि·नी आशाएँ करता है, न जाने कितने स्वप्न बनाता है, फिर न जाने किस दिशा से आकर कौनसी हवा का झोंका जीवन के प्रवाह को कहाँ से कहाँ मोड़ देता है। किन्तु वही प्रारब्ध-नैराश्य में आशा का संचार करने वाला भी तो है।

याद आता है शाहजहाँ का जीवन। कितना चाहता था दारा को, आँखों से दूर न होने देता था अपने बेटे दारा को—अन्य बेटों को दूर-दूर जागीरें दे रखी थीं—पुत्र प्रम के वशीभूत होकर ही उसने उसे अपने समीप रखा था, चाहता था ताज पहनाना, राजा बनाना, मुगल सम्राट बनाना, परन्तु क्या ? एक ही झोके में वह सब अभिलाषाएँ पथ पर चल कर थक गईं। उसको कभी यह आशा भी नहीं थी कि उसका बेटा औरङ्गजेब उसको कैद कर लेगा और दारा को अपमानित कर मैले कुचैले हाथी पर बैठाकर मरवा डालेगा। इस प्रकार की कल्पना भी न की होगी उस पुत्र प्रेम के दीवाने शाहजहाँ ने। परन्तु यह सब भाग्य करके दिखा देता है। क्या दशा हुई होगी उस 'शाह' की इसका वर्णन पार्थिव जिह्वा कर ही नहीं सकती। यह सब कुछ प्रारब्ध ही के गर्त मे लुप्त है।

मनुष्य जिस बात की स्वप्न मे भी कल्पना नही करता वही प्रत्यक्ष हो जाती है। मनुष्य स्वयं कुछ सोचता है किन्तु जब परिणाम उसके विपरीत होता है तो एकमात्र भाग्य के आधार पर ही सतोष किया जा सकता है ?

"विधि का लिखा को मेटन हारा"

राम का चरित्र कितना उज्ज्वल था, गंगा के समान पावन, किन्तु इतने सौम्य सुशील आदर्श होने पर भी उन्हे कितने भीषण संकटों का सामना करना पड़ा था। जब 'राम' को भी इतने सकटो का सामना करना पड़ा तो साधारण मनुष्य के लिए धैर्य धारण करने की ही आवश्यकता है। भारतीय मनीषा, कर्म की प्रधानता पर बल देती है। वेदों मे, उपनिषदों मे, गीता मे सर्वत्र यही उपदेश प्राचीन ऋषियो ने दिया है, जिससे मनुष्य निराशा के क्षणो मे भी अपूर्व संतोष पा लेता है।

———

वसुधैव कुटुम्बकम्

आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः

जो व्यक्ति मनुष्य जीवन का सच्चा मूल्य समझता है और विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों की भाँति प्रेम करता है, वही ज्ञानी है, वही मानवता के सच्चे अर्थ को समझता है। समस्त विश्व को एक कुटुम्ब के सदृश ही समझना चाहिए। जहाँ प्रत्येक मानव परस्पर एक के दुख को अपना दुख समझे। व्यक्ति के दुर्दिनो मे, असहाय अवस्था में स्वार्थ छोड़ कर मनुष्य को उसके कष्ट मिटाने की योजना करनी चाहिये। यह मानवता की पुकार समस्त विभेदों को मिटा देती है। इसके लिए प्रेम ही एक-मात्र आधार है। बिना प्रेम के जीवन मे मधुरता, सरसता कुछ भी नहीं हो सकती। महाकवि तुलसीदास जी ने कहा है :—

आपु-आपु कहँ सब भलो, अपने कह कोइ-कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिअ सोइ॥

जो व्यक्ति वास्तव मे सच्चरित्र, सज्जन और उदार होता है वही व्यक्ति सर्वप्रिय होता है, ऐसे ही व्यक्तियो की सराहना सज्जन पुरुष करते हैं।

सम्पूर्ण अभावो को दूर करने का एक-मात्र उपाय प्रेम ही है। आनन्द ही जीवन का आधार है। सज्जन पुरुष को तो वास्तव मे तभी आनन्द प्राप्त होता है जब सारे विश्व के मनुष्य सुखमय जीवन बितावें। मनुष्यो के कष्टों को दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तत्पर रहना चाहिये। यद्यपि प्रेम की शिक्षा किसी को दी नहीं जाती और न किसी से सीखी ही जाती है। मनुष्य बचपन से ही प्रेम के वातावरण मे पलता है, माँ की ममता, पिता का निस्वार्थ बहिन-भाइयों का स्वाभाविक-वात्सल्य प्राणी-मात्रमें स्थायी भावों की प्रेम, भाँति विद्यमान रहता है। जो व्यक्ति जाति, धर्म तथा देश के प्रत्येक प्राणीमात्र से

प्रेम करता है और उनकी उन्नति के लिये अपने प्राण तक देने के लिए तैयार रहता है, वह साधारण व्यक्ति से ऊपर उठकर महात्मा कहलाने योग्य हो जाता है। विश्व के उदार व्यक्तियों में सर एन्ड्रूज का नाम विश्वविख्यात है। इनके हृदय में विश्व प्रेम की भावना बहुत प्रबल थी, अपने देश के अलावा इन्होंने भारत में भी सेवा का महान कार्य किया। महामारी की भयंकर बीमारी में इन्होंने पीड़ित मनुष्यों को बहुत सहायता पहुँचाई। विश्व-प्रेमी होने के कारण यह दीनबन्धु सर एन्ड्रूज के नाम से विख्यात हुये।

पूज्य महात्मा गाँधी तो अहिंसा तथा विश्व-बन्धुत्व का संदेश लेकर ही विश्व मे आये थे। "अहिंसा परमो धर्मः" यही उनके जीवन का आदर्श था। वह प्रत्येक प्राणी को समान रूप से देखते थे तथा हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद-भाव नही मानते थे। 'ईश्वर अल्ला एक ही नाम इसकी पुकार वह जन-जन में जगाना चाहते थे। वे विश्व-शान्ति एवं अहिंसा के अमर दूत थे। उन्होंने मनुष्य को सकुचित भावनाओं से ऊपर उठाकर मानवता के उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित किया।

अभी हमारे भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू विश्व-शान्ति का संदेश लेकर रूस, युगोस्लाविया, चीन आदि सुदूर देशों में गये थे।

राष्ट्र-कवि गुप्त जी ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है :—

वास उसी में है विभुवर का, बस सच्चा साधु वही।
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़कर उसकी बाँह गही॥
आत्मस्थिति जानी उसने ही, परहित जिसने व्यथा सही।
परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही॥

निस्संदेह ऐसे ही दिव्य विभूतियों से धरती स्वर्ग बन जाती है।

ग्राम्य जीवन के आनन्द

प्रकृति हमारी चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। उससे हम पृथक नहीं रह सकते। उसमें हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं, प्रत्युत मानव जीवन से अधिक है। फूल-पत्ती, पशु-पक्षी, नदी-नाले, निर्झर-खेत, विद्युत आदि प्रकृति के विभिन्न अंग हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करते हैं। जब हम लहलहाते हुये हरे-भरे खेतों को देखते हैं तब उल्लास से भर जाते हैं। जब हम कोयल की पीयूष वर्षी 'कुहू कुहू' सुनते हैं तब आनन्दविभोर हो जाते हैं। प्रकृति के इसी सहज साहचर्य के समीप रहने के लिये मनुष्यों ने अपने जिस स्वाभाविक जीवन का सृजन किया था वह ग्राम्य जीवन है जहाँ मानव प्रातःकालीन सुषमा मे ही अपने जीवन की आशा, आकांक्षा और सम्पूर्णता का दर्शन करता था। जो ग्राम हमारे प्राचीन आदर्शों की समृद्धता के प्रतीक थे।

नागरिक जीवन हमारे उसी आनन्दमय ग्रामीण जीवन का एक पुंजीभूत रूप है। परन्तु आज के नागरिक जीवन को पश्चिमी सभ्यता की जो वैज्ञानिक विभीषिका ग्रस रही है वह हमारे ग्रामीण जीवन के मौलिक रूप को भी विकृत कर रही है। इससे प्रभावित होकर हमारा समस्त नागरिक तथा ग्रामीण जीवन मानो किसी विदेशी द्वारा एक अनुवाद मात्र हो गया है। प्रकृति रस से परिप्लावित हृदय को सींचने वाली वह सरसता वनदेवी की विमल माधुरी को भूल गई जो हमने ग्रामीण जीवन में कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों मे पायी थी जहाँ—

"छोटे से मिट्टी के घर हैं,
लिपे-पुते हैं, स्वच्छ-सुघर हैं।

गोपद-चिह्नित आँगन तट हैं,

रक्खे एक ओर जल-घट हैं।

खपरैलों पर बेलें छाईं,

फूली-फली हरी मन भाईं।

किन्तु आज तो हमारी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा यन्त्रणामय ही नहीं बल्कि यन्त्रमय हो गई है। इस यान्त्रिक यात्रा में हृदय का वह माधुर्य कहाँ, उस पुरातन संस्कृति का आदर्श कहाँ जो हमें एक ग्रामीण आर्य-दम्पति के जीवन में देखने को मिलता है :—

हरियाली निराली दिखाई पड़े

शुभ शाति सभी थल छाई हुई।

पति सयुत सुन्दरी जा रही है

श्रम चिन्तित ताप सताई हुई॥

सरिता उमड़ी तट जोड़ी खड़ी

अति प्रेम से हाथ मिलाये हुए।

सुकुमारी सनेह से सींचती है

वह प्रीतम भार उठाये हुए॥

आज अट्टालिकाओं से घिरे हुए नगरो मे हमारा जीवन भाराक्रान्त सा होता जा रहा है। प्रकृति से वंचित होने के कारण उसमें रसस्निग्धता नहीं केवल रुक्षता ही शेष रह गई है। उस ग्रामीण जीवन मे जहाँ प्रकृति हमारे साथ एक रस होकर हँसती खेलती है, एवं हमारे आँसुओं के साथ अपना पतझार मय विषाद, हमारे उल्लास के साथ अपना शस्यशोभित आह्लाद एकाकार कर देती है, वहाँ की सरल स्मृतियाँ सीधे समीर की भाँति ही हृदय को विश्राम दे जाती है। परन्तु समय के असीम छोर से जब हम पीछे की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब वह कहाँ दिखाई पड़ता है? वह तो न जाने कितने युगों के पटाक्षेपों में छिप गया है। हृदय आकुल हो उठता है, उस पुरातन युग की मधुरताओं को साकार देखने के लिये। तब सहसा हम अपनी

उस व्याकुल अवस्था में उसे रामचरित मानस, सूरसागर तथा श्रीमद्भागवत में ढूंढ़ने लगते हैं। वहाँ वह पुराने सहचर की भाँति शब्दमय होकर बोल उठता है, और उसकी वही वाणी मानवी संस्करण प्राप्त कर पुरातन ग्रंथों की भाँति जीर्ण-शीर्ण होकर हमारे ग्राम्य जीवन में आज भी साँस ले रही है। आज इस युग मे भी हम अपने उसी जीवन का एक स्पर्श चाहते हैं। अतः इस वैज्ञानिक विश्व के कृत्रिम एवं विडम्बनामय जीवन से दूर जाकर अपने उसी प्रकृत लोक के दिव्य रूप तथा प्रकृति-रस की प्राप्ति के लिये हमें प्रकृति के उसी कछार में जाना होगा जहाँ हरियाली की भाँति ही हृदय की प्रेमलता लहलहा रही है। प्रकृति का आनन्द कँटीले तारों से घिरे हुए नागरिक जीवन के उपवन में सकुचित और कृत्रिम हो जाता है। वह तो केवल प्रकृति के मुक्त वातावरण मे ही पुष्प की भाँति प्रस्फुटित एवं विकसित होता है।

प्राचीन और नवीन भारत

यह भारतवर्ष है जिसकी भूमि मे स्वर्ण और समुद्र में मोती भरे हैं। जहाँ सर्वमान्य गुणी-ज्ञानी, महात्मा, दार्शनिक-साहित्यिक कलाकार एवं वैज्ञानिकों ने जन्म लिया, जिसकी संस्कृति अन्य देशों के लिए आज तक अनुकरणीय रही। ऐसा है यह गौरवमय देश हमारा भारतवर्ष। धन्य है वह राजर्षि भगीरथ जो शिव की जटाओं से अमृतमयी गंगा को इस वसुन्धरा पर ले आए जिससे देश की गोद हरी हो गई। कहना न होगा कि स्वयं प्रकृति की हमारे देश पर कितनी बड़ी अनुकम्पा है। भारत का ललाट रजताभ हिमालय है जिसकी गगनचुम्बी चोटियाँ भारत के भाल को समस्त देशों के सन्मुख उन्नत किए हैं। वक्ष पर खेलती हुई मेखला सी नदियाँ इस भूमि का शृंगार कर रही हैं। महासागर निरन्तर चरण धोता रहता है। हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक बहने वाला मलय पवन भारतीय संस्कृति का सन्देश कितनी दूर तक पहुँचा आता है। सृष्टि के आदि युग से विश्व में कितनी संस्कृतियाँ बनीं और मिटती गईं पर भारतीय संस्कृति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे आज इतने युगों से जीवन्त बनाए हुए है। भारतीय सभ्यता के प्राचीन अवशेष हमको मोहनजोदड़ो और हरप्पा की खुदाई से प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय सभ्यता अपने पूर्व युगों में कितनी विकसित थी। प्रागैतिहासिक काल एवं उत्तर पाषाण काल से लेकर इस युग तक की कहानी इतिहास के पृष्ठों में सजीव है। प्राचीन युग में बसी हुई द्राविड़ जाति को आर्यों ने पराजित किया था। धीरे धीरे आर्यावर्त बस चला था। गृह निर्माण कला, रहन-सहन की व्यवस्था-छोटे मोटे आविष्कार आदि जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार विकसित होते जा रहे थे। दो पत्थरों की रगड़ से अग्नि बनाना

मनुष्य सीख गया था, हल से भूमि को जोत कर नाज उपजाने से वह परिचित हो चला था। उसने अपने समस्त वैमनस्यो को भुलाकर सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के लिए अनेक नैतिक आचार-विचार बनाये।

फिर वेदों और पुराणो का युग आया। तत्कालीन पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन पूर्ण सुखी था। आर्थिक और धार्मिक स्थिति भी अच्छी थी। चारों ओर परम शान्ति थी। दर्शन के क्षेत्र मे भारत निरन्तर प्रगति कर रहा था, साथ ही व्यापार और कला कौशल मे प्रशसनीय उन्नति हो रही थी। भारत की सभ्यता एव यहाँ की संस्कृति से अन्य देश भी प्रभावित हुए। यहाँ की अपार धन-राशि से आकृष्ट होकर विदेशियों ने आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिए किन्तु भारतीय सस्कृति से विदेशी आक्रमणकारी इतने प्रभावित हुये कि वे यहीं की सस्कृति में घुल मिल गए। जनसंख्या क्रमशः बढ़ती जा रही थी। अतः सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिये इतने विस्तृत जन-समुदाय को विभिन्न जातियों में विभक्त कर दिया गया। जो जिस कार्य को कुशलता से कर सकता था उसी के अनुसार जातियाँ बनीं।

पहले प्रमुख चार ही जातियाँ थी ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र। कालान्तर में उपजातियाँ बनीं। जीवन को और अधिक व्यवस्थित करने के लिए समस्त जीवन को चार आश्रमों मे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ एव सन्यास में विभाजित कर दिया गया। फलस्वरूप धार्मिक आधार लेकर भारतीय संस्कृति की नींव पड़ी। भारतीय कला-कौशल, व्यापार, भवन-निर्माण कला आदि की पर्याप्त उन्नति के अतिरिक्त दर्शन और साहित्य में भी विशेष उन्नति हुई। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता ने कितने ही विभिन्न सम्प्रदायों को पूर्ण विकास करने का अवसर दिया। यहाँ तक कि एक विदेशी भी भारतीय धर्म को पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्वक मान सकता था। भारतीय धर्म मनुष्य के वैयक्तिक विकास पर बल देता है।

भारतीय को पूर्ण विश्वास है कि अपने कर्म के अनुसार ही वह इस जीवन और मृत्यु के उपरान्त दूसरे जीवन मे फल पाएगा। विभिन्न जातियों और उप-जातियों से भरे भारतवर्ष में कभी भी अपने अधिकारों को बुलन्द करने का सघर्ष नहीं छिड़ा और न वे एक दूसरे से टकराये। इसके मूल मे पुनर्जन्म एव भाग्यवाद का यही सिद्धान्त निहित है। ईसा से पूर्व छठवीं

शताब्दी का बड़ा धार्मिक महत्व है। बुद्ध ने समाज को अनुपम शान्ति सन्देश दिया। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं ने समस्त मानव समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अशोक के शिला-लेखो, स्तूपों और लाटों से ज्ञात होता है कि उसके काल मे बौद्ध धर्म समस्त भारतवर्ष मे फैल गया था। सन् ४०० ई० में चीनी यात्री फाह्यान जब भारतवर्ष में आया तो उसने मुक्त कठ से इस देश की सस्कृति की प्रशसा की। बौद्ध धर्म धीरे-धीरे श्याम, जावा, सुमात्रा, चीन, कोरिया, मगोलिया, जापान, फारमूसा, काबुल, बल्ख, बुखारा तथा अन्य सुदूर देशों तक फैल गया। अन्य देशों मे भारत का मस्तक उन्नत था।

इतिहास साक्षी है कि यहाँ के दर्शन से प्रभावित होकर विश्वविजेता सिकन्दर अपने साथ कितने ही भारतीय दार्शनिको को सम्मान सहित अपने देश ले गया। प्रत्येक देश के इतिहास मे उत्थान पतन का युग आता है। स्थिति बदली भारत में मुगल साम्राज्य स्थापित हुआ। जन जीवन में गहन परिवर्तन आया किन्तु भारतीय सस्कृति उसी प्रकार अक्षुण्ण रही। कला-कौशल मे उन्नति होती रही। भवन-निर्माण कला विशेष रूप से विकसित हुई। ताजमहल, जुमा मस्जिद, कुतुबमीनार इत्यादि उस युग की शिल्प कला के सजीव प्रमाण हैं। समस्त भक्ति साहित्य की रचना उसी युग की देन है। आर्थिक स्थिति भी जनसाधारण की हीन नही थी। समय अपनी तीव्र गति के साथ बढता जा रहा था। और इधर इतिहास भी घटना-क्रमों को लेकर बनता जा रहा था। अग्रेजी शासन स्थापित हो चुका था। धीरे-धीरे भारत की आर्थिक अवस्था हीन होती जा रही थी। हर्ष का विषय है कि अग्रेजी शासन की जड़ें भारत की उर्वरा भूमि में पूरी तरह नहीं फैल सकीं। आज वह समय आया है कि वर्षो के सघर्ष के उपरान्त भारत फिर स्वतन्त्र हो गया है। ऐसे कठिन समय मे जब कि देश के समक्ष आर्थिक सकट था दासत्व की बेड़ियाँ टूट चुकी थी पर चारों ओर अशान्ति थी। सहस्रों वर्षों के दासत्व ने देश को अशक्त बना दिया था, एक भूडोल आया जिससे भारत की अखड भूमि का एक खड पृथक हो गया।

साम्प्रदायिक झगड़ों के फलस्वरूप अखंड भारतवर्ष, हिन्दुस्तान पाकिस्तान मे विभाजित हो गया। भारतीय सत्ता की यह गहरी क्षति भारत के गौरवमय

इतिहास में एक तमोमय पृष्ठ के रूप मे है। हमारे नेता हमको निरन्तर शान्ति का अमर सन्देश देते रहे हैं। बापू के प्रयासों एवं उपदेशों ने सोई हुई जनता को जगाया। अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र को बौद्ध धर्म का शान्ति सन्देश देने के लिए अन्य देशों मे भेजा था। वही शान्ति सन्देश आज हमारे देश के दूत अन्य देशों में लेकर गये हैं।

स्वतन्त्र भारत की पञ्च-वर्षीय योजनाएँ, भारत के औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विकास को समुन्नत करने में सचेष्ट हैं। भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये कृषि और उद्योग की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। नवीन कृषि-योजनाएँ भारत के कृषि-उद्योग में वृद्धि ला रही हैं। व्यापार तथा औद्योगिक धन्धों को भारत सरकार प्रोत्साहन दे रही है। कितनी ही उद्योगशालाएँ खुल रही हैं।

शिक्षा प्रसार के लिये रेडियो से भी सहायता ली जा रही है। कितने ही गाँवों मे स्कूल खोले गये हैं। मजदूरों के लिये रात्रि पाठशालाएँ बनी हैं।

वैज्ञानिक प्रयोगों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। नवीन वैज्ञानिक प्रयोग अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ट्रैक्टरों से जुताई प्रचलित हो गई है। आज का नवीन भारत समस्त देशों के साथ अपने कदम तेजी से बढ़ा रहा है। यद्यपि भारत अपने साथ कितनी ही सामाजिक संस्कृतियों की छाप को समेटे है फिर भी उसकी संस्कृति शाश्वत है। समय आने पर धीरे धीरे विदेशी सभ्यता की ऊपरी छाप भी धुँधली पड़ती जायगी। एक समय होगा जब कि हम सच्चे रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

भारत अन्य देशों से अपने सम्पर्क बढ़ा रहा है। कितने ही शान्ति मिशन एवं सांस्कृतिक-मंडल विदेशों से नित्यप्रति आ जा रहे हैं।

भारत की वर्तमान प्रगति को देखकर यह निश्चय है कि शीघ्र ही नवीन भारत वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में समुन्नत होकर संसार के सर्वमान्य देशों मे उच्च आसन ग्रहण करेगा।

विज्ञान : अभिशाप या वरदान

माइकल फैराडे से एक बार किसी ने पूछा कि तुम्हारी बनाई विद्युत से क्या लाभ है ? उनसे तुरन्त प्रश्नात्मक उत्तर दिया "एक नवजात शिशु से क्या लाभ है ?"

ठीक ऐसे ही, आज के प्रगतिशील युग मे विज्ञान का सही मूल्यांकन भी सम्भव नहीं है। सृष्टि के आरम्भ के इतिहास के पन्ने यदि उलट कर देखे जाएँ तो भी हमें विज्ञान की एक झलक दीख पड़ती है। वैसे तो उस समय का मानव असभ्य था और विज्ञान का सही प्रयोग भी न कर सकता था, किन्तु फिर भी उसके रहने मे, खाने पीने मे और जीवन के प्रत्येक कर्म में एक व्यवस्था थी। इसी व्यवस्था को हम असख्य प्रयोगों में से एक मानते हैं। यदि देखा जाय तो विज्ञान का उचित प्रयोग उसी समय माना जाता है जब कि उसमें व्यवस्था आ जाती है। उदाहरणार्थ विज्ञान ने मनुष्य को एक चाकू दिया जिसका वह अपने दैनिक जीवन में सदुपयोग कर सके परन्तु यदि कोई उससे किसी की हत्या कर देता है तो वह दोष किसका है ? इसका निर्णय तो सहज बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है।

विश्व सस्कृति के उत्कर्ष के प्रत्येक चरण में विज्ञान का अपना महत्व रहा है। कहना अनुचित न होगा कि विज्ञान हर युग मे मानव के लिये अभिशाप भी रहा है और वरदान भी। यह धारणा आज तक अक्षरशः सत्य है। विज्ञान का मानव के लिये अभिशाप अथवा वरदान होना तो मानव द्वारा उसके उपयोग अथवा दुरुपयोग पर निर्भर है। आदि पुरुषों ने अपने जीवन-यापन के हेतु आखेट करने एवं सुरक्षा के लिए ऐसे अस्त्र बनाये थे जिनका उदाहरण अद्वितीय है। कहना अप्रासगिक न होगा कि अग्नि का आविष्कार

भी आदि पुरुषों ने ही किया था। इसी प्रकार सृष्टि में परिवर्तन आते गए। सभ्यता एक चरण से दूसरे चरण में पदार्पण करती गई, आवश्यकताएँ बढ़ती गईं और साथ ही साथ नये आविष्कार भी होते गये। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। देखते देखते आज का युग आ पहुँचा। क्या आज का मानव इतना सभ्य और सुशिक्षित है कि वह निर्णय कर सके कि विज्ञान इसके लिए अभिशाप है या वरदान। परन्तु यह निर्णय न तो आज का मानव ही कर सकता है और न आने वाली इसकी असंख्य पीढ़ियाँ ही। केवल विचार-विनिमय की दृष्टि से पिछले कुछ वर्षों मे हुये वैज्ञानिक परिवर्तनों पर एक दृष्टि डालने पर क्या निर्णय किया जा सकता है?

स्थूल रूप में हमारे कृषि-प्रधान देश में कृषि-प्रणाली में ही अनेकों परिवर्तन हो गए। हमारे हल तथा बैलो की जोड़ी का स्थान आज के ट्रैक्टर ने ले लिया है। कृषि मे जो पुरानी खाद इत्यादि प्रयोग में आती थी उसके स्थान पर अब उपयोगी खादो का प्रयोग होने लगा है। निश्चय ही हमारे देखते-देखते जो सुधार हुए हैं उनसे हमारे देश की उपज मे आशातीत लाभ हुआ है। इसके पश्चात् स्वास्थ्य सुधार की ओर भी हमारी दृष्टि जाती है। स्पष्ट है कि आधुनिक औषधियों और चिकित्सा प्रणालियों में होने वाले परिवर्तनो से हमें कितना लाभ पहुँचा है। शल्य-चिकित्सा मे भी नित्यप्रति नए सुधार होते जाते हैं। पिछले वर्षों के आँकड़े देखने से पता चलता है कि अब मनुष्य को नाना प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त रह कर जीना नहीं पड़ता और देश की स्वास्थ्य-स्थिति भी दृढ़ होती जा रही है। इनके अतिरिक्त हम लोग अपने यातायात एवं मनोरंजन सम्बन्धी परिवर्तनो के प्रति भी उदासीन नही हैं। देश-देशान्तर की दूरी पर भी विज्ञान ने विजय पा ली है।

परिहास-स्वरूप फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि वरुण तथा कुवेर जैसे देवताओं पर भी आज के मानव ने विजय पा ली है। पौराणिक कथाओं के विमान एव जलयानों को हम आज भी वायुयान एवं जलयानों के रूप में सजीव पाते हैं। सम्भव है द्वापर तथा त्रेता युग मे विज्ञान पर्याप्त उन्नत अवस्था मे रहा हो और आज उसी का एक सुधरा हुआ रूप हम वर्तमान भारत में देख रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि बिना आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारो के

अपनाए हुए, वर्तमान जीवन अधूरा सा प्रतीत होता है। विज्ञान का समावेश तो हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक अंग मे प्रवेश कर चुका है। हमारे दैनिक कार्य तथा मनोरंजन की सामग्री आदि सभी वैज्ञानिक आविष्कारो से प्रभावित है। सच पूछिये तो हम विज्ञान के ऋणी हैं। क्योकि अब हम अपने समय का सदुपयोग कर सकते हैं। उसका उचित मूल्याकन कर सकते हैं। बेतार का तार, टेलीफोन, टेलीग्राफ, रेडियो, वायुयान, ट्रेन इसी प्रकार के आविष्कारों ने हमारी समस्याओं को कुछ ऐसा सुलझा दिया है कि जीवन बड़ा ही सुगम और सहज हो गया है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि हमारा पुराना जीवन दुरूह एव अशान्तिमय था, समय के अनुसार वही जीवन सुखमय लगता था परन्तु अब पुरानी परिपाटी का नए युग मे प्रयोग सम्भव नहीं। समय के साथ सभ्यता बदलती है और सभ्यता के साथ मनुष्य के जीवन में परिवर्तन आ जाता है। यह प्रकृति का नियम है। अब हम विज्ञान को अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक युग में प्रविष्ट देखते हैं। और इससे हमको एक अनुपम सुख का अनुभव होता है तो बरबस ही हमारे मुंह से निकल आता है कि विज्ञान एक वरदान है। परन्तु विज्ञान का एक दूसरा रूप भी है। वायुयान जो हमारे यातायात के एक सफल साधन थे जब व्योम मे मंडरा कर बम वर्षा करते हैं और मानवता का विध्वंस करने में उद्यत् हो जाते हैं तब हमारे मुंह से विज्ञान के लिए अभिशाप ही निकलता है।

हमारी सुरक्षा के हेतु बनी तोपें तथा अन्य अस्त्र जब अपना विकराल मुँह फाड़ कर मानवता के संहार के लिए उद्यत हो जाती हैं और वैज्ञानिक अपने ध्वंसात्मक आविष्कारों मे सलग्न हो जाता है तब निश्चय ही विज्ञान समस्त मानवता पर अभिशाप बनकर छा जाता है। यह स्पष्ट है कि जब विज्ञान के प्रयोग मानव हित में होते हैं तो विज्ञान वरदान होता है और जब उसके विपरीत होते तो विज्ञान अभिशाप बन जाता है किन्तु दोष विज्ञान का न होकर उन मानवों का है जो इसका दुरुपयोग करते हैं। आजकल भी संसार के समुन्नत राष्ट्र विश्व-शान्ति की घोषणा करते हैं परन्तु अपनी गोद में विज्ञान के उन आविष्कारों को प्रोत्साहित करते हैं जो मानव सहार मे सहायक होते हैं। यह तो बुद्धिमान राष्ट्रों का कर्त्तव्य है कि विज्ञान की अणुशक्ति का सदुपयोग करें। अणुशक्ति कृषि-प्रणाली मे विशेष रूप से सहायक हो सकती है। कितने ही

देशों में इस अणुशक्ति का इस रूप में प्रयोग भी किया जा रहा है। यदि इसी प्रकार इसका प्रयोग होता रहा तो निश्चय ही वर्तमान विश्व का जो रूप बनेगा वह इस धरती पर ही स्वर्ग उतार लायेगा। परन्तु विश्व विध्वंसात्मक योजनाओं में रत अन्य राष्ट्र उसका दुरुपयोग भी कर सकते हैं। जिसके फलस्वरूप समस्त मानवता का भूमण्डल से लोप हो सकता है। दिन प्रति दिन मशीन युग उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। अब तो ऐसी कुछ मशीनों का भी आविष्कार होगा जो स्वयं अन्य मशीनों से कार्य करायेंगी। शेष रह जाता है तो केवल मनुष्य का मस्तिष्क जिसके प्रतिरूप कोई मशीन नहीं बन सकती। यही एक वस्तु है जो मनुष्य के लिये दैवी देन है। जिसे विज्ञान भी नहीं छीन सकता। आज का युग यन्त्र युग है। बड़ी-बड़ी मशीनों ने कितने थोड़े समय मे ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है जिसके समक्ष कभी-कभी मानव अपने आप को छोटा समझने लगता है—पर सम्भवतः मानव की यह भूलमात्र ही है। विज्ञान का दुरुपयोग ही अभिशाप है, सदुपयोग ही वरदान है। अन्त में निष्कर्ष स्वरूप दिनकर जी की भावात्मक शब्दावली में हम इस प्रकार कह सकते हैं :—

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
नही यह विज्ञान कटु, आग्नेय।
श्रेय उसका, प्राण मे बहती प्रणय की वायु,
मानवो के हेतु अर्पित मानवो की आयु।
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत,
श्रेय वह विज्ञान का वरदान।

——

विश्वविद्यालय के प्रथम अनुभव

(श्री दामोदर एम० ए०)

अक्टूबर महीने के बीच की सुबह है। समय पाँच के ऊपर होगा और साढ़े पाँच के नीचे। कुछ ऐसी है यह सुबह कि स्वेटर पहनने का मन हो भी और न भी हो। पहनिये तो मन हो कि उतार दे और उतार दीजिये तो मन हो कि पहिन ले। लोग कह रहे हैं कि गुलाबी जाड़ा पड़ रहा है। आज सुबह एक हलकी सी हवा आई है कमरे में और सारे कमरे का शरीर कॉप गया। लगता है जैसे यह हवा किसी बहुत बड़े गुलाब के बाग को छूकर आई हो या जैसे किसी बहुत बड़े झील को छूकर आई हो जिसकी लहरों पर अनगिनती गुलाब की पङ्खड़ियाँ तैर रही हों। कमरे में दो लोग और बैठे हैं, बीसवी सदी के प्रतीक, चलते-फिरते मुर्दे हैं ये लोग! सूरत मे तो आदमी नजर आ रहे हैं मगर जिनके दिल की जगह पेट्रोल की टङ्की है। जिसमे पेट्रोल डालिये तो उनकी मोटर चले और पेट्रोल खत्म हो जाये तो गाड़ी वहीं टे बोल जाये—अजीब हैं ये लोग! तरस आती है मुझे तो! बी० ए० मे पढ़ने आये हैं और जिन्दगी को समझते हैं बरसाती नाला। जिसमे कूड़ा करकट के लिये भी स्थान है और जिसमें बच्चे अपनी कागजी नाव भी तैरा सकते हैं।

जाने भी दीजिये! बात बढ़ाने से क्या फायदा, क्षमा कीजियेगा बहक जरा जल्दी जाता हूँ। हाँ मैं आप से यह कह रहा था कि विश्वविद्यालय में आकर मुझे कैसा लगता है, क्या अनुभव करता हूँ। आपका अनुभव तो मैं बतला नही सकता, अपना ही अनुभव बतलाऊगा और ईमानदारी से। आपको बात कही बुरी भी लगेगी और कहीं अच्छी भी।

मुझे लगता है, विश्वविद्यालय एक ऐसा कारखाना है जिसमें रंग-रंग के अजीबो-गरीब बछड़े भरती किये जाते हैं, विश्वविद्यालय जिन्हें ठोंक-पीटकर आदमी का शरीर देता है और दिल की जगह एक ऐसी मशीन बिठाल देता है जो बछड़े को आदमी की तरह पढ़ना, बोलना, चलना, फिरना सिखलाती है अवश्य, मगर फिर उसके अन्दर मशीन ही मशीन रह जाती है। धमनियों का रक्त एसिड बन जाता है, आत्मा की जगह आप गुब्बारा पायेंगे, दिमाग की जगह डालडा का खाली टिन, और विचारों की जगह इतना गहरा धुवाँ पायेंगे कि आपका दम घुटने लगेगा। फिर इस मशीन को विश्वविद्यालय वापस भी नहीं ले सकता अपनी डिग्रियाँ वापस देगा ही कौन? और यह वापस लौटा भी दे तो बछड़ा बोलेगा कैसे, आदमी की तरह चलेगा कैसे, आदमी कहलायेगा कैसे? फल यह होता है कि बछड़ा दिल लेकर आता है, मशीन लेकर जाता है और न असली बछड़ा ही रह जाता है और न पूरा आदमी ही!

बडा नाम सुन रक्खा था इस विश्वविद्यालय का! है भी यह ऐसा। सोचा था, वहाँ चलकर कुछ सीखूंगा, आगे बढ़ूगा, देखूँगा, समझूँगा, आदमी बनूँगा। मगर सच पूछिये तो यहाँ आकर मेरे अन्दर का आदमी भी मर गया है। यदि जानता कि आदमी बनने के लालच मे मेरा अपना आदमी भी जाता रहेगा तो मैं यहाँ कदापि नहीं आता। किताबें तो वहाँ भी पढ़ सकता था जहाँ मै पहले था। यहाँ आकर कुछ जिन्दगी पढ़ना चाहता था, क्योंकि सुन रखा था कि यहाँ जिन्दगी है जिन्दगी! अगर जिन्दगी पढ़नी हो तो प्रयाग जाओ। जरूर यहाँ जिन्दगी है, इतनी अधिक जिन्दगी है कि बाजारों में बेची जाती है, सस्ती से सस्ती खरीदिये, पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो पढ़ी जा सके।

शिक्षक जरूर यहाँ अच्छे हैं, बहुत ही अच्छे हैं, और बहुत अच्छा पढ़ाते भी हैं। कम से कम मैं तो बहुत ही सन्तुष्ट हूँ। एक साथ इतने अच्छे शिक्षक शायद कहीं मिलें. मगर, क्षमा कीजियेगा, विद्यार्थी को वे अपना

बेटा मानकर नहीं पढ़ाते, अपने को अफसर मानकर पढ़ाते हैं। वे पढ़ के पढ़ाते हैं, सोच के नहीं पढ़ाते। विद्वान् बन के पढ़ाते हैं, इन्सान बन के नहीं। इस तरह वे विद्यार्थी को विद्वान बना पाते हैं, विचारवान् नहीं बना पाते। फिर भी मेरा अपने हर शिक्षक के प्रति बहुत आदर है और उनके कदमों को नजर मे भरकर आगे बढ़ने की शक्ति रखता हूँ। कुछ शिक्षक, जिनकी रचनाओं के कारण मै उन्हें काफी पहले से जानता हूँ, उनको तो मेरा बहुत बहुत आदर!

आपने मेरा अनुभव पूछा है इसलिये अपना ही अनुभव बतला रहा हूँ। शिक्षकों और विद्यार्थियो की गिनती गिनाना मै नहीं चाहता, वह तो रजिस्टरों मे भी मिल सकती है। न तो यही कहकर आपका समय नष्ट करूँगा कि कहाँ से आया, कैसे आया, कैसे एडमीशन मिला, क्या-क्या कठिनाइयाँ हुईं, आदि! मैं तो सिर्फ यही बतलाना चाहता हूँ कि मैंने यहाँ आकर क्या अनुभव किया?

आधा घन्टा और बीत चुका। धूप आँखे खोल रही है, आधी खोल भी चुकी है। छः का घन्टा अभी-अभी बोला है। मेरे सामने से जरा हटकर वह सिनेट हाल है! वहीं का घन्टा बोला है। हर पन्द्रह मिनट पर बोलता है। लोग इसे क्लाक टावर कहते हैं। मै भी कह लेता हूँ क्लाक-टावर! जिसमें सबको सुख उसमें मुझे भी! जैसी सबकी मर्जी, वैसी मेरी भी! कहते हैं, हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी घड़ियों मे यह एक है। होगी! मुझे इसकी क्या चिन्ता? जब यह घन्टा बोलता है तो अजीब लगता है। बोलता है तो अचानक सोचता हूँ—(जैसे किसी ने आकर नीद से जगा दिया हो) अरे! पन्द्रह मिनट बीत गया! पन्द्रह मिनट और बीत गया! पन्द्रह मिनट और बीत गया! पन्द्रह मिनट फिर बीता! पन्द्रह मिनट बाद पन्द्रह मिनट फिर बीत जायेगा। कितनी तेजी से मैं बूढ़ा होता जा रहा हूँ। हर पन्द्रह मिनट पर पन्द्रह मिनट बूढ़ा हो जाता हूँ। अजीब-सा अनुभव होता है जब इस घड़ी के तले से गुजरता हूँ। सिर ऊपर उठाकर इसे देखता हूं तो लगता है जैसे मेरा उठा हुआ सिर उठा ही रहेगा, कभी झुकेगा नहीं, कभी नहीं झुकेगा! लगता है अपना सिर उठाकर भी इसके सामने मैं कितना छोटा हूँ, इन्सान

कितना छोटा है, कितना छोटा है वह उसके सामने जिसे वह पत्थर का कहता है, लोहे का कहता है, मशीन का कहता है, जड़ कहता है। ऊपर निगाह जा रही है मेरी। कल्पना करता हूँ यह घड़ी एक बाला है, जिसका बालम दूर, बहुत दूर, बहुत बहुत दूर चला गया है। यह किसी बहुत ऊँचे बरगद पर चढ़ गई है, ऐसा बरगद जिसके साये में कभी किसी बुद्ध ने दिव्य दृष्टि पाई हो, वह हर क्षण देख रही है कि मेरा बालम लौट तो नहीं रहा! लौट तो नहीं रहा है! इस बाला के दो हाथ हैं, एक छोटा, एक बड़ा। दोनों हाथ हिलाती है, एक जरा तेज और एक धीरे-धीरे, और अपने बालम को बुलाती है। निराशा के हर पन्द्रह मिनट पर कराहती है, हर घन्टे पर बिसूरती है और हर बारह घंटे पर इतने जोर से चीख उठती है कि सारा नगर जाग उठता है, जैसे आसमान की मौत हो गई हो। जाने दीजिये, दम घुटा जा रहा है सोचकर! कैसे बर्दाश्त करती होगी इतना दर्द!

शायद आप न जानते हों। मैं सिर्फ दूर से आया हूँ, पर लगता है जैसे बहुत दूर से आया हूँ, बहुत बहुत दूर से आया हूँ। इतनी दूर से जितनी दूर की कल्पना नहीं की जा सकती। सोचता हूँ, कैसे आ गया इतनी दूर से आश्चर्य होता है। भला इन्सान कैसे आ सकता है इतनी दूर। और जब लौटने की बात सोचता हूँ तो सर चकरा जाता है। बहुत दूर है भाई बहुत दूर। मै वहाँ आ गया हूँ जहाँ से लौटा नहीं जाता। लौटने की बात सोचता हूँ तो सर चकरा थाता है। लौटा भी नहीं जायेगा। सारे संगी-साथी वहीं हैं सबके सब वहीं मरे पड़े हैं। मरें और मरे सौ बार मरें जी जीकर मरे। सब ने मिलकर मुझे विश्वविद्यालय में नहीं ऐसे जंगल मे भेज दिया है जहाँ तरह तरह के जानवर हैं। मैं ही एक इन्सान यहाँ आया था मगर यहाँ आकर ऐसा मर गया हूँ, ऐसा मर गया हूँ कि उठना भी नहीं चाहता। पर यहाँ के जानवर हैं बड़े सीधे बड़े ही आदमी हैं बेचारे मुझे सताते नहीं और तरस भी तो नहीं खाते ओह! कितना भयानक जगल है यह विश्वविद्यालय मगर कितना अच्छा है बहुत प्यारा लगता है यह सब सोचकर मेरी उमर लेकर जियें यहाँ के लोग न मुझे प्यार करते हैं न सताते हैं।

बात बहुत बढ़ गई। मैंने अपना ही अनुभव तो बतलाया है। बुरा तो

नहीं लगा, आपको अभी बतलाना तो बहुत कुछ चाहता हूँ। मगर थक बहुत गया हूँ। हाँ इतना तो जरूर कहूँगा कि यहाँ आकर बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है, बड़ा मँहगा पड़ रहा है मेरा भविष्य ! मैं अपने वर्तमान में ही रहना चाहता था, अच्छा रहा हो या बुरा ! नहीं रहने दिया लोगों ने। न सही ! मेरा वर्तमान बिगाड़ कर अपना भविष्य बनाना चाहते थे सब। अगर मैं जानता कि इस विश्वविद्यालय मे आकर मेरे जीवन का रस कड़ुवा पड जायेगा, तो यहाँ कभी न आता। पर आप चिन्तित न हों मेरे पास कुछ आँसू के टुकड़े हैं, जिनके बल पर मैं आसमान खरीदने की शक्ति रखता हूँ। आँसू के इन टुकड़ों पर युनिवर्सिटी की सौ डिग्रियाँ निछावर हैं ! आँसू के इन टुकड़ों से मेरा अनुभव धुँधला पड़ सकता है, मगर मेरे विश्वास का फूल इसमें भीग कर निखर जाता है !

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारतीय सस्कृति की विशेपताओ पर विचार करने के पूव सस्कृति शब्द की व्याख्या कर देना आवश्यक है। 'सस्कृति' शब्द इतना व्यापक रहा है कि विभिन्न लोगो ने इसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की, फिर भी इसे दुर्ज्ञेय बताया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही सस्कृति हैं। कुछ इसे अंग्रजी के 'कल्चर' से सबद्ध बताते हैं, जिसका अर्थ आक्सफोर्ड के अग्रेजी भाषा-कोष के अनुसार है 'मनस रुचि और आचार का संशोधन', (२) सभ्यता का बौद्धिक अंग, (३) विश्व मे जो कुछ श्रेष्ठ बात और कथित हो चुका है उससे परिचय। 'ब्राडले' के अनुसार इसका अर्थ है, मनस प्रवृत्तियों आचारों आदि का कर्षण तथा विकास एवं शिक्षा-दीक्षा द्वारा सुधार या सस्कार। मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार 'कल्चर' के मूल में चार बातें हैं—

(१) अन्तःकरण की मानवता जो पशुता से भिन्न है।

(२) सतत विकासशीलता।

(३) अखिल मानव समाज की सामूहिक उत्क्राति जिसमें व्यक्ति की उपेक्षा भी हो सकती है।

(४) मानव की समग्र शक्तियो का विस्तार न कि धर्म सरीखी किसी एकाध शक्ति का ही।

किन्तु संस्कृति शब्द इतना व्यापक और आध्यात्मिक है कि उसकी तुलना हम 'कल्चर' से नही कर सकते। कल्चर में सभ्यता तथा संस्कृति दोनों घुल-मिल गए हैं। पाश्चात्य भौतिकवादी देशों मे वे एक हैं, जब कि अपने यहाँ उन्हे दो विभिन्न तत्व माना गया है। सभ्यता मनुष्य की बाह्य-प्रवृत्ति मूलक प्रेरणाओं से विकसित हुई है। उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो से जिस तत्व का निर्माण होता है उसे सस्कृति कहेंगे। वे सब संस्कार जिससे वह अपने

सामूहिक या सामाजिक आदर्शों का निर्माण करता है, इसी संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। यदि सभ्यता समाज का वाह्यावरण है तो संस्कृति आत्मा। यही कारण है कि किसी देश की सभ्यता मे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु संस्कृति ज्यों की त्यों रहती है—सतत् गतिमय होकर भी चिरस्थायिनी।

भारतीय संस्कृति की तुलना हम उस चिर प्रवहमान, पावनी गंगा से कर सकते हैं, जिसमे न जाने कितने नालो का पानी मिलता रहता है, फिर भी वह ज्यों की त्यो पवित्र रहती है। उसका पानी रुक जाने पर भी सडता नही, कीटाणु-नाशक गुणों से युक्त रहता है। गंगा का पानी कहीं से भी ले लीजिये—गंगा का पानी रहेगा। भारतीय संस्कृति ने भी इसी प्रकार न मालूम कितने विदेशी स्रोतों को उदारता से आत्मसात् कर लिया, गतिरोध की अवस्था में भी वह नष्ट नही हुई, साथ ही आप कहीं से भी देखे वह पुकार कर कहेगी'मै भारतीय संस्कृति हूँ' 'मै भारत के ऋषियो के देश की संस्कृति हूँ।' एक प्रकार से भारतीय संस्कृति की यही सबसे बडी विशेषता है।

अन्य विशेषताओं के रूप मे हम निम्न बातो का उल्लेख कर सकते हैं :—

यह सनातन, सतत् प्रवाही, सात्विकता संयुक्त, हृदय और मस्तिष्क की ही नहीं, श्रेय और प्रेय के रूप मे समस्त जीवन मे समन्वय की भावना लेकर चलने वाली है। यह सभ्यता की भाँति क्षण-क्षण पर बदलने वाली न होकर चिरस्थायिनी है। यह मानव जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति की पोषक है। श्रेय पर विशेष बल देते हुए भी प्रेय की इसने कभी उपेक्षा नहीं की। मोक्ष के साथ धर्म, अर्थ, एवं काम का भी महत्व रहा है। जीवन में सन्तुलन रखना इसकी सबसे बड़ी विशेषता रही है। विभिन्न आश्रमो द्वारा व्यवस्थित जीवन की कल्पना, जन्म से लेकर मरण तक के सोलह संस्कारों द्वारा व्यक्ति एवं समाज का चिरशोधन यह सब कुछ अन्यत्र अप्राप्य है।

त्याग, तप, सत्यान्वेषण, तथा साधना पर विशेष बल अपनी संस्कृति की, अपने देश की आत्मा की विशिष्टता है। सदाचार, यम, नियम आदि पर इसने अत्यधिक बल दिया है। ईशावास्य उपनिषद् तो यत्किंचित् जीविका पर ही संतोष का आदेश देता है: "ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्या जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अतिथि सेवा के साथ साथ त्याग हमारे जीवन का आदर्श रहा है। हम प्राण-हरण की चेष्टा करने वाले शत्रु को भी क्षमा कर देते हैं, क्योंकि सहन-शीलता की शिक्षा हमने क्षमारूपी सर्वसहा पृथ्वी से ली है। अहिंसा हमारे जीवन का मूल मंत्र बन गयी है। काकबलि द्वारा हम प्राणीमात्र का ही नहीं साधारण से साधारण कुरूप काकों का भी पेट भरते हैं।

उदारता तो अपनी संस्कृति की आधार भूमि है। धर्म के सम्बन्ध में ही देखिए कितने उदार नियम हैं, तभी तो विदेशियों ने भी इसे अपनाया :—

"धृतिः क्षमा दमो अस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

इससे उदार संसार में और कौन धर्म होगा ? कौन सद्विचार युक्त पुरुष इनका पालन करना नहीं चाहेगा ? यही नहीं 'साधुओं के आचार तथा जिस कर्म से आत्मतुष्टि हो उसे भी धर्म की सज्ञा दी गई', "आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेवच।" (मनुस्मृति २-६)। भले बुरे कर्म की कसौटी मन से अच्छी और कहाँ हो सकती है ? यही नहीं आचार को सर्व प्रमुख स्थान दिया गया। आचारहीन ब्राह्मण को विद्वान होते हुए भी हेय तथा त्याज्य माना गया है। उन्हें 'मणिनालकृत' सर्प की भाँति दूर से ही प्रणाम कर लेना चाहिये। आचारयुक्त मानव जीवन ही जिसे मानवता का रूप दे सकते हैं, अपनी संस्कृति में प्रधान है। रावण विद्वान, शूरवीर होते हुए भी राक्षस तथा घृणा का पात्र बन ही गया, क्योंकि उसने मानवता को तिलाजलि दे दी थी।

अपनी संस्कृति जीवन्त एवं बुद्धिपरक रही है, रूढ़ि की लकीरों पर चलने वाली नहीं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इस सम्बन्ध मे है : सबके कल्याण की भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में हम विश्व भर को अपने विराट् परिवार सदृश देखते हैं। हमारा क्षेत्र सकुचित नहीं। हम विश्व भर को आर्य बनाकर मनुष्य मात्र की सर्वांगीण उन्नति चाहते हैं। हम सभी को सुखी, नीरोग, सद्विचारों से युक्त देखने की इच्छा रखते हैं। हमारा प्राचीन आदर्श यही रहा है :—

"सर्वे भवन्तु सुखिनि सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

———

भारत की सांस्कृतिक चेतना

भारत एक विशाल देश है। कवीन्द्र ने इसे 'महामानव समुद्र' की सज्ञा दी है। नाना जातियों, विभिन्न मतावलाम्बियों, भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों, तथा भौगोलिक अनैक्य से युक्त होते हुये भी इस देश मे एक ऐसी एकता है, इस प्रकार की सांस्कृतिक एकसूत्रता है, जो अन्यत्र अप्राप्य है। उत्तर के उच्च हिम-प्रदेश, दक्षिण के जलते पठार, चेरापूँजी की वर्षा और राजस्थान का मरुस्थल, जलवायु की यह विभिन्नता ही नहीं भिन्न-भिन्न प्रदेशों के खान-पान आचार-व्यवहार सब जैसे विपरीत से लगते हैं। किन्तु इस विभिन्नता मे भी एक ऐसी एकता है—एक ऐसा सामजस्य है, जिससे देश के व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन सलग्न है। धार्मिक दृष्टि से ही देखे। शकराचार्य दक्षिण मे उत्पन्न हुये, किन्तु मठ उन्होंने भारत के चारो कोनों मे स्थापित किये। देश भर मे शक्ति-पीठों की कल्पना, विभिन्न धामो की यात्रा द्वारा देश का पर्यटन, आसेतु हिमाचल समस्त भूमि में अपनत्व की भावना, सभी तो एक ही लक्ष्य की ओर इगित करती है। हिन्दू-मात्र स्नान करते समय भारत की समस्त नदियो का स्मरण कर लेता है, चाहे उत्तर की गंगा हो या दक्षिण की कावेरी, उसके लिये सब पवित्र हैं। राम का नाम किस हिन्दू के हृदय में भक्ति या श्रद्धा का संचार नही कर देता? इस प्रकार हमारी धार्मिकता मे भी सास्कृतिक एकता के स्रोत छिपे हैं।

सभ्यता एक बाह्य आवरण है तो संस्कृति आत्मा। यही कारण है कि विदेशियों के आक्रमण से यद्यपि हमारी सभ्यता कुछ परिवर्तित सी होती रही, आदान-प्रदान चलता रहा, पर सस्कृति गंगा सी न जाने कितने वेगों को आत्मसात् करके भी ज्यों की त्यों प्रवहमान रही। इसका सर्व-प्रथम कारण है संतुलित जीवन की भावना। अपने यहाँ प्रेय अर्थात् सासारिक उन्नति एवं

श्रेय जिसे आत्मिक उन्नति का रूप दिया जाता है, की समानता पर बल दिया गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उसी के विकसित रूप हैं। आश्रमों के विभाजन एव वर्ण विभाग मे भी व्यक्ति एवं समाज के अनुशासन की भावना है। प्रथम आश्रम मे जीवन की दृढ़ भूमिका निमित कर द्वितीय आश्रम मे अर्थ धर्म, तथा काम का अर्जन करते हुए धीरे धीरे श्रेय की ओर बढ़ने का निर्देश है। इसकी व्यवस्था बड़े सुन्दर शब्दो मे रघुवंश के निम्न श्लोक में की गयी है :

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

इस प्रकार जीवन कितना नियमित हो जाता है।

भारतीय संस्कृति सदैव प्रगति की ओर उन्मुख रही—प्रतिक्षण जाग्रत, सतत चेतन। जब वैदिक काल में कर्मकाड की प्रधानता हुई, उपनिषदो के ब्रह्मवाद एवं आगे चलकर बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्धों मे भी भ्रष्टाचार फैलने पर शंकराचार्य ने उन्हें उखाड़ फेका। शक, हूण आदि नाना प्रकार की जातिया आईं और शैव-वैष्णव आदि रूपो मे यहाँ की सास्कृतिक धारा को जीवन देती गईं। वैष्णव धर्म का प्राबल्य यहाँ तक बढ़ा कि विदेशियो ने भी गरुड़ स्तम्भो का निर्माण कराया। भारतीयता का प्रसार न केवल भारत आने वाले विदेशियो मे हुआ, वरच यहाँ के साहसी पंडितो, नाविकों तथा व्यापारियों द्वारा दूर-दूर के देशों मे होता गया। अशोक ने न केवल पण्डितों को उत्साहित किया वरंच अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा सयुक्त के मिशन को लंका भेजा। कितने पण्डित चीन आदि देशो मे गये। कम्बोडिया के मन्दिर, जावा के प्रस्तर चित्र, रामायण तथा महाभारत आदि के अभिनय, विभिन्न देशों मे प्राप्त गणेश तथा बुद्ध की मूर्तियाँ इस सास्कृतिक एकता की घोषणा कर रही हैं। स्वस्तिक का प्रचार तो न मालूम कहाँ कहाँ हुआ ?

शैवों एव वैष्णवों के द्वन्द्व-काल में तुलसी का उदय हुआ। इस्लामी राज्य से उद्भूत सास्कृतिक विशृंखलता के समय गुरु रामदास का जन्म हुआ, धर्म एव राजनीति को एक सूत्र में गूँथ कर उन्होंने शिवाजी को संस्कृति के रक्षक के रूप मे उपस्थित किया। इसी प्रकार जातिगत भेद-भाव, मिथ्या

आडंबर तथा सवर्ण एवं हरिजन आदि के सास्कृतिक गतिरोध मे कबीर से लेकर मराठी सन्तो की परम्परा इस जागरूक भूखण्ड से उठ पड़ती है। गाँधी जी के समय में "सर्वधर्मसमन्वय", 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की वह मूल भावना जाग उठती है जो आदिम समाजवाद का बीज है।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनं ॥

इस देश की सास्कृतिक चेतना मानवता के मन्दिर के अखंड दीप सी प्रज्वलित रही। जब जब भी ज्योति मंद पड़ी, एक नयी ज्वाला उठकर उसे जगाती रही। कितने तूफान आए और चले गए, किन्तु वह ज्योति अब भी जल रही है, विश्व को शाति एव सद्भाव का सन्देश देती हुई। भारत की यह सतत् गतिमान गङ्गा बहती रही है, और बहती रहेगी ज्यो की त्यों भरी-पूरी, सतत् गतिमय, सतत पावन।

मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन

हिन्दू धर्म चिरकाल से गीतशील एवं चेतन रहा है। समय-समय पर कितने विदेशी आये और इसने सब को आत्मसात् कर लिया। केवल मुसलमान ही ऐसे थे, जिनके आने पर न केवल राजनीतिक वरञ्च धार्मिक संघर्ष भी उठ खड़ा हुआ। इसका मूल कारण यह कि पूर्व के आक्रमणकारियों को धर्म-प्रचार की भावना न थी। वे यहाँ राज्य करने आये, एवं यहाँ की संस्कृति से प्रभावित होकर यहीं के हो गए। किन्तु इस्लाम धर्म तो राज्य-स्थापन के साथ-साथ मिशन की भावना भी लेकर आया था, यही कारण है कि मुसलमानों के हिन्दू-धर्म मे हस्तक्षेप करने, मन्दिर गिराने, तथा धर्म-परिवर्तन आदि कार्यों से कितनी ही विचारधाराओं को आन्दोलन का रूप प्राप्त हो गया। इन आदोलनों में कुछ उग्र थे, कुछ शान्त प्रकृति के; कुछ समन्वयवादी थे, तथा कुछ मर्यादा-प्रिय। इससे पूर्व नाना प्रकार की सिद्धियाँ दिखलाने वाले कापालिकों, सिद्धो आदि से जनता बुरी तरह प्रभावित थी। मुसलमानों के आने पर कुछ फकीर भी आगे आये। उन्होंने भी चमत्कार दिखाकर जनता को उसी प्रकार प्रभावित करना प्रारम्भ किया।

ऐसी ही विषम परिस्थिति में समाज में जागरण की लहर आयी। तथा कितने ही आन्दोलन उठ खड़े हुए। इन आन्दोलनों के मूल मे कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की विचारधाराएँ थीं। सभी आन्दोलन यत्किंचित् तीनों से ही प्रभावित थे। इन आन्दोलन को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) निर्गुण भक्तिधारा।

(२) सगुण भक्तिधारा।

निर्गुण भक्ति के प्रचारकों में कबीर का नाम प्रमुख है! 'एकेश्वरवाद'

'ब्रह्मवाद', मुसलमानों के पैगम्बरी खुदावाद, नाथपंथियों के योग तथा हृदय की रागात्मिका वृत्ति के सहयोग से, अटपटी बानी में जिस 'सहज समाधि' एवं समन्वयवाद का कबीर ने उपदेश किया, वह अद्भुत था। हिन्दुओ एव मुसलमानो के व्यर्थ के धार्मिक तथा सामाजिक वाह्याचारों का उन्होंने दृढ़ता से विरोध किया। व्यर्थ की हिसा, आडम्बरपूर्ण बहुदेवोपासना, पूजा-पोथी, नमाज, कुर्बानी, व्रत-रोजा, तथा कुछ सामाजिक दुराचारों तथा 'वेश्या के पायन तर सोने' और 'खाला केरी बेटी ब्याहने' के भी वे पूर्ण विरोधी थे। 'इगला', 'पिगला', सुषुम्ना 'सहस्रदल कमल', 'कुडलिनी' आदि के साथ साथ स्त्री पुरुष के सयोग वियोग का आधार लेकर आत्मा तथा परमात्मा के मिलन की चर्चा इस निर्गुण सप्रदाय में की गई। आगे चलकर कबीर के नाम का पन्थ चल निकला, और कबीर पन्थी को ईश्वर के समान मान कर उनकी समाधि आदि की पूजा करने लगे।

ज्ञानश्रायी कबीर आदि के अतिरिक्त सूफियों की प्रेमाश्रयी धारा का भी इस निर्गुण भक्ति में सहयोग है। कबीर आदि की भाँति ये आत्मा को ब्रह्म रूपी पुरुष की दुलहिन न मान कर, आत्मा को आशिक तथा ब्रह्म को माशूक के रूप मे कल्पित कर, विरह मिलन की व्यंजना के साथ काव्य रचना करते थे। इन सूफियों मे जायसी अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका 'पद्मावत' हिन्दी-साहित्य की एक अपूर्व रचना है। आत्मा और ब्रह्म के मिलन को वे उसी प्रकार महान् एवं अवश्यभावी मानते हैं, जैसे, 'चाँद और सुरुज का मिलना', या उषा तथा अनिरुद्ध का संयोग :—

> चाँद सुरुज सौं होइ बियाहू।
> वारि बिधसब बेधब राहू॥
> जस ऊषा कहँ अनिरुध मिला।
> मेटि न जाइ लिखा पुरबिला॥

किन्तु इनका प्रभाव जनता पर नहीं के बराबर ही रहा।

सगुण भक्ति धारा के अन्तर्गत भी दो धाराएँ हैं—

(१) राम भक्ति धारा।
(२) कृष्ण भक्ति धारा।

सर्वप्रथम हम राम भक्ति धारा को लेते हैं। सगुण भक्ति आन्दोलन के इस रूप का बीज यद्यपि बहुत पहले ही प्रस्फुटित हो चुका था, किन्तु बल उसको इस संघर्षमय युग से ही मिला। रामानुजाचार्य, रामानन्द आदि से होते हुये यह तुलसी के द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। इसमें यद्यपि ज्ञान का खण्डन तो नहीं हुआ, पर जन-साधारण के लिए अधिक सरल समझ कर सगुण रूपात्मक भक्ति का समर्थन किया गया। तुलसी ने इसमें मर्यादावाद के संयोग से हिन्दू मात्र के सम्मुख 'रामायण' का आदर्श उपस्थित किया।

कृष्ण भक्ति-आन्दोलन के उन्नायकों एवं प्रचारको मे जयदेव, विद्यापति, स्वामी वल्लभाचार्य, सूरदास, नन्ददास, तथा वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बद्ध अष्ट छाप के अन्य कवि प्रमुख हैं। इसमें कृष्ण की सगुणोपासना का गेय पदों में प्रचार हुआ। अष्ट-छाप के सभी कवियों ने पद रचना की, किन्तु सूरदास सर्वाधिक प्रसिद्ध हुये।

इसके अतिरिक्त तामिल प्रात के आड़वार भक्त, वैष्णवो का सहजिया संप्रदाय, नानक पन्थ बगाल के बाउल आदि सभी ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस आन्दोलन में योग दिया। किन्तु प्रसिद्धि की दृष्टि से पूर्वकथित धारायें ही प्रमुख रहीं, एवं मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन मे उनका ही सहयोग अधिक प्रबल तथा महत्वपूर्ण है।

भारतीय समाज की प्रमुख समस्याएँ

भारतीय जीवन व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देता आया है। वह व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि की उन्नति पर बल देता है। समष्टि की उन्नति होने पर उसके साथ ही अंगीभूत व्यक्ति की उन्नति स्वाभाविक ही है। जन जीवन से तो समाज का निर्माण ही हुआ है, धर्मप्राण भारत में यह धर्म से ही कम सम्बद्ध नहीं रहा। अतः इसकी समस्याओं पर विचार करते समय हमें जन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के साथ धर्म से सलग्न समस्याओं पर भी दृष्टिपात करना पड़ेगा।

समाज को व्यवस्थित रखने तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए वर्णाश्रम-धर्म की योजना हुई। समय समय पर अवसर के उपयुक्त नियम भी बनते गए। इन नियमों से बँध कर चलते हुये भी समाज की प्रगति कभी रुकी नही। जहाँ रूढ़िवादिता आई, जो नियम समय के बाहर हुआ, अथवा जिस स्थान पर भी अतिरेक हुआ, समाज म वहीं गत्यावरोध उपस्थित हुआ। प्राचीनता एवं पौराणिकता के प्रति कभी भी हमारे मन मे मिथ्याग्रह की भावना नही रही। कवि कुल गुरु कालिदास ने भी उच्च स्वर मे घोषणा की हैं, 'पुराण-मित्येव न साधु सर्वं" (पुरानी हैं इस कारण सभी वस्तुये भली नही होती)। पहले शूद्रो के धोखे से भी वेद सुन लेने पर उनके कानो मे पिघलाया सीसा डाल दिया जाता था। किन्तु आज वे स्वेच्छा से वेद पाठ कर सकते हैं।

नियम तो किसी विशिष्ट अवसर के अनुकूल ही बनते हैं। इस्लामी शासन मे जब शासक मीना बाजार लगाने तथा स्त्रियां के सतीत्व नष्ट करने की ओर प्रवृत्त हुए तो लोगों ने उनकी रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। उनके सौन्दर्य को कुदृष्टि से बचाने के लिये पर्दा-प्रथा की उत्पत्ति हुई। बाल-विवाह का भी इसी समय प्रचलन हुआ। इससे कन्या की रक्षा मे दो कुलों की

सम्मिलित शक्ति की प्रतिष्ठा होती थी। अपनी रक्षा के लिये कछुये की भाँति चारो ओर से सिकुड़ कर समाज अपने नियम के प्रति कठोर होता गया। पहले समाज में अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, संकर जातियाँ, विधवा-विवाह सभी को स्थान था। शकुन्तला ऐसी नारियाँ यौवन की क्षणिक भूल पर ठुकराई नहीं जाती थी। किन्तु अब समाज की रक्षा के नाम पर शूद्रों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। मुसलमानो से स्पर्श की गई नारियाँ भी त्यागी जाने लगी, एवं उन्हें चिता पर बलात् जलाया जाने लगा। शिक्षा का क्षेत्र भी संकुचित हुआ। 'पतिरेको गुरुस्त्रीणा' कहकर बाहर की शिक्षा से उन्हें वञ्चित किया गया। इस प्रकार अनेक समस्याओं का जन्म हुआ।

सर्वप्रथम शिक्षा को ही ले। शिक्षा आज के भारतीय समाज की प्रमुख समस्या है। यद्यपि नित्यप्रति ही कालेज, स्कूल आदि खुलते जा रहे हैं। सरकार एवं सामाजिक संस्थाओं का भी शिक्षा-दान मे पूर्ण सहयोग है। बालकों की शिक्षा अनिवार्य करने तथा प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रबन्ध करने पर भी अभी इस दिशा मे काफी कार्य शेष है। विशेषतः हमारे गाँव तो इस दृष्टि से पर्याप्त पीछे हैं। स्त्री-शिक्षा की ओर भी हम अभी समुचित ध्यान नहीं दे पा रहे हैं। जिस देश मे स्त्रियाँ वैदिक सूत्रों की रचना करने वाली, तथा शास्त्रार्थ विजयिनी हो गई हैं, वहाँ आज भी शिक्षा क्या देश की हलचल से भी अपरिचित स्त्रियाँ वर्तमान हैं।

शिक्षा के अतिरिक्त जाति-बन्धन, तथा उपजातियों की भरमार एवं उनकी रूढ़िवादिता भी एक विचारणीय विषय है। 'नौ कनौजिया तेरह चूल्हे' प्रसिद्ध ही है। गाँधी जी, स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय आदि व्यक्तियों तथा कांग्रेस, आर्य समाज, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, ब्रह्म समाज आदि के कार्य इस दिशा में प्रशंसनीय हैं। अब छुआछूत का इतना बोलबाला नही। शूद्र मन्दिरो मे भी प्रवेश पाने लगे हैं। अन्तर्जातीय तथा अन्तर्प्रांतीय विवाह भी चल पड़े हैं, पर धीरे-धीरे समाज का कोढ़ दहेज अब भी कितनी ललनाओं को मौत के मुख मे झोंक रहा है। कितनी अविवाहिता रह जाती हैं, तथा कितनो को योग्य वर नहीं मिलता। मिला भी तो घर की सारी सम्पत्ति निकल जाती है।

इसके अतिरिक्त अंधविश्वास से भी भारतीय समाज कुछ कम पीड़ित नहीं। न केवल भूत-प्रेत की सत्ता, वरंच शक्ति की प्रतीक नारी को नर के पाँवों की धूल समझना भी एक अंधविश्वास ही है। जिस भारत का मूल मन्त्र 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' था, वहाँ नारी का अनादर सबसे बड़ी समस्या है। आज के बुद्धिवादी युग मे जब कि घिसी पिटी रूढ़ियों को कोई स्थान नही, हमे चाहिये कि उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में सर्वाङ्गीण उन्नति करने एवं समाज को आगे बढ़ने का अवसर दें।

समाज की समस्या प्रत्येक व्यक्ति की समस्या है। उसकी आर्थिक, समाजिक, बौद्धिक, धार्मिक अथवा आत्मिक उन्नति ही समाज की प्रमुख समस्या है। जब तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज के विकास में, उसकी बुराइयों को दूर करने में पूर्ण सहयोग नही देता, उसकी बुराइयाँ एवं समस्याये बनी ही रहेंगी। आज के युग की माग है कि हृदय के साथ बुद्धि का समन्वय हो। रूढ़िवादिता के विनाश के साथ समाज का आमूल परिवर्तन, प्रत्येक व्यक्ति की सर्वप्रकारेण उन्नति ही इस बौद्धिक एव जन-स्वातन्त्र्य युग में अपेक्षित है।

हिन्दू समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था

भारतीय संस्कृति आदि काल से ही जीवन में संतुलन की पक्षपातिनी रही है। श्रेय और प्रेय दोनों पक्षों पर समान बल देने वाली भारतीयता में यह सतुलन न केवल वैयक्तिक जीवन में है, वरंच सामाजिक व्यवस्था मे भी है। इसी लक्ष्य को लेकर वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्था हुई। समाज के चार विभाग बने, जो अपना अपना कार्य सँभालते हुए भी भिन्न न थे। उनमें भी एकता थी। एक दूसरे के प्रति अनादर या घृणा का लेश न था। इस व्यवस्था की, इस सामाजिक ऐक्य की कल्पना विराट पुरुष से की गइ। बुद्धिजीवी ब्राह्मण इस समाज का मस्तक था, शक्तिशाली क्षत्रिय भुजा, पोषक वैश्य जंघाओं के रूप में समाज का पोषण भार सँभालता था एवं पाद रूप में सबका आधार था वह शूद्र जो सारे समाज की नींव था।

यह व्यवस्था जन्म के अनुसार न होकर कर्मानुसार थी। जिसकी जिस काम मे अभिरुचि होती, वह उनमें संलग्न हो जाता। समाज में कितने ऐसे अवसर आये जब कि विश्वामित्र ऐसे क्षत्रिय राजाओ ने भी ब्राह्मणत्व ग्रहण कर लिया तथा परशुराम जैसे तपस्वियो ने धनुष उठाकर क्षत्रियो का भी मान मर्दन किया, यह न केवल वर्णाश्रम धर्म की स्वतन्त्रता की ओर सकेत है, वरंच समाज की आवश्यकतानुसार भी व्यक्ति म परिवर्तन की ओर इंगित करता है। इनमे आपस में विवाह भी होते थे। विवाह अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही प्रकार के प्रचलित थे। विवाह की अष्ट विधियाँ प्रचलित थीं, यद्यपि उनमे राक्षसादि को निकृष्ट समझा जाता था। क्षत्रिय ययाति ने ब्राह्मणी देवयानी का वरण किया, साथ ही क्षत्रिया होते हुये भी दासी का कार्य करने वाली और इस प्रकार शूद्रा शर्मिष्ठा से भी गांधर्व-विवाह कर लिया था। आगे चल कर जब ऊँच नीच की भावना फैलने लगी, अपने से नीची श्रेणी में अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय से, क्षत्रिय वैश्य से किये गये विवाह ही अच्छे माने गये।

समाज का कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा था। उसका मस्तिष्क ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन करता था, क्षत्रिय प्रति क्षण जागरूक था, शासन

एवं रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित था, वैश्य कृषि, व्यापार गोपालन तथा महाजनी कर राष्ट्र या समाज को आर्थिक दृष्टि से पुष्ट करते थे। तथा शूद्र सबसे पवित्र कर्म-सेवा के कार्य मे सलग्न था। फिर भी ये सब एक दूसरे से सयुक्त थे। राजकार्य मे ब्राह्मण मन्त्री होते थे, तो वैश्य कोषाध्यक्ष। क्षत्रिय सेनापति या राजा होता था। शूद्र इन सबकी सहायता करता था। आवश्यकता पड़ने पर एक ने दूसरे का भी कार्य सँभाला है। विपत्ति के अवसर पर सभी अस्त्र सँभाल कर देश की रक्षा मे सलग्न होते थे। जनक ऐसे राजा तो राज्य करते हुये भी ब्रह्मज्ञान की चर्चा करते हैं। जड भरत क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण से निर्विकार हैं। गाड़ी वाले शूद्र रैवतक के पास ज्ञान चर्चा करने के लिए कौन नही जाता ?

धीरे धीरे इस व्यवस्था मे विकार उत्पन्न होने लगा। सब एक दूसरे से घृणा करने लगा। अधिकार की भावना के साथ अह भाव प्रबल हो उठा। क्षत्रिय और ब्राह्मणों मे इसी अधिकार की भावना मे पड़ कर सवर्ष उठा। नहुष ने ऊँचे उठकर ब्राह्मणों को लात मारी, परशुराम ने क्षत्रियों को विनष्ट कर दिया। इस सारे सघर्ष में सबसे अधिक पिसने वाला बेचारा शूद्र। उसकी धीरे-धीरे इतनी बुरी दशा हुई कि धोखे से भी बेद सुन लेने पर कानों मे पिघला सीसा डालने का विधान हुआ। अपराध करने पर दण्ड भी उसे अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक मिलता। दक्षिण में ब्राह्मणों ने उसे ऐसा दबाया कि बेचारे को सड़कों पर चलते समय ढोल पीटते चलना पड़ता।

किन्तु इस व्यवस्था के विरुद्ध भी क्रातियाँ होती रहीं। सत कबीर, ज्ञानेश्वर, रामानन्द आदि महात्माओं ने समय समय पर समाज को दुरावस्था के प्रति सचेत किया। गुरु नानक ने सिख सप्रदाय में सर्ववर्णों की एकता का उदाहरण समुपस्थित किया। आगे चलकर गाँधी जी ने भी इस दिशा मे अद्‌भुत क्राति की। इसके अतिरिक्त कॉग्रेस आर्य समाज, 'ब्राह्म-समाज', 'राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ' आदि के कार्य भी इस दिशा मे प्रशसनीय हैं। जातियों-उपजातियों तथा उनके भी असख्य भेदों के रहते हुए भी समाज धीरे धीरे जाग रहा है ? भेद भावकी भावना को मिटाता है। अब तो अतर्जातीय ही नही, अतर्प्रान्तीय विवाह भी होने लगे हैं। आज पुनः समाज के प्रत्येक प्राणी को सुखी रखने का आदर्श जाग उठा है।

एवरेस्ट विजय

अन्त में मानव ने विश्व के उन्नत भाल पर स्वर्ण तिलक लगा ही तो दिया। मानव की प्रकृति पर एक और विजय हुई—विश्व इतिहास मे एक और स्वर्ण पृष्ठ जुड़ गया। जून १९५३ को एवरेस्ट विजय हुई। जिस समय ब्रिटिश सम्राज्ञी महारानी एलिजाबैथ द्वितीय का राज्याभिषेक हो रहा था लगभग उसी समय दो मानव ससार के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर भारत-के ललाट हिमालय पर तिलक लगा रहे थे।

हमारी एवरेस्ट विजय की कहानी गत शताब्दी के अन्तिम युग से प्रारम्भ होती है। परन्तु इससे कहीं पूर्व हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य ने मानव का हृदय मोह लिया था, उसके हृदय मे एक प्रबल उत्कण्ठा थी कि इस प्राकृतिक सौन्दर्य का रसास्वादन करे। और ऐसा हो भी क्यों न ?—जब महाकवि कालिदास ने इसी आधार पर महाकाव्यों की रचना तक कर डाली।

भारत के महान्, गणमान्य ऋषि-मुनियों ने अपनी तपोभूमि के हेतु हिमालय को ही चुना, जो परम्पराओं से विश्व को शांति का सदेश देता चला आ रहा है। विदेशों से भी अनेकों पुरुष योग साधन के हेतु यहाँ पधारे। एवं शातिप्रद सदेश हमारे देश के मुनियों और ज्ञानियों ने समय समय पर दिये हैं, जो अब भी हिमालय की शीतल कन्दराओं में गूँजते हैं।

उस हिमालय का महत्व और भी बढ़ जाता है जब ज्ञात होता है कि इसके शीतल समीर के स्पर्श मे व्याधिविनाशक तत्व हैं, इसकी रज में अमूल्य धन है, इसकी भूमि पर उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वनस्पति औषधि है।

यों सहज ही में देखने से पर्वतारोहण कला में कोई सार नहीं दीख पड़ता, अधिकाश जन समुदाय कह उठेगा कि यह तो केवल एक वर्ग विशेष का मनो-

रंजन मात्र है पर्वत शिखरों पर चढ़ना और फिर उतर आना भी भला कोई कला है। व्यर्थ ही हिम खण्डों और शैल खण्डों पर घूमने मे भला क्या आनन्द है। पर तनिक कोई प्रकृति प्रेमी जनों के हृदय से पूछ कर देखे—जिनका ऊपर उठा हुआ प्रत्येक पग उनमे नवस्फूर्ति, नवोल्लास भर देता है। प्रत्येक स्वास में प्रकृति-सौन्दर्य के गीत फूटे पड़ते हैं—और ऐसे ही जब उनके चरण किसी अजेय हिम चोटी पर पड़ते ह तब उनके उल्लास का वारापार नहीं रहता।

अब तनिक कल्पना करके देखिए कि जब मानव के चरण उस हिमाच्छादित हिम खण्ड पर पड़े होंगे जहाँ केवल देवताओं का ही वास रहा है तो उसकी क्या मनोदशा हुई होगी? हिमालय की वेणी गूँथता हुआ मानव अपने को सबसे श्रेष्ठ समझता होगा तो इसमें संशय ही क्या है।

इससे भी बहुत पूर्व कई राष्ट्रों ने हिमालय की इस गगनचुम्बी चोटी तक पहुँचने की चेष्टा की परन्तु प्रकृति की इस चुनौती का सामना करने में वे असमर्थ ही रहे।

आज लगभग एक शताब्दी से कुछ अधिक काल हुआ जब हिमालय की इस चोटी की ऊँचाई का सही अनुमान लग सका था। सन् १८५२ मे वैज्ञानिक साधनों द्वारा इसकी ऊँचाई नापी जा सकी थी और इसे विश्व का सर्वोच्च पर्वत शिखर माना गया था।

इससे पूर्व होने वाले प्रयास कई कारणों से विफल रहे। नैपाल तथा तिब्बत के राजनीतिक प्रतिबन्धों के कारण किसी भी पर्वतारोही दल को इन प्रदेशों से होकर जाने की अनुमति ही न मिलती थी, एव कुछ भारतीय कट्टर मान्यताएँ जो हिम देवता के सम्बन्ध में थीं, इस कार्य में बाधक थी।

सन् १६२० मे सर चार्ल्स वेल ने जो दलाई लामा के मित्र थे, इस प्रकार के एक पर्वतारोही दल के लिये हिमालय पर जाने की अनुमति ले ली। और दूसरे ही वर्ष १६२१ म लेफ्टीनेन्ट कर्नल हार्वर्डबरी के नेतृत्व में एक दल इस ओर चल पड़ा। इस दल का मुख्य उद्देश्य वनस्पति शास्त्र, जीवशास्त्र एवं भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी वैज्ञानिक खोज करना था।

इस दल ने बड़ी चतुराई से, लगभग १३०० वर्ग मील हिमालय की,

अनजान भूमि का मानचित्र तैयार किया। जिससे इसके पश्चात् आने वाले अन्य पर्वतारोही दलों को बड़ी सहायता मिली। इन्होंने 'नॉर्थ काल' नामक एक स्थान का पता चलाया जहाँ से एवरेस्ट की ओर जाने वाले सभी दल अपनी यात्रा प्रारम्भ करते थे।

सन् १६२२ में सी० जी० ब्रूस के नेतृत्व में एक दूसरा पर्वतारोही दल आया जिसने एवरेस्ट के मार्ग में लगभग पाँच डेरे डाले और २७,००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचने में समर्थ हुआ। वास्तव में यह एक बड़ा ही साहसी कार्य था। ओषजन गैस की कमी के कारण तथा इस कला मे अल्पज्ञान होने के कारण यह प्रयास दुखान्त सिद्ध हुआ। इनका पहला डेरा १८,००० फीट की ऊँचाई पर था और पाँचवाँ २४,५०० फीट की ऊँचाई पर। २७,००० फीट की ऊँचाई पर इन्हे एक बर्फीले तूफान का सामना करना पड़ा। जिसके कारण कई शेरपा कुलियों की मृत्यु हो गई।

१६२४ में साहसी ब्रूस ने फिर एक बार तीसरा प्रयास किया। इस बार इस दल ने २७,००० फीट की ऊँचाई पर अपना छठा डेरा डाला। यह साहसी दल २८,००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचने मे समर्थ हो गया था परन्तु दुर्भाग्य वश संसार के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचने मे अन्तिम १,००० फीट की यात्रा में इस दल को अपने दो साहसी युवकों मैलोरी तथा इरविन के प्राणों से हाथ धोना पड़ा। यह नवयुवक अपने इस महान् लक्ष्य की ओर एक बार कूच कर पुनः वापस नहीं आए। परन्तु २८,१०० फीट की ऊँचाई तक पहुँच कर यह आशा दिला गये कि २६,००० फीट तक पहुँचना कठिन नहीं है।

इसके बाद लगभग दस वर्ष तक कोई भी पर्वतारोही दल एवरेस्ट तक पहुँचने के लिए नही आया। एवरेस्ट अब तक अपना मस्तक उठाये अजेय खडा रहा था। फिर सन् १६३३ मे एच० रटलेज के नेतृत्व मे एक और दल ने इस महान् कार्य को सम्पन्न करने का बीड़ा उठाया। इसके साथ संसार के प्रख्यात साहसी पर्वतारोही इरिक शिपटन भी थे। इस दल ने अपना छठा डेरा २७,४०० फीट की ऊँचाई पर डाला। यहाँ से इन्होंने एवरेस्ट तक पहुँचने के लिए दो विभिन्न दिशाओं से प्रयास किए। परन्तु यह केवल

२८,१०० फीट की ऊँचाई तक ही पहुँच सके जिस ऊँचाई तक पिछला दल पहुँच चुका था। अपनी इस यात्रा में इन्हे अपने पिछले दल के किसी पर्वतारोही की बर्फ काटने वाली कुदाल भी प्राप्त हुई।

अब पर्वतारोहण कला में अनेकों सुधार हो चुके थे। ज्यों-ज्यों विज्ञान के चरण बढ़ते गए पर्वतारोहियों को प्रोत्साहन मिलता गया। अपने पहले आने वाले दलों से इन्हें अनुभव प्राप्त होता गया और सन् १९३४ से १९३६ तक एवरेस्ट तक पहुँचने के लिये लगभग चार प्रयास हुये। स्पष्ट है कि वे सभी विफल रहे। इन्हीं प्रयासों में किसी दल को मोरिस विलसन नामक एक पर्वतारोही का मृत शरीर बर्फ से ढका हुआ प्राप्त हुआ। इस साहसी युवक ने १९३३ मे अकेले ही एवरेस्ट तक पहुँचने का संकल्प किया था। इनकी जेब से प्राप्त हुई एक डायरी के पन्नों से इनके इस सकल्प का पता चला। इनकी धारणा थी कि यदि वे अकेले ही एवरेस्ट विजय में सफल हो जायँगे तो इन्हे व्यक्तिगत रूप से विश्व का सम्मान प्राप्त होगा और वे सदा के लिये विश्वशान्ति स्थापित करने मे सहायक हो सकेंगे। धन्य है इनका साहसी प्रयास और धन्य है इनका महान् सकल्प।

प्रगति के इस युग मे अब मानव अधिक काल तक न रुक सका। वर्षों के इस अनुभव और वीरता की वेदी पर शहीद हुई वीरात्माओं की सद्-भावनाओं से प्रेरणा लेकर पर्वतारोहियों का एक और दल इस महान् कार्य की पूर्ति के लिये प्रस्तुत हुआ। पिछले दलो के विफल होने के कई कारण थे। भारी सामान, पर्वतारोहियों तथा कुलियों की अधिक सख्या। २७,००० फीट से ऊपर पाये जाने वाले वायुमडल तथा अन्य बातो के विषय में अज्ञानता। इन सभी बातो को दृष्टि मे रख कर तथा वैज्ञानिक साधनों मे सुसज्जित होकर सर जॉन हन्ट के नेतृत्व में एक और पर्वतारोही दल भारत आया।

भारत आकर इस दल ने अपने साथ अनेक अनुभवी शेरपाओं की सहायता भी ली। भारत का परम वीर शेरपा तेनसिंह नोर्के भी इस दल के साथ था। इन्हें अन्य कई दलों के साथ एवरेस्ट यात्रा मे जाने का अनुभव प्राप्त था।

दैवी अनुकम्पा से शुभ मुहूर्त में चले इस दल को प्रत्येक चरण पर सफ-

लता प्राप्त होती गई। २८,००० फीट पर अपना डेरा डालने के पश्चात् इनकी वास्तविक यात्रा प्रारम्भ हुई। अपने अन्तिम डेरे पर सर जॉन हन्ट जो इस दल के नेता थे यकायक अस्वस्थ हो गए और ऊपर न जा सके।

इस दल के दो परम साहसी नवयुवक एक भारतीय शेरपा तेनसिंह और दूसरे ब्रिटिश एडमंड हिलैरी अपने मार्ग पर अग्रसर हुये। मानव के इस पराक्रम के सन्मुख अन्त में दैव ने अपना मस्तक झुका दिया और दूसरे क्षण संसार की सर्वोच्च हिमाच्छादित चोटी पर खड़े दो मानव तेनसिंह और हिलैरी नीचे समस्त विश्व को देख रहे थे।

वर्षों की साधना आज सफल हो गई थी, एवरेस्ट पर फहरा रही थी भारत और ब्रिटेन की विजय पताका। सूर्य, चन्द्रमा और तारा मंडल को अर्घ्य चढ़ा कर विजय उल्लास से भरे यह मानव फिर उतर आये, धरती पर अपनी अमर कहानी अपने ही मुँह से सुनाने के लिए।

वायु पर विजय

सभ्यता के आरम्भ काल से ही योरप की, विशेषतः इङ्गलैण्ड की जलयानी शक्ति प्रबल रही है। और संभवतः ईसी शक्ति के भरोसे ईङ्गलैण्ड के निवासियो ने दुनिया के प्रायः आधे भाग को अपना बाजार बना रखा था। यहाँ तक कहा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य पर कभी सूर्यास्त नहीं होता। किन्तु विज्ञान ने संसार को अब बहुत बदल दिया। अब समुद्र पर विजय पाने से अधिक आवश्यक वायु पर विजय पाना माना जाता है। रूस और अमेरिका संभवतः अपनी वायु शक्ति के कारण ही आज संसार के अन्य देशों पर छाये हुये हैं। आधुनिक ससार मे आकाश पर्यटन की शक्ति के बिना न तो शान्तिकाल में शान्ति सम्भव है और न तो युद्ध काल में युद्ध।

मनुष्य की वायु पर विजय की एक लम्बी कहानी है। आकाश मे उड़ानें भरने के प्रयत्न मे मनुष्यता कई बार जमीन पर औंधे मुँह गिर चुकी है। बहुत हार कर, थक कर, ठोकर खा कर भी हमने साहस नहीं खोया, फलतः आज हममे आकाश में उड़कर सितारों का रहस्य जान लेने की शक्ति सञ्चित है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में जब मानवी वायुयान ने प्रथम बार आकाश की ओर सर उठाया तो संभवतः नक्षत्रमंडल काप उठा होगा। ईतिहास के आरम्भ से ही यह प्रयत्न जारी था। भारत की कथाये पुष्पक विमानों की कहानियों से भरी पड़ी हैं। क्या आश्चर्य कि राम के समय मे आधुनिक व युयान का कोई दूसरा संस्करण न रहा हो।

वायु मे उड़ान का वैज्ञानिक आधार बहुत साधारण है। जिस तरह से एक तैराक अपने हाथों से अपने सामने के जल प्रवाह को अगल बगल हटा कर

आगे बढ़ जाता है उसी प्रकार एक वायुयान अपने डैनों से सामने से आते हुये वायु प्रवाह को काट कर आगे बढ़ जाता है। इसी लिए वायु के डैनों को तेज चलाया जाता है। ये डैने जितने मजबूत और तेज रहेंगे वायु का प्रवाह उतनी जल्दी कई दिशाओं में विभक्त हो जायेगा और वायुयान की गति भी उतनी ही तेज हो जायगी।

एक बहुत बड़े उड़ाकू ओटो लिलियेन्थल का कहना है कि उड़ने वाली एक मशीन की कल्पना करना कुछ भी नहीं है, उड़ने वाली एक मशीन को बनाना बहुत कुछ है और ऐसी मशीन पर सचमुच ही उड़ना सब कुछ है। आरम्भ में यह सोचा जाता था कि धुएँ का गुण ऊपर उठना है, पर बाद मे पता लगा कि धुएं का गुण नहीं वरन् गर्म वायु का गुण ऊपर उठना है। जब गर्म वायु का रहस्य ज्ञात हुआ तब सर्वप्रथम रेशम का एक बहुत बड़ा थैला हवा मे उड़ाया गया जो आकाश में ७० फीट ऊँचा गया। दूसरी बार यह थैला जब उड़ाया गया तो यह ६००० फीट की ऊँचाई तक गया, फिर वह रस्से के सहारे जमीन पर खींच लिया गया। सन् १७८२ ई० में पेरिस के बादशाह लूइस ने राइट बन्धुओं को पेरिस के कोर्ट के सामने अपने विमान चालन का प्रदर्शन करने को बुलाया। राइट बन्धुओं ने जो कई वर्षों से विमान चलाने और बनाने की क्रिया मे व्यस्त थे, यह अवसर हाथ से जाने नहीं दिया। अब प्रश्न यह उठा कि इस प्रथम विमान में कौन उड़ाया जाये। राजा लुई ने मौत की सजा भुगतने वाले एक अपराधी को इस विमान में उड़ने की आज्ञा दी। यहाँ पर ध्यान रखना होगा कि उस समय के विमान केवल बेलून की सीमा तक ही आगे बढ पाये थे। अतः वास्तव में वे विमान नहीं प्रत्युत बेलून थे।

असली विमान तो तब बनाया गया जब उन्नीसवीं सदी के अन्त मे तीन अंग्रेज इंजीनियरों ने लोहे का सहारा लिया। इन अंग्रेजों के नाम 'केले', 'हैन्सन' तथा 'स्ट्रिंगफेलो' थे। इसी काल में जर्मनी मे ओटो लिलियेन्थल नामक वैज्ञानिक भी इसी कार्य में प्रयत्नशील था। यह वैज्ञानिक बीस वर्षों तक आसमान में पक्षियों की चाले देखता रहा और भिन्न-भिन्न देशों के भिन्न-भिन्न पक्षियों के डैनों के चित्र खींचता रहा। अन्ततः उसने अपने इस व्यक्तिगत अन्वेषण के आधार पर एक विमान बनाया। उसने यह सिद्ध किया कि जिस

प्रकार समुद्र मे भॅवर, बड़ी-बड़ी तरंगें, जलावर्त तथा भीतरी और ऊपरी भिन्न दिशाओं की ओर गतिमान धारायें होती है उसी प्रकार हवा मे भी होती हैं। अतः जिस प्रकार समुद्र अथवा पानी में पतवार चला कर खेने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार हवा में भी पतवार चला कर खेने की आवश्यकता है। यह वैज्ञानिक सन् १८६८ मे मार डाला गया।

आधुनिक समय मे जो वायुयान हम देखते हैं उसने अपनी पहली उड़ान १६०५ मे 'राइट बन्धु' के संचालन मे भरी थी। १६०५ से १६०८ तक कोई भी वायुयान २५ से ५० मील तक से अधिक नहीं उड़ पाता था। १६०६ में 'ब्लेरियट' नामक उड़ाकू ने 'इङ्गलिश चैनल' पार किया। १० वर्ष पश्चात् 'अल्काक' और ब्राउन नामक व्यक्तियो ने अटलांटिक महासागर पार किया। तब से आज तक वायुयान की गति बढ़ती रही। आधुनिक काल के विमान तो एक घन्टे के अन्दर ४०० से ५०० मील तक उड़ सकते हैं। किन्तु यह सब होते हुये भी आधुनिक विमान में कुछ कमियाँ रह गई हैं। यह अब भी आँधी और तूफान तथा भयानक वर्षा जैसी शक्तियो पर विजय नहीं प्राप्त कर पाया है। किन्तु विश्व के वैज्ञानिको के लगन और परिश्रम को देखते हुए आशा की जाती है कि भविष्य में वायु और आकाश के अगम्य क्षेत्रों में भी मनुष्य अपने लिए मार्ग प्रशस्त कर लेगा।

एटम तथा हाईड्रोजन बम और उनका प्रभाव

आज से दस वर्ष पूर्व जब अमेरिका ने जापान को चेतावनी दी कि अगर वह आत्म-समर्पण नहीं करता तो जापान के सारे औद्योगिक नगर एक गुप्त यन्त्र द्वारा उड़ा दिये जायेंगे। तब सारा संसार हक्का-बक्का रह गया। यह १९४५ का काल था और अणुशक्ति की महानता वैज्ञानिकों से छिपी नहीं थी किन्तु विश्व की साधारण जनता की कल्पना में भी यह बात नहीं आई थी कि अमेरिका की यह चेतावनी और चुनौती सचमुच ही कार्य रूप में परिणित कर दी जायगी। किन्तु जब फलते-फूलते नागासाकी और हिरोशिमा पर अणु-शक्ति ने अपना ताण्डव प्रदर्शित कर ही दिया तो सारा विश्व आँधी में एक पत्ते की तरह कांप उठा। अणु-शक्ति के विस्फोट के आधे घंटे के अन्तर्गत से प्रायः अस्सी सहस्र लोग राख हो गए और हिरोशिमा जैसे बड़े नगर के एक ईंट का पता न चला। विज्ञान का शंकर रूप इस सीमा तक संहार करेगा इसे विज्ञान के जनक और अणुशक्ति के अन्वेषक भी नहीं जान पाये थे।

जब हिटलर ने १९४१ में घोषणा की थी कि उसके पास एक ऐसा अस्त्र है जो कुछ ही क्षणों मे विश्व का मानचित्र ही बदल सकता है तो लोगों ने इसे हिटलर की एक थोथी धमकी समझा था। लेकिन हिटलर के इस घोषणा के एक वर्ष बाद ही लोगों ने, विशेषतः इंगलैन्ड के निवासियों ने देखा कि उनके सर पर बिना किसी चालक के वायुयान मंडरा रहे हैं और न केवल मंडरा रहे हैं बल्कि भयानक विस्फोटकों की वर्षा भी कर रहे हैं। लोगों ने समझा कि यही हिटलर का 'गुप्त यन्त्र' है जिसकी उसने घोषणा की थी। किन्तु हिटलर का संकेत तो एटम-बम की ओर था जिसका अन्वेषण

और निर्माण-कार्य उस काल में बड़ी तीव्रता से जर्मन के वैज्ञानिक कर रहे थे। किन्तु जर्मनी की गृह नीति मे कुछ विभेद पैदा हो गये और वहाँ के कुछ वैज्ञानिक अणु-शक्ति के निर्माण का भेद लेकर चुपचाप अमेरिका चले गये और वहाँ की सरकार की सहायता से कार्य आरम्भ कर दिया। एक बहुत बड़ी अन्वेषण शाला खोली गई और अमेरिका के सारे वैज्ञानिक इस विनाश के निर्माण मे सलग्न हो गये।

अन्ततः १९४४ में अमेरिका के नोबुल पुरुष्कार विजेता वैज्ञानिको के सम्मिलित सहयोग से ऐटम बम तैयार हो गया और इस बात का निश्चय किया गया कि इसका प्रयोग किसी ऐसे काल में किसी ऐसे स्थान पर किया जाय कि ससार को पता तक न चले। इस कार्य के लिये मेक्सिको मे एक रेगिस्तान चुना गया और वही प्रयोग भी हुआ। अमेरिका के वैज्ञानिकों ने इस शक्ति के प्रभाव और प्रतिक्रिया का अध्ययन बहुत बड़ी दुरबीनों से किया। विस्फोट के होते ही धुये और राख का सहस्रों फीट लम्बा और मोटा स्तम्भ धरती से उठकर आकाश की ओर बढा जैसे वह सारे आकाश मण्डप को उसके तारो सहित निगल जाना चाहता हो। विस्फोट का प्रभाव सूर्य के प्रकाश से भी प्रबल और तीखा था। ताप के कारण सारी धरती शीशे की तरह पिघल गई। और आश्चर्य क्या कि इस प्रयोग के कुछ ही वर्षों बाद हिरोशिमा और नागासाकी का सारा जन-सागर भाप की तरह पिघल गया हो।

अणु-शक्ति के निर्माण के सिद्धान्त नये नहीं थे। वैज्ञानिकों के अनुसार पदार्थ का छोटा से छोटा कण होता है। यह कण इतना छोटा होता है कि फिर इसे दो टुकड़ों में किया ही नहीं जा सकता। हर अणु मे कुछ अश होते हैं जिन्हें वैज्ञानिकों ने "न्यूरान" और "एलेक्ट्रान" के नाम से पुकारा। वैज्ञानिकों को इस रहस्य का पता चल चुका था कि यदि किसी भी प्रकार अणु को "न्यूरान" और "एलेक्ट्रान" में विभक्त कर दिये जायें तो उनसे शक्ति और प्रकाश खींचा जा सकता है। अमेरिका की 'टेनेसी घाटी' की अन्वेषण शाला मे यह रहस्य सर्वप्रथम खोला गया।

अणु-शक्ति के अन्वेषण के दो वर्ष पश्चात् ही विश्व के वैज्ञानिको ने

अपनी शक्ति 'हाईड्रोजन-बम' के निर्माण में लगाई। अणु-शक्ति जब संसार के सामने अपनी सम्पूर्ण संहारक लपटों के साथ प्रकट हुई तब सभी ने एक स्वर से कहा था कि इससे भी भयानक अस्त्र अब कोई भी नहीं हो सकता। किन्तु 'हाईड्रोजन बम' का नाम सुनकर एक बार पुनः संसार भयभीत हो उठा।

हाईड्रोजन बम का सबसे पहला प्रयोग १९५४ मार्च में प्रशांत महासागर मे किया गया। इस प्रयोग का परिणाम बड़ा ही भयानक रहा, और अब भी इस प्रयोग की भयानकता से प्रयोग स्थल की जलवायु शुद्ध नहीं हुई है। प्रशान्त महासागर के जल में सैकड़ों मीलों तक भयानक विष फैल गया जिसे वैज्ञानिक 'रेडियो एक्टिव' होना कहते हैं। सागर के आसपास के लोग विष भरी वायु के स्पर्श से अन्धे हो गये। सागर की मछलियों में जहर भर गया और मछलियो का सारा व्यापार जो तटस्थल के लोगों का मुख्य व्यापार था रुक गया। हजारों घर बे-रोजगार हो गये। 'रेडियो-एक्टिव' जल की भयंकर धार बरसने लगी। उस ओर से जलयानों का आना जाना रुक गया। इसलिये इस प्रयोग का परिणाम न केवल उस क्षेत्र तक ही सीमित रहा है प्रत्युत सारे विश्व भर मे फैला तथा विश्व व्यापार और सामाजिक आदान-प्रदान को बहुत धक्का लगा। हाईड्रोजन बम के इस प्रयोग से भविष्य में अभी क्या क्या आपत्तियाँ आयेंगी, यह कहना कठिन है। अभी हाल ही में एक फ्रान्सीसी वैज्ञानिक ने घोषणा की है कि हाईड्रोजन बम के प्रयोग से विश्व का वातावरण 'एसिड' से भर जायगा और वनस्पतियों पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा।

हाईड्रोजन बम के आविष्कार से एक बहुत बड़ी समस्या राजनीति-क्षेत्र में आ खडी हुई है और वह है सुरक्षा की समस्या। इस महाभयानक अस्त्र के सामने अब कोई भी सैनिक शक्ति काम न देगी। अतः राष्ट्रों के सामने यह समस्या है कि वे अपनी जल सेना को या थल सेना को या वायु सेना को बढ़ायें। किन्तु इन सारे स्थलों पर इस बम की पहुँच है। ऐसी अवस्था मे आशा की केवल एक किरण दिखती है और वह यह है कि संभवतः भावी विस्फोटों के भय से त्रस्त राष्ट्र हाईड्रोजन बम का प्रयोग ही न करें। दूसरी आशा की किरण

यह है कि अब संसार के कुछ शान्ति-प्रिय राष्ट्र अणु-शक्तियों को रचनात्मक कार्य की ओर लगाने मे संलग्न हैं। भारत का प्रयास इस क्षेत्र मे सराहनीय है। जिस प्रकार वाष्प और विद्युत शक्तियों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी मे समाज और दुनिया का ढाँचा बदल दिया, कौन जानता है कि उसी प्रकार बीसवीं सदी में रचनात्मक कार्यों की ओर लगाई गई अणु-शक्ति भी महान् परिवर्तन ला दे। अणु-शक्ति का एक अत्यल्प कण भी अपने मे इतनी शक्ति समेटे हुये है कि वह अकेले बम्बई जैसे बड़े नगर की सारी मिलों को चला सकता है तथा एक पूरे प्रान्त मे विद्युत वितरित कर सकता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में औद्योगिक और यांत्रिक शिक्षा

आधुनिक युग उद्योग और विज्ञान का युग है। अणु-शक्ति के आविष्कार के बाद मानव-जीवन सम्पूर्णतः "वैज्ञानिक-जीवन" हो गया है। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि जीवन विज्ञान और उद्योग के लिये है और विज्ञान और उद्योग जीवन के लिये। किन्तु भारत मे आरम्भ से ही औद्योगिक शिक्षा गौण विषय रही है। ब्रिटिश शासन-काल में तो सरकार की कुछ नीति ही भारत के विरुद्ध थी किन्तु अब, जब भारत स्वतन्त्र हो चुका है, तब भी भारत की नीति तेजी से औद्योगिक शिक्षा को प्रोत्साहित करती-सी नहीं दीख रही है।

ब्रिटिश सरकार को हम दोष देते हैं पर इस सरकार के पहले भी गुप्त काल तथा मौर्य काल में धार्मिक शिक्षा की इतनी प्रबलता तथा प्रधानता थी कि औद्योगिक शिक्षा को आवश्यक माना ही नहीं गया। किन्तु उस काल की भारत की आर्थिक स्थिति इतनी चिन्ताजनक नही थी, और न तो विदेशी राष्ट्रों से आर्थिक प्रतियोगिता की भावना ही देश में थी इसलिये वह क्षम्य है, किन्तु आज जब हर पग पर देश को अर्थ के क्षेत्र मे विदेशो से टक्कर लेना पड़ रहा है, तब औद्योगिक शिक्षा को गौण रूप देना चिन्ताजनक है।

ब्रिटिश काल में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा पर तत्कालीन सरकार ने विशेष बल दिया ताकि वह अपने विभागों में काम करने के लिये क्लर्क अथवा लेखक पैदा कर सके। बहुत थोड़े से लोग विदेश मे औद्योगिक शिक्षा के लिये भेजे गये, किन्तु वे वापस आकर सरकारी नौकरी पाकर सन्तुष्ट हो गये और जन-साधारण में उद्योग के प्रति कोई भी रुचि जागरित नहीं की गई।

दूसरी बात यह है कि भारत का 'मस्तिष्क यन्त्रो के लिये नहीं प्रत्युत दर्शन, अध्ययन तथा मनन के लिये है', और यही कारण है कि जनता की ओर से भी औद्योगिक शिक्षा अथवा यान्त्रिक शिक्षा के लिये कोई आवाज नहीं उठाई गई।

किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् सर्वप्रथम भारत के सामने देश के औद्योगीकरण और राष्ट्रीयकरण की समस्या खड़ी हुई। ब्रिटिश शासन काल में खोले गये मद्रास, कलकत्ता, तथा बम्बई के यान्त्रिक केन्द्रो का दृढीकरण किया गया, कुटीर उद्योग धन्धों को प्रोत्साहित किया गया तथा हर प्रान्त में विशेषतः उत्तर प्रदेश में, इसके पुनर्संचालन के लिये नये विभाग खोले गये। देश के अनेकानेक विद्यार्थी विदेशों मे सरकार के व्यय पर यन्त्र और उद्योग की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजे गये।

यह ध्यान मे रखना होगा कि विभिन्न काल मे यान्त्रिक और औद्योगिक शिक्षा के विभिन्न अर्थ लगाये गये हैं। आजकल इस शिक्षा का तात्पर्य भौतिक विज्ञान का मनुष्य की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ के समाधान मे प्रयुक्त करना है। यवन काल में औषधि शास्त्र पर विशेष जोर दिया गया, अतः औद्योगिक और यान्त्रिक शिक्षायें गौण रहीं। अरब के लोग अवश्य ही इस शिक्षा मे विशेष आनन्द लेते थे। हिन्दू काल की सारी शिक्षाऐं 'ब्रह्म' के अध्यापन और मनन तक सीमित रही।

द्वितीय महायुद्ध ने जहाँ कई दिशाओ में महाप्रलय का दृश्य खड़ा किया है वहीं उसने दूसरी दिशाओ मे ज्ञानोपार्जन के अभूतपूर्व मार्ग भी खोले। इस युद्ध ने यत्र और उद्योग की शिक्षा को प्राथमिकता दिलाई। इस क्षेत्र मे खोज और अन्वेषण कार्यों के लिये हर देश ने शिक्षा केन्द्र खोले। भारत भी अब पीछे नहीं है। भारत के बहुत से विद्यार्थी रूस के यान्त्रिक तथा औद्योगिक केन्द्रों का अध्ययन करके अभी हाल ही में अपने देश लौटे हैं। बहुत से विश्वविद्यालयों ने "राष्ट्रीय अन्वेषण शाला" के अन्तर्गत खोले गये यन्त्र और उद्योग के शिक्षा केन्द्रों को मान्यता दी है।

यह एक भौगोलिक सत्य है कि वस्तुतः भारतवर्ष खनिज पदार्थों की दृष्टि से विश्व का सबसे समुन्नत देश है। कोयले और लोहे की उपज में यह देश

अपना सानी नही रखता। भारत की नदियों की शक्ति को चुनौती देने वाला अभी पैदा नही हुआ। इन प्रकृति-प्रदत्त औद्योगिक साधनों के उपयोग के लिए भारत ने राष्ट्रीय-स्तर पर "राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ" खोली हैं। ये संस्थाएँ औद्योगिक तथा यान्त्रिक शिक्षाओं का केन्द्र हैं।

फलतः मोटरकारों और हवाई जहाजों का निर्माण कार्य तेजी से हो रहा है। बिजली के पंखों तथा अन्य सामान, पम्प, तथा साइकिलें भी बनने लगी हैं। गौरव की बात है कि भारत के इंजीनीयर, यंत्र तथा उद्योग के विद्वान् अब देश के बाहर भी बुलाये जाने लगे हैं। भारत अपने "औद्योगिक-क्रान्ति" में सम्मिलित सहयोग चाहता है। हर्ष का विषय है कि भारत के लोग देश के इस महा-निर्माण मे प्राण-पण से प्रयत्नशील हैं। देश की द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे भी औद्योगिक तथा विज्ञान की शिक्षा को विशेष स्थान दिया जा रहा है। इस क्षेत्र मे भारत कनाडा और आस्ट्रेलिया के अनुभवों से लाभ उठा रहा है, साथ ही उसे अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्र का भी सहयोग प्राप्त है।

भारतीय उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण

यह कहा गया है कि जो सरकार जितनी ही कम जनसख्या पर शासन करती है वह सरकार उतनी ही अच्छी होती है। लेकिन युग के बदले हुए राजनीतिक वातावरण में यह परिभाषा अहितकर सिद्ध होगी। वह परिभाषा तो प्लेटो और अरस्तू के समय की एथेन्स और स्पार्टा की परिभाषा हो सकती है। अरस्तू ने कहा था किसी आदर्श राज्य मे अधिक से अधिक ४,०५० व्यक्ति होने चाहिये। ऐसे 'आदर्श राज्यों' में तो उद्योग के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यापारिक क्षेत्र का हर कार्य व्यक्तिगत रूप से चलता रहता है। व्यापारियों में प्रतियोगिता और तनाव की भावना पैदा हो जाती है। बेरोजगारी तथा सामाजिक विभेद पैदा हो जाते हैं। धनी-गरीब, ऊँच-नीच तथा मालिक-नौकर की भावना का जन्म होता है और यही कारण है कि एथेन्स और स्पार्टा काफी समय तक आपस मे जूझते रहे हैं।

व्यक्तिगत पूँजीवादिता ज्यों ज्यों बढती है साधारण जनता में आर्थिक दासता भी बढ़ती जाती है। ऐसे समय में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीयकरण के क्षेत्र मे राज्य जो पहला कदम उठाता है वह है व्यक्ति द्वारा अधिकृत उद्योग धधो को सामाजिक न्याय और आर्थिक स्थिति के निमित्त राज्याधीन करना। इसी को उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कहते हैं जो साम्यवाद और समाजवाद का प्रजातन्त्रवादी संस्करण है। इंगलैण्ड मे आज जो राजनीतिक दल अधिकार में है उसका नाम कंजरवेटिव है। इस दल ने अपने दूसरे प्रतियोगी राजनीतिक दलो से अधिक जनता की प्रशंसा लूटने के लालच से व्यक्तिगत उद्योगों को अधिक से अधिक राष्ट्रीयकरण कर रखा है। अब जनता की आर्थिक उन्नति के लिए राष्ट्रीयकरण हर देश के लिए आवश्यक माना गया

है। विशेष कर जिन देशों में व्यक्तिगत पूँजीवादिता ने जनता को पीस डाला है, जहाँ का आर्थिक ढाँचा बिल्कुल ही डाँवाडोल है, जहाँ धनी और गरीब के बीच एक बहुत गहरी खाई है कम से कम उस देश में राष्ट्रीयकरण आर्थिक और सामाजिक समानता लाने के लिए बहुत ही आवश्यक है।

राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता तो सबसे अधिक तब होती है जब व्यक्ति द्वारा अधिकृत उद्योग-धन्धे ऐसी नीतियों का अनुसरण करते हैं जिससे कि देश की साधारण जनता को काफी हानि पहुँचती है। ऐसे अवसरों पर सरकार पूरा-पूरा हस्तक्षेप करती है और कर्मचारियों का वेतन, उनके काम करने के घंटे, अवकाश के घटे तथा उनकी अन्य सुविधाओं के लिए विधान द्वारा नीति निर्धारण करती है। कभी-कभी तो ऐसे उद्योग धन्धो में पुलिस की भी सहायता लेनी पड़ती है। यह सब आय के उचित विभाजन के लिए किया जाता है। राष्ट्रीयकरण काल में सर्वप्रथम उन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है जिनका सम्बन्ध सीधे जनता से है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम रेलवे आता है। आरम्भ में रोडवेज की तरह रेलवे भी व्यक्तिगत अधिकार में था। कुछ बड़े पूँजीपति इसका प्रबन्ध करते और इसकी आय रखते थे। किन्तु अब सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व में रेलवे का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। भारत भी उनमें से एक है।

रेलवे के बाद कपड़े, लोहे तथा चीनी की मिलों की बारी आती है। रूस और चीन मे इनके राष्ट्रीयकरण का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वहाँ हर वस्तु सरकार की होती है। अमेरिका की आर्थिक नीति राष्ट्रीयकरण की कभी नहीं रही है। भारत मे इस क्षेत्र मे कुछ कार्य होना अब आरम्भ हुआ है। लोहे के मिल तो भारत मे बस नाम मात्र के लिए रहे हैं। इसलिए उनका राष्ट्रीयकरण करना या न करना समान है। हाँ, पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सरकार ने लौह-उद्योग को बढ़ाना आरम्भ किया है। ये उद्योग सरकार स्वयं ही आरम्भ कर रही है, अत: इसका आरम्भ ही राष्ट्रीय है, इनके राष्ट्रीयकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। कपड़े के मिलों का राष्ट्रीय-करण बहुत ही आवश्यक है। देश के दो-चार बहुत बड़े मिलों को सरकार ने अधिकृत किया है। किन्तु सरकार मिलों को अधिकार मे जब कर

लेती है तो वह मिल के सारे काम मशीनो की सहायता से आरम्भ कर देती है। इस प्रकार बहुत से कर्मचारी बे-रोजगार हो जाते हैं। अतः कम से कम भारत मे सरकार को राष्ट्रीयकरण के क्षेत्र मे बहुत ही शनैः शनैः पग उठाना होगा।

एक बात ध्यान मे रखनी होगी कि उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से उद्योगियों मे 'प्रतियोगिता' की भावना का अन्त हो जाता है। उपज बढ़ाने के लिये प्रतियोगिता बहुत आवश्यक है। उद्योगों के 'राष्ट्रीयकरण' हो जाने पर किसी को इस उद्योग से व्यक्तिगत आशा नहीं रह जाती। अतः ज्यादा से ज्यादा पैदा करने की इच्छा और यत्न का भी अन्त हो जाता है। लोग सोचने लगते हैं कि उद्योग बढ़ाना सरकार का काम है। अतः आरम्भ में राष्ट्रीयकरण का प्रभाव उद्योग धन्धों पर अच्छा नही पड़ता। यह समस्या सहयोग से सुलझाई जा सकती है। कम से कम भारत में सम्पूर्ण राष्ट्रीयकरण से अधिक आवश्यक है व्यक्तिगत और राष्ट्रीय उद्योगो की आपसी सहायता, इससे राष्ट्रीयकरण के अनेक असाध्य प्रश्न उठने से रह जायेंगे तथा उपज मे भी वृद्धि होगी। इसी बात को दृष्टि मे रख कर देश मे योजनायें बनाई जा रही हैं।

मृत्यु कर : एक आलोचनात्मक दृष्टि

भारत एक विशाल एवं प्राचीन ऐतिहासिक देश है। संसार के प्राचीनतम् सभ्यता के अवशेष यहाँ मिलते हैं। ऐसे विशाल और प्राचीन देश की समस्यायें भी ऐसी कठिन और जटिल होंगी। अतः जब हमें भारत का शासन सूत्र सँभालना है, भारत को महान् बनाना और उस की स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है तथा यह बताना है कि संसार में भारत के ही द्वारा सुख और शान्ति का संदेश मिल सकता है तो हमे भारत की प्रत्येक समस्या को समझ कर उस पर विचार करना होगा और उसका समाधान तथा हल भी प्रस्तुत करना होगा।

वर्तमान् समय में स्वतन्त्र भारत की सरकार के समक्ष अनेकों ऐसी जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका निवारण करना दुर्निवार सा हो रहा है। उनमें प्रमुख है आर्थिक समस्या। जो देश विभाजन और जनसंख्या की वृद्धि के कारण दिन प्रतिदिन अपना विकराल रूप धारण कर बढ़ती ही जा रही है। आर्थिक असमानता के फलस्वरूप धनी वर्ग निरन्तर धनी होता जा रहा है और दरिद्र तथा निम्न वर्ग बेकारी एवं क्षुधा ज्वाला मे अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। लेकिन बड़े हर्ष की बात है कि इधर कुछ दिनों से हमारी वर्तमान् सरकार आर्थिक संकटों को दूर कर सुखी एवं संपन्न बनाने के लिये सतत जागरूक है। और लोक सेवा का कार्य संपन्न करके दरिद्र वर्ग के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा उनके जीवन को सुगम और सुविधाजनक बनाने के लिये अनेकों योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं। हमारी वर्तमान् सरकार टैक्स आदि लगा कर अर्थिक अभावों को दूर करने में विशेष प्रयत्नशील है जिनमें सबसे प्रमुख एवं दृढ़ कदम "मृत्यु कर" का है।

यह कर केवल भारत तक सीमित नहीं वरन् यह विश्व के समस्त प्रगति

शील राष्ट्रों मे विशेष रूप प्रचलित है। इस कर को लगा कर आर्थिक न्यूनताओ को दूर करने मे सरकार को विशेष सहायता प्राप्त हुई है। इस प्रकार के कर दो प्रकार के होते हैं (१) भू सम्पत्ति कर (२) मृत्यु कर। मृत्यु कर किसी व्यक्ति विशेष की मृत्यु के पश्चात् उसकी विशेष सपत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया जाता है और मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारी से वसूल किया जाता है। परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति भू सपत्ति कर को अपनाने की ओर विशेष है, क्योकि शासन की दृष्टि से यह सरल तथा उत्पादक होता है तथा पृथक् पृथक् उत्तराधिकारियों से सबन्धित एव उनमे से प्रत्येक को प्राप्त होने वाले भाग में किसी प्रकार का निरीक्षण अनिवार्य नही होता।

मृत्यु करों का औचित्य :—

प्रायः यह देखा जाता है कि मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति पर सामान्यतः राज्य का सर्वप्रथम अधिकार है। यह अधिकार स्वतःसिद्ध एवं निर्विवाद सत्य भी है। क्योंकि मृत्यु के पश्चात् उस मृतक व्यक्ति की शेष सम्पत्ति पर किसी का भी अधिकार नहीं होता, उस सपत्ति का उत्तराधिकारी केवल वही व्यक्ति बन सकता है जिसे मृतक व्यक्ति स्वयं बनाता है। सरकार इस अधिकार की रक्षा करती है और इन सेवाओ के प्रतिफल मे उसे कर प्राप्त होना अनिवार्य है क्योंकि राज्य ही पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र के अधिकार और पिता की शेष सम्पत्ति को सुरक्षित रखकर उसे हर प्रकार से लाभ पहुँचाता है। अतः उसे अपनी इन सेवाओ के बदले मे मृत्यु कर लेने का पूर्ण अधिकार है।

(२) वर्तमान् अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्तराधिकारी रूप में संपत्ति हस्तान्तरित करने के पश्चात् उसमें विशेष कर देने की क्षमता आ जाती है, जिससे सरकार लाभ उठाती है।

(३) बहुधा यह कर अनुत्पादित आय पर ही लगाया जाता है। इसलिए इस आधुनिक समाजवादी प्रवृत्तियों के अनुसार अनुचित नही कहा जा सकता। उत्तराधिकारी के रूप मे प्रात होने वाली आय उत्पादित नही है क्योंकि वह उसे अनायास ही मिल जाती है। इसलिए ऐसी आय पर कर लगाना उचित है।

(४) इस प्रकार के कर असमान वितरण को दूर कर सामाजिक आर्थिक न्याय की पूर्ण रूप से भी इससे रक्षा करते हैं।

(५) शासन की दृष्टि से भी इस प्रकार के कर विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन करो का लागू करना तथा इनकी दरों का निश्चित करना सरल होता है। इनकी उपेक्षा भी आसानी से नहीं की जा सकती। यह अधिकतर ऐसी वस्तुओं पर लगाया जाता है जो साधारणतया करमुक्त होती हैं। यहाँ तक कि मृत व्यक्ति की गुप्त संपत्ति भी इन करों से नहीं बच सकती।

दोष—मृत्यु कर द्वारा पूँजी का ह्रास होता है। उद्योगपतियो के कथनानुसार मृत्यु कर देने के पश्चात् उद्योग में लगाई हुई पूंजी में बहुत कमी आ जाती क्योंकि जितनी संपत्ति पहले लगी हुई है उसका एक बड़ा भाग सरकार को देना पड़ता है। किन्तु सरकार जो पूँजी का भाग लेती है उसका सदुपयोग ही करती है। नये नये उद्योगों में लगाकर उसके उत्पादन मे शक्ति को बढ़ा देती है।

(२) मृत्यु कर पूँजी के संचय को रोकता है, क्योंकि इसके संचित धन का अधिकाश भाग इसके रूप में सरकार के पास चला जाता है। फलस्वरूप संचय की प्रवृत्ति को आघात पहुँचाता है इससे स्वयं आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

(३) मृत्यु कर बड़ी बड़ी उत्पादन इकाइयों को तोड़ देता है। जब कोई एक साझेदार मरता है तब उसकी सपत्ति का एक भाग सरकार ले लेती है और इस प्रकार व्यवसाय के विकास मे बाधा पहुँचती है।

(४) मृत्यु कर परोपकार एवं दान की प्रवृत्ति को रोकते हैं। बहुत से व्यक्ति मरने के पश्चात् अपनी संपत्ति का उपयोग सार्वजनिक कल्याणकारी कार्यों में करने की इच्छा प्रकट करते हैं किन्तु मृत्यु कर के द्वारा उनकी मनोवृत्ति में भी आघात पहुँचता है।

(५) मृत्यु कर स्वयं अपने मूल पर कुठाराघात करता है क्योकि संपत्ति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही इन करो के रूप मे आय भी होगी। परन्तु निरन्तर ऐसे करो के लगाने से बड़ी बड़ी संपत्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं

और अन्ततोगत्वा परिणाम यह होता है कि वह स्वयं ही अपनी उत्पादकता को नष्ट कर देता है।

निष्कर्ष :—इसके दोनों पक्षों पर विशेष रूप से ध्यान देने के पश्चात् निष्कर्ष यह निकलता है कि इस प्रकार के कर आर्थिक-सामाजिक तथा राजनीतिक सभी दृष्टिकोणों से सर्वमान्य हैं। वर्तमान् प्रगतिशील युग में ऐसे करों की महत्ता निर्विवाद है। जिसका सम्बन्ध अनुत्पादित आय से हो, राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन के विकास से हो, उसको हम किस प्रकार अनुचित कह सकते हैं। मृत्यु कर एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण होने में बाधाएँ उपस्थित करता है और आर्थिक असमानता को दूर कर समाज में आर्थिक एवं सामाजिक न्याय के आधार पर सुख शान्ति तथा समृद्धि की व्यवस्था करता है। इस प्रकार इसकी अनिवार्यता एवं विशेषता स्वतः कल्याण-प्रद सिद्ध हो जाती है।

———

अफ्रीका की जातिगत समस्या

एक जाति का दूसरी जाति से ऊँचा बनने की भावना इस समस्या के मूल मे है। जातिगत समस्या कोई आधुनिक काल की समस्या नहीं है; यह समस्या इतिहास के आरम्भ से ही चली आ रही है। इस भावना ने हर काल में दासता को प्रोत्साहित किया है। प्राचीन यूनान में दासता की प्रथा जातिगत भावना पर ही आधारित थी। अरस्तू जैसे उदार विचारकों ने भी दासता को देश के लिए आवश्यक माना है। भारत मे आर्य अपने को आरम्भ से ही देश के अन्य वर्गों से श्रेष्ठ मानते आ रहे हैं। योरप के 'गोरे' अब भी शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित 'कालों' से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। जातिगत भावना उस समय बहुत ही तीव्र हो गई थी जब हिटलर ने इस बात की घोषणा की कि जर्मनी के निवासी ही वास्तविक आर्य हैं और इस कारण सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने का उनका जन्मगत और जातिगत अधिकार है। अमेरिका के 'नीग्रो' अब भी 'असामाजिक' माने जाते हैं।

किन्तु अफ्रीका में यह समस्या सबसे विकट रूप में उपस्थित है। दक्षिणी अफ्रीका में डच जाति के लोगो का अधिकार है। इन लोगों ने यहाँ के मूल निवासियो को समानता का कोई भी अधिकार नहीं दे रखा है। दक्षिणी अफ्रीका में लगभग ७० प्रतिशत वहाँ के मूल-निवासी रहते हैं जो जाति भावना के कारण सभी अधिकारों से वंचित है। डच शासन-विधान मे इसका उल्लेख है कि इन निवासियों को समानता का अधिकार न तो चर्च मे होगा और न तो राजनीतिक मामलों में। यही दक्षिणी अफ्रीका को जातिगत भावना के मूल में है। दक्षिणी अफ्रीका की जनसंख्या लगभग १ करोड़ १० लाख है। इनमें से ७०% वहाँ के मूल निवासी हैं। २०% योरप के निवासी, तथा

३% भारतीय हैं। अतः दक्षिणी अफ्रीका की जातिगत समस्या किसी एक जाति की समस्या नहीं अपितु बड़ी जातियों की समस्या है। इन मे से डच जाति अपने को सर्वश्रेष्ठ समझती है। इसने देश के एक बहुत बड़े भू भाग पर अधिकार जमा रखा है। यहाँ के ७० % निवासी भू भाग के केवल १३% हिस्से में रहते हैं। जो भूमि उन्हें दी गई है वह कृषि के योग्य नहीं है, अतः उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

डच जाति के लोगों का कहना है कि यह भू भाग उनका अपना ही भू-भाग है क्योंकि उनके पूर्वजों ने उसे जीता है। दूसरी जाति के लोगों ने जिसमें भारतीय भी सम्मिलित हैं, इसका विरोध किया है। इस प्रश्न को भारत ने संयुक्त राष्ट्र में उठाया था, लेकिन कोई आशाजनक परिणाम नही निकला। कारण यह है कि संयुक्त राष्ट्र मे अमेरिका स्वय एक शक्तिशाली देश है जो जातिगत विभेदों में विश्वास रखता है। अमेरिका के नीग्रो इसके उदाहरण हैं।

किन्तु अब वहाँ की जनता को दक्षिणी अफ्रीका की राष्ट्रीय सरकार की बर्बरता से सजग और सचेत होने की आवश्यकता है। सचमुच ही यह मनुष्य जाति के लिए बड़ी लज्जा की बात है कि अफ्रीका के मूल-निवासियों को अपने ही घर में कोई अधिकार नहीं। दिन प्रति दिन उनके विरुद्ध कठिन विधान बनाये जा रहे हैं। उनकी सम्पत्ति छीन ली जाती है और बदले में कोई मुआवजा नही दिया जाता। अभी हाल ही में जाहन्सबर्ग नामक नगर के साठ हजार निवासियों को नगर के बाहर निकाल दिया गया और उन्हें नगर से छः मील की दूरी पर अपना घर बसाने को बाध्य किया गया। इस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका की सरकार आजकल दुनिया की सबसे अधिक बर्बर सरकार बनी हुई है।

दक्षिणी अफ्रीका के मूल निवासी वहाँ के गोरों से अधिक कर देते हैं किन्तु बदले मे उन्हें उनकी सामाजिक अथवा राजनीतिक सुविधाये नहीं दी गई हैं। उनसे बेगार तक लिया जाता है। वहाँ का हर न्यायालय गोरों का पक्षपात करता है। केवल सुप्रिम कोर्ट अथवा मुख्य न्यायालय से थोड़ा न्याय की आशा रखी जाती है। कुछ मूल निवासियों को तो विधान द्वारा अपराधी जाति ठहरा दिया गया है। बैन्टूस जाति इसका उदाहरण है। इनको कोई

शिक्षा नहीं दी जाती। इनसे केवल ड्रिल कराया जाता है ताकि इन्हें दास बनाया जा सके।

दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों का सम्मिलित विरोध इस क्षेत्र में सराहनीय है। गाँधी जी ने अफ्रीका के भारतीयों को जो पाठ पढ़ाये थे उनका अनुसरण करते हुए वहाँ की सरकार की जातीय नीतियों के विरुद्ध भारतीयों का प्रदर्शन एक नैतिक महत्व रखता है। ऐसी स्थितियों में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दक्षिणी अफ्रीका का भविष्य क्या है? इस बात की भी संभावना की जाती है कि वहाँ के भारतीय संभवतः देश से निकल जाने को बाध्य किये जायेंगे और वहाँ के मूल निवासियों को जबरदस्ती बन्धन और दासता में रखा जायेगा। ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार केन्या जाति को शासन कार्यों में अधिकार दे रही है उसी प्रकार यदि अफ्रीका की सरकार भी वहाँ के मूल-निवासियों को अधिकार देना आरम्भ कर दे तो कोई कारण नहीं जो निकट भविष्य में जातिगत समस्या हल न हो जाय।

———

भूदान-यज्ञ

भारतीय इतिहास में भूदान कोई नई वस्तु नही बल्कि इस प्रकार के दान और त्याग की परम्परा हजारो वर्षों से हमारी आर्थिक व्यवस्था की परिपूरक लड़ियाँ बनी रही हैं। वर्तमान समय में भी भूदान भारतीय परम्परा का अटूट अङ्ग है। इसमें सरल जीवन व्यतीत करने व आत्मत्याग की भावना का लक्ष्य निहित है। भारतीय संस्कृति में इसको अहिंसा से भी अधिक सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस प्रकार की प्रथा आज से ही नही वरन् युग-युगान्तर से हमारे देश मे प्रचलित रही है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र से लेकर सातवीं शताब्दी मे राजा हर्ष तक के राजकीय दानों के बड़े सुन्दर उदाहरण हमें इतिहास के पृष्ठो में मिलते हैं। सत्य-युग मे जब राजा बलि ने समस्त धरती पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा तब भगवान ने वामन अवतार लेकर बलि से सारी पृथ्वी दान के रूप मे प्राप्त कर ली और वह भूमि जनता मे विभक्त कर दी गई थी। जब कृशकाय देशभक्त विनोबा भावे अपनी अहिंसात्मक वृत्तियो को लेकर आर्थिक क्रान्ति मे संलग्न हुए तब पश्चिम के समाजवादी और रूस के सभी समर्थक आश्चर्यचकित से रह गये।

एक बार स्टालिन ने अपने भाषण में कहा कि भूमि का बँटवारा भूदान से नहीं होता वरन् तलवार से होता है। इसका केवल एक उत्तर था कि त्याग और दान की भित्ति पर तो भारतीय आर्थिक ढाँचा सदैव से ही अवलम्बित रहा एवं अब भी रहेगा। विनोबा जी तो स्वयं कहते हैं जो भूमि दे वह सेवा की दीक्षा भी ले और अपने संपूर्ण जीवन को दरिद्र नारायण की सेवा मे लगा दे। दूसरे शब्दो में उनके कहने का तात्पर्य यह है कि अगर कुछ बाँटने को नहीं है तो गरीबी को ही बँट जाने दीजिये। इस प्रकार के दान से मानव अन्तःकरण शुद्ध होगा, उसमे पवित्रता, त्याग, सहृदयता, सरलता, सौजन्य,

अहिंसा आदि उदार भावनाओं का समावेश होता है। इस प्रकार छत्तीस करोड़ जनता द्वारा सुसगठित एक सुदृढ़ राष्ट्र बनेगा और प्राचीन भारत की आत्मीयता पुनः लौट आयेगी। अतः तलवार की जोर से भूमि वितरण तो हो सकता है किन्तु कानून द्वारा हृदयो का सम्मेलन नही हो सकता। प्रत्युत इस प्रकार के रक्तपात से अनेक नई समस्यायें उठ खड़ी होंगी, साथ ही हमारी अहिंसा का महान व्रत जिसके आधार पर हमने देश को विदेशी शासकों के आधिपत्य से मुक्त करा लिया है और जिसके नाम पर आज भी हमारी कीर्ति-ध्वजा विदेशों मे फहरा रही है, वही समस्त विश्व की दृष्टि में एक उपहास का विषय बन जायगा और इस प्रकार हम अपने नैतिक बल को भी खो देगे।

भूदान-यज्ञ में जनता के प्रति केवल "सबै भूमि गोपाल की" ही भावना उत्पन्न नही होती, वरन् इसके अन्तर्गत अनेकों भावनाये काम कर रही हैं, उनमें से मुख्य ये हैं :—श्रमदान, जीवनदान, विद्यादान, संपत्तिदान आदि। भारत में तीस करोड़ एकड़ खेतिहर भूमि है। विनोबा जी के दान मॉगने का ढंग भी बड़ा अद्भुत है। उनका कहना है कि "प्रत्येक भारतीय भूमिधर-परिवार मुझे छठा पुत्र समझ ले और जिस प्रकार वह अपने पांच पुत्रो में अपनी जमीन बॉटता है उसी प्रकार उनके साथ ही मुझे भी छठा हिस्सा दे दे। इस प्रकार पांच करोड़ एकड़ भूमि इकट्ठी हो सकती है, जो भारत के करोड़ो भूमि-हीन कृषकों की जीविका का अवलम्ब ही नहीं बनेगी, वरन् उनकी कृषि उत्पादन शक्ति की वृद्धि मे भी सहायक सिद्ध होगी। इससे जनता मे असतोष की भावना न बढ़ने पायेगी जैसा कि चार वर्ष पूर्व तैलांगना में हुआ था।

१८ अप्रैल सन् '५१ को भूदान-यज्ञ के प्राण सन्त विनोबा भावे ने तैलागना प्रदेश के नालगोडा जिले के लिये पैदल ही प्रस्थान किया—वह एक छोटे से गॉव में पहुँचे, जहॉ अनेकों जीर्ण-शीर्ण कृशकाय हरिजनों ने ८० एकड़ भूमि के लिए अपना प्रस्ताव रक्खा था, किन्तु याचक तो अनेक थे परन्तु दाता एक भी नही। इतने ही में एक जमीदार आया, उसने १००एकड़ भूमि विनोबा जी को भेंट-स्वरूप प्रदान की। सत विनोबा जी ईश्वर के इस चमत्कार को

देखकर अवाक् से रह गये। उनके आत्मा से यह वाणी उठी, उसकी आवाज एक बार नही अनेक बार उनके कानो मे आने लगी कि उन्हे भारत में भू-क्राति करनी है। वे अपनी गङ्गा-जल सी पावन स्वच्छ विचार-धारा मे बह चले और पैदल चलकर ही भूमि माँगने का निश्चय किया।

इस प्रकार भूदान-यज्ञ की इस प्रथम आहुति के पश्चात् विनोबा जी ने तैलागना के २०० गाँवों मे ५१ दिन तक भ्रमण किया, वहाँ देहातियों के झगड़े तय किए, अपने प्रवचन द्वारा शान्ति स्थापित की एव १२,२०१ एकड़ भूमि भी दान स्वरूप प्राप्त की। तैलागना से लौटने के पश्चात् पण्डित नेहरू का निमन्त्रण पा कर भावे जी २ अक्टूबर १९५१ को सागर विश्वविद्यालय में जा हुँचे। यहाँ भी उन्होंने अपने भाषण मे—५ करोड़ एकड़ के लक्ष्य की घोषणा की और कहा "कि यद्यपि मेरा अपना पेट बहुत छोटा है परन्तु दरिद्रनारायण का बहुत बड़ा है। मैं सम्पूर्ण खेतिहर भूमि का पाँचवाँ या छठा भाग चाहता हूँ। अपनी शक्ति भर दरिद्रनारायण की पूजा करिए क्योंकि यही वास्तविक यज्ञ अर्थात् त्याग है।" इस प्रकार उन्होंने दिल्ली, मथुरा आदि कई स्थानों मे अपना भाषण दिया। जिसके अन्तर्गत उनका मुख्य उद्देश्य भूमि माँगना ही था, और काफी एकड भूमि दान मे प्राप्त कर ली। भूदान-यज्ञ द्वारा विनोबाजी केवल भूमि की समस्या को ही नही सुलझाना चाहते वरन् वह अहिसक क्राति भी करना चाहते हैं। भावेजी की इस भूदान प्रणाली के विषय मे भी अनेक नेताओं मे मतभेद है। उनका कथन इस प्रकार है :—

(१) भूदान यज्ञ से भूमि कई टुकड़ों मे विभाजित हो जायगी, उन पर खेती करना भी आर्थिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होगा।

(२) छोटे-छोटे भूखडों पर खेती करने से खेती के साधनों, हल, बैल तथा मनुष्य-शक्ति आदि का पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा।

(३) खेती पर ही समस्त देश का सम्पूर्ण ध्यान आकर्षित करने से उद्योग धन्धों को भी विशेष क्षति उठानी पड़ेगी, वे धीरे-धीरे नष्ट हो जाएँगे। विनोबा जी ने इन प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर दिया :—भूमि के टुकड़ों मे विभाजित हो जाने से कोई हानि न होगी बल्कि भूमि के टुकड़े-टुकड़े के साथ लोगों की आत्मीयता का नाता जुड़ जायगा जिससे उत्पादन मे भी आज की अपेक्षा कल अधिक वृद्धि होगी।

(४) चौथी बात यह है कि लोग यदि सहकारिता के आधार पर खेती करेंगे तो खेती के साधनों का पूरा-पूरा उपयोग हो जायगा। विनोबा जी समस्त ग्राम जीवन को एक सुसगठित इकाई के रूप में विकसित होते देखना चाहते हैं।

(५) खेती के कार्यों के बाद भी पर्याप्त समय शेष रहता है। उस समय खेती में सहायक उद्योग-धन्धो को चलाया जा सकता है। यदि पूरा ध्यान खेती-बारी पर ही केन्द्रित रहे तो हानि नहीं ? अतएव पूरी शक्ति का प्रयोग यदि कृषि पर किया जाय तभी आर्थिक संकटों से मुक्ति मिलेगी।

इस प्रकार विनोबा जी ने एक ऐसे महान् कार्य का भार अपने सबल कंधों पर लिया है जो हमारे राष्ट्र और प्राचीन भारतोय संस्कृति में पुनः एक नये जीवन का संचार करने जा रही है। भूदान यज्ञ के तीन महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं :—(१) आर्थिक उद्देश्य, (२) सामाजिक उद्देश्य, (३) राजनीतिक उद्देश्य।

(१) आर्थिक उद्देश्य—समस्त जनता निर्धनता के अभिशाप से मुक्त हो जाय, जो भूमि को पूर्ण रूप से काम में लाने और उत्पादन में वृद्धि करने से सम्भव है।

(२) सामाजिक उद्देश्य—भूमि पर समाज का स्वामित्व हो जाय, जो उचित बँटवारे द्वारा सम्भव है।

(३) राजनीतिक उद्देश्य—भूमि का शांति पूर्ण ढंग से हस्तांतरण हो जाय और हृदय-परिवर्तन द्वारा भूमि वास्तविक जोतने वाले किसान को मिल जाय।

इस प्रकार उनके इस महान् कार्य का प्रमुख लक्ष्य १९५७ तक ५ करोड़ एकड़ भूमि इकट्ठी करना है। जिसमें अब तक लगभग ६० लाख एकड़ भूमि प्राप्त हो चुकी है। वामन विनोबा तो अब भूमि-दान की अपेक्षा ग्राम-दान की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रहे हैं, दरिद्रनारायण को अद्यप्रभृति लगभग ४,८२० ग्राम मिल भी चुके हैं।

———

भारत में सामुदायिक परियोजनाएँ

भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ की नब्बे प्रतिशत जनता की जीविका का निर्वाह कृषि पर ही अवलम्बित है। अतः जनता के इस विशाल समुदाय की रक्षा के लिये ग्रामीण क्षेत्रों का सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक विकास होना भी अनिवार्य है। इन योजनाओं का मूल उद्देश्य भारत के समस्त साधनों को जाग्रत करके एक नवीन सुव्यवस्थित, सुसंगठित एवं आदर्श समाज की स्थापना करना है। जिसमें भारत की समस्त जनता स्वतः अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। इसलिये इन योजनाओं को सक्रिय बनाना है। जनता को उन्नति के जागरूक पथ पर अग्रसर करना है। महात्मा गाँधी ने इन उद्देश्यो को रचनात्मक एवं क्रियात्मक रूप देने के लिये 'ग्रामसुधार योजना' और 'सर्वोदय की महती योजना' का श्रीगणेश किया। और उनके आदेशानुसार इन्हीं आदर्शों के आधार पर ग्रामसुधार विभाग की स्थापना की गई, किन्तु कार्यकर्ताओं के अभाव से यह योजना सफल न हो सकी। १९५२ में गाँधी जयन्ती के पुनीत अवसर पर राष्ट्र की कृषि, स्वास्थ्य, सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही सामुदायिक परियोजनाओं का उद्घाटन किया गया। वर्तमान् समय मे देश में ३०० सामुदायिक परियोजनाओं को रचनात्मक रूप से कार्यान्वित किया जा रहा है।

(१) सामुदायिक परियोजनाएँ और कृषिः—देश को खाद्य सामग्री में पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिये सामुदायिक परियोजनाओं का कृषि क्षेत्र मे विस्तार किया जावेगा। इसका उद्देश्य कृषि क्षेत्र में बञ्जर भूमि को खेती के योग्य बनाना, नहरों, नल-कूपों, कुओं, नदियों, झीलों आदि से सिंचाई का प्रबन्ध करना है। कृषि-कला की नवीन विधियो, उत्तम बीजों तथा पशु-चिकित्सा और फल तरकारी उत्पन्न करने की व्यवस्था करना है। इस प्रकार इस योजना

द्वारा देश की जटिल समस्या बेकारी एवं निर्धनता को निवारण करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(२) सामुदायिक योजना और शिक्षा —इसके अन्तर्गत प्राइमरी शिक्षा की निःशुल्क अनिवार्य व्यवस्था, (२) मिडिल स्कूलों और हाई स्कूलों की व्यवस्था, (३) पुस्तकालय, वाचनालय एव सामाजिक शिक्षा का प्रबन्ध, (४) छोटे-छोटे शिक्षा सम्बन्धी चल-चित्र प्रदर्शन आदि सम्मिलित हैं।

(३) सामुदायिक योजना और प्रशिक्षण: – इसके अन्तर्गत वर्तमान शिल्पियो के स्तर तथा उनकी कार्यपद्धति को अत्यधिक उपयोगी और वैज्ञानिक बनाने के लिये औद्योगिक अध्यापन की व्यवस्था सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त कृषकों, कारीगरों, प्रबन्ध कर्मचारियो, निरीक्षकों, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं एवं योजनाओं के कार्यवाहक अधिकारियो को प्रशिक्षण की व्यवस्था करना भी इस योजना का मूल उद्देश्य है।

(४) सामुदायिक योजना और रोजगार:—(क) इसके अन्तर्गत मुख्य सहायक धन्धों के रूप में ग्राम-उद्योगों और कला-कौशल को प्रोत्साहन देना है।

(ख) बेकारी दूर करने के लिये लोगो को छोटे मोटे कार्यों द्वारा प्रोत्साहन देना तथा उन व्यक्तियो द्वारा निर्मित वस्तुओं का स्थानीय क्षेत्र में विक्रय एवं खपत का समुचित प्रबन्ध करना।

(५) नागरिक क्षेत्रों में प्रशिक्षण स्कूलों द्वारा लोगों को काम देना।

(६) सामुदायिक योजना और स्वास्थ्य के अन्तर्गत :—

(क) सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य रक्षा की व्यवस्था।

(ख) रोगियों के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध।

(ग) प्रसूता-स्त्रियो के गृहों आदि की समुचित व्यवस्था।

(७) यातायात एवं संदेशवाहन

(१) ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात के साधनों की उचित व्यवस्था।

(२) सड़क निर्माण का कार्य।

(३) मोटर द्वारा परिवहन को प्रोत्साहन देना।

(४) डाक व्यवस्था का विकास।

(८) सामाजिक कल्याण:—(१) स्थानीय व्यक्तियों के बुद्धि, बल तथा निरीक्षण शक्ति को बढ़ाने के लिये उपलब्ध सस्कृति के साधनो की सहायता से लोगो का मनोरजन करना। (२) शिक्षा और मनोरंजन के लिये भाषण एव चलचित्रो आदि का प्रबन्ध करना।

(३) सहकारिता एवं सहायक आन्दोलन का सङ्गठन करना।

(४) देहाती क्षेत्रो में मकान बनाने की सुगम, सस्ती व सुन्दर युक्तियों का प्रचलन एव कुशल इंजीनियरों द्वारा उपयुक्त मानचित्रो का निर्माण।

योजनाओं के रूप :—सामुदायिक विकास योजना दो रूपो में विभाजित की जा सकती है। (१) मूल ग्रामीण सामुदायिक योजना :—इस रूप की प्रत्येक योजना में लगभग दो लाख व्यक्तियों के ३०० पात्र होंगे। इन योजनाओं का मुख्य उद्देश्य कृषि वृद्धि के साथ साथ जनता के स्वास्थ्य शिक्षा एवं राजमार्गों की उन्नति करना है। प्रत्येक योजना १०० ग्रामों के तीन विभागों मे विभाजित होगी।

(२) मिश्रित सामुदायिक योजना :—इस योजना में लघु उद्योगो एव कृषि उन्नति पर भी विशेष ध्यान दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों मे नागरिक सुविधाओं की प्राप्ति भी इन योजनाओं का उद्देश्य है। इस प्रकार यह योजना ग्रामीण बनाम नागरिक समुदाय का विकास करने में अभूतपूर्व योग दे सकेगी।

विकास योजनाओं की कार्य-प्रणाली :—

योजना को सफल बनाने के लिए तीन भागो मे विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक विभाग मे ६०० ग्राम होंगे। शेष दो भाग तीसरे वर्ष कार्य क्षेत्र में लाये जावेंगे और तीसरे वर्ष तक सम्भवतः तीनों विभागों के कार्य समाप्त हो जावेंगे। इन तीन वर्षो मे प्रत्येक योजना पर ६५ लाख रुपया व्यय होगा।

योजनाओं की व्यवस्था :—योजना की व्यवस्था के लिये एक केन्द्र समिति है। नियोजन समिति के सदस्य ही प्रधान मन्त्री के नेतृत्व मे इस केन्द्रीय समिति के सदस्य हैं। योजना की व्यवस्था के लिये केन्द्र के मन्त्रियों की एक समिति है, जो प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में कुशल व्यक्तियों की सम्मति से

योजनाओं को कार्यान्वित करेगी। प्रत्येक राज्य में मुख्य मन्त्रियों के नेतृत्व में एक राज्य-विकास समिति होगी। प्रत्येक योजना का एक प्रधान है। जिसकी सहायता के लिये राज्य सरकारों के विकास विभाग होंगे। इसके अतिरिक्त एक योजना-परामर्श-समिति होगी, जिसमें विधान सभा के सदस्य तथा प्रतिनिधि जिला परिषद के चेयरमैन तथा योग्य कार्यकर्ता और प्रतिनिधि होंगे।

निष्कर्ष :—यदि भविष्य मे सामुदायिक परियोजनाओं को आशातीत सफलता प्राप्त हुई तो आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ ही साथ गाँधी जी का रामराज्य स्वप्न भी निःसंदेह सत्य होगा। और जनता के पारस्परिक सहयोग एवं निःस्वार्थ त्याग द्वारा सारे देश में दरिद्रता एवं बेकारी के स्थान पर प्रेम, त्याग, करुणा एवं सम्पन्नता का साम्राज्य स्थापित होगा। जन-जन के मन मे एक ही आदर्श भावना का जन्म होगा, वह भावना वसुधैव कुटुम्बकम् की आदर्श एवं पुनीत भावना होगी। लोग स्वावलम्बी होकर स्वतः अपने समस्त कार्य को करेंगे। किसान अपने घोर परिश्रम द्वारा अनाज के अंकुर अंकुरित करेगा, लोहार, बढ़ई उसके कार्य में सहायता देने के लिये हल आदि साधनों का निर्माण करेंगे। गाँधी जी के आदेशानुसार घर घर में स्वदेशी वस्त्रों का प्रचार होगा, स्त्रियाँ चर्खे द्वारा सूत कातकर इस प्रचार कार्य में सहायक होंगी। बच्चों को आदर्श नागरिक बनने की शिक्षा दी जावेगी क्योंकि यही बालक एक दिन राष्ट्रोत्थान के कार्य मे सहायक होंगे। संक्षेप में महात्मा गाँधी के कल्पित स्वप्न को सत्य में परिणित करना ही सामुदायिक परियोजनाओ का चरम लक्ष्य है।

———

समाजवाद तथा साम्यवाद

कहा जाता है कि संसार में जितने आदमी हैं, समाजवाद की उतनी ही परिभाषाएँ हैं। यह एक अतिशयोक्ति अवश्य है, पर ऐसी अतिशयोक्ति है जिसमे सत्यता का भी कुछ अंश है। संसार के विचारको में न केवल समाजवाद के सिद्धान्तों के प्रश्न पर मतभेद है, वरन् समाजवाद के अङ्ग और अर्थ के प्रश्न पर भी विवाद हो जाता है। कुछ राजनीतिक विचारक तो समाजवाद के शनैः शनैः विकास के सिद्धान्त को उत्तम मानते हैं अ र कुछ सम्पूर्ण आन्दोलन और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

समाजवाद अन्ततः है क्या वस्तु? साधारण अर्थ में समाजवाद वह है जो पूँजीवाद नहीं, और समाजवादी वह है जो पूँजीवादी नही। समाजवाद और पूँजीवाद में आकाश-पाताल का अन्तर है, दोनों दो सिद्धान्त हैं, एक दूसरे से सर्वथा अलग, एक दूसरे के विरोधी। हमें जानने की आवश्यकता है कि दरिद्रता क्यों है? कुछ लोग दरिद्र हैं, केवल इसीलिए कि कुछ लोग धनी हैं। इसका कारण है—जो कुछ पैदा होता है उसका उचित वितरण नहीं हो रहा है। पूँजीवाद का अर्थ लाभ और आशा है, अधिक से अधिक लाभ, अधिक से अधिक आराम तथा कम से कम काम। समाजवाद का इस सिद्धात से मौलिक भेद है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि समाजवाद सहायता और सहयोग चाहता है न कि प्रतियोगिता। समाजवाद के अनुसार प्रतियोगिता से वस्तुओं का दुरुपयोग होता है। प्रतियोगिता के ही कारण जहाँ एक देश मे अधिक उपज के कारण हजारों मन गेहूँ सागर मे डुबो दिया जाता है वहाँ दूसरी ओर लोग भूखों मरते हैं। समाजवाद यह भी कहता है कि प्रतियोगिता से चीजों की क्वालिटी भी खराब होती है। इतना ही नहीं इससे ईर्ष्या, घृणा तथा लोभ

पैदा होते हैं। अतः प्रतियोगितावादी सिद्धान्तों को नैतिक दृष्टि से भी समाजवादियों ने घातक ठहराया है।

तीसरी बात यह है कि समाजवाद बड़े-छोटे, ऊँच-नीच के भाव दूर करना चाहता है। स ाजवादी कहते हैं कि पूँजीवाद के कारण संसार में आज पूँजीवादियों को बहुत सी अनुचित सुविधायें मिली हैं। उपज के साधनों, जैसे भूमि पर तथा कारखानों पर इन्हीं पूँजीवादियों का अधिकार है, अतः साधारण जनता से ये लोग अनुचित लाभ उठाते हैं, उन्हें जैसे चाहते हैं प्रयोग करते हैं, मानो वे मनुष्य नहीं मशीन हों।

इस प्रकार समाजवाद समाज-व्यवस्था का एक नया सिद्धान्त है जिसका लक्ष्य है—उपज का उचित वितरण। समाजवाद व्यक्ति को नौकरी दिलाना अथवा काम में लगाना अपना पहला कर्त्तव्य समझता है। समाजवाद के अन्तर्गत कार्य करने का अवसर पाना व्यक्ति का मौलिक अधिकार है। आधुनिक काल में कई देशों का शासन समाजवाद के सिद्धान्तों पर संचालित हो रहा है। सामाजिक न्याय के लिए आज संसार की सारी शक्तियाँ लड़ रही हैं। भारत में जमीदारी प्रथा का उन्मूलन समाजवाद की दिशा में एक बड़ा महत्वपूर्ण कदम है। अभी कांग्रेस सम्मेलन में भी इस बात का निश्चय किया गया कि भारत की आर्थिक पुनर्व्यवस्था समाजवाद के ही सिद्धातों पर की जायगी।

साम्यवाद आधुनिक काल में समाजवाद से अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली आर्थिक व्यवस्था है। इसे प्रायः लोग राजनीतिक सिद्धान्त मानते हैं पर वास्तव में साम्यवाद के मूल में अर्थ व्यवस्था है, न कि राजनीति। साम्यवाद वह आधार है जिस पर राजनीति का प्रासाद बड़े से बड़ा भूकम्प सहने की शक्ति रखता है।

प्रथम महायुद्ध के बाद साम्यवाद का सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग रूस में किया गया। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि साम्यवाद के कारण ही रूस आज विश्व का सबसे शक्तिश ली राष्ट्र है। रूस से गरीबी, अज्ञान, और असमानता सम्भवतः हमेशा के लिए विदाई ले चुके हैं और वहाँ की जनता जितनी सन्तुष्ट है और सुखी है उतनी संसार के किसी देश की जनता सन्तुष्ट और सुखी नहीं है।

साम्यवाद का बीजारोपण कार्लमार्क्स ने अपने ग्रंथ 'पूँजी' में किया है समाजवाद की तरह ही साम्यवाद भी पूँजीवाद का कट्टर शत्रु है। साम्यवाद का लक्ष्य है – मजदूर-राज्य। साम्यवाद आन्दोलन कभी कभी हिंसक आंदोलन का समर्थन करता है। साम्यवाद अपने को किसी एक देश तक सीमित रखकर सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह सम्पूर्ण ससार में अपना विस्तार करने की आकांक्षा रखता है, क्योंकि वह कहता है कि मजदूरों की समस्या हर जगह एक सी है, साम्यवाद उपज के साधनों पर व्यक्ति के अधिकार का कट्टर विरोधी है। साम्यवाद ईश्वर को नहीं मानता। क्योंकि उसके अनुसार धर्म 'अफीम' है जो व्यक्ति को इस बात की झूठी आशा दिलाकर कि वह अगले जन्म में संतुष्ट रहेगा, सुखी रखने का प्रयत्न करता है।

किन्तु साम्यवाद में हिटलर शाही का भय है। किन्तु यह हिटलर शाही : निम्न वर्ग की हिटलर शाही, जो विचारकों के अनुसार विशेष हानिकर हैं, क्योंकि निम्न वर्ग राजनीतिक बुद्धि नही रखता। दूसरे साम्यवाद मनुष्य को मशीन का एक पुर्जा बना देता है। वह भूल जाता है कि मनुष्य के अन्दर प्यार और भावना नाम की भी कोई वस्तु है। मनुष्य केवल रोटी के लिए नही जीता उसके शरीर के अन्दर एक आत्मा भी है जिसकी अपनी एक भूख है। साम्यवाद शरीर की भूख तो मिटाता है पर आत्मा को भूखों मार डालता है।

———

श्रमदान-आन्दोलन

गीता के आरम्भ में कहा गया है कि यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने उससे कहा "इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी समृद्धि हो, यह यज्ञ तुम्हारी कामधेनु हो। जो इस यज्ञ को किए बिना खा-ा है वह चोरी का अन्न खाता है।" "तू अपने पसीने की कमाई खा" यह बाइबिल का सिद्धान्त है। अतः श्रमदान का अर्थ होता है अपनी अर्जित शक्तियों का निःस्वार्थ भाव से वितरण करना। इसके अन्तर्गत वे ही साधन सम्मिलित किए जा सकते हैं, जिनका सबंध इसकी उन्नति से है। श्रमदान-आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य ग्राम सुधार तथा पंचवर्षीय योजना की सफलता ही है। सफलता की पूर्त्ति के लिए कृषि के साधनो को उन्नत बनाना भी आवश्यक है, कृषि सम्बन्धी साधन, सिंचाई के लिये नालियाँ बनाना, कुएँ खोदना, प्रकाश तथा वृक्षारोपण का समुचित प्रबन्ध करना अनिवार्य है।

भारत की आर्थिक स्थि- इतनी स्वस्थ्य एवं सबल नही है कि वह इ- सभी योजनाओं के लिये स्वतन्त्रता पूर्वक धन व्यय कर सके। अतः यदि हमें अपने देश को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना है, और राष्ट्रोन्नति के लिए अपनी समस्त बहुमुखी योजनाओं को सफ-न बनाना है तो हमारे लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि हम सभी देशवासी अपनी सारी शक्तिये को एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत करके कार्य की पूर्ति के लिए तन, मन, धन से संलग्न हो जायँ और देश को श्रमदान प्रदान करके एक ज्वलंत औ- आदर्श उदाहरण विश्व के समक्ष रखें।

यद्यपि सरकार भी इन योजनाओं के उद्देश्य की पूर्ति के लिये रुपये व्यय कर रही है किन्तु वह रुपया जनता का ही है जो उसे कर के रूप मे दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि सरकार द्वारा किसी भी

विशाल योजना का निर्माण होता है तो इसका प्रभाव जनता पर पड़ेगा क्योंकि योजना पूर्ति के लिये सरकार जनता पर अधिक से अधिक टैक्स लगायेगी जिसका परिणाम यह होगा कि दुखी, निधन एव पीड़ित जनता सरकार के आज्ञा पालन मे पिस जायगी। भारत मे प्रतिवर्ष अरबों रुपया श्रम का मूल्य चुकाने में ही व्यय हो जाता है। यदि श्रम-दान द्वारा इन रुपयो का समुचित सदुपयोग किया जाए तो यह निर्विवाद सत्य है कि इन्ही रुपयो द्वारा ग्राम सुधार अथवा पचायतों को भी पूर्ण लाभ हो, क्योंकि श्रमदान भी इसी योजना का एक अग है।

श्रमदान मनुष्य के शारीरिक एव आत्मिक विकास का मार्ग है। इसके अन्तगत आत्मशुद्धि और परोपकार की भावना को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है, और यही भावनाये हमें स्वार्थ से परमार्थ की ओर तथा पतन से उत्थान की ओर अग्रसर करने मे सहायक होती हैं। इनके ही द्वारा हमारी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का सन्तुलन स्थापित होता है। इस प्रकार शारीरिक तथा आत्मिक विकास के साथ देश की आर्थिक स्थिति के सुधार में, देश वासियो की प्रतिभा के पूर्ण विकास मे तथा राष्ट्र को समुन्नत बनाने में श्रमदान आन्दोलन अयन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

इस आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य जनता के हृदय मे रचनात्मक कार्यों के प्रति प्रेरणा उत्पन्न करना तथा पचवर्षीय योजना के विविध पक्षों को बल प्रदान करना है। २३ जनवरी १६५३ को प्रान्त भर में श्रमदान सप्ताह समारोह के साथ मनाया गया, इस आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिये इसे उच्च कक्षाओं के रचनात्मक पाठ्यक्रम मे भी सम्मिलित कर दिया गया है।

श्रमदान से देश की समस्याऐ तभी हल की जा सकती हैं जब हमारी सरकार जनता के समस्त कष्टों को दूर करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील हो, और अपनी योग्यता तथा ईमानदारी का पूर्ण परिचय दे तथा यह विश्वास हो कि उनके सम्मिलित श्रम का उचित लाभ उसे पर्याप्त वेतन में मिलेगा। उस समय बिना आन्दोलन चलाये ही जनता श्रमदान के महत्व को समझ जायगी।

आज का शिक्षित वर्ग श्रमदान को केवल मनोरंजन का एक मात्र साधन

समझता है, इस आन्दोलन में शिक्षित समुदाय के वही व्यक्ति भाग ले रहे हैं जो सरकार की दृष्टि में ऊँचे उठकर पद-लाभ करना चाहते हैं। ऐसे स्वार्थी और पदलोलुप व्यक्ति केवल प्रसिद्धि चाहते हैं, उद्देश्य की पूर्ति नहीं, अतः जब यही व्यक्ति नियुक्त होकर गाँवों में श्रमदान के लिए जाते हैं तो ग्रामवासी इनकी कार्य के प्रति तन्मयता एवं अभिरुचि न देखकर केवल दिखावा मात्र समझते हैं, और इन योजनाओ के उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देने की अपेक्षा वे लोग और भी बाधक सिद्ध होते हैं। ग्रामवासी इस प्रकार की योजनाओं की आर्थिक या सामाजिक उपयोगिता बहुत कम समझते हैं। अधिकाश स्थानों मे जैसे कानपूर, जबलपुर आदि स्थानों में यह कार्य बहुत ईमानदारी के साथ संपन्न हो रहा है वहाँ की जनता का सहयोग प्रशंसनीय है।

सरकार के ग्रामीण विकास से संबंधित सभी विभाग जैसे नियोजन विभाग, पंचायते, प्रान्तीय रक्षा दल, जन निर्माण विभाग, सिंचाई विभाग आदि श्रमदान के कार्य में विशेष सहयोग दे रहे हैं। मन्त्री महोदय स्वयं फावड़ा कुदाल लेकर आन्दोलन का नेतृत्व करते हैं। मन्त्रालय के कर्मचारी तथा सार्वजनिक संस्थायें भी इस आन्दोलन मे सहयोग दे रही हैं। भारत-सेवक समाज की सेवाये इस दिशा मे विशेष सराहनीय हैं। इन संस्थाओं के प्रमुख महत्वपूर्ण कार्य स्वच्छता, नालियो का निर्माण करना, सड़कों की मरम्मत करना आदि हैं।

सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार केवल उत्तर प्रदेश में सात लाख आठ सौ चार मील सड़कों का निर्माण हुआ, दो सौ तैंतालिस तालाब खोदे गए, दो सौ पचपन तालाब गहरे किये गये, पाँच सौ छियालिस कूप बनाये गए, उन्हत्तर मील लम्बी नालियाँ सिंचाई के लिये, और बासठ पुलियों तथा तीन पुलो का भी निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त एक लाख पचीस हजार सात सौ सात नालियां गन्दे पानी के निकास के लिये तथा इकसठ हजार चार सौ इकहत्तर कम्पोस्ट के गढ़े भी बनाये गये।

श्रमदान का प्रमुख उद्देश्य पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के साथ ही साथ जनता में नैतिक बल, देश भक्ति तथा स्वार्थ त्याग की उत्तम भाव-

नायें उत्पन्न करना है, क्योंकि इनके अभाव मे कोई राष्ट्र निर्माणकारी योजना सफल नहीं हो सकती ।

आज जब देश की जनता के समक्ष बेकारी की विभीषका फैली हुई है और मनुष्यों की जीविका के प्रर्याप्त साधन नहीं दिखलाई पड़ते, ऐसी परिस्थिति में श्रमदान का अवलम्ब ग्रहण करने से ही इन समस्याओं में सुधार होना संभव है। सर्व-साधारण का मत भी यही है कि यदि सभी देशवासियों का ध्यान श्रमदान की ओर आकृष्ट हो तो निश्चय ही इन समस्याओं का निदान हो जायगा और भारत की जनता सुखी, सम्पन्न एवं स्वस्थ हो जायगी ।

———

काश्मीर की समस्या

युगों की परतंत्रता के पश्चात् हम स्वाधीन हुए किन्तु हमारी समस्याओं का समाधान न हुआ। हमारे समक्ष एक के पश्चात् दूसरी समस्यायें आती ही गईं उनमें से प्रमुख समस्या थी काश्मीर समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत दो भागों मे विभाजित कर दिया गया। पहला भारत का विभाजन था, दूसरा पाकिस्तान का। समस्त देशी रियासतों का अन्य छोटे-छोटे राज्यों को प्रातो मे सम्मिलित कर या उन्हें संघात्मक रूप देकर प्रातों में संगठित कर लिया गया। किन्तु हैदराबाद और काश्मीर का प्रश्न न हल हो सका। हैदराबाद में हिन्दुओं की संख्या बहुत थी परन्तु निजाम मुसलमान था, वह कासिम रिजवी की सहायता से पाकिस्तान मे सम्मिलित होना चाहता था। परंतु विशेष कार्रवाइयों के पश्चात् हैदराबाद शीघ्र ही भारत मे सम्मलित कर लिया गया। काश्मीर के जम्मू प्रदेश मे हिन्दुओं की संख्या अधिक है और काश्मीर की घाटी में मुसलमानो की। हरीसिंह वहाँ के शासक थे, उन्होंने भारत मे सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की किन्तु भारत ने विशेष ध्यान न दिया। परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान अपनी आन्तरिक स्थिति पर नियंत्रण न रख सका और उसने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर ने भारत से सहायता मांगी, उसके रक्षार्थ भारत से सैनिक भेजे गए। काश्मीर के प्रधान मंत्री शेख अब्दुल्ला और प० नेहरू की सम्मति से मामला सुरक्षा परिषद् को सौंप दिया गया। युद्ध विराम का आदेश दिया गया, सैनिकों ने युद्ध करना स्थगित कर दिया। काश्मीर का एक भाग जो सारे काश्मीर का चौथाई है उस पर पाकिस्तान ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

श्री ग्राहम के नेतृत्व में सुरक्षा परिषद् के द्वारा इस बात का निरीक्षण

करने के लिये कि आक्रामक कौन है ? एक आयोग काश्मीर के लिए नियुक्त किया गया। निरीक्षण करने पर पाकिस्तान पूर्ण रूप से दोषी सिद्ध हुआ, साथ ही ग्रेट-ब्रिटेन और अमेरिका की कूट नीतिज्ञता का भी परिचय मिला जिसके फल स्वरूप आज तक काश्मीर की समस्या सुलझ न सकी।

इसी बीच भारत के द्वारा भी एक महान् भूल हुई। प० नेहरू ने कहा कि काश्मीर की समस्या द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के आधार पर हल नहीं की जा सकती। लोक-निर्णय द्वारा ही उसका समाधान हो सकेगा। अतः काश्मीर के भाग्य का निर्णय काश्मीर की जनता ही करेगी। इस पर सुरक्षा परिषद को अवसर मिला, उसने कहा कि दोनों देश स्वयं अपने आपसी झगड़ों का निपटारा कर लें किन्तु पाकिस्तानियों की नियत साफ न थी इसलिए वे किसी भी हल पर सहमत न हुए। यद्यपि पंडित नेहरू से पाकिस्तान के भूतपूव मत्री लियाकतअली खॉं तथा वर्तमान मंत्री मुहम्मद अली से कई बार इस विषय पर वार्तालाप हुआ किन्तु न तो इसका कोई निष्कर्ष ही निकला और न समस्या का समाधान ही हो सका।

काश्मीर की आर्थिक स्थिति मे पहले की अपेक्षा अब अत्यधिक परिवर्तन आ गया है। भूतपूर्व प्रधान मत्री अब्दुल्ला काश्मीर केभाग्य को अन्यत्र ले जा रहे थे—समय रहते चेतावनी मिली—भारत चेता और अब्दुल्ला साहब कारागार मे बन्द कर दिये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि काश्मीर की धारा सभा ने भारत मे सम्मिलित होने का दृढ़ निश्चय कर लिया। पाकिस्तान ने स्वयं को निर्बल समझ अमेरिका को मित्र बना लिया। जिससे अमेरिका अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिको द्वारा उसकी सहायता करे। अमेरिका ने अपना पूरा लाभ देखा अतः पाकिस्तान के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योंकि वह पाकिस्तान के आधीन काश्मीर के भाग को अपने भावी महायुद्ध का केन्द्र स्थल बनाना चाहता था। काश्मीर मे ही चीन, रूस, भारत एव पाकिस्तान की सीमायें भी आकर मिलती हैं। रूस की सीमा यहॉं से अत्यत निकट है। सैनिक समझोता होने पर प्रधान मत्री ने अपने वक्तव्य मे कहा 'काश्मीर की समस्या का रूप इस समझौते ने बदल दिया है, मत गणना की प्रतिज्ञा तब तक पूर्ण नहीं की जा सकती तब तक शांति की स्थिति स्पष्ट न हो जाय। साथ ही

पाकिस्तान का यह प्रस्ताव अब मान्य नहीं है कि अपनी सेना काश्मीर से वापस बुला ले तब मत गणना हो।"

किन्तु कूटनीतिज्ञों का कथन है कि वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित काश्मीर की धारा-सभा का भारत के साथ रहने का निश्चय वहाँ की जनता के इच्छा व अनिच्छा पर निर्भर है। इस रूप में मतगणना का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। दूसरी ओर पाकिस्तान का कहना है कि धारा सभा जनता की सच्ची प्रतिनिधि सभा नहीं है। मुहम्मद अली ने ढाका में भाषण देते समय भारत को यह धमकी दी कि यदि कराची में पण्डित नेहरू से मिलकर वार्ता तय न हुई तो पाकिस्तान दूसरा मार्ग ग्रहण करेगा।

जून १९५५ के तीसरे सप्ताह में भारत के गृहमन्त्री श्री पन्त काश्मीर गये थे वहाँ पर अपने वक्तव्य मे उन्होंने कहा कि धारा सभा ने काश्मीर के भाग्य को भारत के साथ जोड़ दिया है। ऐसी सूचना पाकर पाकिस्तान भर में हलचल सी मच गई। पाकिस्तान ने दूत द्वारा भारत सरकार के निकट एक विरोध पत्र भेजा।

सच तो यह है कि पाकिस्तान भारत से कोई शान्तिपूर्ण समझौता नहीं चाहता। इसी एक ओर तो वह समझौता की बात करता है, दूसरी ओर इसके विपरीत लुटेरों और आक्रमकों के रूप में वहाँ प्रवेश करके भोली-भाली काश्मीरी जनता को तबाह करने से भी बाज नही आता। भारत अपने निश्चय पर अटल है। एक ओर हिंसात्मक तथा दूसरी ओर अहिंसात्मक वृत्तियो का संघर्ष चल रहा हैं, इसमें विजय उसी की होगी जो सच्चा, न्यायी, एवं त्यागी होगा, क्योंकि इन विभूतियों के समक्ष संसार की महान् से महान् शक्तियाँ भी नतमस्तक हो जाती हैं।

ध्यान रहे कि पाकिस्तान सरकार के प्रति भारत सरकार की नीति अभी तक अत्यन्त सद्भावनामूलक एवं न्यायपूर्ण मैत्री-भावना की रही है। किन्तु पाकिस्तान सरकार ने भारत की इस उदार नीति से अनुचित लाभ उठाकर उसके प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार किया है। 'पंचशील' के प्रचारक भारत ने अब तक पाकिस्तान के प्रति अत्यन्त सहिष्णुता का व्यवहार किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वह पाकिस्तान के अक्षम्य व्यवहारो को पड़ोसी-

धर्म से शान्ति के साथ क्षमा करता चला आ रहा है किन्तु इसकी भी अपनी एक सीमा होती है। पन्त जी ने भारतीय सीमा पर उपद्रव मचाने वाली पाकिस्तानी सेना को सतर्क करते हुए कठोर शब्दो मे चेतावनी दी थी कि—

'भारत पर यदि कोई बदनीयत भरी दृष्टि डालेगा तो या तो उसे ठीक तरह से देखना सिखाया जायेगा या फिर उसकी आँखें ही निकाल ली जायेगी। दूसरी ओर काश्मीर मे जनमत के प्रश्न को पडित नेहरू ने स्पष्ट अस्वीकार कर दि ा है क्योंकि पाकिस्तान द्वारा सैनिक दबाव डालने की नीति से यह जनमत न्याय पूर्ण सिद्ध नहीं हो सकेगा। साथ ही यह भी विचारणीय हैं कि जब पाकिस्तान राष्ट्र संघीय कमीशन के प्रस्तावों की अपेक्षा कर रहा हो, अमेरिका से शस्त्रास्त्र लेकर भारत के विपरीत युद्ध का वातावरण प्रस्तुत कर रहा हो, साथ ही अमेरिकन गुट में बैठकर कही 'सीटो' में तो कहीं बगदाद सधि मे सहयोग दे रहा हो, उस स्थिति मे जनमत गणना एव शान्ति के साथ समस्या को सुलझ जाने की सभावना कम है।

इस प्रकार की पाकिस्तानी चेष्टाओ को ध्यान में रखकर रूस के प्रधान मंत्री श्री बुल्गानिन एवं कम्युनिस्ट दलीय महामत्री श्री क्रुश्चेव ने काश्मीर के सम्बन्ध मे भारत की नीति का समर्थन करते हुए अपनी भारत यात्रा पर जो विचार व्यक्त किए थे उसका समर्थन करते हुए हमारे प्रधान मन्त्री ने कहा था—

'कानूनी संविधानिक और व्यावहारिक दृष्टि से उनका काश्मीर सम्बन्धी वक्तव्य बिल्कुल सही है और साथ ही काश्मीर के विवाद में 'सीटो' द्वारा अनुचित हस्तक्षेप करने वाले राष्ट्रों की चुनौती है। पंडित जी ने तो निर्भय होकर न्यायोचित घोषणा कर दी है कि काश्मीर वैधानिक रूप से भारत का ही एक अग है। अब ससार की कोई शक्ति इसे भारत से विच्छिन्न नहीं कर सकती। भारत और काश्मीर की जनता भी इस विवाद के शीघ्र समाप्त होने की राह देख रही हैं। सन् १९५६ में सयुक्त राष्ट्र सघ की सुरक्षा परिषद के प्रतिनिधि श्री गुन्नार यारिंग भारत आए थे, उन्होंने जिनेवा में जाकर पाकिस्तान काश्मीर समझौते की रिपोर्ट प्रस्तुत की किन्तु उससे समस्या किसी प्रकार हल नही हो सकी। देखिए भविष्य के गर्भ में क्या है?

— — —

भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या

भारत की अधिकांश आर्थिक कठिनाइयों का कारण यहाँ की बढ़ती हुई जनसंख्या ही है। एक समय था जब कि भारतवर्ष उत्कर्ष के शिखर पर आसीन था। लोग सुखी थे। आर्थिक कठिनाइयों का कहीं नाम निशान भी न था। यहाँ के निवासियों को जीविकोपार्जन के लिए कठिन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता था। खेती के कार्यों के अतिरिक्त वे अपने अवकाश के समय में कुटीर उद्योग-धन्धों के छोटे-मोटे कार्य किया करते थे। इस प्रकार वे अपनी सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति स्वयं कर लेते थे और पूर्णतः सन्तुष्ट थे। उस समय जनसंख्या भी इतनी न थी और न तो सर्वत्र बेकारी का साम्राज्य ही था।

अंग्रेजों के आगमन से हमारे ग्रामीण उद्योग-धन्धों को विशेष क्षति पहुँची। उन्होंने अपनी सर्वग्रासी मशीनों का प्रचलन करके यहाँ के कुटीर उद्योग-धन्धों का नाश कर दिया। फलस्वरूप हमारे गरीब ग्रामीण बन्धु, जो कि पहिले आत्मनिर्भर थे, पंगु से हो गए। उनके अवकाश का समय यों ही बीतने लगा क्योंकि खेती के अतिरिक्त उनके पास कोई ऐसा कार्य ही न रह गया जिससे वे अपनी आर्थिक दशा सुधार सकते। क्योंकि मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुएँ अपेक्षाकृत अधिक सस्ती और सुन्दर हुआ करती थीं। इसी लिए इनका प्रचार दिनों दिन बढ़ने लगा और कुटीर उद्योग-धन्धों के पल्लवित एवं पुष्पित पौधों का समूल नाश हो गया अंग्रेजों की इस कूटनीति के फल-स्वरूप भारत में भयङ्कर बेकारी और दरिद्रता ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

बेकारी और दरिद्रता का प्रमुख कारण यह था कि अंग्रेजों को भारत की

आर्थिक सम्पन्नता से विशेष मोह न था, इसके अस्तित्व को मिटाकर अपने ही राष्ट्र तथा जाति को सर्वसम्पन्न बनाने मे सलग्न रहे। अधिक से अधिक शोषण करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। फिर भी वे अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति न समझ सके। उन्होंने भारत की दरिद्रता का मूल कारण अपने शासन की त्रुटियों को न बतलाकर निरन्तर बढ़ती हुई जनसख्या को ही बतलाया। इस रोग का निदान करने के लिए उन्होंने कृषि कला में उन्नति करनी चाही और वह भी विशेष यन्त्रो के प्रयोग से। इसके पीछे उनका जो स्वार्थ छिपा था वह किसी से छिपा नही है।

कभी कभी यह कहा जाता है कि प्रकृति जनसंख्या और खाद्य-सामग्री के बीच सामजस्य बनाए रखना चाहती है। यही कारण है कि दुभिक्ष, बाढ़, भूचाल, महामारी आदि प्राकृतिक निरोधक उपस्थित हो जाते है। किन्तु यह उक्ति अधिकाश मे सत्य नही जँचती। क्योंकि ये आपत्तियाँ केवल भारत में ही नही आती और न वे भारत के लिए नई समस्यायें ही हैं। भूतकाल में भी भारत तथा अन्य देशों मे ऐसी आपत्तियाँ आती रही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ देशों ने इन आपत्तियों से बचने के लिए विशेष प्रकार के उपाय खोज निकाले हैं और भारत इस दिशा मे अभी अधिक प्रगति नहीं कर सका। सम्प्रति देश के नेतागण इस ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं। आशा है, कुछ ही दिनों मे इन आपत्तियों के भयङ्कर विनाश से मनुष्य जाति की रक्षा करके उसे सुख और शान्ति प्रदान किया जा सकेगा।

क्या भारत की जनसख्या अधिक है? इस प्रश्न का उत्तर देना भी सहज नही है क्योंकि अनुकूलतम् सिद्धान्त से दूसरा ही अनुमान निकलता है। इसके विपरीत बेकारी एव दरिद्रता पर ध्यान देने से तथा साधनों के वर्तमान उपयोग के अश की तुलना से भारत की जनसख्या अधिक ठहरती है। 'भारत जनसंख्या की वृद्धि से संत्रस्त है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारत में उत्पादन के साधन इतने पर्याप्त नहीं हैं जिनसे भारत की निरन्तर बढ़ती हुई जनसख्या का पूर्णतः निर्वाह हो सके। कुछ विचारकों का अनुमान है कि निरन्तर बढती हुई जनसख्या के भार से एक वर्ग मील जोतने योग्य भूमि मे ५२३ व्यक्ति हैं और सम्पूर्ण देश में समष्टि रूप से एक वर्ग मील में

में २५५ व्यक्ति हैं। विद्वानों का कथन है कि पूर्ण उन्नतिशील और विकसित देश में प्रति वर्ग मील २५० व्यक्ति होने चाहिये। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव मे भारत अत्यधिक जनसंख्या के भार से पीड़ित है और इसी कारण से ससार के समस्त प्रगतिशील देशों के सम्मुख बहुत पिछड़ा हुआ है।

जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए, उसमे कुशलता लाने के लिए तथा खाद्य समस्या का समुचित हल खोजने के लिए भी जनसंख्या की वृद्धि को रोकना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य को सुधारने तथा भविष्य मे जनसंख्या की गुणात्मक उन्नति के लिए भी भारत की जनसंख्या की वृद्धि को रोकना श्रेयस्कर है। ससार के अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा भारतीयों की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बहुत कम है। सन् १६५० को 'राष्ट्रीय आय समिति' के अनुसार सन् १६४८-४६ मे यह आय २५५ रुपया थी। साथ ही समिति ने यह भी बतलाया कि वास्तविक आय सन् १६३१ की अपेक्षा १० नीचे गिर गई है। इससे स्पष्ट है कि देश की आर्थिक सम्पन्नता का स्तर नीचे गिर गया है। प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि की उन्नति पर ध्यान देने का प्रमुख कारण इस स्तर को ऊँचा उठाना ही था। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह विदित होता है कि कृषि तथा उत्पादन दोनों मे ही वृद्धि हुई है किन्तु इस वृद्धि से भी आगे जनसख्या की वृद्धि हुई है जिसके कारण उपभोग का स्तर नीचे गिर गया है। उपभोग का स्तर ऊँचा उठाने के लिए जनसंख्या की इस निरन्तर वृद्धि को रोकना नितान्त आवश्यक है।

यद्यपि भारतवर्ष की भौगोलिक व्यवस्था ने इसे ससार का एक महत्वपूर्ण कृषि प्रधान देश बना दिया है एवं प्रकृति ने भी इसे प्रचुर उपहार प्रदान किए हैं किन्तु इसके निवासी अशिक्षित, रूढ़िवादी एवं सामाजिक प्रथाओं के अन्ध भक्त हैं। साथ ही निर्धन और अशिक्षित होने के कारण वे उन्नति करने मे असफल हैं। उनकी प्रगति में उनका ऋण-भार भी एक अभिशाप रहा है। यदि वे अपनी रूढ़िवादिता की अन्ध-भक्ति से परे होकर वैज्ञानिक पद्धति को अपना लें एवं प्राकृतिक उपहारों का यथोचित उपयोग करें तो राजस्थान की मरुभूमि को भी स्वर्णिम अनाज के दानों में परिणत

कर सकते हैं। और इस प्रकार भारत की बढ़ती हुई जनसख्या के लिए खाद्य-सामग्री की एक महत्वपूर्ण समस्या सहज मे ही हल की जा सकती है।

भारतीय जनसंख्या की वृद्धि मे अनेक कारणों ने हाथ बटाया है जिनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण कारण निम्न हैं :—

१—देश की दरिद्रता जनसख्या की वृद्धि का प्रमुख कारण है। रोटी और कपड़े के लिये तरसने वाले व्यक्ति से किसी उदात्त जीवन की आशा करना व्यर्थ है। वैज्ञानिकों का मत है कि कमजोर मनुष्य में सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है। इसके अतिरिक्त निर्धन व्यक्तियों के पास मनोरंजन के साधन बहुंत ही कम होते हैं। संभोग जनित आनन्द ही उन्हें सुलभ होता है अतः जनसंख्या का बढ़ना स्वाभाविक ही है।

२—भारत मे प्रत्येक स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य है। अविवाहित स्त्रियों को समाज आदर की दृष्टि से नही देखता। पुरुष को आत्म-समर्पण करने मे ही उनकी श्रेष्ठता समझी जाती है। अतः घर के भीतर रहना और पुरुष के मनोरजन का साधन बनना ही उनका एक मात्र कर्तव्य हो जाता है। इसीलिए जनसख्या की वृद्धि दिनोदिन बढ़ती जा रही है।

३—अशिक्षा के कारण लोग उच्च जीवन-स्तर की ओर ध्यान ही नही दे पाते अतः उन्हें इस बात की चिता ही नहीं रहती कि वे कितने बच्चों के बाप हो रहे हैं।

४—बाल-विवाह तथा बहु-विवाह भी जनसख्या की वृद्धि के प्रमुख कारण हैं। भारत की जलवायु उष्ण है अतः यहाँ के बालक एव बालिकाऐं छोटी अवस्था में ही बच्चे जनने की क्षमता प्राप्त कर लेती हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता छोटी आयु में ही अपने बच्चों का विवाह कर देना उचित समझते हैं जो कि भारत की अनेक समस्याओं को सहज में ही उत्पन्न कर देता है। बहु विवाह की प्रथा भी जन सख्या की वृद्धि मे कम सहायता नहीं पहुँचाती। एक स्त्री से सन्तान न होने पर या किसी अन्य कारणवश लोग दूसरी स्त्री से विवाह कर लेते हैं जो देश और समाज दोनो के लिए घातक ही सिद्ध होता है।

५—सन्तान उत्पन्न करना भारतीयों का प्रमुख धर्म रहा है क्योंकि पैदा होते ही वे त्रिऋण के भार से बोझिल हो जाते हैं :—

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाजायते।

यज्ञेन देवेभ्यो, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, प्रजया पितृभ्यः ॥"

यदि वे कम से कम एक पुत्र उत्पन्न न कर दें तो पितृ ऋण से उरिण ही न हों !

६—इसके अतिरिक्त सतति-निग्रह संबंधी शिक्षा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के अभाव से भी जनसंख्या की वृद्धि होती है।

शिक्षाओं तथा नीतियों का प्रभाव बहुधा दीर्घकाल में पड़ा करता है। अतः उपरोक्त कारणों की जानकारी मात्र से जनसंख्या की वृद्धि को रोकना अत्यन्त दुस्तर है। अनुभवों से पता चलता है कि पाश्चात्य देशों में जीवन का स्तर ऊँचा होने से जनसख्या की वृद्धि प्रायः समाप्त हो रही है। किन्तु जीवन का स्तर सहज में ही ऊँचा नहीं किया जा सकता विशेषकर भारत जैसे रूढ़िवादी देश मे। भविष्य मे हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या ही हमारी सभी प्रकार की असफलताओ का कारण होगी अतः इसे रोकना नितान्त आवश्यक है। जनसंख्या पर नियन्त्रण रखने के कुछ उपाय निम्न हैं—

१—जीवन स्तर को ऊँचा उठाने पर इस दिशा मे सफलता मिल सकती है। जीवन-स्तर को ऊँचा उठाये बिना भारत जैसे देश में सफलता पाना नितान्त असम्भव है।

२—स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना भी श्रेयस्कर होगा। इससे स्त्रियाँ एकमात्र पुरुष के मनोरंजन का साधन न रह कर कुशल कार्य-कर्त्री सिद्ध होगी एवं जीवन का स्तर स्वतः ऊँचा हो जायगा।

३—स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा का प्रसार भी होना परमावश्यक है।

४—सामाजिक प्रथाओ मे सुधार करके बाल-विवाह तथा बहु-विवाह को रोकने से यह समस्या सुलझायी जा सकती है।

५—सन्तान विरोधी शिक्षा का प्रचार करके इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। किन्तु साथ ही हमें शिक्षा के स्तर को विस्तृत एवं

व्यापक बनाना होगा जिससे अशिक्षित जन समुदाय अधिक सतानोत्पत्ति के लाभ व हानि को पूर्ण रूप से समझ सके।

६—सपत्ति एवं उत्पादन का विभाजन न्यायोचित पद्धति पर होना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति के भरण-पोषण की पूर्ति की सुविधा हो और उसके मानसिक तथा सास्कृतिक रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो सके।

किन्तु स्मरण रहे कि उपर्युक्त सभी उपाय दीर्घ-कालीन हैं क्योंकि व्यावहारिक दृष्टिकोण से जनसंख्या की वृद्धि को रोकना प्रायः कठिन होता है। इन शिक्षाओं का प्रभाव बहुत दिनों में पड़ेगा। किन्तु हमे हताश नहीं होना चाहिये। सरकार को एक ओर तो जनसंखया को रोकने का प्रयास करना चाहिये और दूसरी ओर एक निश्चित योजना के आधार पर उत्पादन में बृद्धि लाने का प्रयास करना चाहिये क्योकि उत्पादन में वृद्धि हो जाने पर जनसंख्या की समस्या का समाधान स्वतः हो जायगा। परिवार नियोजन सम्मेलन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुये पडित जवाहरलाल नेहरू ने १४ फरवरी १६५६ को कहा कि भारत में आज बढ़ती हुई जनसख्या को सीमित करना बहुत आवश्यक है। तृतीय पंचवर्षीय योजना बनाने में हमे सात वर्ष के बाद जनसंख्या का भी ध्यान रखना होगा, जिसमे भोजन, स्वास्थ्य, काम आदि सब आ गये हैं। यदि जनसख्या बराबर बढ़ती रही तो पचवर्षीय योजना का कोई अर्थ न रहै।

बिक्री कर और उसका औचित्य

"मै जानता हूँ कि प्रायः लोग यह चाहते हैं कि बिक्री कर लगाया ही न जाय। इस बात के पक्ष में बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु कोई भी सरकार जो इस प्रकार के विरोधों को मान ले कायम नहीं रह सकती। इसलिए ऐसी बहस में न पड़ना ही बुद्धिमानी है।" महात्मा गाँधी के इन्हीं विचारों का अनुसरण करते हुये उनके अनुयायियों ने यकायक ऐसे अध्यादेश जारी किए कि युद्धकालीन मँहगाई से संत्रस्त जनता बिक्री करों के असह्य भार से तिल-मिला उठी। स्थान-स्थान पर विरोध का प्रदर्शन हुआ, साप्ताहिक हड़तालें हुईं एवं तरह तरह के नारे लगाये गये। यद्यपि यह स्पष्ट है कि अन्ततोगत्वा लाभ जनता का ही होगा किन्तु जीवन रक्षक वस्तुओं पर भी कर लगा देना कहाँ तक उचित है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। बापू ने जिस नमक कर को तोड़ने के लिए सत्याग्रह किया था, अन्न आदि के साथ-साथ वह भी कर मुक्त न हो सका!

उत्तर प्रदेश में जब पहिले पहल कर लगाया गया तो पानी, नमक, गल्ला, दूध, गुड़, किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ, मास तथा फल और तरकारियों आदि वस्तुएँ कर मुक्त थीं किन्तु सम्प्रति अध्यादेशों से जनता को जो कष्ट हुआ है वह अभूतपूर्व है। सन् १९५३-५४ में उत्तर प्रदेश सरकार को प्रति व्यक्ति के पीछे ०·८१ प्रतिशत रुपये की आय थी जब कि सन १९५५-५६ में यह आय बढ़कर ९·३ प्रतिशत हो गई। वर्तमान अध्यादेशों से दो महत्वपूर्ण कार्य हुये हैं। एक तो सरकार की आय बढ़ी और दूसरे जनता की परेशानी। इन अध्या-देशों में नियोजित बिक्री कर से राज्य सरकार की वार्षिक आय तो ५॥ करोड़ रुपये से बढ़कर १२॥ करोड़ रुपये तक पहुँच जायगी किन्तु साथ ही साथ उपभोक्ताओं, दुकानदारो तथा व्यापारियों की परेशानियो मे कम वृद्धि न होगी।

उत्तर प्रदेश का सूचना विभाग सूचित करता है कि "यदि हमे विकास करना है तो हमे अपना विकास-व्यय और सरकार की आय बढ़ानी होगी। बिक्री-कर दूना हो जाने पर भी उसका भार अन्य प्रदेशो की तुलना में कम ही रहेगा।"

किन्तु इस विकास के नाम पर करों का जो असह्य भार लादा गया है उससे एक नए ढंग की बेकारी के उत्पन्न होने की सम्भावना है क्योंकि बिक्री कर का हिसाब-किताब रखने मे दुकानदार बहुत परेशानी मे पड़ जाएंगे। उन्हें इसके लिये एक अलग मुनीम रखने की आवश्यकता पड़ेगी तथा छोटे-छोटे दुकानदार मुनीम का भार सम्भालने में असमर्थ हो जाएँगे। अधिक परेशानी के कारण वे अपना कार-बार छोड़ देंगे एवं व्यापारियों की इस परेशानी का विस्तार होने के कारण एक अभूतपूर्व बेकारी की समस्या का प्रादुर्भाव होगा जो कि किसी भी दृष्टिकोण से अच्छी नही कही जा सकती।

बिक्री कर के अनौचित्य पर विचार करते हुये श्री गोपीनाथ कुँजरू लिखते हैं—"विधान सभा में सरकार द्वारा विक्री कर की वृद्धि के लिए पेश की गई दलीले अनिर्णयात्मक प्रतीत होती हैं। वर्तमान वातावरण में बिक्री कर के अध्यादेश को जारी करने की आज्ञा सविधान के ऊपर धोखा है और साथ ही विधान सभा तथा उत्तर प्रदेश के साथ भी धोखा है।

वित्त मन्त्री ने कहा है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिए धन की आवश्यकता है और राज्य को भारत सरकार से अधिक धन न प्राप्त होने के कारण अतिरिक्त कर लागू करना पड़ा। वित्त मन्त्री दारा नवीन करों के लागू करने के कारणो को नीचे दिया जा रहा है :—

१—उत्तर प्रदेश में कर का अनुपात ३·२४ है और देश मे यह सबसे कम है।

२—प्रति व्यक्ति पीछे १८ प्रतिशत आय बढ़ी है और इस बढ़ी हुई आय की कुछ निर्धारित रकम राज्य सरकार को प्राप्त होना चाहिये।

३—सन् १९५२ के बाद से कोई अन्य कर लागू नही किया गया है।

सन १९५२ के बाद से कोई अतिरिक्त कर लागू नहीं किया गया है

इसलिए सम्प्रति कर वृद्धि करना अति आवश्यक हो गया, यह न्यायसगत नही प्रतीत होता। × × × प्रति व्यक्ति पीछे १८ प्रतिशत की आय में अभिवृद्धि हुई है ऐसा कहना विश्वसनीय नही प्रतीत होता।"

बिक्री करों के अध्यादेश से जो कि ३१ मार्च १६५६ को प्रकाशित हुआ था, तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जो इस प्रकार हैं :—

१—पहले बहु-पद कर केवल १ पैसा रुपया लगता था किन्तु नये अध्यादेश से सरकार ने २ पैसा लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।

२—पहले कर लगाने की १५ हजार बिक्री की जो सीमा थी वह आयात-कर्ताओं के लिए भी थी। नये अध्यादेश से एक-पदीय वस्तुओं का आयात-कर्ता यदि १० हजार से कम माल मॅगाता है तो भी उसे बिक्री कर देना पड़ेगा।

३—एक-पदीय कर लगाने की अधिकतम् दर पहले ४ वस्तुओं को छोड़ कर अन्य सब पर ३ पैसा रुपया थी किन्तु नए अध्यादेश से सरकार को प्रत्येक वस्तु पर ४ पैसे तक एक-पदीय कर लगाने का अधिकार मिल गया है।

उक्त बातों से स्पष्ट है कि वास्तव मे कर बिना अधिक विचार के ही आवेश में लाद दिया गया है। कोई भी सरकार प्रायः अध्यादेश उसी समय लागू करती है जब कोई विशेष परिस्थिति आ जाती है अथवा जब वह समझ लेती है कि जनता अमुक कानून के विरुद्ध हैं। सरकार के अतिरिक्त खर्चों मे तो कमी नहीं की जाती, सरकारी कर्मचारियो का भत्ता नही रोका जाता, उल्टे गरीब जनता को परेशान करने के लिए विकास योजनाओ का लालच दिखाकर करों के प्रतिशत मे वृद्धि की जाती है। कई वस्तुऍ जो पहले कर मुक्त थी राज्यपाल के नये अध्यादेशों से कर युक्त हो गई हैं। इन वस्तुओं की तालिका इस प्रकार है :—

एक आना वाली वस्तुऍ :—(१) मनुष्य अथवा पशुश्रम द्वारा चालित उपकरणों से भिन्न कृषि उपकरण (२) बाइसिकल, ट्राइसिकल तथा उनके भाग (३) बीड़ी (४) हाथकरघे से निर्मित कपड़े से भिन्न सभी प्रकार के कपड़े,

जिसके अन्तर्गत धोती साडी तथा पलग की चादरे भी हैं (५) सौंदर्यवर्धक और सौंदर्य प्रसाधक सामग्रियाँ (६) सभी प्रकार के रासायनिक द्रव्य (७) सिगार, सिगरेट तथा पाइप की तम्बाकू (८) क्राकरी, छुरी काँटे आदि चीनी मिट्टी और पोरसिलेन के बर्तन (६) रजक और रग तथा उनके बर्तन (१०) बिजली के सामान तथा काँच की चूडियाँ। इनके अतिरिक्त गोला-बारूद, फाउन्टेन पेन, फरनीचर, काँच के सामान, मोजे एव बनियाइनें, मिट्टी का तेल, जूट के सामान, कमाया हुआ चमड़ा, दियासलाई, शोरा, मोटरे, मोतियाँ, चन्दन का तेल तथा नमक आदि वस्तुएं भी आ जाती हैं।

तीन पैसे कर वाली वस्तुएँ :—ईट, सीमेन्ट तथा औद्योगिक ल्यूबरीकेएट्स।

दो पैसे कर वाली वस्तुएँ :—खण्डसारी शक्कर, अबरक, कपड़ा धोने का साबुन तथा हाथ से कते हुए सूत से भिन्न सभी प्रकार के सूत।

एक आना फुटकर कर वाली वस्तुएँ :—निम्नलिखित सूची मे उल्लिखित माल के विक्रय धन पर १ अप्रैल १६५६ से कोई कर न लगेगा, किन्तु फुटकर विक्रेता द्वारा बिक्री करने पर लगेगा।

भाँग, देशी शराब, गाँजा तथा अफीम आदि ऐसी ही एक आना फुटकर कर वाली वस्तुएं हैं। स्मरण रहे कि तीन पैसे और दो पैसे कर वाली वस्तुओं पर तभी कर लगेगा जब वे उत्तर प्रदेश के बाहर से आयात की जायेगी तथा आयात-कर्ता द्वारा बिक्री की जायेगी अथवा उत्तर प्रदेश मे निर्मित की जाएँगी एवं निर्माता द्वारा बिक्री की जाएँगी।

१ अप्रैल सन् १६५६ से अन्य सभी वस्तुओं पर बिक्री कर लागू कर दिया गया है। यह कर उन सभी व्यापारियों को देना होगा जिनकी बिक्री १० सहस्र रुपया वार्षिक तक की है। प्रत्येक दुकानदार को १० रुपया शुल्क देकर रजिस्ट्री करना अनिवार्य होगा। इस अध्यादेशसे वे सभी व्यापारी एवं छोटे-मोटे दुकानदार बिक्री कर देने के लिए बाध्य हो जाएंगे जिनकी मासिक आय ६०-७० रुपये तक की होगी। परिणाम यह होगा कि प्रत्येक व्यापारी नकली रजिस्टरों द्वारा कर से बचने का उपाय करेगा और भ्रष्टाचार एव अनैतिकता का बीजारोपण होगा।

गाँधी जी ने कर का औचित्य एवं अनौचित्य जानने के लिए कुछ विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"किसी कर की भलाई या बुराई जाँचने की सच्ची कसौटी यह है कि उसका भार गरीबों पर न पड़े। यह भी देखना चाहिए कि जो रुपया जमा हो, वह जनता की भलाई के लिये खर्च किया जाय। जनता की एक आदत का खासतौर से ध्यान रखना चाहिए - वह किसी भी टैक्स को पसन्द नहीं करती। जहाँ अच्छी हुकूमत है वहाँ टैक्स देने वाले का रुपया बेकार नहीं जा सकता है। यह सच है कि यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि हर टैक्स मे क्या लाभ है ? समाज जितना उन्नत होता है और सरकार के कर्त्तव्यों की जितनी वृद्धि होती है उतना ही टैक्स देने वालों को यह बताना कठिन हो जाता है कि टैक्स के रुपये से उन्हें क्या लाभ पहुँच रहा है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि टैक्स का उद्देश्य जनता की भलाई मे होना चाहिये और बिक्री कर को हमें इसी कसौटी पर जाँचना चाहिये।"

वर्तमान बिक्री कर को इस कसौटी पर कसने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव मे वह भोली जनता के लिए असह्य हो गया है। कहावत है कि 'उतनी पैर पसारिये जितनी लाम्बी सौर।' जनता की शक्ति का अनुमान किए बिना उस पर तरह-तरह के कर लगाने को कदापि श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। जब जनता की आर्थिक रीढ़ जो पहले से ही नाजुक है टूट जायगी तो वह भावी विकास के कार्यों से कौन सा लाभ उठा सकेगी ? इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में कर वृद्धि होने पर लोग अन्य समीपवर्ती राज्यों से वस्तुएँ लेना प्रारम्भ कर देंगे जिससे व्यापारियो एवं सरकार दोनों को ही क्षति की सम्भावना है।

पं० जवाहरलाल नेहरू भी इस कर से असंतुष्ट थे। उन्होंने ४ अप्रैल १९५९ को प्रयाग की एक विराट सभा में भाषण देते हुए कहा कि 'ऐसा कर भी नहीं लगाना चाहिये कि जिससे जनता की कमर ही टूट जाय।' इसके अतिरिक्त हमारे प्रधान मन्त्री जी ने आनन्द भवन मे कांग्रेस के सदस्यों से कहा कि 'आप जनता की भावनाओं को सरकार को बताइए।' इससे यह स्पष्ट है कि पं० नेहरू इस कर से सन्तुष्ट नहीं थे।

हर्ष की बात है कि हमारी प्रान्तीय सरकार ने अपनी भूलों को सुधारने का प्रयास किया और २१ मई १९५६ को विधान परिषद् में वित्त मन्त्री ने कुछ जीवनोपयोगी वस्तुओं से कर हटाए जाने की घोषणा की। इन वस्तुओं की सूची इस प्रकार है :—ज्वार, कुट्टू, भुना हुआ चना, रामदाना, सूखा सिघाड़ा, खली, बिनौला आदि। स्मरण रहे कि इसमें दूध, तरकारियाँ, फल, मास, नमक तथा हाथ द्वारा निर्मित अनेक वस्तुएँ भी आ जाती हैं।

किसी भी देश की समृद्धिशीलता उसके नागरिको के जीवन-स्तर पर निर्भर करती है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। अधिकाश जनता गाँवों मे रहती एवं दरिद्रता के रोग से बुरी तरह ग्रस्त है। अतः ऐसी अवस्था मे बिक्री कर के असह्य भार को मँहगाई से सत्रस्त जनता पर लाद देना वास्तव मे क्रूरता का परिचायक था। सरकार ने ज्ञान-विज्ञान की प्रचारक पुस्तको पर भी बिक्री कर लगा दिया था जो वास्तव में प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने के समान था किन्तु उसने अपनी त्रुटियों को समझ लिया और जीवनोपयोगी वस्तुओं को कर मुक्त कर दिया। जनता की माँग के अनुसार बिक्री कर को हटा देना भी कदापि श्रेयस्कर नहीं क्योंकि फिर तो सरकार की आय मे भारी क्षति पहुँचेगी और किसी भी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था स्थायी न रह सकेगी। हाँ, जीवनोपयोगी वस्तुओं को कर मुक्त करना सरकार का प्रथम कर्त्तव्य है। विलासिता एवं सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर इस क्षति की पूर्ति की जा सकती है; इससे कर भार उन पर पड़ेगा जिन्हें हम उच्च वर्ग के नाम से पुकारते हैं तथा जो दिनकर जी के शब्दों मे तेल और फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं एवं श्वानों को दूध भात खिलाते हैं, न कि गरीब एवं भोली जनता पर जो कि रोटी और कपड़े के लिए तरस रही है।

———

भारतीय रेल उद्योग और उसकी प्रगति

विज्ञान के अनेक अभूतपूर्व चमत्कारों में वाष्प-इञ्जिन का महत्व किसी से कम नहीं है। कदाचित् यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि आज यदि जार्ज स्टीफेंशन लौटकर पृथ्वी पर आवें तो उन्हें इस दिशा में होने वाली प्रगति को देखकर बड़ा आश्चर्य होगा क्योंकि उनके आविष्कार के सहारे मानव-जाति दिनों दिन उन्नतिशील एवं सुविधा प्रिय होती जा रही है। कौन जानता था कि बटलोई की वाष्प-शक्ति का अनुमान लगाकर इतना महान् आविष्कार सम्भव हो सकता है और उसमें थोड़े ही दिनों में आशातीत सफलता प्राप्त की जा सकती है !

यद्यपि भारतीय रेलों की आयु अभी ग्यारह शताब्दि भी नहीं हुई, तथापि इनकी प्रगति आश्चर्यजनक है। ब्रिटिश सरकार ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए भारत में रेलवे लाइन बिछाना प्रारम्भ किया। सन् १८४६ मे सर्व प्रथम बम्बई और थाना के बीच २२ मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाई गई। इसके पश्चात् कलकत्ता और रानीगंज तथा मद्रास और अर्कोनाम स्थानों को भी रेलवे लाइन द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित किया गया। ये प्रयत्न प्रायः प्रयोगात्मक थे किन्तु सफलता और लाभ को देखकर ब्रिटिश पूँजीपति इस ओर अग्रसर हुये और सन् १८५० के समाप्त होते-होते आठ रेलवे कम्पनियाँ चालू हो गईं। सन १८६८ में सरकार ने रेलवे कार्य को अपने हाथ मे ले लिया और उसकी प्रगति बढ़ती गई। जो हो, रेलवे के इतिहास का विस्तृत व्योरा न देकर हमे उसके महत्व और भविष्य पर विचार करना है। अतः विषय से बाहर न जाकर हम इसे यहीं छोड़े देते हैं।

भारत के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में रेलो का स्थान महत्वपूर्ण है। अन्य यातायात के साधनों में रेल की लोकप्रियता अधिक

सिद्ध हुई है। रेलवे लाइनों ने भारत के कोने-कोने को एक दूसरे से सम्बन्धित कर दिया है। सम्प्रति मद्रास में रहने वाला व्यक्ति पंजाब में रहने वाले व्यक्तियों से भली भाँति परिचित है। वह अपने को सभी देशवासियों के सन्निकट पाता है, तथा एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। इन सब का एकमात्र कारण रेल-उद्योग ही है। रेल उद्योग ने हमारे राष्ट्रीय जीवन को एकता के सूत्र मे पिरोकर उसे सुन्दरतम् स्वरूप प्रदान कर दिया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान करने मे रेलों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। रेलों ने दूरी को समाप्त करके पारस्परिक मैत्री का सन्देश दिया है जो वास्तव में सामाजिक जीवन को समृद्धि करने मे सहायक सिद्ध हुआ है।

जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा आर्थिक सम्पन्नता प्रदान करने में भी रेलों ने भारी सहयोग दिया है। रेलवे यातायात अन्य यातायात के साधनों से सुखप्रद एवं सस्ता होता है। लम्बी दूरी के व्यापारों तथा यात्राओं के लिये तो एकमात्र रेलों का ही सहारा लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस विभाग मे कार्य करने वाले कर्मचारियों की रोटी भी इन्ही रेलों पर निर्भर है। सम्प्रति सरकारी नौकरियो में रेलवे की नौकरी विशेष प्रिय हो गई है क्योंकि वेतन के साथ-साथ इसके कर्मचारियों को और भी अनेक तरह को सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

किसी भी देश का विकास यातायात के साधनों पर ही निर्भर करता है। उसकी उन्नति का पता उसके यातायात के साधनों से सहज मे ही लग सकता है। भारत जैसे पिछड़े देश के लिए तो इन साधनों के विकास की परम् आवश्यकता है। हर्ष की बात यह है कि भारत की रेलों के विस्तार के कारण भारतीय रेल व्यवस्था एशिया में अपना प्रथम स्थान रखती है। ससार में भारतीय रेलों का चौथा स्थान है। भारतीय रेल के कर्मचारियों की सख्या १० लाख से भी अधिक है। इन कर्मचारियों के सतत् परिश्रम का ही यह परिणाम है कि भारतीय रेलें प्रतिदिन ३५ लाख से भी अधिक यात्रियो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती हैं तथा लाखों टन सामान का याता-यात करती हैं।

भारतीय रेल मार्गों का कुल विस्तार ३४ हजार ७०५ मील के लगभग है। भारतीय रेलो का प्रायः राष्ट्रीयकरण हो चुका है, केवल ५५० मील के रेल मार्गों का अभी राष्ट्रीयकरण नहीं किया जा सका और जिनका प्रबन्ध प्राइवेट कम्पनियों के हाथ मे है। राष्ट्रीयकरण को ध्यान में रखकर यदि भारतीय रेल व्यवस्था पर दृष्टिपात किया जाय तो संसार में इसका स्थान दूसरा ठहरता है क्योकि रूस ही एक ऐसा देश है जिसकी रेलों का राष्ट्रीयकरण भारत से पहले सम्पन्न हुआ है।

भारतीय रेल-मन्त्रालय के आर्थिक सलाहकार श्री एल० ए० नटेसन ने रेल मार्गों की लम्बाई को ध्यान मे रखते हुये, भारतीय रेलों की तुलना विदेश की अन्य रेलों के साथ की है जो इस प्रकार है :—

भारत	३४,७०५ मील
जापान	१२,४५६ ,,
चीन	१६,००० ,,
वर्मा	१,७८७ ,,
पाकिस्तान	७,०८२ ,,
ब्रिटेन	१६,१५१ ,,
कनाडा	४१,१५८ ,,
अमेरिका	२,२४,८१६ ,,
दक्षिणी अफ्रीका (१६५३-५४)	१३४१३ ,,
फ्रांस	२५,६०० ,,
आस्ट्रेलिया (१६५३-५४)	२६,६३३ ,,

इस तालिका से पता चलता है कि भारत की रेल व्यवस्था का संसार में स्थान क्या है? किन्तु यह विस्मरण नही करना चाहिये कि भारत के क्षेत्रफल और जनसंख्या को देखने पर भारतीय रेल व्यवस्था अभी बहुत पीछे है। क्योंकि क्षेत्रफल के हिसाब से प्रत्येक १०० वर्ग मील में केवल २७ मील की दूरी में ही रेल चलती है जब कि अमेरिका में यह औसत ७४, ब्रिटेन में २०४, कनाडा में १२, फ्रांस में १२०, तथा जापान ८७ मील है। आबादी के हिसाब से भारत में १ लाख की आबादी पर केवल ६ मील में ही रेल

मार्गों की व्यवस्था है जब कि अमेरिका मे यह औसत १३८, ब्रिटेन में ३७, कनाडा में २७२ फ्रास मे ६० और जापान मे १४ मील का पड़ता है।

इस प्रकार विदेशो की तुलना मे भारतीय रेल मार्ग कम ठहरता है किन्तु यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि वर्ष भर मे कितने यात्रियों ने कितनी दूर की यात्रा की तथा कितना माल कितनी दूरी में ढोया गया तो भारत का स्थान एकाध देश के सर्वोपरि ठहरता है। इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुये श्री नटेसन ने १९५४-५५ के जो आँकड़े प्रस्तुत किए हैं वे इस प्रकार हैं : -

देश	यात्री	यात्री मील	माल ढुलाई टनों में
भारत	१३,००,२२४	३,८६,४६,३१२	१,१५,११७
ब्रिटेन	१,६१,१६३	२,०७,१२,०००	२,८३,४४६
कनाडा	२७,३८८	२७,५३,६५१	१,३३३,५४४
अमेरिका	४,३६,३५६	२,६२,८६,००८	२२,६७,६६६
फ्रास	५,००३००	१,६५,०६,८०१	१,६६,५२८
जापान	३५,४६,६६५	५,१६,१६,०१२	१,४७,१५२

उक्त विवरण से स्पष्ट है जापान को छोड़कर शेष अन्य देशों की रेलों की अपेक्षा भारतीय रेलों के यात्रियों की संख्या अधिक है। पाश्चात्य देशों मे रेल यात्रियों की संख्या के कम होने का प्रमुख कारण मोटर द्वारा यात्रा करने का प्रचलन है तथा भारतीय रेलों के कम माल ढोने का प्रमुख कारण यहाँ के उद्योगों का पिछड़ापन है।

जब हम भारतीय रेलों की आयु तथा उसकी प्रगति पर दृष्टिपात करते हैं तो हमारे आश्चर्य की मात्रा और भी बढ़ जाती है। अपनी सौ वर्ष की ही आयु में भारतीय रेलों ने जो प्रगति की है वह अभूतपूर्व है। सन् १९३८-३९ की तुलना मे सन् १९५४-५५ के रेल यात्रियों की संख्या तिगुनी रही है। सन १९३८ से सन् १९५५ के बीच भारत की जनसंख्या केवल २५ प्रतिशत बढ़ी है जब कि इसी अवधि मे रेल-यात्रियों की सख्या में ८७ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। आश्चर्य की बात तो यह है कि बसों की उन्नति के साथ-साथ रेल उद्योग की भी दिनों दिन उन्नति होती जा रही है! सन १९४०-

४१ में रजिस्टर्ड बसों की संख्या लगभग ५१,५०० थी और १९५३-५४ में यह बढ़कर ३६,३०० हो गई। इससे यह कहना उचित न होगा कि रेल के यात्रियों की संख्या में कमी हुई है क्योंकि इन दोनों ही उद्योगों का साथ-साथ विकास हो रहा है, कोई किसी के मार्ग में बाधक नहीं है।

रेलों के सामूहीकरण ने भारतीय रेल उद्योग को एक नया आयाम दिया है। एक ही प्रदेश मे रेलों के दो प्रधान कार्यालय होने से रेलों की कुशलता की हानि होती थी अत: सन् १९५० में रेलवे बोर्ड ने सामूहीकरण की समस्या के समाधानार्थ एक जॉच समिति नियुक्त की। इसी समिति के सुझाव के अनुसार भारतीय रेलों को प्रादेशिक आधार पर छः भागों मे विभक्त किया गया जो इस प्रकार हैं :—

१—दक्षिणी रेलवे

२—पश्चिमी रेलवे

३—केन्द्रीय रेलवे

४ - उत्तरी रेलवे

५—पूर्वी रेलवे

६—पूर्वोत्तर रेलवे

इस प्रकार सम्पूर्ण रेलों को सम्मिलित करके रेलों के सामूहीकरण की समस्या का समाधान किया गया है। इन प्रदेशो को बॉटने मे इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि उक्त प्रत्येक रेलवे का क्षेत्र ५ सहस्त्र मील से लेकर ६ सहस्र मील तक अवश्य रहे जिसमें उसका कार्य, बचत, मितव्ययिता तथा कुशलतापूर्वक चलाया जा सके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रेलो के भविष्य को उज्ज्वल करने के लिये चार अरब रुपये की व्यवस्था की गयी थी किन्तु अनुमानतः ३२ करोड़ रुपया और अधिक व्यय हुआ है। इस योजना की अवधि में चितरजन इंजिन कारखाने ने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। इस योजना के अन्तर्गत इस कारखाने के द्वारा २६८ इंजनों के उत्पादन का अनुमान किया गया था किन्तु इस अनुमान से भी आगे इस कारखाने ने ३३७ इञ्जिनो का निर्माण किया। अनेक कठिना-

इयो के होते हुए भी भारतीय रेलो ने आश्चर्यजनक कार्यों का सम्पादन किया है। १६५१-५२ में भारतीय रेलों के द्वारा कुल ६ करोड़ ६७ लाख टन माल ढोया गया था जब कि सन् १६५५-५६ में ११ करोड़ ५० लाख टन ढोया गया। सन् १६५१-५२ में रेलों की वास्तविक आय २ अरब ६४ करोड़ १० लाख रुपये हुई थी जब कि सन् १६५५-५६ के बजट में ३ अरब १४ करोड़ १० लाख का अनुमान किया गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलों की प्रगति के लिये ११ अरब २५ करोड़ रुपया स्वीकार किया गया है जिसमें से पौने चार अरब रुपया रेलों को अपनी आमदनी से लगाना होगा। रुपयों के साथ-साथ यह भी स्वीकृति दी गई है कि "यदि रेलों की आमदनी अधिक हो तो वे उसके अनुसार अपनी योजनाएँ बढ़ा सकती हैं।"

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत माल एवं परिवहन के लिए जो रेल मार्ग बनेंगे उनमें मुजफ्फरपुर से दरभंगा, रामशाही से बिन्नागुरी, बरासेत से बसीर हाट और गुना से उज्जैन को सम्बन्धित करने वाले रेल मार्ग प्रमुख होंगे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अधिक लाभ होने पर अन्य रेल मार्गों का निर्माण भी सम्भव हो सकेगा।

श्री जी० पान्डे ने भारतीय रेलों के १० लाख कर्मचारियों को परिश्रम के लिए चुनौती देते हुए जोरदार शब्दो में कहा है कि "दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि मे रेलो को बहुत मुश्किलों का सामना करना होगा। लेकिन वे मुश्किलें एक चुनौती भी देती है और उनसे सेवा का अवसर भी मिलता है। हमे इस चुनौती को स्वीकार करना है और यह सिद्ध कर देना है कि भारतीय रेलों के कर्मचारी अच्छा काम करने मे किसी देश के रेल कर्मचारियों से पीछे नही हैं।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय रेल उद्योग को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी उसमें वह सफल रहा। अनेक कठिनाइयो को पार करके ४० लाख शरणार्थियो की रक्षा करना तथा उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाना एक गौरव-पूर्ण बात है। ठीक इसी प्रकार बाढ़ग्रस्त असम की सहायता भी रेल उद्योग

के लिए कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। अमरीकी पत्र 'रेलवे प्रोग्रेस' में भी इस साहसपूर्ण कार्य की प्रशंसा मुक्त कंठ से की थी। इसके सम्पादक ने लिखा था कि "मलेरियाग्रस्त इलाकों और जंगलों में रेल मार्ग बनाकर और अलग पड़े असम को भारत के साथ मिलाकर भारतीय रेल कर्मचारियों ने बहुत प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया है।"

भारतीय रेलों की आधुनिक प्रगति को देखकर यह विश्वास सहज में ही हो जाता है कि शीघ्र ही वह दिन देखने को मिलेगा जब भारतीय रेल उद्योग सभी दृष्टिकोण से संसार की रेल व्यवस्थाओं से उत्तम होगा तथा मानव जाति को सुख एवं शान्ति प्रदान कर उसके विकास में सहायक सिद्ध होगा।

भारत में चीनी-उद्योग

भारत के बड़े उद्योगों मे चीनी-उद्योग का स्थान महत्वपूर्ण है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में गन्ने तथा गन्ने द्वारा निर्मित वस्तुओं का यथेष्ट प्रचार रहा है। कदाचित् यह कहना अत्युक्ति न होगी कि जब संसार के अन्य देश चीनी के नाम तक से न परिचित थे तभी से भारतवासी चीनी का उत्पादन भी करते थे तथा उपभोग भी। विश्व के इतिहास में गन्ने का सर्व-प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना ईसा से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व हुई मानी जाती है। केवल इतने से ही गन्ने तथा गन्ने से उत्पन्न वस्तुओं की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रन्थों यथा बौद्ध आचार-विचार के ग्रन्थ 'प्रतिमोक्ष' तथा चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' मे भी शक्कर आदि का उल्लेख मिलता है जिससे भारत मे गन्ने की खेती तथा गन्ने से उत्पादित वस्तुओं की प्राचीनता का भलीभॉति ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

भारत के चीनी निर्देशक श्री के० पी० जैन के अनुसार 'ईसवी सन् ४०० वर्ष पूर्व से लेकर १३०० ईसवी तक भारत, चीन और मिश्र के बीच गन्ना और गन्ने से बनने वाली चीजो की जानकारी का आदान प्रदान होता था। ६२७ ईसवी से ६५७ ई० के बीच ताई तुंग सम्राट ने मगध (बिहार) मे अपना आदमी भेजकर शक्कर बनाने की विधि जाननी चाही थी। मध्ययुगीन भारत में शक्कर का काफी व्यापार होता था। १२९० इसवी में मार्को पोलो ने अपने यात्रा विवरण में इसका उल्लेख किया है। १४९८ ईसवी में वास्कोडिगामा जब भारत आया तो उसने यहॉ की बाजारों मे ढेरों शक्कर देखी थी। दोर्त बर-बोसा ने भी सन् १५१३ में चीनी का उल्लेख किया है। अबुल फजल की 'आईने अकबरी' में गन्ने की खेती और विभिन्न प्रकार की शक्कर तथा गन्ने

से तैयार किए गए आसव का उल्लेख है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी (१६००) के जमाने में भी शक्कर भारत से फारस और मध्य-पूर्व के देशों को भेजी जाती थी। इसके साथ-साथ ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देशों को भी शक्कर के निर्यात के प्रमाण मिलते हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी समय-समय पर ब्रिटेन को भारत के शक्कर भेजा करती थी।'

उक्त बातों से पूर्णतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ईसा पूर्व से ही गन्ने तथा उससे उत्पादित वस्तुओं का यथेष्ट प्रचलन तथा व्यापार वस्तुओं में शक्कर का प्रमुख स्थान था किन्तु अंग्रेजों की नीति ने इस उद्योग को दूसरे ही रूप में परिवर्तित कर दिया तथा प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फैक्ट्री प्रणाली की छत्रछाया में सफेद चीनी के उद्योग का विकास प्रारम्भ हुआ। यह शक्कर उद्योग की प्रगति में एक नया आयाम था।

अभी तक चीनी उद्योग कुटीर उद्योग के रूप में था। किन्तु अंग्रेजों के सहयोग से बिहार तथा उत्तर प्रदेश में सन १६०३-१६०५ के बीच ८ कारखाने बिहार तथा उत्तर प्रदेश में स्थापित किए गए। सन १६१४ के आस-पास देश में और भी कारखाने स्थापित हो चुके थे किन्तु प्रथम महायुद्ध काल में इसका अधिक विकास न हो सका क्योंकि जावा के चीनी उद्योग से स्पर्धा करने में ये पंगु से हो गए। परिणाम यह हुआ कि निर्यात के स्थान पर भारत को अन्य देशों से चीनी का आयात करना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में सरकार का ध्यान चीनी उद्योग की समस्याओं तथा असफलताओं की ओर गया तथा उसने कोयम्बटूर में गन्ना सम्बन्धी शोध कार्य के लिए तथा चीनी उद्योग के विकास के लिए एक संस्था की स्थापना की जिसने अल्पकाल में ही चीनी उद्योग के विकास में यथेष्ट सहयोग प्रदान किया।

चीनी निदेशक श्री के० पी० जैन सफेद चीनी उद्योग के विकास के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'प्रथम महायुद्ध के बाद सन १६१६ में भारत सरकार ने देश में सफेद चीनी उद्योग के विकास की जाँच के लिए भारतीय चीनी समिति की नियुक्ति की। इस समिति के संरक्षण में देश ने गन्ना चीनी उद्योग के भावी विकास का मार्ग प्रशस्त किया। सयोग से इसी समय कोयम्बटूर की

गन्ने की किस्म से चीनी उत्पादन को उत्तर प्रदेश में बहुत बढ़ावा मिला। सन् १६२६-३० तक देश में गन्ना चीनी के कारखानो की सख्या घटकर २६ हो गई और चीनी का उत्पादन बढ़कर ६०,००० टन हो गया। सन १६२६ मे भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने देश में आधुनिक ढङ्ग का चीनी उद्योग स्थापित करने के विषय मे सरकार के सम्मुख सुझाव पेश किया।

अतः १६३० में भारत सरकार ने चीनी उद्योग को तटकर सरक्षण देने के प्रश्न की जॉच के लिए चीनी तटकर बोर्ड की स्थापना की। बोर्ड ने सरक्षण देने की सिफारिश की। सन १६३२ में चीनी उद्योग सरक्षण अधिनियम धारा सभाओं ने पास कर दिया। इसके अनुसार विदेशी चीनी के आयात पर ७ रु० १४ आना प्रति हन्डरवेट सरक्षण शुल्क तथा १ रु० १३ आना प्रति हन्डरवेट राजस्व शुल्क लागू कर दिया। इस सरक्षण से चीनी उद्योग को बड़ा सहारा मिला। १६३३-३७ तक के पॉच वर्षों मे गन्ने की खेती के क्षेत्र-फल मे आशातीत वृद्धि हुई। १६३६-३७ तक देश में चीनी उत्पादन के आधुनिक कारखानो की सख्या बढ़कर १३८ हो गई। नतीजा यह हुआ कि हमारा देश जो ६ लाख टन चीनी का वार्षिक आयात करता था धीरे-धीरे १६३६-३७ तक आत्मनिर्भर हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक काल मे चीनी उद्योग अधिक उत्पादन की समस्या का समाधान चाह रहा था। सन् १६४०-४१ मे ४ लाख टन चीनी अधिक प्राप्त हुई थी जिसकी बिक्री नहीं हो पाई थी। अतः चीनी के बाजार में अधिक मन्दी आ गई थी। सन् १६४२ मे सरकार ने चीनी के निर्यात पर लगाए गए प्रतिबन्धों को हटा दिया, जिससे चीनी की खपत में वृद्धि हुई। किन्तु सन् १६४४-४५ मे गन्ने के अभाव तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण चीनी के उत्पादन मे कमी आ गई। युद्धोपरान्त भी उत्पादन मे निरन्तर गिरने की प्रवृति कार्य करती रही। सन १६३६-४० मे चीनी का कुल उत्पादन १२ लाख ४६ हजार टन था जब कि सन् १६४६ ४७ मे यह केवल १० लाख ७७ हजार टन रह गया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् चीनी के उत्पादन की साधारण प्रवृत्ति गिरने की ओर रही है। निम्न तालिका से इस

प्रवृत्ति को भलीभाँति समझा जा सकता है। स्मरण रहे कि १९५०-५१ से पुनः चीनी के उत्पादन में वृद्धि होनी प्रारम्भ हो गई है :—

वर्ष	मिलों की संख्या	उत्पादन (लाख टनों मे)
१९४७-४८	१३४	१०·७५
१९४८-४९	१३४	१० ०६
१९४९-५०	१३९	९·७६
१९५०-५१	१३८	११·०१
१९५१-५२	१३९	१४·८९
१९५२-५३	१६६	१३·१०
१९५३-५४	,,	१२·४०
१९५४-५५	,,	१५·४३
१९५५-५६	,,	१८·५७

उक्त तालिका से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि चीनी के उत्पादन में प्रायः घटती एव बढ़ती क्रम से होती रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी अवस्था को देखते हुये भी प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चीनी उद्योग की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं की गई केवल अनुमान करके ही सन्तोष कर लिया गया है। योजना कमीशन ने सन् १९५०-५१ के १३८ चालू कारखानों के उत्पादन का अनुमान लगाया था १५·४ लाख टन, जो सन् १९५४-५५ में ही पूर्ण हो गया था। हाँ प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण बात अवश्य रही है और वह थी २ नए कारखानों के निर्माण की व्यवस्था। इस योजना के अन्तर्गत केवल दो बातों पर विशेष ध्यान दिया गया था :—

१—कारखानों को अधिक मात्रा में गन्ना दिया जाय।

२—कारखानों की उत्पादन शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना कमीशन ने सन् १९५५-५६ के लिए चीनी-उद्योग के उत्पादन का अनुमान १६·७ लाख टन लगाया था। इसी आँकड़े के आधार पर द्वितीय पचवर्षीय योजना में चीनी के उत्पादन

को बढ़ाकर २५ लाख टन तक करने का निश्चय किया गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सहकारी चीनी मिलें प्रतिवर्ष ३·५ लाख टन का उत्पादन करेंगी। प्रस्तुत योजना की अवधि में चीनी मिलों की कलों पर २ करोड़ रुपये के विनियोग का सुझाव दिया गया है। चीनी उद्योग के विकास के लिए भारत सरकार ने ४० नए कारखाने खोलने तथा ४२ वर्तमान कारखानों को विस्तृत करने की अनुमति प्रदान कर दी है।

चीनी उद्योग की प्रगति पर ही उस पर आश्रित उद्योगों की प्रगति सम्भव है। मुरब्बा तथा अचार आदि के कारखाने चीनी पर ही निर्भर करते हैं। एकोनिटिक एसिड तथा कागज की लुब्दी बनाने में भी शीरे आदि का प्रयोग होता है। शीरे के विभिन्न मिश्रणों से एक प्रकार का द्रव पदार्थ तैयार किया जाता है जो पेट्रोल के स्थान पर काम मे लाया जाता है। देशी तम्बाकू मे शीरे का उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय में भारत में चौवालिस शराब तैयार करने वाली भट्ठियाँ चल रही हैं जो एक मात्र शीरे पर ही निर्भर हैं।

किन्तु यह सब होते हुये भी चीनी का उत्पादन माँग से अब भी बहुत पीछे है। ध्यान देने की बात है, कि देश के विभाजन के पश्चात् से हमारी चीनी की माँग में लगभग ढाई लाख टन चीनी की कमी हो गई है फिर भी हम अपनी चीनी की आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। कारण यह है चीनी उत्पादन करने वाले देशों की अपेक्षा भारत के गन्ने की उपज प्रति एकड़ के हिसाब मे सब से कम है। साथ-साथ गन्ने में रस तथा चीनी का प्रतिशत भी कम रहता है, इसके अतिरिक्त सरकारी करो तथा गन्ने पर होने वाला व्यय बहुत अधिक है। यही कारण है कि भारतीय चीनी उद्योग अन्य देशों की अपेक्षा अभी पिछड़ा हुआ है।

स्मरण रहे कि विदेशों से आयात होने वाली चीनी का मूल्य लगभग २७ रुपया मन पड़ता है जो भारत का निश्चित थोक-भाव है। अतः विदेशी चीनी के आयात को कम करना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। इस कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि गन्ने की उत्तम किस्म का प्रचार किया जाय, गन्ना और चीनी दोनों ही की कीमतें निश्चित की जाँय,

लाभांश के वितरण पर नियंत्रण लगाया जाय तथा चीनी मिलों को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाँय।

भारतीय बड़े उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात् चीनी उद्योग का ही स्थान है। देश की ४० लाख एकड़ भूमि में गन्ना ही उत्पन्न किया जाता है। लगभग दो करोड़ व्यक्ति इस उद्योग में कार्य करते हैं। सम्प्रति इस उद्योग के दक्ष कर्मचारियों की संख्या ४० सहस्र हैं। इनके अतिरिक्त ३,५०० स्नातक तथा असंख्य व्यक्ति अपरोक्ष रूप से इस उद्योग मे लगे हुये हैं फिर भी माँग की पूर्ति सम्भव नही हो रही है। इस उद्योग प्रगति के पथ पर अग्रसर करना सरकार तथा जनता दोनो का ही काम है अतः इस उद्योग की समस्याओं तथा कठिनाइयों को दूर कर अन्य देशों के चीनी-उद्योग की समकक्षता में लाकर खड़ा करने के लिए सभी आवश्यक बातों को पूर्ण करना परम आवश्यक है।

———

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग

प्राचीन काल से ही भारत रूई तथा उसके निर्यात के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारतीय कपास को मध्यपूर्व तथा सुदूरपूर्व के देशों मे विस्तृत बाजार प्राप्त थे। ढाके की मलमल तथा कालीकट केलीकोज का नाम आज भी गौरव के साथ लिया जाता है। समुद्री मार्ग के खुलने पर भारतीय रूई तथा उससे उत्पादित वस्तुओं के निर्यात में अत्यधिक वृद्धि हुई। अमेरिका के गृह-युद्ध काल मे भारतीय रूई के निर्यात मे और भी वृद्धि हुई क्योंकि ब्रिटेन स्थित लकाशायर उस समय अमरीकी रूई का आयात करने में असमर्थ हो गया तथा उसे भारतीय रूई पर निर्वाह करना आवश्यक हो गया। ऐसी अवस्था में भारतीय रूई के निर्यात मे वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। इसी समय जापान और लकाशायर के बीच स्पर्धा के बीज अकुरित होने लगे थे। कुछ ही दिनों बाद इन्होंने अपना विशाल रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप भारतीय रूई के निर्यात में आशातीत अभिवृद्धि हुई एवं ऐसी परिस्थिति में भारत को रूई के निर्यात से यथेष्ट लाभ हुआ। ९.२ करोड़ पौंड का लाभ तो केवल अमेरिकन गृह-युद्ध काल में ही हो गया था!

भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे घरेलू उद्योग धन्धे के रूप मे यत्र-तत्र विकसित था। उस समय न तो आज जैसी शक्ति से परिचालित होने वाले दीर्घकाय करघे थे और न शक्ति का प्रचलन ही हुआ था। हाथ से ही सूत की कताई होती थी तथा देशी करघो पर ही अच्छे से अच्छे कपड़ों की बुनाई। आज भी गॉव के जुलाहे इस कार्य को सफलता-पूर्वक सम्पादित करते हैं।

आधुनिक सूती वस्त्र-उद्योग का जन्म सन् १८१८ मे हुआ। सर्वप्रथम कलकत्ता मे पहली सूती मिल की स्थापना हुई। तदनन्तर सन् १८५४ मे

बम्बई भी इस दिशा की ओर अग्रसर हुई। बम्बई की स्थिति तथा प्राकृतिक सुविधाओं ने उसको इस दिशा मे काफी सहयोग प्रदान किया और वह शीघ्र ही सूती वस्त्र उद्योग का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि बम्बई चीन आदि देशों को सरलतापूर्वक माल भेजने में समर्थ था। सन् १८७७ के आस-पास चीन से प्राप्त मॉग प्रायः समाप्त हो गई अतः यह उद्योग देश के भीतर की ओर विस्तृत होने लगा। अब कच्चे माल की प्रचुरता, सस्ता श्रम तथा बाजारों की निकटता आदि इस उद्योग के स्थानीय-करण के प्रमुख आकर्षण हो गये। विदेशी मॉग में न्यूनता होने के कारण उद्योग का देश के भीतर प्रसार पाना स्वाभाविक था। इस प्रवृत्ति के कारण शीघ्र ही नागपुर, अहमदाबाद तथा शोलापुर आदि स्थान सूती वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र बन गए।

सन् १८६० से सन् १८६५ तक प्रस्तुत उद्योग ने आशातीत प्रगति की किन्तु सन् १८६५ और सन् १८७० के बीच इस उद्योग को काफी क्षति भी पहुँची। तत्पश्चात् पुनः उत्थान का युग आया और यह आशा की जाने लगी कि अब यह उद्योग निरन्तर प्रगति करता जायगा। उत्थान के पश्चात् पतन अवश्यम्भावी है। जब जापान और चीन के विस्तृत बाजार हमारे हाथ से निकल गये तो अधिकाश विदेशी व्यापार समाप्त हो गया। अब रूई तथा रूई के सूत का निर्यात दिनों दिन घटने लगा। सन् १६०० मे यह २४·४ करोड़ पौंड था जब कि सन् १६१४ में यह केवल १६·३ करोड़ पौंड रह गया। रूई के सूत निर्यात के घटने की यह प्रवृत्ति सन् १६३६ तक चलती रही। अतः भारतीय रूई उद्योग को भारी क्षति पहुँची किन्तु इस प्रवृत्ति से एक लाभ भी हुआ और वह यह कि भारत के बुनाई उद्योग को विकसित होने का एक अच्छा अवसर प्राप्त हो गया और इस अवसर मे लाभ उठाकर शीघ्र ही उसने आश्चयजनक प्रगति कर ली।

प्रथम महायुद्ध के काल में इस उद्योग को विकसित होने का पुनः अवसर मिला और सन् १६१७ से सन् १६२३ तक यह उद्योग निरन्तर विकसित होता गया। इस विकास के दो प्रमुख कारण थे एक तो विदेशी माल के आयात का बन्द होना तथा दूसरे स्वदेशी आन्दोलन का सहयोग प्राप्त होना। इस प्रकार सूती उद्योग को विकसित होने का पुनः एक अवसर मिला। सन्

१६१७ तथा सन् १६२१-२२ के बीच में ही इस उद्योग में लगाई गई सम्पूर्ण पूँजी २०.८४ करोड़ रुपये से बढ़कर ४०.६८ करोड़ तक पहुँच गई। माँग की वृद्धि तथा कीमतों की अधिकता के कारण यह उद्योग दिन दूना तथा रात चौगुना की कहावत को चरितार्थ करने लगा। तात्पर्य यह कि अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचने लगा किन्तु ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक न रह सकी। जापानी सूती वस्त्र-उद्योग ने भीषण प्रतियोगिता करके भारत ही नहीं विदेशो के सूती वस्त्र-उद्योग को भी परास्त कर दिया। मन्दी के कारण उद्योग की प्रगति रुक गई तथा उत्पादन की मात्रा गिर गई। सस्ती होने के कारण किसान रूई की फसल समाप्त करके अन्न आदि की फसलें उत्पन्न करने मे लग गए। परिणामतः इस उद्योग की निरन्तर अवनति होने लगी और सन् १६३३ तक तो यह उद्योग अत्यन्त क्षीणावस्था को पहुँच गया।

सन् १६२६ मे इस उद्योग की प्रशुल्क बोर्ड द्वारा जाँच की गई। इस बोर्ड ने बतलाया कि उद्योग की अवनति का कारण विदेशी स्पर्धा न थी वरन् उद्योग की आन्तरिक दशाओ की खराबी थी। इस बोर्ड ने इस उद्योग के संरक्षण के लिए यह सुझाव दिया कि आयात कर को ११% से बढ़ाकर १५% तक कर दिया जाय। साथ ही बोर्ड ने यह भी सिफारिश की अच्छे सूत कातने वाले कारखानो को आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। भारत सरकार ने बोर्ड के सुझावो को अधिकाश मे मान लिया किन्तु फिर भी उद्योग की स्थिति ज्यो की त्यों बनी रही। अगस्त सन् १६३२ तथा जून सन् १६३३ में क्रमशः करो की दर ५०% तथा ७५ % हो गई किन्तु फिर भी भारतीय सूती उद्योग की विशेष प्रगति न हो सकी। इसका प्रमुख कारण यह था कि उक्त कर केवल गैर ब्रिटिश माल पर ही लगाए गए थे।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग पर द्वितीय महायुद्ध का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा। ध्यान देने की बात है कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भिक वर्षों मे प्रस्तुत उद्योग संकटकालीन परिस्थितियों से जकड़ चुका था। इस समय भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के समक्ष दो समस्यायें थीं :—

१—निरन्तर बढ़ते हुये उत्पादन व्यय की समस्या।

२—सरकारी करों की वृद्धि की समस्या।

किन्तु द्वितीय युद्ध के प्रारम्भ होते ही इस उद्योग को पुनः विकास का अवसर मिला। सन् १९४१ से स्थिति में सुधार होना प्रारम्भ हो गया। इस समय जापान से माल आना बन्द हो गया था तथा ब्रिटेन से आने वाले माल की भी मात्रा घट गई थी। ऐसी परिस्थिति में इस उद्योग का विकसित होना स्वाभाविक ही था। युद्ध सम्बन्धी माँग की पूर्ति करने के लिये सरकार ने जो आदेश दिए वह और भी हितकर सिद्ध हुए तथा उद्योग में एक नवीन उत्थान का युग आया। इस समय देश की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साथ भारतीय सूती वस्त्र उद्योग मध्यपूर्व तथा सुदूरपूर्व के लड़ाई के क्षेत्रों को भी आवश्यकताओं की पूर्ति करना था अतः परिणाम स्वरूप माँग अधिक होने के कारण कपड़े के मूल्य मे भारी वृद्धि हुई और इस वृद्धि को रोकने के लिये सरकार को मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग की व्यवस्था करनी पडी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारतीय सूती वस्त्र उद्योग की दशा कुछ चिन्ताजनक रही है। यद्यपि कपास की खेती मे सन् १९३१ से ही कमी हो रही है किन्तु उत्पादन मे यदि सच पूछा जाय तो सन् १९४३ से कमी हुई है। सन् १९४९ में सूती वस्त्र का कुल उत्पादन ३ अरब ९० करोड़ ५० लाख गज हुआ जो कि पहले के उत्पादन से लगभग १ अरब गज कम था। सन् १९५० मे उत्पादन मे और भी गिरावट हुई। और केवल ३ अरब ३६ करोड़ ५० लाख गज वस्त्र का उत्पादन हुआ। उत्पादन की इस गिरावट के तीन कारण थे :—

१—देश के विभाजित होने से रूई के आयात में उत्पन्न कठिनाइयाँ।

२—सर्वहारा और पूँजीपतियों के बीच उत्पन्न झगड़ा।

३—जल विद्युत के उत्पादन में कमी।

किन्तु इन कठिनाइयों के दूर होते ही यह उद्योग पुनः विकसित होने लगा। इस उद्योग के विकास को निम्न तालिका द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है।

वर्ष	कुल उत्पादन की मात्रा (गजों) में
सन् १९५१	४ अरब ७ करोड़ ६० लाख गज
सन् १९५२	४ अरब करोड़ ३० लाख गज
,, १९५३-५४	४ ,, ९० ,, ६० ,, ,,
,, १९५५-५६	५ ,, — २० ,, ,,

वर्तमान समय में प्रस्तुत उद्योग की स्थिति में यथेष्ट सुधार हुआ है। भारतीय सूती कपड़े के निर्यात में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् १९४८-४९ में ६६'२५ करोड़ रुपये का कपड़ा तथा १'३ करोड़ रुपये के सूत का निर्यात किया गया था किन्तु सन् १९५०-५१ मे क्रमशः बढ़कर ११६'७५ करोड़ तथा १७ करोड़ रुपये मे परिवर्तित हो गईं। सन् १९५२ में भारत सरकार ने भारतीय सूती वस्त्र के निर्यात की मात्रा मे वृद्धि करना चाहा तथा १०% निर्यात कर की छूट प्रदान की है। साथ-साथ विदेशो से आने वाली रूई पर लगाए गए आयात करों मे भी छूट प्रदान की गई है। किन्तु करघा उद्योग के विकास के लिए ३ पाई प्रति गज के हिसाब से जो कर लगाया गया है वह इस उद्योग के विकास में बाधक ही सिद्ध हो रहा है।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग भारत के समस्त उद्योगो मे अपना प्रथम स्थान रखता है। भारतीय निर्यातों मे चाय के पश्चात् दूसरा नम्बर सूती वस्त्र का ही आता है। जावा, सुमात्रा, स्याम, लंका, वर्मा, मध्य पूर्व तथा पूर्वी अफ्रीका मे भारतीय सूती कपड़े को विस्तृत बाजार प्राप्त हैं इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय करने का यह एक अच्छा साधन है। हर्ष की बात तो यह है कि कुछ दिनों से अमेरिका भी अच्छी किस्म के कुछ कपड़ों का आयात भारत से करने लगा है। किन्तु यह सब होते हुए भी अभी बहुत कुछ सुधार की अपेक्षा है क्योंकि निकट भविष्य मे जापान और ब्रिटेन से पुनः भीषण प्रतियोगिता होने की सम्भावना है। यदि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग को विकास का अवसर न प्रदान किया तो वह दिन भी आ सकता है जब एक भी गज भारतीय कपड़े का निर्यात सम्भव न हो सके। भारतीय सरकार को चाहिये कि इस उद्योग की प्रगति के लिये अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करे। विदेशी आयातो पर निर्भर रहना कदापि श्रेयस्कर नही है। घटिया किस्म की रूई के स्थान पर लम्बे रेशे की रूई का उत्पादन बढ़ाना परमावश्यक है।

कारखानों में भी सुधार होना आवश्यक है। करों के सम्बन्ध में सरकार की नीति स्पष्ट होनी चाहिए। अधिक करो के भार से उद्योग अवनति की ओर अग्रसर होगा और विदेशी प्रतियोगिता में भाग लेने में असमर्थ हो जायगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता भी बहुत कुछ सूती वस्त्र उद्योग के विकास पर ही निर्भर करती है।

हर्ष की बात है कि भारत में रूई का उत्पादन बढ़ रहा है। सूती वस्त्र के उत्पादन मे भी आशातीत वृद्धि हुई है। सन् १९५३-५४ में कपड़े का उत्पादन ४ अरब ९० करोड़ तथा ६० लाख गज के लगभग था जो योजना कमीशन के अनुमान से भी २० करोड़ ६० लाख गज अधिक था। प्रथम पंचवर्षीय योजना का ध्येय केवल ४ अरब ७० लाख गज वस्त्र उत्पन्न करने का था। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत सन् १९६०-६१ तक ५९ लाख गॉठ रूई, ८ अरब ५० लाख गज कपड़ा तथा १८ अरब ५० लाख पौंड सूत उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। आशा है सूती वस्त्र उद्योग विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जायगा किन्तु इसके सतत विकास के लिये सरकार तथा जनता दोनों ही का सहयोग अपेक्षित है।

———

भारतीय जूट उद्योग

भारतीय जूट उद्योग की आयु बहुत कम है। अपनी १०० वर्ष की आयु में ही इस उद्योग ने जो प्रगति की वह सराहनीय है। सभी भारतीय उद्योगों की तरह जूट उद्योग भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे हस्तकला तथा हाथ करघे पर ही आश्रित था। उत्पादन कम था तथा अवस्था दयनीय। शक्ति से परिचालित होने वाले करघों ने इस उद्योग को नया आयाम प्रदान किया। सर्वप्रथम सन् १८५५ में बङ्गाल में स्थित रीशरा नामक स्थान पर एक कारखाना स्थापित किया गया। स्मरण रहे कि इस कारखाने में भी शक्ति का प्रयोग नहीं होता था। इसी के पश्चात् इस उद्योग मे प्रयुक्त होने वाली कलों (कर्घों) में शक्ति का प्रयोग किया गया। शक्ति द्वारा परिचालित होने वाले कर्घे के उपयोग का प्राथमिक श्रेय 'बोर्नियो जूट कम्पनी' को है जिसकी स्थापना सन् १८५६ में हुई थी तथा जो आज भी अपने परिवर्तित नाम 'बरनागोर जूट फैक्ट्री' के नाम से प्रख्यात है। कुछ दिनों के पश्चात् ३ और कारखानों की स्थापना हुई इनमें इन्डिया जूट मिल्स का स्थान महत्वपूर्ण था, शेष दो कारखानों की स्थापना गौरीपुर तथा सिराजगञ्ज मे हुई थी। इस समय इस उद्योग की यथेष्ट प्रगति हुई तथा केवल बरनागोर कम्पनी ने सन् १८७३ में २५% सन् १८७४ मे २०% तथा सन् १८७५ में १०% लाभाँश का वितरण किया।

भारतीय जूट उद्योग की तथाकथित प्रगति को देखकर विदेशी पूँजीपतियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। फलस्वरूप शीघ्र ही १३ नए कारखानो की स्थापना हुई किन्तु तथाकथित प्रगति बहुत दिनों तक स्थायी न रह सकी। इन कारखानों के खुलते ही जूट उद्योग अवनति की ओर अग्रसर होने लगा तथा लगभग १० वर्षो तक इस उद्योग को अनेक कठिनाइयों का

सामना करना पड़ा। सन् १८६४ तक इस उद्योग की कोई विशेष प्रगति न हो सकी क्योंकि इसमे उन्नति तथा अवनति दोनों ही का आवागमन बारी-बारी से होता रहा। इसी समय १० नवीन मिलों की स्थापना हुई। इन मिलों के अभूतपूर्व उत्पादन से इस उद्योग को यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। इस समय एक विशेष बात यह हुई कि बोरों के उत्पादन की अपेक्षा जूट के कपड़ो के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। स्मरण रहे कि उक्त सभी कारखाने विदेशी पूँजीपतियों के थे, भारतीयो ने इस दिशा मे अपनी रुचि तब दिखलाई जब जूट उद्योग अनेक समस्याओं से ग्रस्त हो चुका था।

अनेक समस्याओं के होते हुए भी जूट उद्‌योग का निरन्तर विस्तार होता गया। मॉग की कमी की अवस्था मे भी जूट उद्‌योग में लगाई गई पूँजी की मात्रा मे वृद्धि होती गई। सन् १६०१-२ में कारखानों की संख्या ३६ तथा सम्पूर्ण पूँजी की मात्रा ४२५ लाख रुपया के लगभग थी। सन् १६२३-२४ मे कारखानों की सख्या ८६ हो गई और उद्योग में लगाई गई सम्पूर्ण पूँजी की मात्रा १८ करोड़ रुपये के लगभग पहुँच गई। सन् १६३१-२ में कुल मिलों की संख्या १०३ हो गई। इनकी कुल पूँजी २३.६१ करोड़ रुपया थी तथा इनके पास ६१,४०० करघे एवं १२,००,५०० चर्खे थे, सम्पूर्ण कर्मचारियों की संख्या २,७६,८०० हो गई थी। सन् १६३५-३६ मे सम्पूर्ण पूँजी की मात्रा २० करोड़ रुपया, मिलों की संख्या १०४, करघों की संख्या ६३,७२४ चर्खों की संख्या १२,७६,३१६ तथा सम्पूर्ण कर्मचारियों की संख्या बढ़कर २,७७,००० हो गई थी।

सन् १६३१ तथा सन् १६३६ के बीच का काल इस उद्योग के लिए घातक ही सिद्ध हुआ। इसके कारण भारतीय जूट उद्योग को काफी क्षति पहुँची। इस काल में जूट के सामानो का मूल्य घटने लगा, अति उत्पादन की समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया, मिल मालिको तथा श्रमिको के बीच द्वन्द्व उत्पन्न हो गया तथा विभिन्न कारखानों मे परस्पर स्पर्धा का सूत्रपात हो गया। सन् १६३६ के पश्चात् पुनः इस उद्योग को विकसित होने का अवसर मिला। यह द्वितीय महायुद्ध का समय था। इस समय भारी मॉग उत्पन्न हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि जूट और पटसन दोनों ही के मूल्यो में भारी वृद्धि हो गई। भारतीय सरकार ने भी इस उद्‌योग को प्रोत्साहन

देना चाहा अतः जूट उद्योग को भारतीय फैक्ट्री नियमो के बन्धनों से कुछ समय के लिए छूट दे दी। ३ कारखानो ने छूट मिलते ही प्रति सप्ताह ६० घन्टे काम करके अपनी पूर्ण शक्ति से उत्पादन को बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। सितम्बर सन् १६३६ तथा मार्च सन् १६४० के बीच के महीनों मे ही मासिक उत्पादन ६०,००० टन से बढ़कर १,२५,७०० टन तक पहुँच गया। सन १६३६-४० में उद्योग के सम्पूर्ण उत्पादन की मात्रा १२,८०,४०० टन तक पहुँच गई थी। किन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक स्थायी न रही। द्वितीय महायुद्ध के प्रथम वर्ष का अन्त होते-होते बोरों की मॉग मे भारी कमी हो गई, फलतः जूट के सामानों के मूल्यों मे दिनो दिन कमी होने लगी जिसे रोकने के हेतु कारखाने के काम करने के घन्टो मे कमी की जाने लगी। सन् १६४३ के प्रारम्भ होते ही अमरीकी सरकार ने जूट के उत्पादन की अच्छी मॉग प्रस्तुत की। भारतीय जूट उद्योग की स्थिति इससे कुछ सुधर अवश्य गई किन्तु कोयले आदि के अभाव के कारण यह उद्योग अधिक विकास न कर सका।

स्वतन्त्रता के पश्चात् जूट उद्योग की दशा दयनीय हो गई। देश के बँटवारे के कारण जूट उगाने वाली सम्पूर्ण भूमि का ७१ प्रतिशत और जूट की सम्पूर्ण उपज का ७२ प्रतिशत पाकिस्तान के हिस्से मे पड़ गया किन्तु जूट की प्रायः सभी मिलें भारत मे आ गई। विभाजन के पश्चात् ही पाकिस्तान सरकार ने जूट उद्योग से सम्बन्धित जो सबसे पहला कार्य किया वह था - 'पटसन के युद्ध' का आरम्भ। मई सन् १६३८ में भारत और पाकिस्तान के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसमे पाकिस्तान ने भारत सरकार को पटसन की ५० लाख गॉठे प्रतिवर्ष देने का वचन दिया किन्तु यह समझौता अन्ततः समझौता तक ही सीमित रह गया। परिणामस्वरूप भारतीय कारखानों को भारी क्षति पहुँची। स्थिति को सुधारने के लिए भारत सरकार ने पटसन का उत्पादन बढ़ाने की दिशा मे सराहनीय प्रयत्न किए। फलस्वरूप पश्चिमी बङ्गाल, उडीसा, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के पटसन की खेती को विस्तार मिला। जूट के माल के उत्पादन के विकास को हम निम्न तालिका से भलीभॉति समझ सकते हैं :—

वर्ष	उत्पादन (लाख टनों में)
सन १९४७	१०·१ लाख टन
,, १९४८	१०·७ ,, ,,

पटसन के उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई है। इसे हम निम्न तालिका से सरलतापूर्वक समझ सकते हैं :—

वर्ष	उत्पादन (लाख गाँठो में)
सन १९४८	२० लाख गाँठ
,, १९४९	३० ,, ,,
,, १९५०	४० ,, ,,
,, १९५१	४७ ,, ,,

पटसन के इस उत्पादन से भारत पूर्णतः स्वावलम्बी हो गया। पटसन के उत्पादन का भविष्य उज्ज्वल है। अनुमान है कि सन १९५९-६० तक यह उद्योग आशातीत उन्नति कर लेगा। किन्तु उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ाने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादन के लिए आधुनिकतम मशीनों का प्रयोग किया जाय। उद्योग का संयुक्तीकरण भी इस दिशा में सहायता प्रदान कर सकता है। उद्योग की वर्तमान पूँजी को बढाना भी अपेक्षित है। भारत में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उत्पादन की शक्ति में कमी नहीं है, यदि कमी है तो केवल कच्चे माल अर्थात् पटसन की। किन्तु पटसन की कमी भी धीरे धीरे पूर्ण हो रही है या किन्हीं अंशों तक पूर्ण हो चुकी है। अतः सरकार को चाहिये कि निर्यात करों के प्रतिशत में कमी करे जिससे पाकिस्तान की प्रतियोगिता में भारतीय उद्योग पर्णातः ठहर सके।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत हुए उद्योग के विकास को हम निम्न तालिका से समझ सकते हैं :—

इकाई	सन् १९५०-५१	सन् १९५५-५६
वास्तविक उत्पादन शक्ति वर्ष (हजार टनों मे)	१,१००	१,२००
वास्तविक उत्पादन (हजार टनो मे)	९९२	१,२००
निर्यात (हजार टनों मे)	६५०	१,०००
देश में पटसन का उत्पादन (लाख गाँठों में)	३३'०१	५१ ००

जूट के सामान की स्थिति पिछले वर्षों से निम्न प्रकार से रही है :—

वर्ष (जुलाई से जून)	जूट का कपडा	बोरे	अन्य	कुल उत्पादन
सन १९५२-५३	२४७ ७	५१० ४	३८ ४	९२७'२
,, १९५३-५४	३९० ४	४४४ ८	३०.५	९००'४
,, १९५४-५५	३९९.२	५५७ ५	३८ १	१०४३'४
,, १९५५-५६ (जुलाई से दिसम्बर)	२०२.२	२८५ ९	३१.४	५४३'५

जूट उद्योग भारत के अन्य विकसित उद्योगों मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह विदेशी विनिमय करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत सन १९६०-६१ तक ९ लाख टन जूट के माल का निर्यात करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। पटसन के वर्तमान उत्पादन में १० लाख गाँठो की वृद्धि की आयोजना की गई है।

जूट उद्योग सदा से अधिक उत्पादन की समस्या से पीड़ित रहा है। संगठन एव कार्य की कुशलता के दृष्टिकोण से भारतीय उद्योग अन्य देशीय उद्योगों से बहुत आगे रहा है किन्तु फिर भी ब्रिटेन-स्थित डन्डी के कारखाने यहाँ के कारखानों से अधिक शक्तिशाली रहे हैं। उद्योग की सतत उन्नति करने के लिए सङ्गठन तथा दूरदर्शिता से कार्य करना अति आवश्यक है। निकट भविष्य की स्थिति पर विचार करके पटसन के उत्पादन मे कमी और वृद्धि करना उद्योग के हित संरक्षण के लिए आवश्यक है। सरकार को निर्यात करों के आधिक्य से सदा सावधान रहना चाहिये क्योंकि करो की अधिकता से

इस विकसित होते हुये उद्योग के क्षतिग्रस्त होने की भी सम्भावना है। पाकिस्तान की प्रतियोगिता के लिये भारतीय जूट उद्घोग को सदैव तैयार रहना चाहिये। और फिर पाकिस्तान का जूट उद्योग अभी अपनी शैशवावस्था में है अतः उससे प्रतियोगिता करना उतना कठिन नही है जितना डन्डी के जूट उद्धोग से। हर्ष की बात है कि भारत सरकार जूट उद्योग की ओर से काफी सजग है। सम्प्रति पटसन के उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ विभिन्न राज्यो मे क्षेत्रवर्ती आधार पर जूट के कारखानों को खोलने के विषय पर भी विचार किया जा रहा है। किन्तु उद्योग की सम्पन्नता को बनाए रखने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उनकी समस्त वास्तविक शक्तियो का उपयोग किया जाय। जूट-उद्योग की प्रतियोगिता की शक्ति बढ़ाने के लिए आधुनीकरण परमावश्यक है किन्तु इसके लिये पूँजी भी यथेष्ट होनी चाहिये। अतः सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिये तथा आवश्यक सुविधाएँ प्रदान कर इस उद्योग की सम्पन्नता को बनाये रखने का सतत प्रयास करते रहना चाहिये।

कुटीर उद्योग तथा उनका महत्व

'थोड़ी पूँजी के द्वारा सीमित क्षेत्र मे अपने हाथ से अपने ही घर में वस्तुओं का निर्माण करना' कुटीर उद्योग कहलाता है। भारत का अतीत-काल इस दिशा में अत्यन्त समृद्ध था। ग्रामीण अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को स्वयं उत्पादित कर लेते थे। उन्हे किसी का मुँह देखने की अपेक्षा न थी। गाँव की छोटी-छोटी बाजारो और मेलो में ही उनकी सभी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त थी। किन्तु समय सदा एक सा नही रहता। विदेशी शासन के साथ-साथ यान्त्रिक सभ्यता का भी पदार्पण हुआ जिसने कुटीरउद्योगों को प्रायः समाप्त ही कर दिया। कारण यह था कि देशी उद्योगों की उत्पादन शक्ति कम थी तथा इनसे उत्पादित माल अपेक्षाकृत अधिक मँहगे पड़ते थे। साथ ही साथ इनमे वह सफाई एवं सौन्दर्य न आ पाता था जो यन्त्रों द्वारा निर्मित माल मे प्राप्य था। कुटीर उद्योग के पतन के कारणों को हम इस प्रकार रख सकते है :—

१—विदेशी सभ्यता के प्रादुर्भूत होते ही इन उद्योगो को समय-समय पर मिलने वाली आर्थिक सहायता तथा वे समस्त सरक्षण समाप्त हो गये जो राज्य दरबारो की ओर से मिला करते थे।

२—अंग्रेजों की शिक्षा-नीति के कारण एक ऐसा बाबू वर्ग उत्पन्न हो गया जो रूप रग से तो भारतीय था किन्तु हृदय और आत्मा से पूर्ण अग्रेज था। इस वर्ग ने पाश्चात्य वस्तुओं की चमक-दमक मे पड़कर भारतीय उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को ठुकरा दिया। श्रीमती वेरा ऐन्सटे का कथन है कि "भारत के धनी वर्गों ने पश्चिमी फैशन ग्रहण करना प्रारम्भ किया उन्होंने या तो पश्चिमी देशो मे बनी वस्तुएँ खरीदना प्रारम्भ कर दिया अथवा ऐसी देशी वस्तुओं को खरीदा जो पहले यूरोपियन लोगों को बेची जाती थी तथा

जिन्हें स्वयं भारतवासी घृणा की दृष्टि से देखते थे।" ऐसी अवस्था में ग्रामीण उद्योग धन्धों का विनाश होना स्वाभाविक ही था।

३—ब्रिटिश सरकार कुटीर उद्योगों की ओर से उदासीन थी। उसका व्यवहार विरोधी था। अपने इसी व्यवहार को चरितार्थ करते हुए ब्रिटिश सरकार ने भारत से इंग्लैण्ड जाने वाली वस्तुओं पर ३०% से ८०% तक कर लगा दिया था।

४—यातायात के साधनों का विकास भी इन उद्योगों की अवनति का एक प्रमुख कारण था। ब्रिटिश सरकार का यातायात के साधनो के पीछे एक ध्येय था और वह यह कि ब्रिटिश औद्योगिक माल को देश के भीतरी भागों में पहुँचाया जा सके तथा यहाँ के कच्चे माल को बन्दरगाहों तक सरलता-पूर्वक ले जाया जा सके।

५—मशीनों द्वारा उत्पादित माल की प्रतियोगिता में ये उद्योग ठहर न सके। औद्योगिक क्रान्ति के युग मे कुटीर उद्योग कहाँ तक ठहर सकते थे?

६—अंग्रेज शासकों ने दमन की नीति भी अपनाई जिसके कारण कारी-गरों को कार्य बन्द करने के लिये बाध्य किया गया तथा कहीं-कहीं तो उनकी उँगलियाँ तक काट ली गईं।

स्मरण रहे कि कुटीर उद्योगों का पूर्णतः अन्त अब भी नहीं हुआ है। केवल कुछ ही उद्योग पूर्णतः समाप्त हुये हैं जैसे ढाके की मलमल की बुनाई, कुछ क्षतिग्रस्त हो गए हैं जैसे हाथ से सूत कातना। कुछ उद्योग पुनः जीवित हो उठे हैं जैसे हथकरघे द्वारा कपड़ा का बुनना।

कुटीर उद्योगों का हमारे आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे देश के अधिकांश लोग इन उद्योगों पर ही निभर करते हैं। डाक्टर राधा-कमल के अनुमान के अनुसार ५० लाख व्यक्ति केवल हथकरघे की बुनाई पर ही आश्रित हैं। भारत कृषि प्रधान देश है, यहाँ के अधिकाश किसान इच्छा न रहते हुये भी लगभग आठ महीने यों ही बैठे रह जाते हैं। समय के अपव्यय को बचाने के लिये इन उद्योगों का विकास आवश्यक है। भारत-वर्ष की वर्तमान समस्या यह है कि कुछ ऐसे उद्योगों को ढूंढ़ निकाला

जाय जिन्हे अवकाश के समय में थोड़ी सी पूँजी लगाकर सम्पादित किया जा सके।

कुटीर उद्योगो की महत्ता इसलिये भी अधिक है कि इनके माध्यम से वृत्तिहीनता की समस्या को सरलतापूर्वक सुलझाया जा सकता है। अनुमान है कि बड़े पैमाने के उद्योग मे यदि चौगुनी वृद्धि भी हो जाय तो भी इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इस वृद्धि से केवल यही सम्भव हो सकता है कि कुछ मुट्ठी भर लोगों को नौकरी अथवा रोजी के साधन मिल जाएँगे किन्तु सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच की गहरी खाई को केवल कुटीर उद्योगो की ही सहायता से पाटा जा सकता है। गाँधी जी ने इन उद्योगों के महत्व को भलीभाँति समझा था यही कारण था कि वे आधुनिक विशालकाय मशीनो को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

कुटीर उद्योगों का महत्व इस दृष्टिकोण से भी है कि इन उद्योगों से अतिउत्पादन की समस्या नही उठती। माँग और पूर्ति लगभग बराबर रहती है, इसके अतिरिक्त इन उद्योगों मे आधुनिक यन्त्रीकरण के वे दोष नहीं रहते जिनके कारण मनुष्य का नैतिक, सांस्कृतिक तथा चारित्रिक पतन हो जाता है और वह विशाल यन्त्रो का एक छोटा सा पुर्जा मात्र बनकर रह जाता है।

हर्ष की बात यह है कि वर्तमान समय मे इन उद्योगों की महत्ता को समझा जा रहा है तथा इनके विकास के लिए पर्याप्त प्रयत्न किए जा रहे हैं। बम्बई योजना के निर्माताओं ने लिखा है : "हमारी औद्योगिक सगठन की योजना का यह एक आवश्यक अग है कि बड़े उद्योगों और छोटे पैमाने के उद्योगो के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश रक्खा जाय। केवल इसीलिए आवश्यक नही है कि वृत्ति का विकास होगा परन्तु इसके द्वारा पूँजी की आवश्यकता मे भी कमी हो जायगी, विशेष रूप से योजना की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी अथवा बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम पड़ेगी। उस आधार को निश्चित करना तो कठिन है जिस पर बड़े पैमाने के उद्योगों तथा छोटे पैमाने एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना के बीच निर्णय किया जा सकता है क्योकि इस प्रकार का निर्णय अनेक और बहुधा विरोधी दृष्टिकोण द्वारा निश्चित होता है। परन्तु साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यद्यपि

आधार उद्योगों में छोटे उद्योगों के लिए बहुत ही कम गुन्जाइश है तथापि उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने वाले उद्योगों में उनका एक लाभदायक और महत्वपूर्ण स्थान है और यहाँ वे बड़े अंश तक बड़े उद्योगों की सहायता का कार्य करेंगे।"

कांग्रेस संस्था सदा से कुटीर उद्योगों की समर्थक रही है। सम्प्रति वे इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही हैं। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने कुटीर उद्योगो की अवस्था की विस्तृत जाँच की थी तथा इन प्राचीन प्रणाली के उद्योगों के समस्त दोषों को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। समिति की रिपोर्ट में उद्धृत किया गया है कि "औद्योगीकरण द्वारा उत्पन्न हुई समस्याओं और उसके द्वारा उत्पादित धन के अत्यधिक केन्द्रीकरण ने, जो लगभग प्रत्येक विकसित देश का अनुभव है और सभी पाश्चात्य देशों में मौजूद है, ऐसे सभी व्यक्तियों को जो सामाजिक हितों को अधिक महत्व देते हैं, कुटीर उद्योगों के अनार्थिक लक्ष्य को स्वीक.र कर लेने पर बाध्य किया है।" समिति ने यह सिफारिश की है कि कुटीर उद्योगों तथा हस्त कलाओं का बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ सम्मिश्रण कर दिया जाय।

कुटीर उद्योग का भविष्य उज्जवल है। भारतीय सरकार इस ओर विशेष जागरूक दिखलाई पड़ती है। इन उद्योगों के उत्पादन तथा उनकी बिक्री के सम्बन्ध में सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाया है तथा इन्हें वित्त सम्बन्धी, सलाहकारी तथा शिल्प सम्बन्धी सहायता देने का निश्चय किया है। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं मे इन उद्योगों के विकास करने पर विशेष ध्यान दिया गया था। योजना कमीशन ने निम्न सुझाव दिये थे :—

१—कुछ वस्तुओ का उत्पादन केवल कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित रक्खा जाय तथा बड़े पैमाने के उद्योगों में उनके उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय।

२—बड़े पैमाने के उद्योगों तथा छोटे पैमाने के उद्योगों की प्रतियोगिता को समाप्त कर दिया जाय तथा प्रतियोगिता की अवस्थाओं में बड़े पैमाने के उद्योगों की उत्पादन शक्ति कम कर दी जाय।

३—कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास के लिये बड़े पैमाने के उद्योगों पर विशेष कर लगाया जाय।

४—इन उद्योगों के हेतु कच्चे माल का प्रबन्ध किया जाय।

५—अनुसंधान की उचित व्यवस्था की जाय तथा कुटीर उद्योगों को समय-समय पर सरकारी सलाह प्रदान की जाय।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर उद्योगों के विकास के लिये १५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत १० उद्योगों के लिये शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। इन १० उद्योगों के नाम इस प्रकार हैं–तेल उद्योग, नीम के तेल से साबुन बनाना, ताड़ से गुड़ बनाना, खंडसारी चीनी तैयार करना, धान कूटना, चमड़ा उद्योग, कुटीर दियासलाई उद्योग, कुटीर कागज उद्योग, ऊनी कम्बल उद्योग तथा मधु-मक्खी पालन उद्योग।

कुटीर उद्योगों के सुसङ्गठन का भार राज्य सरकारों पर आश्रित है किन्तु इन सरकारों को सहायता प्रदान करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने ६ संस्थाओं की भी स्थापना की है जो निम्न हैं :—

१— अखिल भारतीय हस्त कला बोर्ड।
२— अखिल भारतीय खादी और ग्राम्य उद्योग बोर्ड।
३—अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड।
४— छोटे पैमाने का उद्योग बोर्ड।
५—लच्छा बोर्ड।
६—रेशम बोर्ड।

कुटीर उद्योगों को केन्द्रीय सरकार तथा बैंकिङ्ग संस्थाएँ दोनों ही आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं। शिल्प सम्बन्धी सहायता की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार करती है। सन् १९५५ में 'राष्ट्रीय लघु उद्योग मण्डल' नामक संस्था की स्थापना की गई जो कुटीर उद्योगों की उपज को खरीद कर सरकारी विभागों में बेचती है तथा छोटे-छोटे उद्योगों को ठेके पर काम देकर उनसे काम कराती है। सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत भी कुटीर उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया जा रहा है। इन उद्योगों द्वारा उत्पादित

माल की बिक्री पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है तथा इसमें सफलता भी मिल रही है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर उद्योगों के विकास पर किए गए व्यय की प्रगति निम्न प्रकार से रही है :—

(करोड़ रुपयों में)

विषय	सन् १९५१-५२	सन् १९५५-५६	१९५१-५६
हथ करघा	६ ५	४ ६	११·१
खादी	४·६	३·५	८ ४
ग्रामीण उदयोग	१ १	३·०	४·१
छोटे पैमाने के उद्योग	२ ०	३·३	५ ३
हस्त कला उद्योग	०·४	०·६	१ ०
रेशम उद्योग	० ८	० ५	१ ३
योग	१५ ७	१५·५	३१·२

हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का प्रमुख लक्ष्य बेकारी को बढ़ने से रोकना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार ने कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान दिया है। कारवे समिति ने उद्योगों के विकास के लिए २६५ करोड़ रुपये के व्यय की सिफारिश की है। इस व्यय में से २५ करोड़ रुपया तो केन्द्रीय सरकार करेगी एवं १७५ करोड़ रुपया राज्य की सरकारें। शेष ६५ करोड़ रुपया कार्यवाहक पूँजी के रूप में उपयोग किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार की नीति क्या है? इस नीति से न केवल बेकारी की समस्या का समाधान होगा वरन् वृत्तिहीनता की समस्या का भी अन्त हो जायेगा। भारत सरकार ने कुटीर उद्योग बोर्ड की स्थापना करके इस दिशा की ओर जो प्रयत्न किया है उससे पर्याप्त लाभ होने की सम्भावना है। कुटीर उद्योग की वर्तमान स्थिति को देखने से उसके स्वर्णिम भविष्य का पता अनायास ही लग जाता है।

भारत में यातायात

किसी भी देश की उन्नति अथवा अवनति उसके यातायात के साधनों पर निर्भर करती है। वर्तमान औद्योगिक युग में तो इनका महत्व और भी बढ़ गया है। पहले मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं। अन्न, जल तथा कुछ अन्य जीवन रक्षक वस्तुओं के अतिरिक्त उसे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं थी। ग्राम्यावस्था में उसकी आवश्यकताओं का कुछ विस्तार अवश्य हुआ किन्तु तब भी वह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में पूर्ण समर्थ था। किंतु आज उसकी आवश्यकताएँ असीमित हैं। अतः अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में वह असमर्थ है। इस असमर्थता के कारण उसे देश के अन्य कोने में स्थित व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यातायात के साधनो का सहारा लेना नितान्त आवश्यक हो जाता है। और फिर आज के औद्योगिक युग में यातायात के बिना किसी भी प्रकार का कार्य सम्भव नहीं। बड़े पैमाने के उदयोगों के लिए उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता आवश्यक हो जाती है। कच्चे माल को पृष्ठ प्रदेशों से औद्योगिक केन्द्रों तक लाने, मशीनों को यथोचित स्थानों पर ले जाने तथा उत्पादन को दूर-दूर की मन्डियों तथा बाजारों में भेजने के लिए यातायातों पर निर्भर करना आवश्यक हो जाता है।

प्रायः सभी देशों में आन्तरिक यातायात तीन प्रकार के होते हैं। इन यातायातों के नाम हैं—रेल यातायात, सड़क यातायात तथा हवाई यातायात। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं जल यातायात भी होता है किन्तु भारत में यह अत्यन्त अविकसित है। जहाँ जल यातायात अविकसित है वहाँ हवाई यातायात अपेक्षाकृत अधिक महँगा पड़ता है। अतः ये दोनों ही उतने महत्वपूर्ण नहीं ठहरते जितने रेल यातायात और सड़क यातायात। किन्तु इससे यह

नहीं समझना चाहिये कि हमारे वर्तमान जीवन मे इनका कुछ भी महत्व नहीं है। वास्तव मे अपने-अपने क्षेत्र मे सभी उपादेय हैं। डाक का कार्य तो अधिकाशतया हवाई यातायात पर ही निर्भर करता है। साथ ही जल सुलभ क्षेत्रों में जल यातायात के बिना किसी भी प्रकार कार्य नहीं चल सकता। कैस्पियन सागर, अरब सागर तथा अन्य झीले एवं नदियाँ जल यातायात के सुन्दरतम् उदाहरण हैं। हाँ, भारत जल य.तायात की दृष्टि से निर्धन है, यहाँ तटीय व्यापार को छोड़कर देश के आन्तरिक भागों में बहुत ही कम जल यातायात होता है।

रेल यातायात :—हमारे आर्थिक जीवन में रेलों का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि भारतीय रेलो की आयु बहुत थोड़ी लगभग १०० वर्ष ही है तथापि इनकी प्रगति सराहनीय है। भारतीय रेल व्यवस्था एशिया मे सबसे बड़ी है एवं संसार में अपना चौथा स्थान रखती है। राष्ट्रीयकरण के दृष्टिकोण से भारतीय रेल व्यवस्था का स्थान दूसरा ठहरता है क्योंकि भारत से पूर्व केवल रूस की रेलो का राष्ट्रीयकरण हुआ था। भारतीय रेल मार्गों का कुल विस्तार ३४ सहस्र ७०५ मील है। रेल मंत्रालय के आर्थिक सलाहकार श्री एल० ए० नटेसन ने विश्व के अन्य देशों की रेलों से तुलना करते हुये जो आँकड़े प्रस्तुत किये हैं, उनसे भारतीय रेलों की स्थिति का भलीभाँति परिचय प्राप्त हो जाता है :—

भारत	३४,७०५ मील
जापान	१२,४५६ ,,
बर्मा	१,७८७ ,,
पाकिस्तान	७,०८२ ,,
ब्रिटेन	१६,१५१ ,,
कनाडा	४१,१५८ ,,
अमेरिका	२,२४,८१६ ,,
दक्षिणी अफ्रीका (१६५३-५४)	१३,४१३ ,,
आस्ट्रेलिया (१६५३-५४)	२६,६३३ ,,
फ्रांस	२५,६०० ,,

सम्पूर्ण वर्ष में भारतीय रेलें जो सेवा कार्य करती हैं उनसे उनकी महत्ता का अनुमान भलीभाँति लगाया जा सकता है। सन् १९५४-५५ के यात्रियों की संख्या तथा माल की ढुलाई आदि का तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय रेलें अन्य देशीय रेलों की अपेक्षा कितनी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं : –

देश	यात्री	यात्री मील	माल ढुलाई (टनों में)
कनाडा	२७,३८८	२७,५३,९५१	१,३३,५४४
अमेरिका	४,३९,३५६	२,९२,८६,००८	२२,९७,९९६
फ्रांस	५,००,३००	१,६५०९,८०१	१,६६,५२८
जापान	३५,४६,९९५	५,१२ १९०१२	१,४७,१५२
ब्रिटेन	९,९१,१९३	२,०७,१२,०००	२,८३,४९८
भारत	१३,०० २२४	३,८६,४९,३१२	१,१५,११७

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जापान को छोड़कर भारतीय रेलो के यात्रियों की सख्या सब देशों के यात्रियों की संख्या से अधिक रही है। भारतीय रेलों द्वारा कम माल ढोए जाने का प्रमुख कारण यहाँ के उद्योगों का पिछड़ापन है। भारतीय उद्योगों के समुचित विकास के लिये रेल यातायात सर्वोत्तम ठहरता है। दूर-दूर से कच्चा माल लाने तथा उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओ को मंडियों तथा बन्दरगाहों तक पहुँचाने में इससे सस्ता तथा सुरक्षित अन्य कोई यातायात नहीं हो सकता।

भारतीय सरकार रेलों के विकास के लिये विशेष सजग है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलों के विस्तार का एक विशाल कार्यक्रम तैयार किया गया है। इस योजना में रेल उद्योग के विकास के लिये ११ अरब २५ करोड़ रुपये स्वीकृत किये गए हैं जिसमे से पौंने चार अरब रुपया रेलों को अपनी आय से लगाना होगा। अर्थाभाव के कारण अभी केवल ८५० मील तक ही रेल मार्ग बनाने का निश्चय किया गया है जिसमे मुजफ्फर-पुर-दरभंगा, रामशाही-बिन्नागुरी, बरासेत-बसीरहाट तथा गुना-उज्जैन रेल मार्ग प्रमुख होंगे।

हर्ष की बात तो यह है कि सड़क यातायात के साथ-साथ रेल यातायात और भी विकसित हो रहा है। यदि सच पूछा जाय तो रेल यातायात तथा

सड़क यातायात इन दोनों में प्रतियोगिता रही है, कभी-कभी सड़क यातायात ने रेल यातायात की सेवाओं को भाड़ा आदि कम करके अपना भी लिया किन्तु अन्ततोगत्वा विजय रेल यातायात की ही रही। दूर की सेवाएँ तो एक मात्र रेल यातायात पर ही निर्भर करती हैं।

सड़क यातायात :—भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे सड़क यातायात का विशेष महत्व है। सड़क यातायात में अधिक पूँजी की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। इसके अतिरिक्त सड़कों की मरम्मत में होने वाला व्यय कर-दाताओं द्वारा दिया जाता है जब कि रेल मार्ग आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था केवल रेलो पर ही निर्भर करती है। साथ-साथ छोटे छोटे गाँवों को जोड़ने, उनका माल शहरों अथवा रेल के स्टेशनों तक पहुँचाने तथा उन्हें स्वावलम्बी बनाने का कार्य रेलों द्वारा कदापि सम्भव नहीं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण सड़क यातायात कई बार रेल यातायात की सेवाओं को छीनने में समर्थ हो सका है।

भारतीय सड़कों का निर्माण यदि सच पूछा जाय तो मुगल काल से प्रारम्भ हुआ है। शेरशाह, अकबर एवं शाहजहाँ आदि शासकों का नाम इस दिशा में उल्लेखनीय है। तत्पश्चात् लार्ड डलहौजी की बलशाली नीति से भारतीय सड़कों को एक नया आयाम मिला। लार्ड मेयो तथा लार्ड रिपन का नाम भी सड़क यातायात के इतिहास में अमर रहेगा। प्रथम महायुद्ध से यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि भारत में सड़कों का अत्यन्त प्रभाव है। अतः इस अभाव की पूर्ति के लिए सन् १९२७ में श्री जैकर की अध्यक्षता मे एक 'सड़क विकास समिति' की स्थापना की गई। इस समिति ने दो सुझाव दिए :—

१—मुख्य सड़कों का निर्माण तथा रक्षण केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य है क्योंकि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आय करों के रूप में केन्द्रीय सरकार को प्राप्त होती है एवं स्थानीय सड़कों का निर्माण स्थानीय तथा प्रान्तीय सरकारों को करना चाहिये।

२—रेलों की सहायक सड़कों के निर्माण में रेलों के कोष का प्रयोग होना चाहिये।

सन् १६३४ में 'इन्डियन रोड काँग्रेस' नामक संस्था की स्थापना हुई जिसके प्रमुख कार्य थे—टेक्नीकल प्रश्नों की जाँच करना, पुलादि के विषय सुझाव देना तथा इन्जीनियरिंग सम्बन्धी सभी अनुभवों का संकलन करना एवं तत्सम्बन्धी सुझाव देना। द्वितीय महायुद्ध के समय जब मलावा और बर्मा का पतन हो गया तो भारत के भूमि पर युद्ध की सम्भावना बहुत बढ़ गई अतः सैनिक महत्व के दृष्टिकोण से सड़कों का निर्माण करना अत्यावश्यक हो गया। परिणाम यह हुआ कि सड़क सम्बन्धी कार्य के लिये लम्बे चौड़े अनुदान दिये गये। सन् १६४३ में भारत सरकार ने एक दस वर्षीय योजना तैयार की जिसका नाम था नागपुर योजना। इस योजना ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह यह कि सड़कों का भेद करके केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों के कार्य-क्षेत्र को अलग कर दिया। पंचवर्षीय योजनाओं में इस दिशा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

भारतीय रेल तथा सड़क यातायातों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि इन दोनों ही यातायातों का विकास स्वतंत्र हुआ है। इनके विकास में कोई नीति नहीं अपनाई गई है। इस आयोजित नीति का परिणाम यह हुआ, इन दोनों में प्रतियोगिता का प्रारम्भ हो गया। किन्तु शीघ्र ही सरकार ने इस ओर ध्यान दिया और इस प्रतियोगिता का अन्त कर दिया। वर्तमान काल में रोडवेज और रेलवे यातायात में अनुचित प्रतियोगिता का अभाव है। आज सभी यातायातों के कार्य क्षेत्र अलग हैं। यही कारण है कि कुछ परिस्थितियों को छोड़कर एक दूसरे की सेवाओं को छीन लेने की अधिक सम्भावना नहीं है। किराया भी लगभग समान निश्चित किया गया है। इसीलिए प्रतियोगिता की सम्भावना बिल्कुल समाप्त हो गई है।

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यातायात पर ४६७ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी जो सम्पूर्ण व्यय का २४% थी। यह अनुमान लगाया गया था कि योजना के काल में राष्ट्रीय मार्गों की लम्बाई ११,६०० मील से बढ़कर २२,६०० मील तक पहूँच जायगी एवं राज्यो की सड़कों की लम्बाई १७,६०० मील से बढकर २२,६०० मील तक हो जायगी। यह अनुमान भारतीय सरकार की जागरूकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी इस विषय पर विशेष ध्यान दिया गया है। योजना के अन्तर्गत यातायातों के समचय का विशेष ध्यान रक्खा गया है। भारतीय यातायात तथा विकास सघ के रजत जयंती समारोह का उद्घाटन करते हुये भारत सरकार के भूतपूर्व रेल तथा यातायात माननीय मत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे सरकार की नीति को स्पष्ट करते हुये कहा था कि 'सरकारी नीति धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण करने की है। रेल-सड़क यातायात समचय के हेतु राष्ट्रीयकरण तथा मोटर सायकिल एक्ट की प्रतिबन्धक व्यवस्थाओं को बनाये रखना आवश्यक है।' उक्त विवरण से सड़क यातायात के भविष्य का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।

हवाई यातायात :—हवाई यातायात का विकास विश्व की नितान्त नवीन घटनाओं मे से एक है। इसके द्वारा यातायात के इतिहास को एक नया आयाम मिलता है। यूनान तथा भारत की प्राचीन कथाओं से यह पता चलता है कि मनुष्य बहुत पहले से इस बात का इच्छुक रहा है कि पक्षियों की तरह वह हवा में उड़े तथा आनन्द का अनुभव करे। 'जा पर जेहि कर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू।' निरन्तर उद्योग के कारण सफलता मिली तथा वायुयानों का निर्माण हुआ। मोण्ट गोल फियर भाइयों, लैंगले तथा राइट आदि के प्रारम्भिक प्रयत्न इस दिशा मे सराहनीय हैं। यूरोपीय देशों मे यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से ही वायु सेवाओं का विकास हो गया था किन्तु भारत में प्रस्तुत यातायात के विकसित होने मे पर्याप्त समय लगा। इसका प्रमुख कारण ब्रिटिश सरकार की उदासीनता थी।

भारतवर्ष में सर्वप्रथम सन् १६११ मे विभिन्न स्थानों पर वायुयानों के उड़ने का प्रदर्शन किया गया। सन् १६१६ मे 'भारतीय हवाई बोर्ड' नामक संस्था की स्थापना हुई जिसके सुझावों का भारतीय हवाई यातायात के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय हवाई बोर्ड के सुझावों के अनुसार ही सन् १६२७ में वायु यातायात विभाग का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् अत्यन्त शीघ्रता से हवाई अड्डों का निर्माण प्रारम्भ हुआ और उड़ान संघों (Flying club) की स्थापना होने लगी। 'टाटा एयरवेज लिमिटेड' का नाम इस दिशा मे अग्रगण्य है। इस संस्था ने सर्वप्रथम इलाहाबाद, कलकत्ता

तथा कोलम्बो के बीच हवाई सेवाओं का श्री गणेश किया। द्वितीय महायुद्ध के काल में देश की विदेशी वायु सेवाओं में भारी कमी की गई एवं लगभग सत्रह नई सेवाओ की स्थापना की गई जिनमें से नौ ब्रिटिश हवाई सेनाओं द्वारा सचालित की गईं थी। सन् १६४० में दस उड़ान संघो की स्थापना और हुई जो उड़ान की शिक्षा देने के लक्ष्य से स्थापित किए गए थे। सन् १६४४ में भारत सरकार के नागरिक वायु यातायात विभाग ने एक योजना तैयार की तथा एक समिति भी बनाई गई। इस समिति के अध्यक्ष श्री सर मोहम्मद उसमान ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुये कहा था कि हमारा लक्ष्य "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में अन्य देशो से बराबर की सुविधाएँ प्राप्त करना है और आन्तरिक क्षेत्र में हवाई सेवाओं को केवल देशवासियो के स्वामित्व में रखना और भारत में नागरिक वायु यातायात को भारतीय पूँजी और प्रबन्ध के द्वारा बढ़ाना तथा भारतवासियो को शिक्षण और रोजगार की सुविधाएँ देना है।"

भारतीय वायु यातायात की उन्नति का अनुमान निम्न आँकड़ों से सहज में ही लगाया जा सकता है :—

वर्ष	कुल यात्रा (हजार मीलों में)	यात्रियों की संख्या (हजारो में)	सामान का यातायात (हजार पौंड में)	डाक (हजार पौंड में)
१६४७	६,३६२	२५५	५,६४८	१,४०५
१६४८	१२ ६४६	३४१	११,१४८	१,५३८
१६४६	१५,०६८	३५७	२२,५००	६,०३२
१६५०	१८,८६६	४५३	८०,००७	८,३५६
१६५१	१६,४६८	४४६	८७,६६५	७,२८२
१६५२	१६,५६२	४३४	८६,०३८	८ ३७७
१६५३	१६,२०२	४०४	८४ ८२०	८,८४६
१६५४	१६,७६८	४३२	८३,४००	१०,६७४
१६५५	२०,७४०	४५०	६२ २०६	११ ११२

सन् १६५० मे हवाई यातायात जॉच समिति की स्थापना की गई। समिति का विचार था कि हवाई यातायात के राष्ट्रीयकरण से विशेष लाभ सम्भव है। हवाई यातायात की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी अतः समिति के सुझावों के विपरीत सरकार को हवाई यातायात का राष्ट्रीयकरण करने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रथम पचवर्षीय योजना में हवाई यातायात के विकास की समुचित व्यवस्था की गई थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रस्तुत यातायात के विकास के लिए ३० ५ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है। इतना होते हुए भी सरकार को अब भी हवाई यातायात मे घाटा ही उठाना पड़ रहा है।

भारतीय जल यातायात का भी अभी समुचित विकास नहीं हो सका है। अन्य यातायातों की तरह जल यातायात भी विदेशियो की ही स्वार्थपरता का परिणाम है। समुद्री मार्ग के खुलने पर भारत के कच्चे माल को ले जाने तथा तैयार माल को भारत मे पहुँचाने के लिए ही जल-यातायात का विकास किया गया। भारतीय सरकार को अब भी विदेशों से ही पानी के जहाजों का क्रय करना पड़ता है यद्यपि अब इस दिशा की ओर प्रयत्न होने लगे हैं। आशा है शीघ्र ही भारत पानी के जहजों के विषय में स्वावलम्बी हो जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त सभी यातायातों के क्षेत्र लगभग अलग-अलग हैं। केवल रेल-यातायात तथा सड़क-यातायात में स्पर्धा की थोड़ी सी सम्भावना शेष रह जाती है किन्तु सम्प्रति सरकार इस दिशा की ओर विशेष ध्यान दे रही है। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे यातायात के विकास की योजनाएँ बनाते समय यातायातों के समन्वय का विशेष ध्यान रक्खा गया है। उक्त सभी यातायातों का समन्वय के आधार पर ही विकास होना सम्भव है। रेलों तथा सड़कों के यातायातों के समन्वय के साथ-साथ सयुक्त स्टीमर कम्पनियों द्वारा सड़कों तथा नदियों के यातायात मे भी समन्वय करने का प्रयत्न किया जा रहा है। सम्प्रति एक विशेषज्ञ समिति तटीय यातायात एव रेलो के बीच भी समन्वय स्थापित करने के विषय पर विचार कर रही है।

इतना होते हुए भी यातायात के सभी साधन अभी पूर्ण विकसित नहीं हो पाए हैं। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को संतुलित रखने के लिए तथा राष्ट्र की समृद्धिशालिता के लिए इन साधनों का सुनियोजित तथा समन्वय युक्त विकास करना सरकार का एक आवश्यक कर्तव्य है। आज के औद्योगिक युग में देश की सुख और शांति विशेषतया यातायात के सुविकसित साधनों पर ही निर्भर करती है अतः इस ओर से उदासीन होना कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

— ———

सामाजिक बीमा एवं उसका महत्व

सामाजिक बीमा वह सहकारी विधान है जिसके द्वारा लोगों को अनिवार्यतः निर्धनता, वृत्तिहीनता एवं अन्य बीमारी आदि की भयङ्कर परिस्थितियो में पर्याप्त सहायता पहुँचाई जाती है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें श्रमिकों, सेवायोजकों तथा राज्य इन तीनों को ही चन्दा प्रदान करना होता है। इस चन्दे के कोष से आवश्यकता पड़ने पर एक न्यूनतम जीवन स्तर की व्यवस्था की जाती है। सामाजिक बीमा से होने वाले लाभों के लिये श्रमिक विधानतः अधिकारी होते हैं। सर विलियम विवरिज के अनुसार 'यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अनुसार जीवन निर्वाह के स्तर तक चन्दों के बदले मे लाभ प्रदान किये जाते हैं। ऐसे लाभ अधिकारी के रूप मे व्यक्ति की क्षमता की जाँच के किये बिना दिये जाते हैं। योजना चन्दे पर आधारित है एवं अनिवार्य है और इसमे विभिन्न व्यक्ति अपने दूसरे साथियों के लिये आवश्यकताओं के काल में सहायता के सिद्धान्त को अपनाते हैं।'

स्मरण रहे कि सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता दोनों परस्पर भिन्न हैं। सामाजिक सहायता में अर्थ व्यवस्था केवल राज्य के द्वारा होती है जब कि सामाजिक बीमा में श्रमिक, सेवायोजक तथा राज्य तीनों ही अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध करते हैं। यदि सच पूछ जाय तो सामाजिक बीमा का क्षेत्र संकुचित होता है। सामाजिक सुरक्षा के लिये सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता इन दोनों का होना परमावश्यक है। आधारभूत आवश्य-कताओं के लिये सामाजिक बीमे का विशेष महत्व है। कठिनतर एवं नितान्त आवश्यक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सामाजिक बीमा एक महत्व-पूर्ण एवं आधुनिकतम विधि है।

सामाजिक बीमे की कई विशेषताएँ हैं जो निम्न प्रकार से प्रकट की जा सकती हैं :—

१—इसके अन्तर्गत एक सामूहिक मौद्रिक कोष की व्यवस्था की जाती है। सभी सेवाएँ—चाहे वे नकदी मे हों चाहे वस्तु रूप में—इसी कोष की सहायता से की जाती हैं।

२—श्रमिको का चन्दा बहुत कम होता है एवं वे सरलतापूर्वक उसे दे सकते हैं।

३—श्रमिकों को प्राप्त होने वाली सेवाएँ उसके दिए हुये चन्दे पर नहीं निर्भर करती। चन्दो एवं सेवाओं के बीच किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता।

४—आय में किसी प्रकार की क्षति पहुँचने पर एक न्यूनतम मान दण्ड बनाए रखने के लिए सेवाओं को एक सीमा के अन्तर्गत रक्खा जाता है।

५—सेवाएँ अधिकार के रूप में प्राप्त होती हैं उनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार की जाँच अपेक्षित नहीं होती।

इन विशेषताओं के कारण सामाजिक बीमा वर्तमान काल में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सम्प्रति सामाजिक बीमा अनिवार्य आधार पर प्राप्त होता है अतः सभी श्रमिकों को—जो लाभ योजना में सम्मिलित हैं सरलतापूर्वक लाभ प्राप्त हो सकता है।

भारतीय सामाजिक बीमे की आयु बहुत कम है। सन् १९२७ मे सर्वप्रथम इस दिशा की ओर ध्यान दिया गया किन्तु सरकार के असहयोग के कारण कोई ठोस कार्य न हो सका। सन् १९३१ में श्रम शाही के आयोग (Royal Commission on Labour in India) ने स्वास्थ्य बीमा योजना के लिए एक योजना का निर्माण भी किया किन्तु इस बार सरकार ने यह योजना इसलिए लागू नहीं की क्योंकि इसकी माग श्रमिकों के द्वारा नही की गई थी। सन् १९४० मे श्रम मन्त्रियों के प्रथम सम्मेलन मे यह निश्चित हुआ कि इस योजना के सम्बन्ध मे राज्य सरकारों, सेवायोजकों तथा श्रमिक संगठनों से विचार विमर्श किया जाय। उक्त सबों ने यह निश्चित किया कि बीमा सिद्धान्त को चन्दे के आधार पर स्वीकार करना आवश्यक है। सन् १९४१ में सरकार द्वारा एक योजना निर्मित की गई तथा सन् १९४२ मे सरकार ने

औद्योगिक श्रमिको के सम्बन्ध में बीमारी बीमा योजना के लिए एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए श्री वी० पी० आडारकर की नियुक्ति की। इन्होंने अपनी रिपोर्ट सन् १९४४ में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के प्रकाशित हो जाने पर लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९४६ मे केन्द्रीय धारा सभा मे सरकारी बीमा बिल प्रस्तुत किया गया। सरकार ने प्रो० आडारकर के मुख्य-मुख्य सुझावों को कुछ सशोधन करने के पश्चात् स्वीकार कर लिया।

प्रो० आडारकर की योजना कुछ आधारभूत सिद्धान्तों के लिए पर्याप्त विस्तृत है। ये सिद्धान्त निम्न हैं :—

१—योजना अनिवार्य है एव इसका आधार चन्दा है।

२—योजना सरल, स्पष्ट एवं सादी है।

३—योजना में श्रमविधानों के प्रस्तुत स्वरूप को उसका एक आवश्यक अंग बनाया गया है।

४—यह आर्थिक दृष्टिकोण से स्वस्थ एवं मितव्ययी है।

५—इसमे झगड़ों की सम्भावना बहुत ही कम है।

६—यह लचीली एवं अन्तर्राष्ट्रीय समिति के आधार पर निर्मित की गई है।

इस योजना के अन्तर्गत वे सभी श्रमिक आ जाते हैं जिनकी मासिक आय २०० रुपये से कम है। बाद में यह सीमा ४०० रुपए से नीची आय वाले सभी श्रमिकों तक विस्तृत कर दी गई है। इस योजना के अन्तर्गत वे भी श्रमिक आ जाते हैं जिनकी आयु ६० वर्ष से नीचे है। इस योजना के अन्तर्गत चन्दे प्रति मास दिए जाते हैं एवं उनकी वसूली का कार्य सेवायोजक द्वारा सपन्न होता है। सरकारी चन्दे को आवश्यक नहीं रखा गया है वह सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। वे सभी श्रमिक सामाजिक बीमे की सेवाओं के अधिकारी हो सकते हैं जिन्होंने कम से कम ६ मास तक चन्दा दे दिया हो। वृत्तिहीनता की अवस्था मे एक स्थायी श्रमिक ६० दिन तक का नकद लाभ प्राप्त करने का अधिकारी है, अस्थायी श्रमिक ४५ दिन तक का और आकस्मिक श्रमिक केवल चिकित्सा सम्बन्धी लाभ ही प्राप्त कर सकता है।

चिकित्सा के केन्द्र केवल वहीं स्थापित हो सकते हैं जहाँ सामाजिक बीमा के सदस्यों की संख्या कम से कम ५००० होगी।

सन् १६५८ में कर्मचारियों का बीमा विधान पारित हो गया। इस विधान का उद्देश्य है कि 'बीमारी की दशा में श्रमिकों को, प्रसूत काल में स्त्री को और मृत्यु अथवा अंगहीन हो जाने की दशा मे श्रमिक के उत्तराधिकारी को आर्थिक सहायता तथा चिकित्सा सहायता प्रदान की जाय।' इस विधान के अनुसार बीमारी की अवधि में प्रति वर्ष ५६ दिन के लिए नकद लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस लाभ की दर पिछले ६ मास के औसत वेतन की ५० प्रतिशत होगी। कर्मचारियों की स्त्रियों को प्रसूत लाभ पाने की अवधि कुल १२ सप्ताह है। यह लाभ बच्चा होने के ६ सप्ताह पहले से बच्चा होने के ६ सप्ताह बाद तक १२ आने प्रतिदिन के हिसाब से दिया जाता है। यदि किसी कारण से कर्मचारी कार्य करने योग्य नहीं रह गया है तो जब तक वह जीवित रहेगा, उसे उसके १ वर्ष पहले के औसत वेतन का ५० प्रतिशत लाभ मिलता रहेगा और जब उसकी मृत्यु हो जायगी तो उसके आश्रितों को ये तीन प्रकार के भुगतान किये जाएँगे :—

१—विधवा स्त्री को श्रमिक के पिछले १ वर्ष के औसत वेतन का चौथाई भाग अर्थात् ¼ जीवन भर अथवा दूसरी शादी तक सहायता के रूप मे मिलेगा।

२—प्रत्येक पुत्र को १५ वर्ष तक पूर्ण दर का ४० प्रतिशत मिलेगा।

३—प्रत्येक पुत्री को विवाह काल तक अथवा १५ वर्ष की आयु तक पूर्ण दर का ४२ प्रतिशत मिलेगा।

यदि कर्मचारी के स्त्री और बच्चे नहीं हैं तो यह सहायता उसके माता और पिता को प्राप्त होगी एवं शिक्षा प्राप्त करने वाले बालक एवं बालिकाओं को इस सहायता का लाभ १८ वर्ष की आयु तक प्राप्त होगा।

किन्तु स्मरण रहे कि आश्रितों को प्राप्त होनी वाली सहायता का योग किसी भी अवस्था में पूर्ण दर (अर्थात् पिछले १ वर्ष के औसत के वेतन के ५० प्रतिशत) से अधिक नहीं हो सकता।

इस योजना के अन्तर्गत वित्तीय प्रबन्ध कई प्रकार से होता है। सेवा-योजकों तथा कर्मचारियों के चन्दे के अतिरिक्त केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, स्थानीय अधिकारियो, व्यक्तियों तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा भी वित्तीय प्रबन्ध होता रहता है। केन्द्रीय सरकार इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्नशील रही है। पहले के ६ वर्षों मे तो कारपोरेशन के व्यय का दो-तिहाई भाग केवल केन्द्रीय सरकार ने ही वहन किया है। श्रमिकों तथा मिल मालिकों की साप्ताहिक देन का पता निम्न तालिका से भलीभाँति लग सकता है।

श्रमिकों के वर्ग	श्रमिकों द्वारा चन्दा	मालिक द्वारा चन्दा	कुल योग
१ रुपये से कम के दैनिक वेतन वाले	०	।≡)	।≡)
१) से १।।) तक	=)	।≡)	।।–)
१।।) से २) तक	।)	।।)	।।।)
२) से ३) तक	।=)	।।।)	१=)
३) से ४) तक	।।)	१)	१।।)
४) से ६) तक	।।≡)	१।=)	२–)
६) से ८) तक	।।।≡)	१।।।≡)	२।।।=)
८) से ऊपर वाले	१।)	२।।)	३।।।)

सर्वप्रथम यह योजना सन् १६५० में दिल्ली में लागू की गई। सन् १६५२ मे कानपुर में भी इसको प्रयोग मे लाया गया। अप्रैल सन् १६५२ तक इसके अन्तर्गत १,५०,००० कर्मचारियों के लिए सामाजिक बीमा की व्यवस्था की जा चुकी थी। सन् १६५४ से प्रस्तुत योजना कानपुर, बम्बई, दिल्ली,

कोयम्बटूर, इन्दौर, ग्वालियर, उज्जैन, कलकत्ता, हबड़ा, हैदराबाद, सिकन्दराबाद तथा अन्य सम्पूर्ण औद्योगिक स्थानों में लागू है। इस योजना से सम्प्रति लगभग दस लाख कर्मचारी लाभान्वित हो रहे हैं। सन् १६५४-५४ मे १,६१, २१,६४४ रुपये चिकित्सा पर तथा १६,२३,१६७ रुपये बीमारी एवं सहायता आदि के लिए व्यय किये गये। इस व्यौरे को देखने से पता चलता है कि अभी इस दिशा में और सुधार होना अपेक्षित है। श्रमिको की संख्या को देखते हुए व्यय की रकम कम जान पड़ती है। सरकार को जाच समितियों के द्वारा इस विषय की पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए तथा समय समय पर आवश्यक कानूनों द्वारा श्रमिकों को यथोचित लाभ दिलाने का प्रयत्न करना चाहिए।

सामाजिक बीमे के महत्व के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है किन्तु फिर भी कुछ शेष रह जाता है और वह यह कि भारत जैसे देश में इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। इस संस्था से कुछ ऐसे विशिष्ट लाभ हैं जो किसी भी अन्य प्रतियोगी प्रणाली में प्राप्य नहीं। इस योजना के द्वारा श्रमिकों की भौतिकता तथा नैतिकता दोनों ही दृष्टिकोणों से कार्यकुशलत तथा कार्यक्षमता को बनाये रखने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके द्वारा एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की जाती है जो कार्यक्षमता को बनाये रखने के लिये प्रयत्न करती है, कार्यक्षमता की हानि को रोकती है तथा खोई कार्यक्षमता को प्राप्त कराती है। इस योजना मे लाभ दान अधिकार के आधार पर होता है अतः श्रमिकों का स्वाभिमान बना रहता है एव उन्हें आत्मग्लानि की घनीभूत पीड़ा से पीड़ित नहीं होना पड़ता। भारतीय श्रमिकों की अवस्थाओं पर दृष्टिपात करने से इस बीमे की महत्ता का सहज मे ही अनुमान लग जाता है। देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शांति तथा समृद्धिशीलता की नींव को दृढ़ बनाने के लिये सामाजिक बीमे क नितान्त आवश्यकता है। निश्चय ही ऐसी योजनाओं से भारत के भविष्य को उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

———

ग्रामोत्थान की योजनाएँ

भारतवर्ष गाँवों का देश है। अधिकाश भारतीय जनता गाँवों में ही निवास करती है। कृषि ही भारतीयों की जीविका का प्रमुख साधन है। किन्तु कृषकों की दयनीय दशा पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। विदेशी शासन-काल में तो इन गाँवों की ओर भी उपेक्षा हुई थी। सरकार तथा जमीदार दोनों ही गाँवों के लिए घातक सिद्ध हो चुके हैं, इन दोनों का ही प्रमुख लक्ष्य शोषण करना था। जनता अशिक्षित थी, अज्ञानता के आवरण में लिपटी थी अतः उसकी कूप-मंडूकता से इन दोनों ने खूब लाभ उठाया। ऐसी परिस्थिति में गाँवों का दिनों दिन नैतिक तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टि कोणों से ह्रास होता गया तथा एक अवस्था वह आई जब कि ग्रामीण नितान्त असमर्थ तथा पंगु हो गये।

अत्याचार की भी एक सीमा होती है। कुछ ही दिनों बाद भारत स्वतंत्र हुआ एवं राष्ट्र के नेताओं ने गाँवों की दयनीय अवस्था को ध्यान से देखा एवं उनके सुधारने के प्रयत्न किए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक योजनाओं का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय सरकार ने भी इस दिशा की ओर पर्याप्त प्रयत्नशील हुई तथा गाँवों को सुधारने के उसने अनेक प्रयत्न किए। सम्प्रति निराशाओं की लहरों के थपेड़े खाते हुये गाँव आश्चर्यजनक गति से विकास की ओर अग्रसर हो रहे हैं। आज उनमें एक नवीन चेतना, एक नवीन जोश तथा एक नवीन उत्साह के साथ बढ़ने की एक नवीन लगन का उदय स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। आज का कवि भी भूदान यज्ञ के गीत गाता हुआ जमींदारों से प्रार्थना करता है कि :—

> सुरम्य शाति के लिए जमीन दो, जमीन दो।
> महान क्राति के लिए जमीन दो, जमीन दो॥

जमीन दो कि भूमिहीन लोग काम पा सकें।
उठा कुदाल बाजुओं के जोर आजमा सकें॥

महात्मा गाँधी ने कहा है—'भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है।' यह ठीक भी है क्योंकि देश की अधिकाश जनता इन गाँवों म ही निवास करती है। भारत का सच्चा चित्र यदि कहीं मिल सकता है तो वह इन्हीं गाँवों में ही। सोहन लाल ने ठीक ही कहा है :—

'है अपना हिन्दुस्तान कहाँ वह बसा हमारे गाँवों में'

मैथिलीशरण गुप्त तो गाँवो का चित्र खींचने में कमाल कर देते हैं :—

'चने बाजरे की रोटी पर धर करके सरसों का साग।
लेते हैं आनन्द उसी का देखो कैसा है अनुराग॥

तथा

अहा ग्राम्य जीवन भी कैसा क्यों न इसे सबका मन चाहे।

भारत के इन गाँवों की दशा में सुधार करने की बात सबसे पहले महात्मा गाँधी ने सोची। उनके नेतृत्व में आत्मनिर्भरता का एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया गया। इससे ग्रामीणों को पर्याप्त लाभ हुआ और वे स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करने लगे। सन् १६३१ में ग्राम सुधार विभाग की स्थापना हुई एवं विभाग के द्वारा प्रत्येक जिले में १० से १५ तक ग्राम सुधार केन्द्रों की स्थापना हुई। किसानो की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं उनको समुचित ज्ञान प्राप्त कराने के लिए नवीन प्रणाली की शिक्षाओ तथा विभिन्न प्रकार के कार्यों का आयोजन किया गया। इस आयोजन के अनुसार किसानों को कृषि, कुटीर-उद्योग, हस्तकलाकौशल, बागवानी, पशु-पालन, समाज-शिक्षा तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षाओं का प्रबन्ध किया गया तथा इस प्रकार से देश की समुन्नति के लिए एक विकास कमिश्नर की नियुक्ति की गई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में यथेष्ट प्रगति हुई। अब विकास की योजनाएँ बड़ी तीव्रता से लागू होने लगीं। समस्त कार्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) विभागीय कार्यक्रम :—ये सरकार द्वारा निर्मित किए जाते थे तथा

सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा इन्हे कार्य रूप मे परिणत करने का प्रयत्न किया जाता था।

(२) जन कार्यक्रम :—इस प्रकार के कार्यक्रमों का निर्माण जनता द्वारा किया जाता था तथा वही इन्हें सफल बनाने का प्रयत्न करती थी।

कुछ ही दिनों में इन कार्यक्रमो का लाभ परिलक्षित होने लगा। ग्रामीणों के सहयोग के कारण इनकी यथेष्ट प्रगति हुई। सन १६४८ मे उत्तर प्रदेशीय सरकार ने इस दिशा की ओर एक ठोस कदम उठाया। उसने इटावा में अग्रगामी विकास योजना की नीव डाली। इस योजना का प्रमुख लक्ष्य ग्रामीणों को आत्म निर्भर बनने की शिक्षा देना था। ऐसी शिक्षा में आधुनिक यन्त्रों के द्वारा कृषि सचालन की शिक्षा, आर्थिक न्यूनताओं को दूर करने की शिक्षा तथा पशु पालन आदि की विभिन्न प्रकार की शिक्षाएँ सम्मिलित थीं। ऐसी शिक्षाओं ने ग्रामीणों की रूढ़िवादिता का किसी अश तक खण्डन किया और उनका सकुचित दृष्टिकोण व्यापक होने लगा। उन्होंने आधुनिकतम् ढङ्ग से कृषि किया तथा उससे लाभ भी उठाया।

गोरखपुर तथा देवरिया आदि स्थानों मे भी इस योजना को पर्याप्त सफलता मिली। अमेरिका सरकार इस योजना से विशेष प्रभावित हुई तथा देश मे ५५ सामुदायिक योजनाएँ लागू करने के लिए ५ करोड़ डालर की सहायता देना भी स्वीकार कर लिया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन योजनाओं का प्रमुख लक्ष्य ग्रामीणों की आर्थिक उन्नति करना था। लायड बुक ने इन योजनाओं की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'एक समुदाय जन सख्या का एक ऐसा सग्रह है जो एक मिले हुये प्रदेश मे रहती हो, जिसका एक सामूहिक अनुभव द्वारा एकीकरण हुआ हो, जिसकी कुछ आधारभूत सेवा-सस्थाएँ हों, जिसको अपनी (स्थानीय एकता का ज्ञान हो और जो सामूहिक रूप में कार्य कर सकती हो।' सैन्डरसन के अनुसार 'सामुदायिक सङ्गठन उन उद्देश्यों को प्राप्त करने जो सामूहिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं तथा उनके प्राप्त करने के सर्वोत्तम उपाय दोनों को ही उपलब्ध करने की एक कार्य विधि है।' इन परिभाषाओं से ऐसी योजनाएँ वास्तव मे हैं क्या इस बात का भलीभाँति पता लग जाता है।

इन योजनाओं के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये श्री एस० के० डे ने कहा है—'हमारे समाज में एक समुदाय की वही विशेषताएँ होती हैं जो कि एक बाग और जङ्गल में भेद करती हैं। जङ्गल में सभी प्रकार की वनस्पति होती है, परन्तु वह अनियोजित होता है और इसमें वनस्पति के प्रकार तथा संयोग भूमि और मौसम के ऊपर निर्भर रहते हैं। एक बाग आयोजित जङ्गल होता है जिसका प्रत्येक पौधा इस सिद्धान्त पर बढ़ता है कि 'जियो और जीने दो।' उन्होंने पुनः कहा है कि मनुष्य तथा समाज पहले से ही वहाँ मौजूद हैं।' आवश्यकता इसकी है कि चक्रवर्ती तक को समाप्त किया जाय—'यह नहीं हो सकता है' के स्थान पर 'यह होना चाहिये', 'यह हो सकता है और अवश्य किया जायगा' भुजाएं इसको कर सकती हैं। भुजाएँ इसे करने का अभ्यास प्राप्त कर सकती हैं। ऐसी दशाएं उत्पन्न की जा सकती हैं कि यह किया जा सके। ये तीनों विश्वास फिर से उत्पन्न कर देने की आवश्यकता है और इनके पीछे ऐसी इच्छा शक्ति रहनी चाहिये जो बिजली की कड़क से भी बलवान हो।'

हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रारम्भिक रिपोर्ट में इन योजनाओं की आवश्यकता का स्पष्टीकरण करते हुये लिखा गया है कि 'गहन क्षेत्रों में काम करने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। यदि उन्हें छोटे से क्षेत्र पर व्यय किया जाय तो सीमित साधनों से अच्छा लाभ प्राप्त किया जा सकता है। गहन क्षेत्रों में शासन सम्बन्धी कुशलता भलीभाँति प्राप्त की जा सकती है क्योंकि एक ओर तो निश्चित साधन निर्धारित किये जा सकते हैं और दूसरी ओर उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है। ग्रामीण विकास में भावी नीति विशिष्ट क्षेत्रों का गहन विकास ही होनी चाहिये।' रिपोर्ट में पुनः कहा गया है कि ऐसी योजनाओं को 'कार्य-विधि यह है कि ऐसे क्षेत्रवर्ती वर्गों का जिनमें एक सीमित मात्रा में कुछ परिवार मिल जुलकर पास ही पास रहते हों स्वय-शासनीय तथा सहकारी इकाइयों में संगठन किया जाय जिससे कि उनके सामूहिक हितों की उन्नति हो। साधारणतया सामुदायिक संगठन का निर्माण, सचालन तथा प्रबन्ध क्षेत्र समुदाय को ही करना चाहिये। परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे आन्दोलन का प्रारम्भ राज्य द्वारा किया जा सकता है'।

अपने लक्ष्य के अनुसार सरकार ने इन योजनाओं के अन्तर्गत ग्राम्य जीवन के प्रत्येक अङ्ग के विकास का विशेष ध्यान रक्खा है। अज्ञानता, बेकारी तथा रूढ़िवादिता को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यों की व्यवस्था की गई है। कुछ प्रमुख कार्य ये हैं—शिक्षा, कृषि, समाज शिक्षा, पशु-पालन, सिंचाई, यातायात, जन स्वास्थ्य तथा कुटीर उद्योग धन्धे आदि।

इन योजनाओं से ग्रामीणों तथा साथ-साथ देश को भी अनेक लाभ हुए हैं। पहला लाभ यह हुआ कि अन्न क अभाव की पूर्ति हो गई। अभी तक लाखों टन अन्न विदेशों से आयात करना पड़ता था तथा देश की अधिकाश सम्पत्ति विदेशियों के हाथ लगती थी। दूसरा लाभ यह हुआ कि देश की खेती का विस्तार हुआ एव बहुत सी बजर भूमि भी उपजाऊ बन गई। साथ ही साथ तीसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि रूढ़िवादिता की चहार दीवारी से किसान बाहर आया और खेती के नवीन आविष्कारों से विशेष लाभ उठाने लगा।

इन लोगों के अतिरिक्त अन्य बहुत से कार्य इन योजनाओं के द्वारा सम्पादित हो रहे हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। कृषि केवल वर्षा पर ही न निर्भर रहे इसलिए सिंचाई के विभिन्न साधनों-कूप नहर तथा झील आदि का निर्माण एवं उपयोग किया जा रहा है। मनुष्यों को सक्रामक बीमारियो से बचाने के लिए विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं। ब्लाक विभाग की ओर से तो अत्यन्त प्रशसनीय कार्य हो रहे हैं। स्थान-स्थान पर पशु चिकित्सालयों की स्थापना हो रही है एव पशुओं की नस्ल में सुधार करने के भरसक प्रयत्न किए जा रहे हैं। यातायात के साधनों का भी विशेष ध्यान रक्खा गया है। सड़कों का निर्माण करके गावों को बाजारो एव बाजारों को शहरों से जोड़ने का प्रयत्न प्रशंसनीय है। अवकाश के समय को उपयोग में लाने के लिए किसानों की प्रौढ़ शिक्षा का प्रयत्न किया जा रहा है एवं कुटीर उद्योग धन्धों को विकसित करके उनकी आर्थिक स्थिति को सम्पन्न बनाने के भी अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। ग्रामीणों के मनोरञ्जन का भी ध्यान रक्खा गया है। खेल-कूद तथा आमोद-प्रमोद के साधनों एवं वाचनालयों के लिए भी विशेष प्रयत्न हो रहे हैं।

इतना होते हुये भी भारत की अनेक समस्याएँ अभी अछूती ही पड़ी हैं। भारतवर्ष अपनी विशालता में स्यात् कुछ देशों को छोड़ कर सबसे बड़ा है। यहाँ की जन संख्या लगभग ३५ करोड़ जनता के जीवन स्तर को ऊँचा करना कोई हँसी खेल नहीं है। अभी इस दिशा में बहुत कुछ करने को शेष है। फिर भी कहावत है कि 'उद्योग ही सफलता की जननी है।' यदि राह पर चल दिया गया है तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचना अवश्यम्भावी है किन्तु रास्ते के खतरों से सावधान रहना आवश्यक है। आधुनिक सफलताओं को देखने से यह आशा की जा सकती है कि शीघ्र ही भारत अपनी समस्त समस्याओं का हल करके उन्नति के उच्च शिखर पर आसीन होने में समर्थ हो सकेगा।

परिवार नियोजन

परिवार समस्त प्राकृतिक समुदायों का सिरमौर है। इस समुदाय की सदस्यता स्वाभाविक और अनिवार्य है। प्रत्येक व्यक्ति परिवार मे पैदा होता और उसका एक अङ्ग कहलाता है। इसीलिए परिवार का अङ्ग बन जाना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है, उसमें 'हाँ' या 'ना' करने की गुंजाइश नहीं। परिवार वर्तमान प्राकृतिक संस्थाओं मे सबसे प्राचीन है क्योंकि मनुष्य के सामाजिक जीवन और परिवार का श्रीगणेश साथ ही साथ हुआ है। बच्चा कई वर्षों तक नितान्त असमर्थ रहता है एव अपनी आवश्यकताओं को बिना रोये नहीं प्रकट कर पाता। ऐसे निरीह बच्चे का भरण-पोषण करके एक आदर्श नागरिक बना देना परिवार का ही काम है।

किन्तु जहाँ गुण होते हैं वहाँ दोष भी होते हैं। परिवार के लाभ किसी से छिपे नही हैं। किन्तु संयुक्त परिवारो से जो दोष उत्पन्न हो रहे हैं उन्हें भुलाया नही जा सकता। इन दोषों के उपचारार्थ ही परिवारों के आकार को नियंत्रित तथा सुनियोजित करने की माग की जा रही है। यह माग वास्तव मे प्रगतिशीलता का लक्षण है। यह न केवल परिवार के हित के लिए श्रेयस्कर है वरन् समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लिए भी कल्याणकारी है। हर्ष की बात है कि विश्व के अन्य देशों की भाति भारतीयो ने भी परिवार-नियोजन के महत्व को समझा एव इस दिशा मे अग्रसर होने का प्रयास किया है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत परिवार नियोजन के लिए पैसठ लाख रुपये व्यय करने की जो व्यवस्था की गई थी वह सरकार की जागरूकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सम्प्रति स्थान स्थान पर परिवार नियोजन के जो केन्द्र दृष्टिगत होते है वे उक्त व्यवस्था के ही परिणाम हैं। इन केन्द्रों में जनसाधारण को परिवार-नियोजन सम्बन्धी बातो की निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है।

उक्त व्यवस्था का प्रमुख कारण है भारत की बेकारी एव दरिद्रता। बेकारी के अभिशाप को काटकर दरिद्रता को दूर करने के लिए जहाँ एक

ओर 'अधिक अन्न उपजाओ' का आन्दोलन हुआ वहीं दूसरी ओर सन्तति नियमन की माँग हुई। क्योंकि अधिक संतान उत्पन्न करना आर्थिक तथा नैतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से हानिकर है। जिन बच्चों को पौष्टिक भोजन, आवश्यक वस्त्र तथा शिक्षा आदि देने की व्यवस्था हम न कर सकें उन्हें उत्पन्न करके समाज के भार स्वरूप बनाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। कम बच्चे होने पर न केवल उनका भरण-पोषण ही उचित प्रकार से होता है वरन् उन्हें उचित शिक्षा भी दिलाई जा सकती है।

परिवार-नियोजन की ओर सर्वप्रथम टामस माल्थस का ध्यान गया। उन्होंने जनसाधारण का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि एक निश्चित समय मे किसी भी क्षेत्र में खाद्य सामग्री में जितनी वृद्धि होती है उससे कई गुनी वृद्धि जन संख्या की होती है। माल्थस ने इस वृद्धि को रोकने के जो उपाय बतलाए उन्हें हम कृत्रिम तथा अकृत्रिम उपायों की सज्ञा प्रदान कर सकते हैं। माल्थस से भी अधिक भयंकर आज की भविष्यवाणियाँ हैं। प्रोफेसर कार सान्डर्स ने अनुमान लगाया है कि विश्व की जन संख्या वर्तमान समय में एक प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही है और यदि वह इसी हिसाब से बढ़ती रही तो ५०० वर्ष पश्चात् विश्व की जन संख्या इतनी अधिक हो जायगी कि पृथ्वी पर सम्पूर्ण मनुष्यों को खड़े होने का स्थान भी न मिलेगा। इस अनुमान से बरबस हमारा ध्यान परिवार नियोजन की ओर चला जाता है क्योंकि इस भयावह रोग का एक ही इलाज है और वह है परिवार नियोजन।

जैसा कि मिल ने कहा है मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख से छुटकारा पाना है। सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है जब जीवन का स्तर ऊँचा हो और जीवन का स्तर ऊँचा करने के लिये संतति-नियमन की अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि अधिक बच्चे होने पर उनका भरण-पोषण उचित एव वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया जा सकता। डा० चार्ल्स का कथन है "एक हजार पौंड प्रतिवर्ष आय वाले एक ऐसे व्यक्ति का, जिसके चार बच्चे हों, जीवन स्तर एक कुँआरे व्यक्ति के जीवन स्तर के लगभग पाँचवे भाग के बराबर होगा।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिये भी सन्तति नियमन की परमावश्यकता है। भारत जैसे देश के लिये तो यह और भी आवश्यक है क्योंकि यहाँ की अर्थ व्यवस्था इतनी

पिछड़ी हुई है कि यहाँ की बढती हुई जनसख्या दिन प्रतिदिन अभिशाप के रूप मे हमारे सम्मुख आ रही है।

वस्तुतः ध्यानपूर्वक देखा जाय तो परिवार नियोजन की आवश्यकता न केवल आर्थिक कारणों से है वरन् कुछ ऐसी बाते हैं जो इस बात पर विशेष बल देती हैं। परिवार को सुख एवं शाति प्रदान करने मे स्त्री का प्रमुख हाथ होता है। बच्चों का बनना अथवा बिगडना माता के ऊपर ही निर्भर करता है। संसार के महान पुरुष अधिकाश में मातृ-शिक्षा की ही देन हैं। किन्तु अधिक संतान उत्पन्न करने से वह अपना स्वास्थ्य खो बैठती है एवं ऐसी अवस्था मे वह बच्चों की देख-भाल करने की कौन कहे अपनी भी देख-भाल नही कर पाती। पुरुष उस श्री हीन नारी से, जो प्रायः चिड़चिड़ी भी हो जाती है, विमुख होकर किसी अन्य नवोढ़ा की ओर आकर्षित हो जाता है एवं इस प्रकार परिवार में भयकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार चारित्रिक दुर्बलताओं के शिकार स्त्री और पुरुष समाज को दूषित कर देते हैं। अतः इस दृष्टि से परिवार नियोजन वस्तुतः एक अनिवार्य समस्या के रूप मे उपस्थित होता है।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि परिवार-नियोजन के जो उपाय प्रचलित हैं, क्या वे वस्तुतः वैज्ञानिक एवं सर्वथा दोष रहित हैं? परिवार नियोजन के लिये आवश्यक है गर्भ निरोध; और गर्भ निरोध का कोई भी उपाय तभी कल्याणकारी हो सकता है जब कि उसमें तीन आवश्यक बातें विद्यमान हों :—

१—उसमें गर्भ निरोध सफलतापूर्वक सम्भव हो सके।

२—वह किसी भी प्रकार कष्टदायक या हानिकारक न हो।

३ – वह सम्भोग-सुख में न्यूनता न प्रदान करे।

सम्प्रति परिवार नियोजन के लिए जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनमे कुनैन की गोलियाँ, खोलियाँ, एवं कुछ रसायनिक पदार्थ प्रमुख हैं। किन्तु इन सभी उपायों से विभिन्न प्रकार के दोष दृष्टिगत होते हैं। सुरक्षित काल मे सहवास ही एक ऐसा साधन है जिसे कुछ सीमा तक अच्छा माना जा सकता है। यदि मासिक धर्म के १८ दिन पश्चात् सभोग किया जाय तो

गर्भाधान की किसी भी प्रकार आशंका नहीं रह जाती। इससे भी अच्छा एक उपाय है और वह है ब्रह्मचर्य साधन का। किन्तु वर्तमान समय में यह अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। उत्तेजक भोजन एवं चलचित्रों आदि के कारण ब्रह्मचर्य साधन बहुत ही कठिन है। साधु-सन्यासी जो काम वासना से दूर रहने के लिये बड़ी-बड़ी साधनाएं करते हैं वे तो संयम रख ही नही पाते; फिर गृहस्थ जो एक बार उस सहवास का सुख, जो उपनिषदों में ब्रह्मानन्द का सहोदर बतलाया गया है, उठा चुके हैं कैसे अपने को रोक सकेंगे। वयस्क स्त्री एवं पुरुषों के लिए यौन-क्रिया भी उतनी ही आवश्यक है जितना भोजन। इसलिए मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह सब होते हुए भी परिवार का आयोजन परमावश्यक है। किन्तु परिवार आयोजन के विरोध मे कुछ लोग यह भी कह सकते है कि इससे समाज मे भ्रष्टाचार की अप्रत्याशित अभिवृद्धि होगी। ऐसा कहने वालों को यह सोच लेना चाहिये कि क्या अधिक सन्तान के उत्पन्न होने एवं स्त्री के दुर्बल होने के फलस्वरूप भ्रष्टाचार नहीं फैलता। दूसरी ओर सामाजिक एवं राष्ट्रीय समृद्धि को क्या केवल इसीलिए ठुकराना उचित है।

इस प्रकार हम ईस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश की भावी समृद्धि के लिए परिवार नियोजन होना परमावश्यक है। इसके लिए बालक एवं बालिकाओं को बाल्यावस्था से ही यौन शिक्षा की व्यवस्था करना सरकार का कर्तव्य है। परिवार नियोजन के केन्द्रों मे ऐसी शिक्षा प्रदान की जानी चाहिये जिसमे शिक्षार्थी अनियोजित एवं संयुक्त परिवारों के दोषों से भलीभाँति परिचित हो जाँय। बच्चों के मस्तिष्क मे यह बात भलीभाँति बैठा देनी चाहिए कि अधिक सन्तानो की उत्पति से किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं हो सकती। साम्राज्यवाद का प्रमुख कारण जन सख्या की वृद्धि है अतः साम्राज्यवादी देशों के उदाहरण को प्रस्तुत करके बालको का ध्यान सहज में ही परिवार नियोजन की ओर आकर्षित किया जा सकता है। परिवार आयोजन सम्बन्धी शिक्षाओं का प्रचार व्यापक होना चाहिए जिससे जनसाधारण, जो अभी रूढिवादिता के कारण अपनी पुरानी परिपाटी के अन्ध भक्त बने हुए हैं, त्रिऋण के बोझ को न ढोवे, नरक के डर से पुत्र न उत्पन्न करें तथा अधिक सन्तानों का होना भाग्यशाली होने का लक्षण न मानें।

यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि कोण से जन संख्या की वृद्धि को रोकना कठिन है किन्तु असम्भव नही। हाँ यह हो सकता है कि ऐसी शिक्षाओं का प्रभाव तुरन्त न दृष्टिगत हो किन्तु यह तो निश्चित ही है कि यह बीज जो कि परिवार नियोजन के केन्द्रो द्वारा बोया जा रहा है कभी न कभी अंकुरित होगा ही। शीघ्रातिशीघ्र लाभ पाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि जनता सरकार के कार्यों एवं प्रचारो मे सहयोग दे तथा सरकार के आदेशों को मान कर उसके बताए हुए मार्ग का अनुसरण करे क्योंकि अन्य उपायों से हानि छोड़कर लाभ बहुधा कम होगा।

सरकार के लाभकारी सुझावो पर चलने से ही परिवार नियोजन का आन्दोलन सफल हो सकता है। और इसके सफल होने पर न केवल भारत की आर्थिक दशा सुधरेगी वरन् बेकारी, खाद्य समस्या, अशिक्षा आदि भी दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त थोड़े बच्चे होने पर माता का स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा, बच्चों को उचित शिक्षा मिलेगी, परिवार उन्नतिशील होंगे, उनकी उन्नति देश की समृद्धि का कारण होगी एव देश का गौरवपूर्ण भविष्य उसे विश्व के अन्य उन्नतिशील राष्ट्रों के समकक्ष लाकर खड़ा कर देगा। गत १४ फरवरी १९५९ को नई दिल्ली में परिवार नियोजन के छठे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का उद्घाटन प्रधान मत्री जी ने किया। इस सम्मेलन में २२ देशों से लगभग ७०० प्रतिनिधि आये थे जिनमें अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, हालैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और पाकिस्तान भी थे। पडित नेहरू ने कहा कि 'यदि परिवार नियोजन को बढ़ाने की उत्सुकता में, हम आर्थिक और शैक्षिक उन्नति के इस बड़े पहलू की उपेक्षा करेंगे तो हमारा आधार बिल्कुल अरक्षित रहेगा। यदि जन संख्या बराबर बढ़ती रही तो पचवर्षीय योजना का कोई अर्थ नहीं है। इसलिये परिवार नियोजन भी योजना का अविभाज्य अग है। भारत में इस समय प्रारभिक और उच्च शिक्षा का व्यापक रूप से लड़कियों में भी प्रचार हो रहा है। यह एक अत्यत क्रातिकारी परिवर्तन हो रहा है। हजारों लड़कियाँ स्कूलो और कालेजों में शिक्षा पा रही हैं जिसके प्रभाव से लोगों के स्वभाव और परिवार मे परिवर्तन होंगे और कार्यकर्ताओ की अपेक्षा वे ही अधिकतर परिवार नियोजन का सदेश पहुँचायेगी।'

— —

भारतीय उद्योग मेला [प्रदर्शिनी]

'मेला' शब्द का अर्थ है—सम्मिलन। यह सम्मिलन दो भूले-भटकों का भी हो सकता है एवं दो विरोधियों का भी। भारतीय उद्योग मेले का भी अपरोक्ष रूप से यही उद्देश्य था। अपने इस उद्देश्य मे यह सफल हुआ एवं अनेक विरोधी राष्ट्र अपने वैमनस्य को विस्मृत कर एक दूसरे के समीप आए और अपनी पूर्ण सजधज के साथ प्रदर्शित हुए। मेलों की परम्परा भारत के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। जहाँ तक धार्मिक मेलो का प्रश्न है वह सभी देशों से एक कदम आगे ही रहा है किन्तु यह उद्योग मेला भारत के लिए नितान्त नवीन एवं ऐतिहासिक वस्तु है।

भारतीय उद्योग मेला 'पंचशील' के 'सह अस्तित्व' वाले सिद्धान्त का एक प्रकार से व्यावहारिक रूप था। इसका गौरवपूर्ण आयोजन मथुरा रोड नई दिल्ली मे किया गया था। इतना विराट मेला संभवतः रूस के अतिरिक्त किसी भी एशियाई देश में अब तक नहीं आयोजित हुआ। इसमें ससार के २१ उद्योगी राष्ट्रों ने अपनी कलात्मक एवं सर्वोत्तम उत्पादित वस्तुओं का प्रदर्शन किया था। इस मेले में आस्ट्रिया, वेल्जियम, चीन, वर्मा, चेकोस्लाविया, पूर्व-जर्मनी, हंगरी, फ्रॉस, इटली, जापान, नीदरलैण्ड, पोलैण्ड, ब्रिटेन, रूमानिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत यूनियन, यूगोस्लाविया, पश्चिमी-जर्मनी तथा पाकिस्तान आदि देशों के पृथक पृथक राष्ट्रीय मडप बने हुए थे। भारतीय मंडप भी विशेष आकर्षण का केन्द्र था। इसमे भारत की उद्योग सम्बन्धी प्रगति एवं प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलताओं के चित्रों का प्रदर्शन किया गया था। इसके अतिरिक्त भारतीय मडप के कुछ माडल भाकरा' हीराकुड तथा टेलीविजन ब्राडकास्ट एवं

सौर मंडल का प्रतिरूप आदि अन्य आकषण ऐसे थे जो दर्शकों को भारत की प्रगति का कुछ न कुछ ज्ञान करा देते थे।

इस विराट प्रदर्शिनी के सौन्दर्य एवं विशालता को शब्दो के माध्यम से नही व्यक्त किया जा सकता है। 'गूॅगे के गुड़' के स्वाद के समान जिसके नेत्रो ने इसे देखा था वे ही इसकी कल्पना से पूरा आनन्द उठा सकते हैं। इस मेले का विस्तार लगभग ८० एकड़ में था। स्टालो एवं मण्डपों के निर्माणार्थ प्रति दिन २० सहस्र श्रमिक एव बहुत से कुशल कर्मचारी कई सप्ताह तक व्यस्त रहे। प्रदर्शिनी का सक्षिप्त परिचय पाने के लिए भी दर्शक को लगभग १२ मील भूमि की परिक्रमा करनी पड़ती थी। स्टालो एव मंडपों के निर्माण में लगभग दो हजार टन लोहे एवं इस्पात तथा सहस्र फुट लम्बी कार्ड बोर्ड को काम मे लाया गया था। मेले के बीच भूमि भाग को फुहारो, छोटे-छोटे पार्को एवं छोटी झीलों के माध्यम से आकर्पण का केन्द्र बना दिया गया था। इन सबके निर्माण में सरकार को लगभग पॉच करोड़ रुपया व्यय करना पड़ा था। इस प्रदर्शिनी की महत्ता का अनुमान केवल इतने ही से किया जा सकता है कि कई महीनों तक समाचार पत्रों के पृष्ठों के कुछ भाग इस प्रदर्शिनी के ही समाचारों से ही भरे रहते थे।

प्रदर्शिनी के प्रवेश द्वार से भीतर घुसते ही दर्शक अपने को भूल जाता था। उसे ऐसा लगता था मानों वह छवि लोक में विचरण कर रहा है। इक्कीस प्रधान राष्ट्रों के अद्भुत औद्योगिक प्रदर्शन एवं प्रदर्शिनी की सजावट दर्शक को चेतनाहीन कर देते थे एव वह उन्हीं पर मुग्ध हो बहुत देर तक खड़ा रह जाता था। साधारण लोगों के लिये टेक्निकल सेक्सन अपना विशेष महत्व रखता था। बड़ी बड़ी कलों के समक्ष दर्शक सहज ही में अपने को नगण्य समझने लगता था एवं मानवीय बुद्धि की खोजों पर आश्चर्य-चकित रह जाता था।

सोवियत यूनियन का विशाल मंडप इस प्रदर्शिनी का प्रमुख आकर्षण था। इसका क्षेत्रफल १७,००० वर्ग मीटर था। इस मंडप मे पॉच 'हाल' थे। मुख्य हाल में पंडित नेहरू के चित्र थे जो भारत एव सोवियत यूनियन की मैत्री के प्रतीक थे। इस मडप में सोवियत संघ के सोलह जनतन्त्रों के

राज्य चिह्नों का प्रदर्शन भी पूर्ण सजावट के साथ किया गया था। बीचों बीच जनतन्त्र के संस्थापक श्री लेनिन की मूर्ति थी जो एकता की मूर्तिमान प्रतीक थी। एक अन्य 'हाल' में सोवियत यूनियन की नवीन उत्पादित वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया था। वायवीय भट्ठ का नमूना तो सचमुच ही बड़ा रोचक था। इसमें धातु विज्ञान की उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन किया गया था।

चीनी मंडप तो अपनी सजावट में अद्वितीय था। इस मंडप के चीनी व्यक्तियों की पोशाकें अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक थीं। सबसे आश्चर्य में डाल देने वाली बात तो यह थी कि वे हिन्दी के माध्यम से दर्शकों को प्रदर्शित वस्तु का ज्ञान करा रहे थे। दो देशों की मैत्री को सुदृढ़ बनाने का उनका यह प्रयास वास्तव में अनुकरणीय एवं सराहनीय था।

अमेरिकन मंडप भी कम आकर्षण का केन्द्र नहीं था। इसके रंग बिरंगे विद्युत् प्रकाश अत्यन्त चित्ताकर्षक एवं नेत्रों को चकाचौंध कर देने वाले थे। इस मण्डप में प्रदर्शित टेलिविजन विशेष रूप से दर्शकों को आकर्षित कर लेने में सफल हुआ था।

भारतीय मंडप में प्रदर्शित मोटरें एवं साइकिलें भारत की प्रगति का ज्ञान करा रही थीं। कृषि, उद्योग, यातायात एव परिवहन के दृश्य वास्तव में नयनाभिराम लगते थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हुई प्रगति के भी दृश्य कम महत्वपूर्ण नहीं थे। वे इस बात का प्रमाण दे रहे थे कि यदि भारत ने ऐसे ही प्रगति किया तो शीघ्र ही वह अन्य देशों की प्रतियोगिता में सफल हो जायेगा।

भारत का उद्देश्य विश्व में शान्ति की स्थापना करना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह सतत् प्रयत्नशील है। पंचशील, वान्डुंग सम्मेलन तथा कोलम्बो योजनाएँ आदि इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यद्यपि विश्व के अनेक राष्ट्र शान्ति का चोंगा पहन कर 'भेड़ की खाल में भेड़िया' बन बैठे हैं किन्तु भारत इस दिशा में ईमानदारी के साथ प्रयत्नशील है। सम्प्रति जब संपूर्ण विश्व स्पर्धा की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है ऐसे समय में 'पंचशील' जैसे शीतल जल से उसे शान्त करना भारत का प्रमुख कर्तव्य हो

गया है। भारतीय उद्योग मेला भी भारत का एक ऐसा ही कदम था। इसमें विश्व के अनेक राष्ट्र प्रदर्शित हुए एव एक दूसरे के निकट आकर परस्पर को समझने का प्रयत्न किया। सम्पूर्ण रूप से यदि नहीं तो आंशिक रूप से प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से प्रभावित हुये ही हैं और युवकों ने अपने देश की स्थिति को पूर्ण रूप में जान लिया है। उनके मस्तिष्क पर इस पिछड़ेपन का जो प्रभाव बीज के रूप मे पड़ा है वह कभी पल्लवित एवं पुष्पित होगा ही और तब हम देखेंगे कि ऐसे मेलों से क्या लाभ होता है?

यद्यपि यह उद्योग मेला अपने ढग का अद्वितीय था तथापि इसमें कुछ दोष आ ही गये थे। दीपक के तले भी अँधेरा होता ही है। ससार की सभी वस्तुएँ गुणों एवं दोषो का मिश्रण ही तो हैं। इस प्रदर्शिनी का मुख्य दोष विभिन्न कक्षो मे नियुक्त व्यक्तियो से ही सबधित था। वे दर्शकों को प्रदर्शित वस्तुओं का परिचय देने मे भी स्यात् लज्जा का अनुभव करते थे। पूछने पर भी सतोषजनक उत्तर पाना दुर्लभ हो जाता था। अमेरिकन कक्ष मे नियुक्त युवतियाँ तो स्वयं प्रदर्शित वस्तुओं के नमूनो मे से एक बन बैठी थीं। अपने स्वेटर बुनने की कला को प्रदर्शित करने मे ही वे विशेष सजग थीं। ऐसा लगता था कि वे अपने ही सौंदर्य की जानकारी प्राप्त कराने के लिये अमेरिका से भारत आई हैं। अनेक मडपों के व्यक्तियों में केवल सोवियत यूनियन एवं चीनी मंडप के व्यक्ति ही अपने कर्तव्यों का पालन करने में विशेष पटु दिखलाई पड़ते थे। इन दोषों के होते हुये भी इस प्रदर्शिनी से जो लाभ हुये अथवा जिनके होने की संभावना है उनको भुलाया नहीं जा सकता। विश्व में शान्ति एवं सहयोग स्थापित करने का यह एक अनुपम ढंग था। ऐसी प्रदर्शिनियो के माध्यम से निश्चय ही विश्व को शान्ति एवं उन्नति के पथ पर सरलतापूर्वक ले जाया जा सकता है।

— --

उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक विकास

'भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का केन्द्र-स्थल, उत्तर प्रदेश सदैव से समस्त देश के जनता के लिए एक आकर्षण रहा है। राम, कृष्ण और बुद्ध ने यहीं जन्म लिया और अनेक तत्वज्ञों और मनीषियों ने इसका गौरव बढ़ाया। पर्वतराज्य की गोद में स्थिति बद्रीनाथ और केदार नाथ की यात्रा के लिये भारत के कोने-कोने से सहस्रों नर-नारी प्रतिवर्ष यहाँ आते हैं। तीर्थराज प्रयाग और काशी की पवित्र रज लेकर लाखों धर्मनिष्ठ भारतीय अपना जीवन धन्य मानते हैं। ब्रज भूमि में तो पहुँचने पर 'मन ह्वै जात अजौं वहीं वा जमुना के तीर।'

नैसर्गिक छटा और उर्वरता के लिये यह प्रदेश प्रसिद्ध है। उत्तरा खण्ड मे गढ़वाल, टेहरी-गढ़वाल और देहरादून आदि जिले प्रकृति के मनोरम दृश्यों से भरे हुये हैं। मधुर सौरभवाहक पवन नीरस जीवन में रस का संचार करता है. और हिम मंडित पर्वत श्रेणियाँ तथा दूर तक फैली हुई हरीतिमा पर्यटकों के लिये स्वस्थ सुघर दृश्यावली प्रस्तुत करती है। मैदानी क्षेत्र में भी लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद आगरा तथा कानपुर आदि बड़े-बड़े दर्शनीय नगर तथा व्यापारिक केन्द्र हैं।

उत्तर प्रदेश २३° और ३१° अक्षांश और ७७° और ८४° देशांतर रेखाओं के बीच उत्तर भारत के मध्य में स्थित है। पर्वतराज हिमालय, नैपाल और तिब्बत उत्तर में, विन्ध्य प्रदेश और मध्यप्रदेश और मध्यभारत दक्षिण में, बिहार पूर्व में तथा पंजाब दिल्ली और राजस्थान पश्चिम में इसकी सीमाएँ हैं।

कुछ क्षेत्रों को छोड़कर समस्त उत्तर प्रदेश विस्तीर्ण हरे-भरे मैदानों से युक्त है, जिनकी शस्य-श्यामला भूमि गंगा, यमुना, गोमती, घाघरा, चम्बल,

वेतवा, केन, राती, राम गंगा आदि छोटी बड़ी नदियों तथा सरकार द्वारा बनवाई गई विभिन्न नहर-प्रणालियो द्वारा सींची जाती है।

मैदानी क्षेत्रों की जलवायु प्रायः उष्ण एवं शुष्क है और ग्रीष्म काल में पूर्वी तथा बुन्देलखंड के क्षेत्रो में अपेक्षाकृत अधिक गर्मी पड़ती है। इस प्रदेश के ७० प्रतिशत निवासियों का मुख्य उद्यम तथा जीविका का प्रमुख साधन कृषि है और ८ प्रतिशत निवासियों के जीवन का यह सहायक साधन है। गेहूँ, चावल, जौ, चना, मक्का, दालें, तिलहन आदि यहाँ की मुख्य उपज हैं। गोरखपुर, मेरठ, रुहेलखड डिविजनो तथा कुछ अन्य जिलो में गन्ने की खेती होती है। नैनीताल के तराई के क्षेत्र में विशेषतः जूट की खेती बढ़ायी जा रही है।

उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल १,१३, ४६ वर्ग मील है। कुछ जिलो में आबादी का औसत १,००० व्यक्ति प्रतिवर्ग मील या इससे भी अधिक है। सन् १६५१ की जन गणना के अनुसार यहाँ की आबादी ६,३२,१५,७४२ है, जिनमें ३,३०,६८,८६६ पुरुष और ३,०१,१६,८७६ स्त्रियाँ हैं। सन् १६०१ से लेकर १६५१ तक अर्थात् ५० वर्षों में यहाँ की जन संख्या में ३० प्रतिशत और १६४१ से लेकर १६५१ तक १० वर्ष के समय मे २०.५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

प्रदेश की अधिकाश जनता प्रायः गाँवों में ही रहती है। उत्तर प्रदेश के छोटे-बड़े गाँवों की कुल संख्या ३६६, १६० है। नगरों की सख्या भी काफी बड़ी है। ४८६ नगर या कस्बे हैं जिनमें म्यूनिसिपैलटियाँ, टाउन एरिया या नोटी फाइड एरिया आदि हैं। इन नगरों या कस्बो में ३० बड़े शहर हैं जिनमें से १६ की जन संख्या १ लाख या इससे भी अधिक है।

यातायात की सुविधा के लिये यहाँ सहस्रों मील लम्बी कच्ची-पक्की सड़कें हैं और रेल की छोटी बड़ी लाइनें बिछी हैं जिनसे नगर तथा ग्राम एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। नार्थ ईस्टर्न, नार्दन, सेन्ट्रल और वेस्टर्न रेलवे लाइने प्रदेश के अधिकाश मुख्य स्थानों के लिए यातायात का उपयोगी साधन बनी हैं। साथ ही सड़क यातायात के लिए राज्य सरकार की ओर से चलाई गई रोड-वेज की बसे और निजी तौर पर चलाई जाने वाली लारियाँ भी जनता की सेवा करती हैं।'

यह तो है सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रसारित प्रगतिशील उत्तर प्रदेश विषयक एक आवश्यक विवरण। इससे ऐसा लगता है कि उत्तर प्रदेश ने पर्याप्त प्रगति कर ली है किन्तु क्षेत्रफल, जन संख्या तथा बढ़ती हुई बेकारी पर दृष्टिपात करने से उत्तर प्रदेश की वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है। उत्तर प्रदेश की जन संख्या देश की जन संख्या का छठाँ भाग है और इसका क्षेत्रफल ७ करोड़ एकड़ होने के कारण देश के क्षेत्रफल का ग्यारहवाँ भाग ठहरता है। उत्तर प्रदेश में प्रत्येक व्यक्ति पीछे केवल १·१५ एकड़ भूमि का औसत पड़ता है जब कि सम्पूर्ण देश में यह औसत २·२५ एकड़ का है। उत्तर प्रदेश की दिनों दिन बढ़ती हुई आबादी की जीविका आज एक पहेली बन गई है जिसे बूझना कोई सरल कार्य नहीं है।

उत्तर प्रदेशीय व्यक्तियों में से ४ करोड़ ३२ लाख ८५ सहस्र किसानी मे लगे हैं। लगभग ३८ लाख भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। ५३ लाख उन व्यक्तियो की सख्या है जो किसी प्रकार खेती से ही सम्बन्धित उत्पादन करते हैं। ३२ लाख व्यक्ति व्यापार में लगे हुए हैं। ६ लाख यातायात में, ७० लाख नौकरियों में तथा ७० लाख व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास किसी भी प्रकार के कार्य नहीं है, बेकार हैं तथा रोटी एवं कपड़े के लिए तरस रहे हैं। ऐसी अवस्था में उत्तर प्रदेश की रक्षा एवं उद्धार के लिए उसकी औद्योगिक स्थिति में सुधार करना परमावश्यक हो जाता है।

अन्य प्रदेशों से तुलना करने पर उत्तर प्रदेश की औद्योगिक स्थिति का भलीभाँति पता लग जाता है। सन् १६५४ में उत्तर प्रदेश में केवल १५७२ लाइसेंस क्यु कारखाने थे जबकि पश्चिमी बंगाल मे २,८४२, बम्बई में ८०२७ तथा मद्रास में ६,३६६ कारखाने थे। जब हम ५० श्रमिकों से कम वाले कारखानों की संख्या घटा देते हैं तो उत्तर प्रदेश में केवल ३१६ बड़े कारखाने ही शेष रह जाते हैं। जब अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कारखानों की संख्या कम है तो श्रमिकों की संख्या कम होना स्वाभाविक है। ध्यान देने की बात है कि उत्तर प्रदेश के केवल २ लाख व्यक्तियो की जीविका उद्योग धन्धों पर निर्भर करती है जब कि बम्बई मे ऐसे व्यक्तियों को संख्या ८ लाख है और पश्चिमी बंगाल मे ६ लाख।

उत्तर प्रदेश की ऐसी औद्योगिक स्थिति का विकास करना नितान्त आवश्यक है। हम देखते हैं कि उत्तर प्रदेश का प्रमुख धन्धा सूती वस्त्रउद्योग है। सूती वस्त्र उत्पादन करने वाले कारखानों की सख्या २८ है एव इन कारखानों के श्रमिको की संख्या ६२'२४८ है। इसके बाद तेल और शक्कर की मिलों का नम्बर आता है, इनके कर्मचारियों की सख्या ५६,३८६ है, जबकि रासायनिक कारखानो के कर्मचारियों की सख्या ४,०००, शीशा उद्योग के कर्मचारियों की सख्या ११,००० तथा इञ्जीनियरिंग के कारखानों के कर्मचारियों की संख्या ११,००० है। उत्तर प्रदेश के सरकारी कारखानों की सख्या कुल मिलाकर १२७ है जिसमें कुल २६,६६५ मजदूर कार्य करते हैं। इसी प्रकार चमड़े के २० कारखानों मे २,७२४ श्रमिक, यातायात का सामान बनाने वाली ५४ फैक्टरियों मे १७०३ श्रमिक, कागज के सात कारखानों में १६२७ श्रमिक तथा जूता या सिला कपड़ा तैयार करने वाले २६ कारखानों मे प्रतिदिन लगभग ३,३७२ श्रमिक कार्य करते हैं।

इन कारखानों तथा इनके श्रमिकों की संख्या सदा एक-सी नहीं रहती। उसमें पर्याप्त उलट-फेर होते रहते हैं। जब किसी कारण वश कुछ कारखाने बन्द हो जाते हैं तो श्रमिकों की सख्या भी घट जाती है, साथ ही जब कारखानों की संख्या मे वृद्धि हो जाती है तो श्रमिकों की सख्या भी बढ जाती है। सितम्बर १६५५ में लाइसन्स युक्त कारखानों की कुल सख्या १,१७५ थी जब कि अगस्त १६५६ मे यह १२०७ एवं सितम्बर १६५६ में १२४७ हो गई थी। कारखानों एवं कर्मचारियों की सख्या के घटते-बढ़ते रहने के साथ-साथ उत्पादन की मात्रा मे भी घटती-बढ़ती होती रहती है किन्तु उक्त कारखानों से जो भी उत्पादन हुआ है या हो रहा है वह उत्तर प्रदेश की जन सख्या के लिए पर्याप्त नही है निर्यात् की कौन कहे।

किसी भी प्रदेश की समृद्धि का पर्याप्त ज्ञान केवल उत्पादन से ही नही प्राप्त किया जा सकता। उसके लिए प्रदेश से निर्यात होने वाले माल की मात्रा का भी ज्ञान होना परमावश्यक है। सरकारी आँकड़ों से पता चलता है कि उत्तर प्रदेश जितने माल का निर्यात करता है उससे भी अधिक माल का आयात करता है। अनुमान लगाया गया है प्रति वर्ष उत्तर प्रदेश को लगभग २०० करोड़ रुपये का अधिक माल मँगाना पड़ता है।

स्मरण रहे कि प्राकृतिक साधनों के दृष्टिकोण से उत्तर प्रदेश गरीब नहीं है। सस्ता श्रम भी यहाँ सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि उत्तर प्रदेश की जनसंख्या अत्यधिक है। साथ ही यहाँ कच्चे माल की बहुलता भी है। यहाँ के औद्योगिक अविकास का कारण यहाँ कच्चे माल का बाहर चला जाना है। रूई तथा शक्कर आदि महत्वपूर्ण वस्तुओं के लिए भी यह प्रदेश अन्य प्रदेशों पर निर्भर करता है। उद्योग धन्धों के लिए जल विद्युत् की आवश्यकता होती है। और इस दृष्टिकोण से भी उत्तर प्रदेश काफी प्रगति कर रहा है। सन् १६५१ में जल विद्युत् की कुल उत्पत्ति का मासिक औसत ४,७८,००० किलोवाट था जब कि जुलाई १६५६ में यह बढ़कर ५,२५,६६,००० किलोवाट हो गया। यदि उत्तर प्रदेश के समस्त साधनों का उपयोग किया जाय तो निश्चय ही उत्तर प्रदेश का वर्तमान चित्र कुछ दिनों में बदला जा सकता है।

उत्तर प्रदेश के औद्योगिक विकास के लिये उत्तर प्रदेशीय पूँजी का भी उपयोग होना आवश्यक है। उत्तर प्रदेश में जितनी पूँजी है उसकी आधी भी पूँजी उद्योगों में नहीं लगी है। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान उद्योगों में लगी हुई पूँजी की मात्रा में वृद्धि की जाय जिससे बेकारी की समस्या का समाधान भी हो जाय तथा उत्तर प्रदेश का औद्योगिक विकास भी। किन्हीं न किन्हीं कारणों से उत्तर प्रदेश के बहुत से कारखाने बन्द पड़े हैं। इन बन्द कारखानो की संख्या लगभग १५० है जिनमें शक्कर की मिलों की संख्या ४, रबर के कारखानों की संख्या ११, सूती मिलों की सख्या ११, चूड़ी तथा शीशे के सामान बनाने वाले कारखानों की संख्या ४ तथा इन्जीनियरिंग के कारखानों की संख्या १६ है। इन समस्त कारखानों की समस्याओं का समाधान करके सरकार को चाहिये कि वह इन्हें चालू कराये तथा अन्य नवीन कारखानों के खोलने के लिये भी पूँजीपतियों को सुविधाएँ प्रदान करे।

हर्ष की बात है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार इस दिशा की ओर विशेष सजग है। उसने औद्योगिक विकास के महत्व को भलीभाँति समझ लिया है तभी तो उत्तर प्रदेश का सूचना विभाग सूचित करता है कि :—

"देश की समृद्धि में उद्योगों का विशेष स्थान होता है। यूरोप के देशों में अमेरिका और जापान अपने उद्योगों के ही कारण इतनी उन्नति कर पाये हैं। एशिया के अविकसित तथा अर्धविकसित देशों के लिये आज यह आवश्यक हो गया है कि आर्थिक सम्पन्नता के हेतु वे औद्योगीकरण का प्रश्रय लें। प्रथम पंचवर्षीय योजना विधि में हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या अन्न तथा अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की कमी थी। अतएव इसी समस्या को हल करने के लिये विशेष ध्यान दिया गया।

भारत एक कृषि प्रधान देश है और प्रायः ८० प्रतिशत जनता अपनी आजीविका के लिये इसी पर निर्भर है। हम जानते हैं कि हमारे देश की जन संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है और देश मे कृषि योग्य भूमि सीमित है, फलतः भूमि पर अत्यधिक भार है और जनसंख्या की वृद्धि के साथ वह दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। अतएव देश की सम्पन्नता के लिये यह आवश्यक है कि बड़े और विशेष कर छोटे तथा ग्रामीण उद्योगों का विकास किया जाय। इससे प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि होने के साथ ही रोजगारी के नये साधन उपलब्ध हो सकेंगे। यह सत्य है कि कच्चे माल का बड़े पैमाने पर उपयोग करने के लिये और पूँजी-संग्रह के लिये बड़े उद्योगों का होना आवश्यक है, इससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, और जनता की क्रय शक्ति बढ़ेगी, जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की माग बढ़ेगी, किन्तु जहाँ यह सत्य है कि राष्ट्रीय आय बढ़ाने के लिये बड़े उद्योगों का होना आवश्यक है वहाँ यह भी सत्य है कि बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देना भी आवश्यक है।

यद्यपि हमारी पचवर्षीय योजना मुख्यतया कृषि विकास की योजना थी, फिर भी हमारी लोकप्रिय सरकार उद्योगों के विकास की ओर से बिल्कुल उदासीन नहीं रही है। इस दिशा में उसने प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी उल्लेखनीय कार्य किया है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक छोटे और घरेलू उद्योग फिर से पनप सके हैं। बड़े उद्योगों में राज्य सरकार ने जिला मिर्जापुर में चुर्क नामक स्थान पर सीमेंट की एक बहुत बड़ी फैक्ट्री स्थापित की है जिसमें प्रतिदिन ७०० टन सीमेंट तैयार होती है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके उत्पादन को दुगना करने का विचार है। लखनऊ में राज्य सरकार ने एक

सूक्ष्म यन्त्रों का कारखाना स्थापित किया है जहाँ खुर्दबीन तथा जल-मापक यन्त्रों का निर्माण होता है। छोटे उद्योगों में हथकरघा, ताड़ गुड़, मधुमक्खी पालन, रेशम के कीड़े पालने आदि को विशेष महत्व दिया गया है। इस समय प्रदेश में इन उद्योगों का पूर्ण विकास करने की कोशिश की जा रही है। इसके तरीके अपनाये जा रहे हैं और देहाती क्षेत्रों में भी आधुनिक सुविधाएँ पहुँचाने के प्रयास किये जा रहे हैं।"

इस सूचना से तो ऐसा लगता है कि शीघ्र ही उत्तर प्रदेश स्वावलम्बी होकर अधिक से अधिक प्रगति पथ पर अग्रसर होने में समर्थ हो सकेगा। यदि उत्तर प्रदेश की समस्त प्राकृतिक सुविधाओं का यथोचित उपयोग किया गया तो निश्चय ही यह प्रदेश अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक समृद्धि-शाली होगा एवं इसके निवासी सुख और शान्ति के साथ अपना जीवन-यापन करने मे समर्थ हो सकेंगे।

———

भारत में दशमिक मुद्रण की समस्या

हमारे आज के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे सिक्कों का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि ये क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान एवं विनिमय के शक्तिशाली माध्यम हैं। भारतीय सिक्कों के प्रचलन का इतिहास बहुत प्राचीन है। प्रसिद्ध इतिहासकार एडवर्ड थामस ने ऋग्वेद काल (ईसा पूर्व २५००-८००) में धातु के सिक्कों का प्रचलन सिद्ध किया है। प्रो० राप्सन के कथनानुसार भारत के प्राचीन सिक्कों के नमूनों में कषार्पण सर्वोत्तम है। मनु और पाणिनि ने भी इसकी पुष्टि की है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल मे जो सिक्के प्रचलित थे उनका उल्लेख प्रसिद्ध अर्थशास्त्री चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। गुप्त काल में सोने के सिक्के चलते थे जिन पर चन्द्रगुप्त प्रथम और लिच्छिवि सम्राज्ञी के चित्र अंकित रहते थे। मुगल काल में सोने के सिक्के को मोहर, चाँदी के सिक्के को रुपया तथा ताँबे के सिक्के को दाम कहते थे।

सबसे पहला भारतीय रुपया नवाब सिराजुद्दौला के परामर्श से ईस्ट इंडिया कम्पनी कलकत्ते में स्थापित एक टकसाल में ढाला गया। सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में सारे देश में एक ही डिजाइन, वजन और आकार-प्रकार के सिक्के प्रचलित किए गए। सन् १६०६ में जो भारतीयमुद्रा अधिनियम बना उसके अनुसार रुपया, अठन्नी, चवन्नी, और दुवन्नी के सिक्के चालू किये गये।

इस समय भारत में तीन टकसालें हैं (१) अलीपुर टकसाल (२) बम्बई (३) हैदराबाद। अनुमानतः सप्ताह मे ५४ घन्टे काम करके ये टकसालें पहली अप्रैल १९५७ तक ६१ करोड़ सिक्के बना लेंगी। ये तीनों सम्मिलित रूप से प्रति माह लगभग ८ करोड़ सिक्के बनाती हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के सामने अन्य समस्याओं के साथ-साथ दशमिक मुद्रण की भी समस्या आई किन्तु स्वातन्त्र्य शैशव के व्यस्त काल में

देश के राजनीतिज्ञों एवं अर्थ शास्त्रियों का ध्यान उस ओर न जा सका। भारत मे तीसरे स्वतंत्रता दिवस समारोह के अवसर पर अवश्य सिक्कों के डिजाइनों में परिवर्तन किये गए। रुपया अठन्नी चवन्नी के सिक्कों के ऊपर जहाँ पहले जार्ज एडवर्ड का चित्र अंकित होता था वहाँ अशोक स्तंभ का चित्र अंकित किया गया और उसके पीछे गेहूँ की बालों का। दुअन्नी, इकन्नी और अधन्ने के पीछे बैल का तथा पैसे के पीछे घोड़ों का चित्र बनाया गया।

अभी तक देश की मुद्रण प्रणाली में रुपया आना और पाई का चलन था। एक रुपये में सोलह आने होते हैं तथा एक आने में १२ पाई। किन्तु यह पद्धति अवैज्ञानिक होने के कारण हिसाब-किताब करने में कष्टसाध्य है। इस प्रणाली में कितनी राष्ट्रीय शक्ति व्यर्थ ही व्यय होती है। वर्तमान दूषित प्रणाली में थोड़ा सा सुधार करके इसे पूर्ण वैज्ञानिक एवं सरल बनाया जा सकता है—ऐसा सोचने वाले कम ही थे।

इस कठिनाई का हल था—दशमिक मुद्रण पद्धति (decimal Coinage System) भारतीय मुद्रा संशोधन अधिनियम १९५५ सं० ३१ के अनुसार देश में दशमिक प्रणाली के नये सिक्के पहली अप्रैल १९५७ से चालू किये गए। इनके द्वारा भारतीय सिक्कों के इतिहास मे एक नए युग का आरम्भ होता है। दशमिक सिक्कों में दस नये पैसे, पांच नये पैसे, दो नये पैसे और एक नया पैसा है। आगे चल कर २५ नये पैसे, ५० नये पैसे और १०० नये पैसे भी चलाए जायेंगे। दस पाच और दो नये पैसे के सिक्कों में ताँबे और गिलट की मिलावट है तथा एक नया पैसा कासे का है। सिक्को के ऊपर अशोक स्तंभ और पीछे की ओर सिक्के के नाम और जारी होने का सन् अंकित है।

दशमिक मुद्रण प्रणाली में प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर की मुद्रा इकाई का दसवा भाग होती है। एक मुद्रा इकाई को १० से गुणा या भाग करके दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है। जैसे यदि एक रुपया १० आने के बराबर बना दिया जाय और एक आना १० पैसे के बराबर तो किसी दी हुई रुपये की संख्या के आगे केवल बिन्दी लगा देने से आने निकल आयेंगे तथा एक और बिन्दी लगाने से पैसे।

इस समय संसार के प्राय: ७५% देशों में दशमिक सिक्कों का चलन है। सन् १७६० में अमरीका ने सर्वप्रथम इस पद्धति को अपनाया था। तत्पश्चात् फ्रांस और जर्मनी में इसका प्रचलन हुआ। आगे चल कर आस्ट्रिया, हगरी, रूस, दक्षिणी अमरीका तथा जापान आदि देशों ने इसकी सरलता पर मुग्ध हो कर इसे अपनाया। स्मरण रहे कि संसार के १४० देशो में सिक्कों का चलन है उनमें से १०५ देशो में दशमिक सिक्के चलते हैं। दशमिक सिक्कों के प्रचलन से हिसाब-किताब की सुविधा-सरलता भुलाई नहीं जा सकती। १० रु० ६ आना ५ पाई को अब दशमलव प्रणाली से लिखना कितना सरल हो गया जो १०·४० लिखा जायगा।

सरकार ने तीन वर्ष तक अथवा यदि आवश्यकता समझी गई तो और आगे तक नये और पुराने दोनों ही प्रकार के सिक्के साथ साथ चलने का प्रबंध किया है। वर्तमान और नये दोनो ही सिक्के लेन-देन के माध्यम रहेंगे। नये सिक्कों को लेने से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति नये-पुराने सिक्के मिलाकर भुगतान कर सकता है। प्रशसनीय तो यह है कि रुपये के आधारभूत मूल्य में कोई परिवर्तन नही किया गया है। उसके नीचे के सिक्के ही मूल्य में बदल गये हैं।

ठीक ठीक हिसाब करने के लिये १०० नये पैसों को एक रुपया, १६ आने, ६४ पैसे अथवा १६२ पाई के बराबर मानना चाहिये। नये पैसे के विनिमय का सरलतम तरीका इस प्रकार है :—

(१) एक पैसे से दो आने तक के लिये—जितने पुराने पैसों के नये पैसे बनाने हो उसका डयोढ़ा कर दीजिये। यदि पूर्णाङ्क सख्या आवे तो उतने ही नये पैसे होंगे। यदि डयोढ़ा करने की संख्या में १/२ आवे तो उसमे १/२ और जोड़ दीजिये। १/२ जोड़ने से जो भी संख्या आवे उतने ही नये पैसे होंगे।

(२) नौ पैसे से पंद्रह पैसे तक के लिये—इसमें भी जितने पैसों के नये पैसे बनाना हों उनका डयोढ़ा कर दीजिये। डयोढ़ा करने से यदि अपूर्णांक याने १/२ के साथ सख्या आवे तो उसे १/२ जोड़कर पूर्णाङ्क मान लीलिये। यदि डयोढ़ा करने से पूर्णाङ्क संख्या आवे तो उसमें केवल एक और जोड़ दें। एक जोड़ने से जितनी संख्या आवेगी उतने ही नये पैसे होंगे।

परिवर्तन दर तालिका

आ०	पा०	नया पै०	आ०	पा०	नया पै०	आ०	पा०	नया पै०	आ०	पा०	नया पै०
०	३	२	४	३	२७	८	३	५२	१२	३	७७
०	६	३	४	६	२८	८	६	५३	१२	६	७८
०	९	५	४	९	२९	८	९	५५	१२	९	८०
१	०	६	५	०	३१	९	०	५६	१३	०	८१
१	३	८	५	३	३३	९	३	५८	१३	३	८३
१	६	९	५	६	३४	९	६	५९	१३	६	८४
१	९	११	५	९	३६	९	९	६१	१३	९	८६
२	०	१२	६	०	३७	१०	०	६२	१४	०	८७
२	३	१४	६	३	३९	१०	३	६४	१४	३	८९
२	६	१६	६	६	४१	१०	६	६६	१४	६	९१
३	९	१७	६	९	४२	१०	९	६७	१४	९	९२
३	०	१९	७	०	४४	११	०	६९	१५	०	९४
३	३	२०	७	३	४५	११	३	७०	१५	३	९५
३	६	२२	७	६	४७	११	६	७२	१५	६	९७
३	९	२३	७	९	४८	११	९	७३	१५	९	९८
४ आना		२५	८ आना		५०	१२ आना		७५	१६ आना		१००

(३) चार आने से एक रुपये तक के लिये—प्रत्येक चार आने के लिये २५ नये पैसे तथा शेष के लिए ऊपर दिये हुये सूत्र के अनुसार नये पैसे बनाकर जोड़ लीजिये।

प्रत्येक अपरिचित वस्तु अपने साथ एक उलझन लाती है किन्तु जब व्यवहार सुलभ हो जाता है तो वही हमारे लिये अत्यन्त सरल बन जाती है। नये पैसों के प्रचलन के कारण होने वाली कठिनाइयों से प्रायः समाचार पत्रों के कालम छिट-पुट रंगे दिखाई देते हैं और जनता से यह शिकायत सुनने को मिलती है कि पुराने सिक्कों के मूल्याकन में हमें बड़ी कठिनाई होती है, लेने के समय तो हमको पुरानी दुअन्नी के बारह नये पैसे मिलते हैं और यदि हमको किसी को देना पड़ता है तो उसको हमे तेरह नये पैसे देने पड़ते हैं। यह कैसा न्याय और मूल्याकन है ? डाकखानों, तार घरों, रेलवे तथा अन्य सरकारी दफ्तरों में नये पैसे के कारण पैदा हुई उलझनो का क्रियात्मक रूप देखने को मिलता है। हिसाब-किताब करने में बचे हुये आधे नये पैसे या एक पैसे की खींच-तान का दृश्य लेन-देन करने वालों में बड़े मनोरजक रूप में दिखलाई पड़ता है। जहाॅ पहले एक रुपये में आठ लिफाफे मिल जाते थे वहाॅ तेरह नये पैसे प्रति लिफाफे की दर से सात ही लिफाफे मिलते हैं। पाॅच नये पैसे से मिलने वाले कार्ड में भी जनता को एक कार्ड और एक पैसे का घाटा है। इस घाटे से घबड़ाकर लोग इसे अप्रत्यक्ष अनिवार्य कर मानने लगे हैं। जनता नये पैसों के आकर्षण के प्रति उदासीन होती जा रही है। इन्ही संभावित कठिनाइयों की आशंका से श्री राजगोपालाचारी प्रभृति नेताओं ने नये पैसों के प्रचलन के प्रति विरोध प्रकट किया था। अच्छा होता कि सरकार एलान करके एक अवधि तक सारे पुराने सिक्के प्रचलन से खींच लेती और फिर एकमात्र नये पैसे ही बाजार में प्रचलित रहते। इस प्रकार दो प्रकार के सिक्कों के प्रचलन से होने वाली कठिनाई जनता को न सहन करनी पड़ती। अभ्यस्त हो जाने पर सभवतः लोगों को यह कठिनाई न खलेगी और सरकारी खजाने को लौटते रहने के कारण पुराने सिक्के भी कम होते जायॅगे। हिसाब-किताब में शून्य भारत की विशाल ग्रामीण जनता का कुछ अश भी चतुर व्यापारी वर्ग द्वारा अनु-

चित शोषण का शिकार बन सकता है किन्तु यह आंशिक हानि भविष्य में मिलने वाले लाभ की राशि को देखकर बरदाश्त की जा सकती है।

नये सिक्कों के प्रचलन के समय जैसे चीख-पुकार मच रही है वैसे ही सेफ्टीरेजर के आविष्कार के समय भी मची थी। उस समय भी बहुत से लोग नाई के उस्तरे के होते हुये इस नई झंझट को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे किन्तु परिवर्तन का पथ कोई न रोक सका। इसी का यह शुभ परिणाम है कि लोग अपने चेहरे पर मनहूसियत नहीं उगने देते तथा स्वावलम्बी बन सुन्दर और चुस्ती दिखाई पड़ते हैं।

सरकार ने दशमिक मुद्रण का एक प्रयोग किया है, यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो शीघ्र ही हमारी सभी प्रकार की माप-तोल की मात्राओं में भी दशमलवीकरण कर दिया जायगा। ८ दिसम्बर १६५६ को भारतीय लोक-सभा ने एक ऐसा विधेयक भी पास कर दिया है जिसके अनुसार देश में माप और तोल में भी अगले दस वर्ष के भीतर दशमिक पद्धति चालू हो जायगी।

बांडुङ्ग सम्मेलन का युगव्यापी महत्व

विश्व के इतिहास में बांडुङ्ग सम्मेलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सम्मेलन गत १८ अप्रैल १९५५ को इन्डोनेशिया के बाडुङ्ग नामक नगर में सम्पन्न हुआ। १९५४ अप्रैल को सर्वप्रथम कोलम्बो ने ही इस सम्मेलन के प्रस्ताव को रक्खा। इसके अन्तर्गत यह निश्चित हुआ कि यह सम्मेलन पाँच प्रधान मन्त्रियों के सम्मिलित तत्वावधान में ही संपन्न हो। यह एशिया और अफ्रीका के देशो का सम्मेलन था। इसका मुख्य उद्देश्य था—(१) सद्-भावना और सहयोग बढ़ाना (२) एशियायी अफ्रीका राष्ट्रों की सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य विशेष समस्याओं पर विचार करना (३) एशिया अफ्रीका की वर्तमान स्थिति का निरीक्षण करना, साथ ही विश्व-शान्ति तथा सहयोग की वृद्धि में योग देना। इस सम्मेलन में देशों का चुनाव विचार या जाति के आधार पर नहीं बल्कि भौगोलिक आधार के दृष्टिकोण पर ही किया गया। एशिया अफ्रीका महाद्वीपों के २९ देशों ने इसमें भाग लिया। किन्तु मध्य अमेरीका ने सम्मेलन के नियंत्रण को अस्वीकृत कर दिया। इसके अतिरिक्त अन्य सभी देशों ने इस निमंत्रण को स्वीकार किया और सम्मेलन में संसार की आधी जन-संख्या ने अपने प्रतिनिधि भेजे।

इस प्रकार सम्मेलन का उद्घाटन इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति श्री सोये-कार्नों ने सम्पन्न किया। जिसमें सभापति का स्थान प्रधान मन्त्री डा० अली-सास्ट्रोमिद जोजो ने ग्रहण किया। अधिकाश देशों के प्रधान मन्त्री या विदेश मन्त्री तथा राजनीतिज्ञ भी सम्मेलन में सम्मिलित हुये। सम्मेलन का सभी कार्यभार तथा प्रबन्ध व्यवस्था पाँचों प्रेरक देशों के एक सम्मिलित सचिवालय के हाथ में दिया गया। इस सुन्दर सुसंगठित प्रबन्ध का सारा श्रेय इन्डोनेशिया की सरकार को प्राप्त हुआ। सम्मेलन में पाँच हजार शब्दों

का एक सम्मिलित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें सम्मेलन की कार्यवाहियों, नीतियों तथा योजनाओं पर भी प्रकाश डाला गया। इन्डोनेशिया के सुप्रतिष्ठित राष्ट्रपति ने अपने भाषण में कहा कि इस सम्मेलन का लक्ष्य न केवल एशिया अफ्रीका की बल्कि संपूर्ण विश्व की शान्ति है। उन्होंने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की भर्त्सना की तथा "जियो और जीने दो" तथा अनेकता में एकता के सिद्धान्तों को इस सम्मेलन का सर्वप्रथम लक्ष्य बताया तथा अपने भाषण के अन्त मे उन्होंने कहा कि हमें पिछली बातों के कारण कटु भावना नहीं बनाये रखना चाहिये, बल्कि हमें भविष्य की ओर दृढ़ता से देखना चाहिये। हमें याद रखना चाहिये कि जीवन और स्वत्रन्ता ईश्वर का सबसे बड़ा वरदान है। यह भी याद रखना चाहिये कि जब तक राष्ट्र या राष्ट्रों के अंग परतंत्र रहेंगे, तब तक मानवता की महत्ता में कमी ही रहेगी। हमें याद रखना चाहिये कि मनुष्य का सर्वोच्च कर्तव्य मनुष्य को भय और निर्धनता से मुक्त करना है, ऐसे भौतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक बन्धनों से मुक्त करना है, जिन्होंने अधिकाश मानवता के विकास में बहुत अधिक बाधा पहुँचाई है। हमें यह याद रखना चाहिये कि इस सब के लिये हम एशिया तथा अफ्रीका वासियों को सगठित हो जाना चाहिये।

इस प्रकार सम्मेलन के अन्तर्गत कई समस्याओं पर विचार किया गया। जिनमें से आर्थिक सहायता के लिये कोष की स्थापना, प्राविधिक सहायता सम्मेलन मे सम्मिलित होने वाले देशों के अधिकारियों की नियुक्ति, समझौता द्वारा व्यापार और मूल्य में स्थिरता, कच्चे पदार्थों से अधिक से अधिक माल तैयार करना, बीमा कम्पनियों की स्थापना, शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिये अणुशक्ति का विकास आदि कई विषय सम्मिलित थे। इतना ही नहीं वरन् विश्व के अनेकों महत्वपूर्ण विषयों पर विवेचना की गई, और अन्त मे सार्वजनिक रूप से इस बात को ही मान्यता दी गई कि सांस्कृतिक सहयोग राष्ट्र की उन्नति तथा विश्व शांति एवं मैत्री का द्योतक है। अतः सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। और यही सम्मेलन का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण निर्णय है। यद्यपि विश्व-शान्ति और सहयोग की भावना के विरुद्ध भी कई उपनिवेशों ने आवाज उठाई किन्तु उसमें वे सफल न हो सके क्योंकि इस सम्मेलन का अभ्युदय उपर्युक्त दोनों भावनाओं के आधार पर

हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य परस्पर सपर्क स्थापित करना, सबंध बढ़ाना, विरोध भाव मिटाना तथा मित्रता स्थापित करना ही था।

सम्मेलन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय पण्डित जवाहरलाल नेहरू को दिया जा सकता है। श्री नेहरू जी ने कहा कि भारत किसी भी राजनीतिक गुट को जन्म न देगा और न स्वयं को दलित एव हीन बनाकर किसी दूसरी नैनिक शक्ति का प्रभुत्व ही स्थापित होने देगा। और न तो इस सम्मेलन का लक्ष्य किसी के प्रति चुनौती या शत्रुता का संकेत ही है। बल्कि यह एक नवीन एव समृद्ध अंश दान है। जिसने क्रियात्मक आदर्शवाद में एशिया और अफ्रीका के नये राष्ट्रों की सामर्थ्य का प्रदर्शन विश्व के समक्ष किया है और थोड़े ही समय मे बड़े-बड़े व्यावहारिक समझौते भी किये हैं जो अन्त-राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी प्रायः देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार बाडुङ्ग-सम्मेलन के युगव्यापी महत्व द्वारा हमारी महान् सस्था संयुक्त राष्ट्र सघ को भी विशेष बल मिला। इसके अतिरिक्त प० नेहरू ने पाकिस्तान के इस प्रस्ताव का कि भारत न तो साम्यवाद का समर्थक ही है और न विरोधी, विरोध किया और बताया कि प्रत्येक राष्ट्र के ऊपर अपनी रक्षा का पूर्ण दायित्व है चाहे वह अपनी रक्षा अकेले करे अथवा अन्य राष्ट्रों के सहयोग एवं सहायता द्वारा। परन्तु नेहरू जी का यह व्यक्तिगत सिद्धान्त तो केवल सैनिक सहायता को सत्य सिद्ध करने का सकेत मात्र था। वास्तव में इसके अन्तर्गत उनका एकमात्र संकेत तो पाकिस्तान और अमरीका मे हुये सैनिक समझौते की ओर था।

इसके विषय में चीन के प्रधान मंत्री श्री चाऊ-एन लाई के प्रस्ताव भी विशेष महत्वपूर्ण रहे। उनके कट्टर विरोधियों ने भी एक स्वर से स्वीकार किया कि उन्होंने अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहारों से इस सम्मेलन मे भाग लेने वाले राष्ट्रों के मन पर विजय पा ली। उन्होंने कहा कि फारमोसा के प्रश्न पर अम-रीका से वार्तालाप करने के लिये चीन प्रस्तुत है। उन्होंने इस बात का बार-बार समर्थन किया कि इस सम्मेलन मे चीन एकता के लिये आया है न कि विभेद और भिन्नता के लिये।

इस प्रकार सम्मेलन के अन्तर्गत पाँच मुख्य राजनीतिक विषयों पर वार्ता हुई। इसका सर्वप्रथम विषय आर्थिक सहयोग था। उसके लिये यह निर्णय

किया गया कि सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे को केवल टेकनिकल सहायता ही नहीं देंगे वरन् पारस्परिक व्यापार सम्बन्धो को बढ़ाने तथा उसकी पुष्टि में भी विशेष सहायता प्रदान करेंगे।

उपर्युक्त कथनानुसार सम्मेलन का दूसरा विषय सांस्कृतिक आदान-प्रदान था। इस विषय के अन्तर्गत भाग लेने वाले राष्ट्र इस बात पर एक मत थे कि एशिया और अफ्रीका के देश, धर्म, संस्कृति और सभ्यता के स्रोत रहे हैं इस स्रोत को पारस्परिक सहयोग तथा बुद्धिमत्ता द्वारा और भी पवित्र करने क प्रस्ताव किया गया।

वार्ता के तृतीय विषय के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ में उल्लिखित मान वीय अधिकारों के मौलिक सिद्धान्तों पर विशेष जोर दिया गया है। सम्मेलन का अन्तिम विषय परतन्त्र देशों की समस्याएँ थी जिस पर सम्मेलन मे बहुत अधिक मतैक्य और विरोध था। सम्मेलन ने उन परतन्त्र देशों के प्रति अपना समर्थन प्रकट किया जो आज भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष में संलग्न हैं। सम्बंधित शक्तियों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये अनुरोध भी किया जिसके फलस्वरूप मोरक्को, ट्यूनिसिया, अलजीरिया और पश्चिम ईरान की समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया गया।

इन समस्याओं के अतिरिक्त सम्मेलन में एक और भी दूसरी भिन्न समस्य प्रस्तुत थी, वह यह थी कि अनेकों राष्ट्र जो पूर्ण प्रभुता सम्पन्न हैं उनमे से कुछ तो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य भी हैं और सभी अन्तर्राष्ट्रीय, व्याव- हारिक तथा कानून की दृष्टि से भी पूर्ण स्वतन्त्र हैं अत. ऐसे राष्ट्रों को सम्मेलन की किसी भी सामान्य घोषणा मे उसी समय सम्मिलित किया जा सकता थ जब कि सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकांश देश राजनीतिक सिद्धान्तों के स्वीकार कर लेते। हर्ष की बात है कि इस सम्मेलन के अन्तर्गत ऐसे विरोधी विचारों का भी प्रकटीकरण हुआ और यह एक ऐसा गूढ़ विषय था जिसक निवारण करना अनिवार्य था। इससे यह ज्ञात हुआ कि सम्मेलन का मूल उद्देश्य पारस्परिक मतभेद को स्वीकृत करते हुये भी मतैक्य की स्थापना करन था। एशिया और अफ्रीका ने भी एक साथ ही इस महाविनाशकारी शस्त्रों के विरुद्ध आवाज उठाई।

साथ ही अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित करने का भी अनुरोध प्रस्तुत किया। किन्तु सम्मेलन में विश्वशान्ति के मूलमत्र को बतला कर विरोधी प्रस्तावों को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया यद्यपि सरकार ने विरोधी प्रस्तावों पर अत्यधिक सकल्प-विकल्प किया और अंत मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि विश्वशाति और सहयोग की पवित्रतम् भावनाओं के समक्ष ये तुच्छ विचार स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकते। अतः सम्मेलन की अन्तिम घोषणा में विरोधी भावनाओं का कोई अस्तित्व ही नही रक्खा गया।

यद्यपि बांडुङ्ग सम्मेलन विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण एवं युगव्यापी सम्मेलन रहा। किन्तु फिर भी यह मानवीय इतिहास के महान् आन्दोलन से एक पृथक घटना के रूप मे ही रहा। इसकी अमरता एवं महत्व के अन्य मूल कारण भी हैं। जिस दिन इस सम्मेलन का प्रारम्भ हुआ उसी तिथि को भूदान-यज्ञ के अन्तर्गत संपूर्ण भारत मे शान्ति दिवस मनाया गया और इसी दिन आज से चार वर्ष पूर्व आचार्य विनोबा भावे ने भूदान के रूप में सर्वप्रथम तेलागना नामक ग्राम मे १०० एकड़ भूमि प्राप्त करने में सफलता पाई।

इस सम्मेलन का महत्व केवल एशिया अफ्रीका तक ही सीमित एवं सकुचित नहीं वरन् संपर्ण राष्ट्र की राजनीति पर भी इसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। इस सम्मेलन ने एशिया अफ्रीका महाद्वीपों के २६ राष्ट्रों को मित्रता एवं स्नेह के पावन सूत्र मे आबद्ध किया तथा विश्व की विरोधी शक्तियों में सहानुभूति और सहयोग की आदर्श भावना का संचार किया।

पञ्चशील की महत्ता

हमारे जीवन में 'शील' का महत्वपूर्ण स्थान है। शील से गिरा हुआ मनुष्य मनुष्यत्व का महान् अभिशाप है। शील का सामान्य अर्थ शिष्ट व्यवहार या शिष्टाचार से सम्बन्धित है। इस प्रकार पंचशील के अन्तर्गत शिष्टाचार के पाँच नियम आते हैं। मूलतः ये नियम बौद्ध धर्म के द्वारा संसार को प्राप्त हुये। मूल रूप में ये इस प्रकार हैं :—

(१) अहिंसा (२) अस्तेय (३) सत्य (४) अप्रमाद (५) ब्रह्मचर्य।

यह तो हुई धार्मिक क्षेत्र की बात, पंचशील के सिद्धान्त ने अपनी महानता से राजनीति को भी प्रभावित किया और पिछले वर्ष १९५४ के जून माह में वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुसार भारत और चीन ने मिलकर पंचशील को एक नया रूप दिया जो प्राचीन पंचशील के समानांतर एवं युग की आवश्यकताओं के अनुरूप है :—

(१) एक दूसरे के आंतरिक विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना।

(२) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता एवं प्रभुसत्ता के प्रति पारस्परिक श्रद्धा भाव।

(३) समानता एवं पारस्परिक लाभ (४) अनाक्रमण (५) शांतिमय सह-अस्तित्व।

गत २२ जून १९५५ को पंचशील के नये स्वरूप के पहले नियम में थोड़ा परिवर्तन परिवर्द्धन किया गया है। भारत और सोवियत रूस ने पंचशील एवं शांतिमय सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर साधिकार स्वीकृति प्रदान करते हुये इस प्रकार समझौता किया—किसी प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक अथवा सैद्धान्तिक कारणों से दूसरे के आन्तरिक विषयो में हस्तक्षेप न करना। इसी के आधार पर यूरोप के इंग्लैंड यूगोस्लाविया आदि देशों के साथ भारत ने शांतिमय सह-अस्तित्व के सम्बन्ध मे साधिकार घोषणाएँ की।

बौद्ध धर्म के पंचशील की अपेक्षा आज का पंचशील अधिक व्यापक है तथा दोनों में कुछ अन्तर भी है। बौद्ध धर्म ने पचशील के नियमों को व्यक्तियों के बीच पारस्परिक भद्र व्यवहार एवं शिष्टाचार के लिए प्रतिष्ठित किया था किन्तु आधुनिक पंचशील की स्थापना भारत और चीन के द्वारा राष्ट्रों के बीच पारस्परिक मैत्री एवं शातिमय व्यवहार के लिये की गई है। इस प्रकार अब बौद्धयुगीन पचशील व्यक्तिपरक से राष्ट्रपरक बन गया है। व्यक्तिगत अहिंसा को अब इस प्रकार व्यापक रूप दे दिया गया है कि एक देश दूसरे देश को किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक आघात नही पहुँचायेगा। अस्तेय के अन्तर्गत एक देश द्वारा दूसरे देश की भूमि क्षेत्र आदि का अपहरण करने की कुप्रवृति का समाहार कर लिया गया है और सत्य की व्याख्या इस प्रकार दी गई है कि परोक्ष रूप से एक देश दूसरे देश में अपने एजेन्टों द्वारा ठग चातुरी को प्रोत्साहन न देगा। ब्रह्मचर्य, पवित्र आचरण का प्रतीक बन गया है, इसके द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रों में पारस्परिक समानता की भावना उत्पादन करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। अप्रमाद 'शातिमय सह-अस्तित्व' में परिवर्तित होकर इस प्रकार अपने उत्तरदायित्व की घोषणा कर रहा है कि इस नियम का पालन करके एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के विनाश के साथ साथ तृतीय महायुद्ध के द्वारा स्वयं भी नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। इसीलिए शातिमय-सह-अस्तित्व, पारस्परिक भय, सन्देह आदि प्रमादो को दूर करने के कारण अप्रमाद का पर्याय बन गया है। युग की परिस्थितियों के कारण व्यष्टि भावना समष्टि में बदल गई है, मनुष्य के व्यक्तित्व को राष्ट्र के व्यक्तित्व ने अपने मे पचा लिया है। विगत दस वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीय उन्माद एवं प्रमाद के आगे व्यक्तियों के विवेक की एक न चली, अहिंसा, शाति और मानवता के पुजारी चिल्लाते-चिल्लाते थक गये किन्तु दोनों महायुद्धों की विभीषिकाओं ने मानवता के स्वस्थ रक्त से होली खेल कर ही दम लिया। अणु युग की देन से सम्पन्न एक तीसरी विभीषिका कहीं मानवता का अभिशाप बन कर संसार मे न छा जाय उसी के निराकार के लिए पचशील नये रूप में उदित हुआ है। यह राष्ट्रीय उन्माद पर व्यक्ति के विवेक की विजय का अमिट चिन्ह है। युद्ध-जनित भयंकर नररक्त पान की लिप्सा के वातावरण में अहिसा के देवदूत

की विरासत को सम्हालने वाले शाति एवं तटस्थ नीति के समर्थक भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने पचशील का संदेश दिया है। सर्वप्रथम सन् १९४७ में नई दिल्ली में आयोजित एशियाई सम्मेलन में चीन और भारत एक दूसरे के निकट संपर्क में आये। शांति सहयोग और उन्नति के इच्छुक राष्ट्रों के रूप में दोनों ने नये सिरे से एक दूसरे के साथ मैत्री स्थापित की। अप्रैल सन् १९५५ के बांडुङ्ग सम्मेलन तक दोनो देशों के बीच क्रमशः अधिकाधिक सपर्क बढ़ता गया जो चीन की परम्परागत शालीनता तथा उदारता का प्रशसनीय प्रमाण है क्योंकि एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय गुट का एक प्रभावशाली राष्ट्र होते हुये भी उसने एशियाई एकता को सुदृढ़ और उन्नतिशील बनाने में भारत का ईमानदारी से साथ दिया। साम्राज्यवादी स्वार्थों ने तिब्बत की स्थिति को जटिल बनाकर दोनों के बीच मनोमालिन्य कराने का जाल विछाया था किन्तु चीन और भारत ने अपनी अतीत कालीन मैत्री भावना को ध्यान में रखते हुये इस छोटे से सीमावर्ती राज्य के प्रश्न पर किसी प्रकार की कटुता को प्रोत्साहन नहीं दिया तथा पेकिंग मे दोनों देशों के बीच सहानुभूति के साथ सन्तोषजनक समझौता हो गया। फलस्वरूप इसी सद्भावना की पृष्ठभूमि पर नये रूप में पंचशील की स्थापना हुई। एव शान्तिमय-सह-अस्तित्व के सिद्धात को साधिकार मान्यता प्रदान की गई।

२७ जून १९५५ को पेकिंग मे पंचशील का प्रथम वार्षिक समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया। अब तक भारत, चीन, बर्मा, सोवियत रूस, इन्डोनेशिया, पोलैंड, यूगोस्लाविया आदि देश इसकी मान्यता स्वीकार कर चुके हैं क्योंकि एक वर्ष के भीतर इसने एशिया तथा यूरोप में समान रूप से शाति एवं पारस्परिक मैत्री स्थापना में आश्चर्यजनक प्रगति की है। २९ एशियाई अफ्रीका राष्ट्रों के बीच होने वाले बांडुङ्ग सम्मेलन में भी कुछ परिवर्तन के साथ पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया है जो इसकी आशातीत सफलता का परिचायक है।

विश्ववंद्य महात्मा गाधी ने भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के कई वर्ष पूर्व कहा था—"भारतीय स्वतन्त्रता स्वयं में कोई साध्य नहीं है वरन् वह तो मानवीय स्वतंत्रता, विश्व शान्ति और नयी विश्व-व्यवस्था के साधन के रूप मे ही

अवतरित होगी।" सरदार पटेल ने एक बार कहा था — स्वतन्त्रता के युद्ध काल मे हमारे नेता गाँधी जी थे और स्वतन्त्रता के बाद के समय से हमारे नेता नेहरु जी हैं। इस प्रकार नेहरू जी ने गाँधी जी की इच्छा पूरी करने के साथ साथ सरदार पटेल के कथन की भी सत्यता पूरी कर दी। भारत की स्वतन्त्रता निश्चित रूप से मानव मात्र की स्वतन्त्रता एवं कल्याण भावना के रूप में विकसित होती जा रही है।

कुछ लोगों की धारणा है कि पंचशील राजनीतिक और आर्थिक हितों से उत्पन्न सघर्षों को दूर करने में असमर्थ है किन्तु यह संदेह एक नयी वस्तु को समुचित रूप से न समझने के कारण है ? पंचशील का जन्म आज के युग की कूटनीति पूर्ण स्वार्थिनी राजनीति पर प्रहार करने के लिये हुआ है। वह इसे समाप्त कर आर्थिक तथा सांस्कृतिक कल्याण की विजयी के लिये ही प्रयत्नशील है। वह मानवता को कल्याण-मार्ग पर ले जाने वाला एक देदीप्यमान प्रकाश स्तम्भ है।

पंचशील ने कुटिल राजनीति पर प्रथम लक्ष्य सधान किया है। इसने अन्तर्देशीय सम्बन्धों मे स्वार्थ और पारस्परिक द्वेष-भावना से ऊपर उठकर मानवता की विशुद्ध निःस्वार्थ भावभूमि पर अपने चरण टिकाये हैं। पचशील भारत की स्वतन्त्रता को मानव मात्र की मुक्ति और कल्याण का साधन बनाने के लिये प्रयत्नशील है। निस्सदेह इसी के द्वारा महात्मा जी की मानव स्वतन्त्रता, विश्व शान्ति और नवीन विश्व व्यवस्था का स्वप्न सत्य होगा।

———

भारत में समाजवाद

किसी भी देश के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यकता इस बात की होती है कि वह अपने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचे को पूर्णरूपेण परिवर्तित करके एक ऐसा निरापद पथ ग्रहण करे जो उसके विकास में योग दे सके। किन्तु ऐसे पथ का निर्वाचन कर लेना सहज काम नहीं है। उसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन कठिनाइयों के बीच से पार होकर एक उपयुक्त एवं कल्याणकारी मार्ग के निर्धारण पर ही देश का भविष्य निर्भर करता है।

भारतवर्ष अनेक ऐसी कठिनाइयों को पार कर चुका है। किन्तु फिर भी अनेक समस्याओं का समाधान अभी तक नहीं हो सका। उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त हो चुकी है किन्तु अन्य क्षेत्रों में अभी अन्धकार ही है। दो सौ वर्षीय अंग्रेजी शासन काल की पड़ी हुई कुहासे की पर्त्त अभी पूर्णरूपेण साफ नहीं हो सकी। समाज वही है, लोगों की भावनाएँ वही हैं तथा पाश्चात्य सभ्यता की ओर मुँह के बल गिरने की प्रवृत्ति वही है। किन्तु फिर भी भारतीयों के प्रयत्न को भुलाया नहीं जा सकता। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में ही कहा गया है कि :—

"हम भारतीय भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणतन्त्र राज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और धर्म-उपासना की स्वतन्त्रता; प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिये दृढ़ संकल्प होकर इस संविधान सभा को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

इस प्रस्तावना से ही भारत के उद्देश्य का भलीभाँति पता लग जाता है किन्तु फिर भी जब हम एक निरापद मार्ग का अन्वेषण करने के लिए अग्रसर होते हैं तो मार्क्स का समाजवाद हमारी आँखों के सामने नाच कर रह जाता है। रह इसलिये जाता है कि हम भारतीय 'अहिंसा परमोधर्मः' के पुजारी हैं, 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' की भावना हममें कूट-कूट कर भरी है तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का महामन्त्र हमारी रग-रग में समाया हुआ है। जब हम चींटी के भी जीवन का महत्व समझते हैं तो उस प्राणी को जिसे बनाने में आज का विकसित विज्ञान भी असमर्थ है, समाप्त करने का दुस्साहस कैसे कर सकते हैं ? जिस वस्तु को हम बनाने में असमर्थ हैं उसे नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नही।

किन्तु मार्क्सवादी विचारधारा ठीक इस भावना के विपरीत जा पड़ती है। वह वग संघर्ष को सदैव के लिए समाप्त करके वर्ग-हीन समाज की स्थापना करना चाहता है वह चाहता है कि पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच की खाईं एकदम पट जाय। और इस खाँई को पाटने के लिये वह हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है। इसीलिये तो समाजवादी, कवि नवीन जी के शब्दों में ऐसी उथल-पुथल चाहता है जिससे वर्तमान समाज हिलोरों से आलोड़ित हो जाय; उसमें आमूल क्रान्ति हो जाय :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये॥

मार्क्सवाद धर्म में विश्वास नही करता। पर जन्म के सिद्धान्त में भी उसे विश्वास नहीं। उसके अनुसार धर्म तो पूँजीपतियों द्वारा सर्वहारा वर्ग पर लादी गई वह वस्तु है, जिससे उनका खुलकर शोषण किया जा सके। मार्क्सवाद धर्म को अफीम करार देता है। उसके अनुसार ईश्वर की भी कोई सत्ता नहीं है क्योंकि :—

यदि दुनियां में ईश्वर होता,
तो यह अत्याचार न होते।

मानव धर्म ही सच्चा धर्म है। वाह्याडम्बर की वस्तुएँ ढकोसला मात्र हैं। मार्क्सवाद का लक्ष्य व्यक्ति नहीं समाज है। इस समाज की भलाई के लिए वह सब कुछ कर सकता है—चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित। अकर्मण्य, आलसी एवं हरामखोरों की सत्ता का नाश करके कर्मण्य व्यक्तियों की सब प्रकार से सुरक्षा करना उसका परम धर्म है। साथ ही वह सभी व्यक्तियों को काम देने का समर्थक है, अंगहीनों, एवं अपाहिजों के जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति भी साम्यवादी विचारधारा के अनुकूल है। ऐसे व्यक्तियो का सरकार संरक्षण करेंगी। साम्यवाद का लक्ष्य समस्त विश्व से सम्बन्धित है, वह विश्व से पूंजीवादी परम्परा को उड़ाकर एक नई मानवता की सृष्टि करना चाहता है जिसमें आर्थिक असमानता का नाम निशान भी न होगा। वह सुधारों में भी विश्वास नही करता। वह फोड़ों पर बार-बार पट्टी बाधने के पक्ष में नहीं है, वह तो फोड़ों को नश्तर चुभोकर जड़ से काट देने का समर्थक है। उसका तो सिद्धान्त ही है कि 'पुरातन के नाश से ही नव-सृष्टि होती है।' वह पूँजीवादी वृक्ष को, जो कि अभिशाप स्वरूप सिद्ध हो चुका है, जड़ से काटकर उत्पादन के साधनों पर समाज अथवा राज्य का अधिकार स्थापित करना चाहता है जिसमें उस वर्ग संघर्ष का पूर्ण नाश हो जाय जो प्रागैतिहासिक काल से मानव समाज को कलंकित किये रहा है।

किन्तु भारतीय भावना इस विचारधारा के एकदम विपरीत जा पड़ती है। उसका लक्ष्य, जैसा कि भारतीय संविधान की प्रस्तावना से स्पष्ट हो चुका है, समाजवादी दृष्टिकोण से बहुत कुछ साम्य रखता है किन्तु सुधारात्मक प्रयत्नों द्वारा समाज का संगठन करना ही उसका लक्ष्य है। उसके अनुसार क्रान्ति से शान्ति की स्थापना कदापि संभव नहीं! साधन यदि बुरा है तो साध्य कदापि अच्छा नहीं कहा जा सकता। अच्छे साधनों द्वारा ही अच्छे साध्य तक पहुँचने की संभावना की जा सकती है। और फिर वर्तमान ही मनुष्य के हाथ में होता है, उसको क्रान्तियुक्त करके भविष्य में स्थापित होने वाल शान्ति का स्वप्न देखना कहा तक उचित है?

भारतवर्ष की समस्त व्यवस्थाएँ धर्म पर आधारित हैं। अतः ऐसी

अवस्था मे धर्म को ठुकराया नहीं जा सकता। भारतीय सविधान ने भी धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इस ने भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया है। यद्यपि धर्म के समक्ष साम्यवाद को ठुकराया नहीं जा सकता किन्तु भारत जैसे आध्यात्मिक देश से धर्म को छिन्नमूल भी नहीं किया जा सकता। हा, धर्म की आड़ मे होने वाले आर्थिक शोषण का अन्त करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अनेक धर्मों के कारण ऐतिहासिक काल मे अनेक रक्तपातपूर्ण काड होते रहे हैं अतः उनको रोकना नितान्त आवश्यक हो जाता है। और इस आवश्यकता के लिये एक निश्चित सीमा तक साम्यवाद का सहारा लेना आवश्यक होता है।

विश्व की राजनीति में हमें दो ही महान् विभूतिया उपलब्ध होती हैं—जिनमें से एक तो हैं महात्मा गाधी और दूसरे हैं कार्ल मार्क्स। भारत की सास्कृतिक चेतना के साथ-साथ आदर्श का पोषण तथा सामन्तशाही दासता का उन्मूलन गाधी के जीवन का लक्ष्य था एवं आर्थिक विषमता की महान खाई को पाटना मार्क्स का उद्देश्य था। वस्तुतः समाज में धन का वितरण बहुत ही असावधानी से हुआ है। धन के विभाजन के दृष्टिकोण से ही आज का समाज दो भागों में बटा हुआ है—एक वर्ग के लोग तो वे हैं जिन्हें पूँजी-पति की संज्ञा दी जाती है और दूसरे वर्ग के लोग वे हैं जिन्हें सर्वहारा के नाम से पुकारा जाता है। गाधी और मार्क्स दोनों ही इस आर्थिक पशुत्व का उन्मूलन करने के पक्ष में थे किन्तु इन दोनों के मार्ग अलग-अलग थे। एक क्रान्ति चाहता था दूसरा शान्ति, एक कहता था 'पापियों का गला घोंट दो', दूसरा कहता था 'पापों का प्रतिकार करो।' किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है दोनो का साध्य एक ही था। यदि मार्क्स कहता था कि प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति कार्य करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार प्राप्ति हो, तो महात्मा गाधी कहते थे कि 'अपरिग्रह हमारा परम धर्म है।'

भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात करने पर समाजवादी व्यवस्था की आवश्यकता भली-भाँति प्रतीत होने लगती है। ऐसा लगता है कि बिना समाजवाद के अब किसी भी प्रकार कल्याण सम्भव नही हो सकता। किन्तु, क्या भारत के लिये समाजवाद का वही रूप ग्राह्य हो सकता जो रूस आदि साम्यवादी देशों मे प्रचलित है? इस प्रश्न पर विचार करने से हम इस

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाजवाद को ठीक उसी रूप से ग्रहण करना हमारे लिये कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्योंकि वह भारतीय भावना के विपरीत जा पड़ता है। उसमें कुछ सुधार करके ही उसे अपनाया जा सकता है।

भारत के लिए समाजवादी व्यवस्था का प्रश्न नितान्त नवीन नहीं है। स्वतंत्रता के पूर्व भी आर्थिक विषमता, सामाजिक भेदभाव तथा राजनीतिक समानता के प्रश्न हमारे सन्मुख विद्यमान थे। १७ फरवरी सन् १९४८ के निम्न प्रस्ताव से भारत की समाजवादी व्यवस्था विषयक महत्वाकाक्षा का भली-भाति पता लग जाता है :—

"इस सभा का मत है कि देश का आर्थिक ढॉचा समाजवादी आर्थिकता होगी। मुख्य उद्योगो के राष्ट्रीयकरण, सह-औद्योगिक एवं सामूहिक कृषि तथा देश के भौतिक साधनों के समाजीकरण के सिद्धान्त इसके मूल आधार होंगे। भारत सरकार इस नीति को तुरन्त अपनाएगी।"

किन्तु भारत की नीति शातिपूर्ण ढंग से किसी भी कार्य को करने की है एव उक्त उस्ताव मे उग्रता स्पष्ट झलक उठी है अतः अपनी नीति के अनुसार ही इस प्रस्ताव की अपनाने की प्रार्थना की गई है। पं० जवाहर-लाल नेहरू ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा है कि :—

"किन्ही चीजों को तोड़ना बहुत सरल है, निर्माण कठिन है। यह भी असम्भव नहीं कि आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का प्रयास हमें अर्ध-विनाश की स्थित मे ले लाए। उत्पादन जो हम करना चाहते हैं रुक जायगा। सम्भव है अन्ततोगत्वा कोई नवीन समाज व्यवस्था प्रकट हो किन्तु हाल में तो वतमान ढाचा ही छिन्न-भिन्न होगा। इस समय जब कि हमारी समस्त शक्तियाँ उत्पादन वृद्धि में लगनी चाहिए, ऐसा करना उचित नहीं है।"

इसी प्रकार अन्य अनेक बातों में भी भारत समाजवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध है। आर्थिक पशुत्व का उन्मूलन भारत का भी लक्ष्य रहा है किन्तु उसका मार्ग दूसरा ही है। भारत के नेतागण समस्त उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे नहीं हैं। छोटे-छोटे उद्योगों के सम्बन्ध में विकेन्द्रीकरण के ही सिद्धान्त को अपनाया जायगा। भारत की अपनी निजी व्यवस्थाएँ हैं जिनके कारण

भारत समाजवादी व्यवस्था का अन्धानुकरण नहीं कर सकता। वह समाजवाद को प्रश्रय अवश्य देगा किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक उसके सिद्धान्त भारतीय भावना के अनुकूल हैं।

आज की अधिकाश योजनाएँ भारत के इसी दृष्टिकोण को व्यक्त कर रही हैं। घरेलू उद्योग धन्धों का विकास ग्रामोत्थान की योजनाएँ तथा सामूहिक विकास की योजनाएँ भारत के उक्त दृष्टि कोण को व्यावहारिक रूप देने के लिये सचेष्ट हैं। चीन आदि समाजवादी देशों ने भी समाजवाद को ठीक उसी रूप मे नहीं स्वीकार किया है, उनके सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है। भारत भी समाजवादी व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील है किन्तु उसके सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है।

भूदानयज्ञ भी इसी दिशा मे किया गया एक अभिनव प्रयोग है। मानवीय क्रान्ति को प्रश्रय मिल रहा है अवश्य, किन्तु शान्तिपूर्ण ढग से। और यह भारत के अनुकूल भी है। शान्ति का समर्थक भारत क्रान्ति कैसे कर सकता है? वह तो अपरिग्रह के अस्त्र से ही अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेगा। भारतीय समाजवाद का केवल अर्थ से ही सम्बन्ध नहीं है। नवीनतम् प्रकार के समाज की स्थापना के लिए सामाजिक व्यवस्था के वर्तमान दोषों को दूर करना भी उसका लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य को स्पष्ट करते हुये माननीय ढेबरजी ने कहा था—'सामाजिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र की कल्पना भी असम्भव है।'

भारतवर्ष गाँधीवादी समाजवाद की स्थापना करने के पक्ष में है। सम्प्रति इस दिशा में अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। यदि भारतीय पूँजीपतियों ने इस समाजवाद की स्थापना में सहयोग दिया तो निश्चय ही भारतवर्ष संसार के सम्मुख एक नया आदर्श प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकेगा।

———

विश्व शान्ति और भारतवर्ष

आज विश्व में अशान्ति का बोलबाला है। स्पूतनिक युग का मानव अपनी विशेषता—मानवता—को ही भूल बैठा है। और यही कारण है कि वह बुराइयों को देखकर भी नहीं देख पाता, सुनकर भी नहीं सुन पाता एवं छोड़-कर भी नहीं छोड़ पाता। जिस पथ पर वह चल रहा है वह अन्धकार पूर्ण है किन्तु फिर भी वह आँख मूँदे अबाध गति से उस पर बढ़ता जा रहा है। न उसे उसके लक्ष्य का पता है और न कर्तव्य का। उसकी स्थिति ठीक उस माझी के समान है जिसकी पतवारविहीन नौका लहरों के थपेड़े खाती हुई अनिश्चित दिशा की ओर बढ़ती जा रही हो।

इस अशान्ति का प्रमुख कारण है—पूँजीवादी भावना का विकास। इस भावना ने दो वादों को प्रश्रय दिया है जिनमें से एक है साम्राज्यवाद एवं दूसरा है उपनिवेशवाद। इन दोनों ही वादों के पीछे एक ही प्रवृत्ति कार्य करती हुई दृष्टिगत होती है और वह है—शोषण की प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति के कारण ही पुरुष अपने पुरुषार्थ को भूला बैठा है, शोषण ही उसका धर्म हो गया है—चाहे वह मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण हो, चाहे समाज का समाज द्वारा, चाहे राष्ट्र का राष्ट्र द्वारा।

वैसे तो शोषण की प्रवृत्ति विश्वव्यापी हो गई है किन्तु पाश्चात्य राष्ट्रों—विशेषकर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस-में इसे विशेष प्रश्रय मिला है। इन राष्ट्रों के अधिकाश प्राणियों में यह भावना घर कर गई है कि 'जो दृश्य है वही सत्य है।' भौतिकता की इसी प्रवृत्ति के कारण 'खाओ पियो और मौज उड़ाओ' ही उनका सिद्धान्त बन गया है। अपने इसी सिद्धान्त के कारण तथा-कथित शक्तिशाली राष्ट्र सुख के नवीनतम् साधन जुटाने में संलग्न हैं। आधु-निक वैज्ञानिक आविष्कार उनकी इसी संलग्नता के परिणाम हैं—चाहे वे विनाशकारी ही क्यों न हों ?

निस्सदेह विनाशकारी आविष्कार मानवता के मस्तक पर कलक के चिन्ह के समान हैं। यदि इन सुखाकाक्षी लोगों से यह प्रश्न किया जाय कि ये आविष्कार किस लिए हो रहे हैं तो सम्भवतः यही उत्तर मिलेगा कि - 'मानवता की रक्षा के लिए' अथवा दूसरे शब्दों में 'साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए'। किन्तु यदि थोड़ा भी विचार किया जाय तो इन सबके पीछे उनकी वही शोषण वाली प्रवृत्ति ही कार्य करती हुई दृष्टिगत होती है। कहीं हिंसात्मक अस्त्रों द्वारा रक्षा होती है! अपने इन्हीं आविष्कारों द्वारा तथाकथित शक्तिशाली राष्ट्र विश्व के अविकसित राष्ट्रों को साम्राज्यवाद की भट्ठी मे तड़पा तड़पाकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं एवं इसीलिए समय-समय पर अविकसित राष्ट्रों को हर प्रकार की सहायता देने का भी वचन देते हे--चाहे दें भले ही न।

आज का ससार दो विचारधाराओं से संत्रस्त है—एक तो वही पूँजीवादी विचारधारा, जिसके विषय में बहुत कुछ बताया जा चुका है और दूसरी समाजवादी विचारधारा। ये दोनों ही विचारधाराएँ एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं। एक का लक्ष्य है अधिकाधिक शोषण; दूसरी का समान वितरण। एक अधिक से अधिक अर्थोपार्जन करना चाहती है; दूसरी आर्थिक पशुत्व का उन्मूलन। एक का लक्ष्य विश्व के कुछ भागों से ही सम्बन्धित है; दूसरी का सम्पूर्ण विश्व से।

इस प्रकार दूसरी विचारधारा अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एव कल्याणकारी सिद्ध होती है। किन्तु सर्वथा दोषमुक्त नहीं है क्योंकि साध्य महान् होते हुए उसका साधन दोषपूर्ण है। क्रान्ति के द्वारा शान्ति की स्थापना करना भूल है।

इन दोनों विचारधाराओं के पाटों के बीच में पड़ा हुआ मानव समाज पिस रहा है, कराह रहा है एव शान्ति पाने के लिये आकुल है। घायल कुत्ते की भाँति मनुष्य भागता है, चिल्लाता है और एक सुरक्षित स्थान पर बैठकर शान्ति पाना चाहता है किन्तु इन विचारधाराओं की मक्खियाँ उसे पुनः काट कर भागने और चिल्लाने के लिए बाध्य कर देती हैं।

ऐसी अवस्था में जब कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत को

पूर्ण रूप से व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा रहा है, उस राष्ट्र को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, जो कि समन्वयवादी दृष्टिःकोण से संसार के समक्ष प्रस्तुत होगा। किन्तु भारत जो कि अभी एक शिशु स्वतन्त्र देश है, इन कठिनाइयों को जानते एवं सहते हुये भी शान्ति स्थापना के लिए जो प्रयत्न कर रहा है—वह अभी तक सराहनीय ही सिद्ध हुए हैं।

इन प्रयत्नो का प्रमुख श्रेय है भारत की वैदेशिक नीति को। जैसा कि सर्वविदित है सन् १९४७ के पूर्व भारत न तो स्वतन्त्र था और न उसकी निजी कोई वैदेशिक नीति ही थी। यदि यह कहा जाय कि सन् १९४७ तक वह ब्रिटेन के हाथ की कठ-पुतलो मात्र था तो कोई विशेष अतिशयोक्ति न होगी। किन्तु आज भारतीय सविधान भारत को एक 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' घोषित करता है। अपनी स्वतन्त्रता की इस अल्प-कालीन अवस्था में भारतवर्ष ने जो ख्याति उपलब्ध की है वह उसकी वैदेशिक नीति का ही परिणाम है।

भा त की वैदेशिक नीति के दो महान स्तम्भ हैं—एक तो है शान्ति और दूसरा है विश्व बन्धुत्व। प्रागैतिहासिक काल से ही भारत शान्ति का अग्रदूत रहा है। जब अन्य देशों के निवासी अपनी जंगली अवस्था में ही थे तभी से यहाँ का आकाश वेदोच्चारण की ध्वनियों से गूँजा करता था क्योंकि :—

'प्रथम प्रभात उदित तव गगने।
प्रथम सामरव तव तपोवने॥'

—रवि ठाकुर

वैसे तो महात्मा बुद्ध तथा अशोक आदि से भी पूर्व शान्ति स्थापन की भावना का उदय हो चुका था एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' आदि के उपदेश भारतीय भूमि को पवित्र कर रहे थे किन्तु सम्प्रति इस भावना को प्रसारित करने का श्रेय महात्मा गाँधी को दिया जाता है। स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर आज तक भारत के कर्णधारों ने जिस नीति को अपनाया एवं अनेक सफलताएँ प्राप्त की हैं उसे वह सहज में ही नहीं छोड़ सकते—भले ही उन्हें क्षति क्यों न उठानी पड़े।

भारत की वर्तमान् नीति शान्ति और अहिंसा की सुदृढ़ दीवालो पर आधारित है। प्रागैतिहासिक काल के महान् युद्धो से भारत ने यह सीखा है, अनुभव प्राप्त किया है कि शान्ति की स्थापना हिंसा और क्रान्ति से नही प्रेम और सहयोग से हो सकती है। और आज अपने इस अनुभव को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए, औरों को इसका समुचित ज्ञान कराने के लिए वह सतत् प्रयत्नशील है।

भारत युद्ध का विरोधी है। उसे यही भलीभॉति मालूम है कि वर्तमान् समस्याओं का समाधान युद्ध से नहीं वरन् शान्ति से ही सम्भव है। इसीलिए वह उन समस्त राष्ट्रों के विपक्ष मे है जो युद्धात्मक सन्धियों के द्वारा विश्व-शान्ति के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। भारत वहीं तक सबका साथी है जहाँ तक विश्व शान्ति भंग न होने की सम्भावना रहती है। उसकी नीति तटस्थता की है। निलिप्त भाव से वह संसार की दोनो विचारधाराओं को देखता है और समय आने पर क्रियात्मक कार्यों द्वारा दोनो मे समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है, दोनों के दोषों को बतलाता है और शान्ति स्थापन का प्रयत्न करता है। नाटो (N. A. T. O.) सीटो (S. E. A T. O.) तथा बगदाद-पैक्ट आदि का वह विरोधी है और विरोधी केवल इसलिए है कि इन सन्धियों से विश्व शान्ति के भग होने की आशंका है।

यद्यपि भारत तटस्थ है किन्तु 'कोई नृप होई हमैं का हानी' वाली भावना से वह सर्वथा परे है। वह सक्रिय भाग लेकर अन्याय का सदा के लिए अन्त कर देना चाहता है। क्योंकि वह इस बात को भली भॉति जानता है कि न्याय का पक्ष विजयी होने पर ही शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है यदि वह न्याय का पक्ष न लेगा, सर्वथा तटस्थ रहेगा तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय का समर्थन हो जाएगा और तब विश्व शान्ति की स्थापना कदापि सम्भव नहीं हो सकती।

भारत अपनी आन्तरिक समस्याओं का समाधान करने में उतनी सफलता जितनी कि उसके देशवासी आशा करते थे, भले ही न पाई हो, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसे काफी सफलता मिली है। कोरिया की समस्या, जो शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्या में परिवर्तित हो गई थी, के समाधान में भारत ने सन्धि सम्बन्धी जो कार्य किए उनसे विश्व में शान्ति स्थापित करने में

उसने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। अमेरिका और चीन को शान्तिपूर्वक समझौते के लिए राजी करना एवं परस्पर समझौता कराना भारत का ही काम था। भारत के कर्णधारों को इस बात का भलीभाँति ज्ञान है कि विश्व की स्थिति से भारत प्रभावित हुए बिना न रहेगा। अतः वे विश्व की उन सम्पूर्ण सुलगती अथवा प्रज्ज्वलित होती हुई चिनगारियों को 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के उपदेश रूपी शीतल जल से शान्त करने का पयत्न करते रहते हैं।

बाडुङ्ग सम्मेलन भी विश्व शान्ति के लिए किया गया एक सफल प्रयास है। इसमें एशिया के २६ बड़े राष्ट्रों ने सहर्ष भाग लिया था एवं आपसी तनातनी को समाप्त करके शान्ति स्थापन के लिये पंचशील सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

१—कोई भी देश किसी के आन्तरिक मामलो में किसी प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक अथवा सैद्धान्तिक मतभेदों के रहते हुये भी हस्तक्षेप न करेगा।

२—प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता एवं स्वामित्व पर श्रद्धाभाव रखेगा।

३—प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से समानता का व्यवहार करेगा और पारस्परिक सहयोग देगा।

४—कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण न करेगा।

५—प्रत्येक राष्ट्र पूँजीवाद और साम्यवाद के सह-अस्तित्व पर विश्वास रखेगा, जो वर्तमान् शान्ति का मूलाधार है।

भारत ने इसी प्रकार के अनेक प्रयत्न विश्व शान्ति को स्थापित रखने के लिए किए हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ही उसने अनेक देशों—यथा चीन, रूस, मिश्र, पोलैंड, बर्मा, इन्डोनेशिया तथा यूगोस्लाविया आदि—से मित्रता स्थापित की है। किन्तु कतिपय राष्ट्र इन सिद्धान्तों की अब तक अवहेलना कर रहे हैं एव अपनी पूँजीवादिता एवं संहारकारी आविष्कारो की नशा से मदमस्त होकर झूम रहे हैं। किन्तु भारत इन राष्ट्रों से भी मैत्री स्थापित करने का इच्छुक है। वह पारस्परिक समझौते द्वारा ही समस्त समस्याओं का सदा के लिए अन्त कर देना चाहता है, वह यह नहीं चाहता कि मतभेदों के कारण युद्ध हों, भोली जनता पीसी जाय, और किसी विशेष मतावलम्बियों के स्वार्थ की सिद्धि हो।

स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से जो उत्पात हुये एव जिन उत्पातों के होने की सम्भावना थी उनको भी समाप्त करने मे भारत का विशेष हाथ रहा है। यद्यपि इस दिशा की ओर किये गये प्रयत्नों से कुछ राष्ट्र भारत की नीति से सतुष्ट न थे किन्तु उन राष्ट्रों से मित्रता कायम रखने के लिए भारत अन्याय का समर्थन कदापि न कर सकता था। यही कारण है मिश्र की मेहनतकश जनता ने 'नासिर-नेहरू शान्ति के दूत' के नारे लगाकर भारत और मिश्र की मित्रता को और भी सुदृढ़ कर दिया।

भारत सभी देशों की स्वतन्त्रता का समर्थक है। वह सभी राष्ट्रों को उनका अधिकार दिलाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहा है। वह सब की बाते सुनता है और अपनी शान्ति सम्बन्धी नीति की कसौटी पर कसता है तथा उन्हें यदि खरी हुई तो विश्व के समक्ष रखने का प्रयास करता है। अभी कुछ ही दिनों पूर्व भारत ने विश्व के सोलह राष्ट्रों को यू० एन० ओ० में प्रवेश दिलाया है। चीन को भी वह यू० एन० ओ० का सदस्य बनाना चाहता है एवं इसके लिए सतत प्रयत्नशील है।

निःशस्त्रीकरण भी विश्व शान्ति के लिये एक आवश्यक वस्तु है। भारत ने समय समय पर इसके लिये अनेक प्रयत्न किये हैं। वह इन सहारकारी अस्त्रों पर, जो कि आज मानवता के मस्तक पर कलक के समान हैं, प्रतिबन्ध लगा-कर इनके उत्पादन को सदा के लिये समाप्त कर देना चाहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय ही नहीं राष्ट्रीय अथवा आन्तरिक समस्याओं का समाधान भी भारत शान्तिपूर्ण ढग से करना चाहता है और यही कारण है कि काश्मीर की समस्या अभी समस्या ही बनी हुई है। पाकिस्तान अत्याचार पर अत्या-चार करता जा रहा है किन्तु भारत कीचड़ को कीचड़ से नहीं धोना चाहता। वह जानता है कि नमक से नमक को नहीं खाया जा सकता। यद्यपि अन्य दल क्रोध वश हिंसात्मक प्रयत्नों का सहारा लेने की राय देते हैं किन्तु हमारे कर्णधार 'शठे शाठ्यम् समाचरेत्' के सिद्धान्त को नहीं अपनाना चाहते। असख्य हिन्दुओं के बलिदान के पश्चात् भी, कई बार धोखा खाने पर भी, वे तटस्थ नही रहना चाहते। और यही कारण है कि अनेक प्रकार के अत्या-चारों को सहकर भी वे चुप हैं।

रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुलगानिन ने अपनी भारत यात्रा करते समय कहा कि गोआ भारत का अभिन्न अंग है। भारत के अन्य मित्र राष्ट्रों ने भी इसका समर्थन किया किन्तु फिर भी भारत कोई युद्धात्मक कार्यवाही नहीं करना चाहता। वह अपनी नीति को सदा पल्लवित पुष्पित एवं फलित होते देखना चाहता है। उसकी नीति के कारण उसे जो सम्मान मिला है उसे वह भुला नहीं सकता। बहुत कुछ खो कर भी वह अपनी नीति को स्थायी रखना चाहता है। यही कारण है कि देशवासियों के अनेक कटु वचन सह कर भी भारत के कर्णधार सतत् उसी पथ पर वर्धमान गति से चलने में संलग्न हैं जो उन्होंने बहुत पहले से निश्चित कर रक्खा था एवं जिस पर अभी तक वे चले आ रहे थे।

सम्प्रति, विश्व की संत्रस्त जनता की आँखें भारत के ऊपर टिकी हैं। विश्व के समस्त राष्ट्रों का विश्वास है कि भारतवर्ष ही विश्वशान्ति स्थापित करने में समर्थ हो सकेगा। आज विश्व में जो अशान्ति, स्पर्धा एवं असमानता फैली हुई है उसको समाप्त करके समता एवं शान्ति की स्थापना करना ही भारत का उद्देश्य है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यदि भारत को पं० नेहरू ऐसे नेता मिलते रहे एवं वह अपनी वर्तमान् नीति पर स्थिर रहा तो निश्चय ही वह अशान्ति के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके शान्ति-स्थापना के महान् उद्देश्य में सफल हो सकेगा।

———

परमाणु शक्ति का मानव कल्याण में योग

बीसवीं शताब्दी का वर्तमान् युग बहुत कुछ वैज्ञानिक आविष्कारों पर निर्भर करता है। मानवीय जीवन का प्रत्येक पहलू वैज्ञानिक नियमों से अनुप्राणित है। 'विकास की अनन्त सीढ़ियों को लाघता हुआ मनुष्य आज जिस धरातल पर खड़ा है वहाँ से उनका लोक, जिन्हें देवता कहते हैं, बहुत दूर नही है।' आदिम अवस्था से ही मनुष्य की यह इच्छा थी कि वह पक्षियों की तरह आकाश मे विचरण करें, मछलियों की तरह पानी मे तैरे तथा दूर बैठे हुए स्वजनों से बातचीत करे। समय आया, उसकी इच्छाये पूरी हुईं तथा वह समस्त जीवधारियों से उन्नत गिना जाने लगा। कारण यह था कि अन्य जीव प्रकृति प्रदत्त शक्तियों पर ही निर्भर रहे वहाँ मनुष्य ने अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग किया, प्रकृति के अनेक रहस्यो का उद्घाटन किया तथा उस पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ हुआ।

किसी भी वस्तु के दो पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा असुन्दर। प्रत्येक वस्तु मे इन गुणों का होना अवश्यम्भावी है। न तो कोई वस्तु निरा अच्छी हो सकती है और न नितान्त बुरी। जो वस्तु एक दृष्टिकोण से अच्छी ठहरती है वही दूसरे दृष्टिकोण से बुरी भी हो सकती है। उन वस्तुओं के अन्तर्गत विज्ञान भी आता है अतः विज्ञान के विषय में भी यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हो चुकी है। अपनी अनेक अच्छाइयों के साथ विज्ञान अपने मे अनेक बुराइया भी लिए है। यदि एक ओर वह मनुष्य के सुख एव शाति का साधन बना हुआ है तो दूसरी ओर अशान्ति एव विनाश का कारण भी सिद्ध हो चुका है। जैसा कि सर्वविदित है समाज को दो वर्गों मे विभाजित करने का अधिकाश श्रेय विज्ञान को ही है। इसी ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया है तथा इसी ने गरीब श्रमिको का खून चूसा है!

अनेक आविष्कारों के साथ-साथ एक अद्‌भुत आविष्कार हुआ और वह है परमाणु शक्ति का आविष्कार। परमाणु अभी तक पदार्थ का वह छोटा से छोटा अंश माना जाता था जिसका विभाजन सम्भव न हो। किन्तु अभिनव विज्ञान ने इस असम्भव को भी संभव कर दिखाया है। तथाकथित विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन परमाणुओं के भी अश हो सकते हैं। इसी आधार पर शक्ति का उत्पादन करने के सफल प्रयत्न किये ज रहे हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक वर्ग इञ्च स्थान की पूर्ति के लिये लगभग एक मील के परमाणुओं को साथ-साथ रखना आवश्यक हो जाता है एवं ये परमाणु तब इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि एक पौंड यूरेनियम के परमाणु ही तोड़ डालने पर १५०० टन कोयले से प्रात होने वाली शक्ति सहज में ही प्रात हो सकती है।

इस शक्ति का प्रयोग ही संहार अथवा निर्माण का कारण होता है। कहावत है कि 'There is nothing good or bad in the World but thinking makes it so; परमाणु शक्ति अपने आप में न तो अच्छी है और न बुरी। उसकी अच्छाई या बुराई तो उसके प्रयोग पर निर्भर करती है।

हीरोशिमा और नागासाकी की बरबादी परमाणु शक्ति के संहारात्मक प्रयोग के दो ज्वलन्त उदाहरण हैं। दो ही अणुबमों ने तथाकथित नगरों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। बड़े-बड़े भवन, सुन्दरतम् प्रासाद, वन-उपवन तथा मीलों की भूमि क्षण मात्र मे नष्ट हो गई। कई वर्षों तक तो वहाँ की भूमि पर कोई भी फसल नहीं उगाई जा सकी। वहाँ का एक भी मानव सुरक्षित नहीं रह सका। अधिकांश तो काल के गाल में चले गये, जो बचे वे भी रुग्ण थे। आज भी जापानी संतानें हृष्ट-पुष्ट नहीं उत्पन्न होतीं, जिसका एक मात्र कारण अणुबम का प्रयोग ही है। इसका प्रयोग पीढ़ी दर पीढ़ी तक को प्रभावित करता है।

आदिम अवस्था से ही मनुष्य अपनी रक्षा तथा शत्रुओ के विनाश के लिये अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करता आ रहा है किन्तु आज का सभ्य समाज तो मानवता को ही समाप्त कर देने पर तुला हुआ है। अणुबम के

आगे भी वह उद्जन बमों तक पहुँच चुका है। शक्ति सकलन की प्रवृत्ति में अभी तनिक भी कमी नही आई। नित्यप्रति नवीन खोजें ज री हैं। एक देश दूसरे देश को निगल जाना चाहते हैं, मानवता को पृथ्वी से उच्छिन्न कर देने पर तुले हुये हैं। वे इन सहारक अस्त्रों का प्रयोग कर विधाता की सृष्टि को ही समाप्त कर देना चाहते हैं। ध्यान देने की बात तो यह है कि आज के राजनीतिज्ञ एवं वैज्ञानिक अब भी शक्ति की खोज में सलग्न है। इस वैज्ञानिक युग का अवसान क्या होगा कुछ पता नहीं चलता। वैज्ञानिकों ने यह अनुमान लगाया है कि एक ही उद्जन बम के प्रयोग से कई देशो को प्रभावित किया जा सकता है।

स्मरण रहे कि उद्जन एवं परमाणु शक्ति के रहस्य से आज कई देश अवगत हैं। अमेरिका इगलैंड और रूस सभी अपने-अपने बमों के बल पर ही इतरा रहे हैं। इन बमों के निर्माण मे करोड़ों रुपया व्यय हो रहा है जब कि अधिकाश जनता रोटी और कपड़े के लिये तरस रही है। बहुत कुछ विश्वास है कि यदि तृतीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया तो इन बमों का प्रयोग अवश्य होगा और इनके प्रयोग से मानव सस्कृति के इतिहास में एक ऐसा पृष्ठ जुड़ेगा जिस पर आने वाली पीढ़ियाँ धिक्कारे बिना न रहेंगी।

हीरोशिमा और नागासाकी के दृश्य देखकर तथा उद्जन बमों के प्रलय की स्थिति की कल्पना करके आज अनेक देश समझौते द्वारा अनेक समस्याओं का हल खोज रहे हैं। भारतवर्ष इन देशो का अग्रदूत है। भारतीय नेतागण प्रत्येक प्रश्न का हल शान्तिपूर्वक करना चाहते हैं। सम्प्रति विश्व के शान्ति-प्रिय नागरिकों तथा देशों की पुकार है कि तथाकथित संहारात्मक अस्त्रों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। परन्तु खेद की बात है कि कुछ स्वार्थी राजनीतिज्ञ अपने हितों की साधना के लिए परमाणु शक्ति सम्बन्धी प्रयोगों को चालू रखना चाहते हैं। उनका तर्क है कि यदि सभी राष्ट्रों के पास आणविक अस्त्रो का एक संतुलन स्थापित हो जाय तो कोई भी राष्ट्र इन अस्त्रों का प्रयोग करने का साहस ही न करेगा। इस तर्क पर आज का सभ्य मानव हँसे बिना न रहेगा। क्या कीचड़ से कीचड़ को धोया जा सकता है? उसके लिए शुद्ध जल चाहिये। और फिर ऐसा संतुलन होना ही कठिन

है और यदि एक बार हो भी जाय तो उसका स्थिर रहना तो और भी सन्देह-जनक है।

अमेरिका के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री ट्रूमन ने परमाणु शक्ति पर अपना विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि "परमाणु शक्ति का युग या तो सर्वनाश का युग होगा और या फिर शक्ति का यह नवीन स्रोत मानवीय श्रम की मात्रा मे बहुत कमी कर देगा !" आज के वैज्ञानिक उनके तथाकथित शब्दों के उत्तरार्ध को सत्य करने मे सलग्न हैं। यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि परमाणु शक्ति अपार शक्ति को अपने में समाए हुये है और इसके सहारात्मक प्रयोगों द्वारा भी इसकी शक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है। अतः अब इस शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाकर मानवीय श्रम की बचत का उपाय सोचा जा रहा है। कहीं-कहीं तो इस दिशा मे आशातीत सफलता भी मिल चुकी है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है केवल एक पौंड यूरेनियम के परमाणु तोड़ने पर १५०० टन कोयले से प्राप्त होने वाली शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। अभी तक यह सन्देह था कि कोयला एवं जल आदि शक्ति के उत्पादकों के समाप्त होने पर शक्ति का उत्पादन स्यात् न हो सके किन्तु आज यह सन्देह दूर हो गया है। आशा है कि कुछ ही दिनों मे परमाणु शक्ति को रचनात्मक कार्यों मे लगाकर मनुष्य सुख एवं शान्ति का जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकेगा।

सर्वप्रथम रूस ने इस दिशा की ओर सफल प्रयास किये हैं। रूस के साइ-बेरिया प्रान्त की अनेक नदियाँ उत्तरी ध्रुव की ओर प्रवाहित होती थीं एव वर्ष के अधिकाश महीनों मे उनका पानी जमा रहता था जिससे उसका किसी भी प्रकार उपयोग न हो पाता था किन्तु रूसी वैज्ञानिकों ने परमाणु शक्ति के सहारे उनकी दिशा ही पलटने का सफल प्रयास किया एव वे नदियाँ आज कितनों को जीवन दान दे रही हैं तथा रूस को और भी समृद्धि-शाली बना रही हैं। गोबी एवं साइबेरिया प्रदेश का उपजाऊ होना इन नदियों की दिशा के परिवर्तन का ही परिणाम है।

औषधि-क्षेत्र में भी इस शक्ति का सदुपयोग किया जा रहा है। घातक रोगों के निदान अथवा उपचार के लिये परमाणु शक्ति बहुत ही लाभ-

प्रद सिद्ध हुई है। हर्ष की बात है कि अमेरिका, इगलैंड और भारत भी इस दिशा की ओर सराहनीय प्रयत्न कर रहे है। भारत सरकार ने तो बम्बई में एक संस्था की स्थापना की है जिसकी रिपोर्टें एवं कार्य अभी तक बहुत उपयोगी सिद्ध हुये हैं।

इतना होते हुये भी अभी इस दिशा में बहुत कुछ करने को शेष है। शान्ति की स्थापना एवं विनाशकारी यन्त्रो पर प्रतिबन्ध करना आज के युग की पुकार है। अतः सभी राष्ट्रों को चाहिये कि वे अपनी हठवादिता को छोड़कर शान्तिप्रिय देशों से सम्पर्क स्थापित करें तथा मानव कल्याण में हाथ बँटावें।

भारत में नागरिक स्वतन्त्रता

हर सभ्य देश व्यक्तिगत अधिकार और नागरिक स्वतन्त्रता पर आधारित होता है। ससार मे सभ्यता के उदय होने के बहुत पहले नागरिक का कोई अधिकार नहीं था और न तो कोई उसकी स्वतन्त्रता थी। हर व्यक्ति स्वयं में एक विधान था और अपनी शारीरिक तुष्टि करके संतोष करता था। उसे अपनी इच्छाओं से ही प्रयोजन था। दूसरे के अधिकार और स्वतन्त्रता से उसका कोई तात्पर्य नहीं था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य की हत्या तक कर देने मे उसे कोई हिचक नहीं थी। किन्तु सभ्यता के उदय के साथ मनुष्य में सहयोग, सद्भावना तथा सहानुभूति की किरणें उदित हुईं। सहयोग और सभ्यता मे सर्वप्रथम 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता और व्यक्ति के अधिकार पर ध्यान दिया गया।

और वही नागरिक स्वतन्त्रता का आधार बिन्दु है। भारत में अंग्रेजी राज्य के काल मे नागरिक स्वतन्त्रता का कोई प्रश्न ही नहीं था। नागरिक बिना किसी विशेष कारण के बन्दी बना लिये जाते थे और उन्हें रक्षा का अवसर तक नहीं दिया जाता था। इस बर्बर व्यवहार का कारण यह बताया जाता था कि जनता देश-द्रोही थी। तत्कालीन सरकार शोषण और दमन के लिये अवसर और बहाना ढूंढने के लिये तरह तरह के हिंसक विधान पास किया करती थी। किन्तु भारत अपना शासन स्वयं करता है और उसने अपनी नागरिकता के अधिकार पुनः प्राप्त कर लिये हैं।

इन अधिकारों को नागरिक अधिकार इसलिये कहते हैं कि ये अधिकार युद्ध के समय मे छीन लिये जाते हैं। नागरिक अधिकार उन नागरिकों के अधिकार होते हैं जो स्वयं सेना में सम्मिलित नहीं होते। किन्तु युद्ध हर समय नहीं हुआ करते इसलिये नागरिक-स्वतन्त्रता हर काल में हर व्यक्ति और हर वर्ग का समान अधिकार है।

मनुष्य का कुछ स्वभाव ही ऐसा है कि वह हर समय में और हर देश में शाति के साथ नहीं रह सकता। इंग्लैंड के एक दर्शन-शास्त्री हाब्स का भी यही कहना है कि मनुष्य स्वभावतः कलहप्रिय है और यदि हर व्यक्ति को अलग अलग जीवित रहने का अधिकार न दिया जाये तो मनुष्य फिर अपनी हजारों वर्ष की जंगली जिन्दगी बिताना आरम्भ कर देगा। अतः समाज मे थोड़ा बन्धन और विधान आवश्यक हैं।

अतः नागरिक स्वतन्त्रता कोई विशेष स्वतन्त्रता नहीं बल्कि यह विधान-युक्त बन्धन है। यह मत फ्रांस के एक राजनीतिवेत्ता रूसो का है। किन्तु आधुनिक काल में न केवल भारत प्रत्युत सम्पूर्ण संसार में रूसो का मत अमान्य हो चुका है। मनुष्य की वास्तविक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मार्ग इसी वैधानिक बन्धन से होकर गुजरता है। भारत के शासन विधान में भारतीय नागरिक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (जिसे हम 'नागरिक स्वतन्त्रता' कहते हैं) की व्याख्या "भारतीयों के मौलिक अधिकार" नामक लेख मे की गई है। उसके अनुसार नागरिक की मुख्य स्वतन्त्रतायें निम्न हैं—(१) मनन, चिन्तन, भाषण और प्रकाशन की स्वतन्त्रता। (२) सभा समाज अथवा सम्मेलन की स्वतन्त्रता का अधिकार। (३) व्यक्तिगत रक्षा का अधिकार। (४) अपने जान, माल और धन की रक्षा का अधिकार।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि भारतीय शासन विधान ने भारतीय नागरिक को ये अधिकार दिये हैं एव नागरिक स्वतन्त्रता और कुछ नहीं बल्कि इन्हीं अधिकारों को सक्रियता प्रदान करने की स्वतन्त्रता है। अमेरिका के विख्यात राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इन अधिकारों को स्वतन्त्रता के नाम से पुकारा है और इन्हें निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त किया है : (१) धर्म की स्वतन्त्रता (२) भाषण की स्वतन्त्रता (३) भय से रहित रहने की स्वतन्त्रता (यहाँ पर चोर डाकुओं के भय की ओर सकेत है) तथा (४) हीनता से रहित रहने की स्वतन्त्रता। किन्तु रूजवेल्ट का यह वर्गीकरण अब अधिक वैज्ञानिक नहीं माना जाता।

ये स्वतन्त्रता नागरिक के मौलिक अधिकार हैं जिन्हें देने के लिये हर देश बाध्य है। इन अधिकारों का दुष्प्रयोग भी हो सकता है अतः हर राज्य

नागरिक को उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देते समय अपने हाथ में भी कुछ अधिकार रखता है ताकि इन अधिकारों का दुष्प्रयोग करनेवालों को वह दण्ड दे सके। भारत ने भी अपने नये शासन विधान में अपने हाथ में कुछ ऐसे अधिकार रखे हैं, जिनकी बहुत आलोचना भी हुई है। किन्तु नये भारत के लिये यह बहुत आवश्यक था। सभव था कि सदियों की दासता से उन्मुक्त भारतीय मनुष्यता नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकारों का दुरुपयोग करती। अतः उसके दमन के लिये मार्ग छोड़ रखना आवश्यक था। हिन्दू कोड विधेयक और प्रेस विधेयक भारत की नागरिक स्वतन्त्रता में सरकारी हस्तक्षेप का एक जीता-जागता उदाहरण है। अभी हाल ही में पास किया चतुर्थ संशोधन विधेयक भी नागरिक-स्वतन्त्रता में बहुत दूर तक हस्तक्षेप करता है। इस विधेयक के अनुसार जन हित के नाम पर किसी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति को छीन सकती है। सरकार को इसका उचित मुआवजा देने को वाध्य नहीं किया जा सकता। याद रखना होगा कि इस विधेयक के पश्चात् नागरिक को अपनी सम्पत्ति की रक्षा का अधिकार नहीं रह जाता है। नागरिक स्वतन्त्रता में सरकारी हस्तक्षेप अनुचित नहीं किन्तु इस सीमा तक हस्तक्षेप करना अवश्य ही चिन्त्य है। यहाँ जनता का कर्त्तव्य हो जाता है कि सम्मिलित सहयोग से विधान निर्माताओं को जनहित के नाम पर मनमानी करने से रोके।

———

प्रथम पंचवर्षीय योजना

शताब्दियों से परतन्त्रता की शृङ्खला में बन्दी भारत आज मुक्त हो गया। परन्तु इसकी स्वाधीनता के चरम लक्ष्य की सफलता जन-जन के सुख एवं सपन्नता मे निहित है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा का पूर्ण विकास तभी कर सकता है जब कि उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियाँ सुदृढ़ हों, साथ ही उसके जीवन का स्तर भी ऊँचा हो जिससे वह दरिद्रता एवं वेकारी के भयङ्कर अभिशाप से मुक्त हो सके।

गत दो महायुद्धों के पश्चात् भारत की आर्थिक स्थितियों में ऐसे विचित्र परिवर्तन हुये जिसके फलस्वरूप भारत मे दरिद्रता ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। धनी वर्ग की अपेक्षा कृषकों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय होती गई, उन्हें अन्न के दानों के लिए तरसना पड़ा, इसका परिणाम यह हुआ कि न जाने कितने व्यक्ति असमय ही काल के गाल में चले गये। आज राष्ट्र के सम्मुख भी यही समस्या उपस्थित है जिसका उसे निवारण करना है, हल निकालना, और उसके लिए योजनाएँ कार्यान्वित करना है। संसार के अनेक समृद्ध एवं सभ्य देशों में वैभव, संपन्नता, समानता तथा सब को समान सुविधाएँ प्रदान करने के लिए अनेकों योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इन योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र के समस्त उत्पादनों का तथा सामाजिक सगठनों की बिखरती शक्तियों को एकत्रित करना है, साथ ही एक निश्चित दिशा मे अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहन देना है और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय का पूर्णरूपेण पालन करना है। सन् १९४९ में पंडित नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना कमीशन का निर्माण किया गया, जिसमे इस बात का आदेश दिया गया कि वह पूँजी तथा मानव-साधनो के सतुलित

उपयोग के लिये एक योजना का निर्माण करें। फलस्वरूप योजना कमीशन ने जुलाई सन् १६५१ में पञ्चवर्षीय योजना प्रस्तावित की। इस प्रथम पञ्चवर्षीय योजना का कार्यकाल १६५१-५२ से १६५५-५६ तक है। इस योजना में सर्वप्रथम स्थान कृषि को ही दिया गया है। कृषि की उन्नति के लिये सिंचाई, खाद तथा वर्तमान् खोजों से प्राप्त नये ढङ्ग के यन्त्र आदि साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये भी कई करोड़ रुपयों का प्रबन्ध किया गया है। अनुमानतः २,०६६ करोड़ रुपया कृषि, सिंचाई, शक्ति और यातायात तथा उद्योग के साधनों पर व्यय किया जायगा। वित्त के साधनों में आन्तरिक साधनों से १२५८ करोड़, विदेशी ऋणों से १५६ करोड़ घाटे की बजट से २६० करोड़ तथा घाटे की ३६५ करोड़ रुपये का प्रबन्ध किया गया है। इस प्रकार पञ्चवर्षीय योजना के लिये १६३ करोड़ रुपये की नितांत आवश्यकता है। जिसमें से ७६४ करोड़ केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा ७५६ करोड़ राज्य की सरकार द्वारा प्राप्त होगा। लगभग ३००-३५० करोड़ रुपये की आवश्यकता अन्तर्राष्ट्रीय धन राशि से पूर्ण होगी। अन्तर्राष्ट्रीय धन योजना द्वारा चलाये गये उद्योगों के विकास के लिए व्यय किया जायेगा। भारत एक कृषि प्रधान देश है इसलिये इस योजना में कृषि तथा आधार रक्षा और भारी उद्योगों को ही विशेष महत्व दिया गया है। पूरे बजट का ४० % प्रतिशत इसके लिए सुरक्षित है। शान्ति के लिये ५६१ करोड़ की व्यवस्था की गई है। भविष्य में इसकी और भी वृद्धि होने की संभावना है।

योजना के मूल उद्देश्य :—

(१) राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न करेगा जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय का पूर्ण पालन हो।

(२) सभी नागरिक को चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, समान रूप से पर्याप्त जीवन-निर्वाह के साधन उपलब्ध कराने के प्रयत्न किये जाएँ एव उनको विकास का समुचित अवसर दिया जाय।

(३, आर्थिक प्रणाली की कार्य-व्यवस्था, धन एवं उत्पत्ति के साधनो में केन्द्रीयकरण के द्वारा कोई ऐसा असंतुलन न उत्पन्न कर सके जिससे समाज के हित में आशंका हो।

(४) समाज के भौतिक साधनो के स्वामित्व का ऐसा संतुलित प्रबन्ध किया जाय जो सामूहिक हित कर सके।

योजना में प्राथमिकता का क्रम :—

(१) इस योजना के अन्तर्गत शरणार्थी तथा बेघरबार वालों के लिए पुनर्वास का प्रबन्ध सबसे पहले करना।

(२) कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरी करने वाली उद्योग प्रणालियों के समुचित विकास पर ध्यान देना।

(३) सिंचाई और शक्ति उत्पादन करके खाद्य एवं कच्चे माल के उत्पादन की वृद्धि।

(४) भौतिक एव शिल्प साधनों के विकास में योग देने वाली योजनाओं की पूर्ति करना। साथ ही रोजगार तथा उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने वाले उद्योगों को प्रोत्साहन देना।

(५) लोहा, इस्पात, भारी रासायनिक पदार्थ आदि का उत्पादन करने वाले आधार भूत उद्योगों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाना।

(६) वर्तमान् औद्योगिक व्यवस्था के उन दोषों को दूर करना जो विभिन्न राज्यों मे आर्थिक अवनति के स्तरों मे अन्तर पैदा कर देते हैं।

योजना-प्रस्ताव के द्वारा पास किये कुल व्यय को सर्वप्रथम आवश्यकतानुसार इस प्रकार विभाजित किया गया है :—

	(रु० करोड़ों में)	सम्पूर्ण धनराशि का प्रतिशत
कृषि तथा ग्राम विकास पर	१६१·६६	१२·८
विद्युत तथा सिंचाई ,,	४५०·३६	३०·२
मार्गों तथा वाहन विभाग,,	३८८·१२	२६·१
उद्योगों ,, ,,	१००·६६	६·७
समाज सेवा के कार्यों पर	२५४·२२	१७·०
पुनर्वास ,, ,,	७६ ००	५·३
विविध ,, ,,	२८ ५४	१·६
कुल	१४६२·६२	१००

इस योजना के अनुसार सर्वप्रथम स्थान कृषि को ही दिया गया है। और कृषि की उन्नति के लिए कुल व्यय का ५० प्रतिशत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रक्खा गया है। सामुदायिक योजनाओं के विकास के लिए भी ६० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है उसके अतिरिक्त तीन-चौथाई भाग रेलों की उन्नति के लिए व्यय किया जायगा। क्योंकि यातायात के साधनों की सुगमता पर ही देश का काय-व्यापार-विकास एवं उन्नति निर्भर है। अतः देश के उपलब्ध साधनों से पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए आने जाने के मार्गों को उन्नतिमय बनाना नितात आवश्यक है। देश के विकास मे रेलों का महत्वपूर्ण स्थान है। उद्योग धन्धों के विकास का कार्य जनता के व्यक्तिगत साहस पर छोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त, विद्युत पैदा करने में, उत्पादन के साधनों के पूर्ण विकास में ग्रामीण उद्योगों की उन्नति करने आदि में सरकार विशेष सहायता देगी। किन्तु पंचवर्षीय योजना की सफलता जनता के सहयोग पर निर्भर है।

योजना पर आलोचनात्मक दृष्टि—पंचवर्षीय योजना मे गुणों के साथ साथ दोषो का भी अभाव नहीं। इसके अन्तर्गत अनेकों ऐसी बातें हैं जो दोषपूर्ण हैं। उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

वास्तव में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जिन बातों का अभाव है उन्हें भी बहुत व्यापक रूप दिया गया है। न तो इसके निर्माताओं ने आर्थिक विकास के नियमों को ही सुचारु रूप से समझा और न आर्थिक प्रणाली के नियम मानव समाज की प्रगति के नियमों की कार्यवाहकता के समुचित अनुमान पर ही आधारित हैं। इस योजना का दूसरा दोष यह है कि इस योजना में अर्थ-व्यवस्था के मूल पहलुओं के विषय में भी कोई निश्चित सूचनाएँ नहीं हैं। तीसरा दोष यह है कि इस योजना के अन्तर्गत दीर्घकालीन योजना को विशेष महत्व दिया गया है जो किसी भी रूप में विशेष लाभप्रद नही बहुधा हानिकारक ही सिद्ध होती है। इस योजना को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों ही प्रकार की योजनाओं को एक साथ कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। साथ ही इसके संचालन के लिए विश्वसनीय शासन और समन्वय प्रणाली का होना भी अनिवार्य है। नदी घाटी योजनाओं का कार्य संचालन भी विशेष रूप से संतोषजनक नहीं रहा। योजना का सबसे बड़ा और अन्तिम दोष यह है कि इससे लोक और निजी

क्षेत्रों के भेद का स्पष्टीकरण नही हुआ है। निजी क्षेत्रों के कार्य संचालन के विषय मे संकेत ही नही किया गया। योजना में वितरण संबन्धी विवेचना पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इस योजना का मूल उद्देश्य केवल युद्ध के पूर्व के आर्थिक स्तर को स्थापित करना ही है। जिसके अनुसार योजना मे कृषि सिंचाई तथा लोक उद्योगों को अत्यधिक महत्व देकर उत्पादित अतिरिक्त आय का अधिकाश ग्रामीण अथवा निर्धन वर्ग को ही प्राप्त होगा।

अन्त मे पचवर्षीय योजना की इस दोषयुक्त प्रणाली द्वारा योजना में नियोजित उन उद्देश्यो का सफल होना सभव नही जो आर्थिक दृष्टिकोण से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। इस योजना के कार्यवाहन से मुद्राप्रसार में तो वृद्धि होगी साथ ही आर्थिक विषमतायें और भी अधिक जटिल रूप धारण कर लेगी। इसीलिए योजना निर्माण करने वालो को कृषि और उपभोग की वस्तुओ व पूँजी के उत्पादन के बीच औचित्य एवं अनौचित्य का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक था। इस रूप मे भारत की आर्थिक पहलुओं की उपेक्षा करके कार्यान्वित की जाने वाली किसी भी योजना द्वारा भविष्य मे सफलता की सभावना नही हो सकती। अतः हमारा परम कर्तव्य है कि हम इसकी दोष-विवेचन की पद्धति पर विशेष ध्यान न देकर समाज सेवा, परोपकार एवं त्याग की भावनाओं को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाकर सहयोग की भावना से ओत-प्रोत होकर इस कार्य भार का पूर्णतया निर्वाह करें और राष्ट्ररचना के इस कार्य मे अधिक से अधिक सहयोग दें। तभी हममें एक नवीन जागृति, एक नया उत्साह तथा आत्मनिर्भरता आयेगी तथा हम अपनी अन्य योजनाओ को शीघ्रतापूर्वक सफल बनाने मे समर्थ हो सकेंगे। यह योजना राष्ट्र के समस्त कार्यों का समन्वय है जिससे राष्ट्र के समस्त व्यक्ति का जीवन प्रभावित होता है चाहे वह ग्रामीण हो अथवा नागरिक।

——

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य थे – कृषि तथा खाद्य स्थिति में सुधार करना, कच्चे माल के अभाव को दूर करना तथा चीजों के भावों को गिराकर मुद्राप्रसार में स्थिरता लाना। इस योजना को क्रियात्मक रूप देकर सरकार ने हमारी समस्याओं का जो समाधान निकाला है वह स्तुत्य है। पिछले चार वर्षों में ही हमारी अर्थ व्यवस्था बहुत कुछ सुधर गई है। मुद्राप्रसार में स्थिरता आ गई है। तथा खाद्य सामग्रियो के उत्पादन में लगभग २७ प्रतिशत की वृद्धि हो गई है। कच्चे माल की अब कमी नहीं है, सिंचाई का क्षेत्र १ लाख ७० हजार एकड़ और बढ़ गया है तथा कारखानों का उत्पादन पहले से ४१ प्रतिशत आगे हो गया है।

वास्तव में प्रथम पंचवर्षीय योजना देश के सन्मुख एक नमूने के रूप मे आयी थी। वह ऐसी नींव थी जिस पर कि अन्य योजनाओं के विशाल भवनों को सरलतापूर्वक खड़ा किया जा सके। यही कारण है कि उसकी आंशिक सफलता से ही प्रभावित होकर भारत के नागरिक द्वितीय पंचवर्षीय योजना का हृदय से स्वागत कर रहे हैं। प्रथम योजना में खाद्य सामग्री एवं कच्चे माल की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया था। किन्तु द्वितीय योजना मे भारत के औद्योगिक विकास पर बल दिया जा रहा है। प्रथम योजना मे जो अभाव थे उन्ही की ओर संकेत करते हुए श्री देशमुख ने अलंकारिक भाषा में कहा था कि—"तस्वीर में कुछ धब्बे भी हैं और धब्बों का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि तस्वीर बहुत बड़ी बन रही है।" प्रथम योजना से देश की प्रमुख समस्या का संतोषजनक हल तो दूर रहा, आंशिक समाधान भी सम्भव नहीं हुआ। इसी समस्या को ध्यान मे रखते हुए पडित नेहरू ने राष्ट्रीय विकास परिषद् की द्वितीय बैठक में सभापति के पद से कहा था

कि "योजना के क्षेत्र में हमने काफी प्रगति की है परन्तु याद रखिए कि पिछले वर्षों में जितना काम हुआ है, बेरोजगारी को दूर करने के लिए वह काफी नहीं है।"

उक्त अभावों को दूर करने एवं देश के रहन-सहन का मान दण्ड ऊँचा उठाने के लिए ही द्वितीय पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया है। यह योजना पहली अप्रैल सन् १६५६ से लागू हो गई है। योजना के प्रमुख उद्देश्य हैं :—

१—अधिकतर उत्पादन।

२—अधिकाधिक रोजगार।

३—आर्थिक विषमता का अन्त।

इस योजना का दृष्टिकोण भौतिक है। देशवासियों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करके देश को समृद्धिशाली बनाना ही इसका परम लक्ष्य है। इस योजना का अवधि के भीतर ही विकास कार्य की गति को तीव्रतर बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया जा रहा है जिससे गरीबों और बेकारी की समस्या का शान्तिपूर्वक समाधान किया जा सके। इस योजना के अन्तर्गत यह अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की आय मे कितनी वृद्धि की जाय कि वह खाना, कपड़ा, मकान, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलतापूर्वक कर सके। यद्यपि पिछले चार वर्षों में हमारे देश ने अन्न उत्पादन की दिशा मे प्रर्याप्त प्रगति की है किन्तु जहाँ तक संतुलित भोजन का प्रश्न है, इसमे कोई सतोषजनक सुधार नही हुआ है। यहाँ दूध, घी, मास, मछली, अण्डा, फल, बनस्पति तथा चर्बीयुक्त पदार्थों का अभाव अब भी जैसे का तैसा ही है। भारत मे प्रत्येक व्यक्ति औसतन १५ गज कपड़ा प्रति वर्ष पहनता है जब कि मिश्र के प्रत्येक व्यक्ति का औसत वस्त्र १८ गज एवं वेस्ट इन्डीज का २२ गज है। हमारे देश की वस्त्र जाँच समिति ने सिफारिश की है कि सन् १६६० तक प्रति व्यक्ति कपड़े की खपत कम से कम १८ गज हो जानी चाहिये। नगरों मे मकान की जो कमी है उनकी पूर्ति के लिये इस योजना के अन्तर्गत ३० लाख नये मकानों के निर्माण का अनुमान लगाया गया है। इस योजना से शिक्षा

सम्बन्धी सुधार भी किये जायेंगे। इस योजना मे ६० प्रतिशत विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है जब कि सन् १६५०—५१ में यह प्रतिशत केवल ३२ था। स्वास्थ्य-सुधार के लिये भी अस्पतालों, डाक्टरों, नर्सों तथा सेवा सहकारियों की संख्या में वृद्धि कर देने की योजना बनाई गई है।

भारतीयों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के लिये राष्ट्रीय आय के प्रतिशत मे वृद्धि होना आवश्यक है। यह अनुमान है कि इस योजना की अवधि के भीतर ही राष्ट्रीय आय मे लगभग २५ प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी। यह अनुमान केवल कोरी कल्पना नहीं है क्योंकि हमारे पास प्राकृतिक साधनों एवं जन शक्ति का अभाव नही है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से देशवासियो के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जायेगा। योजना की अवधि में ही विनियोग की दर लगभग ११ प्रति शत हो जायगी एवं प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा १२, १३ प्रतिशत चढ़ जायगी।

भारतीयों के आर्थिक जीवन की जड़ों को शक्तिशाली बनाने के लिये भारत के औद्योगिक विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है। लोहा, इस्पात, खनिज, मशीनो, बिजली के सामानों तथा मूल रसायनों के उद्योग पर इस योजना मे पर्याप्त व्यय किया जायगा। यद्यपि कृषि के विकास की आवश्यकता आज भी उतनी ही है जितनी कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में थी किन्तु फिर भी बेरोजगारी का विनाश करके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिये इस योजना ने उद्योगों के विकास पर ही अधिक बल दिया है।

इस योजना का द्वितीय एवं महान् उद्देश्य बेकारी को दूर करके अधिकाधिक रोजगार के अवसर प्रदान करना है। यह कोई बहुत सरल कार्य नहीं है क्योंकि भारत की जन-सख्या में प्रति वर्ष ४५ लाख एवं बेरोजगारियों की सख्या में प्रतिवर्ष १८ लाख की वृद्धि हो जाती है। इस योजना की कच्ची रूप-रेखा के प्रस्तुतकर्ता श्री महलनिबीस के अनुसार 'रोजगार बढ़ाने के विषय मे हमारी मूल नीति यह होगी कि लोहा, इस्पात, मूल मशीन, रासायनिक खाद, बिजली, सिंचाई और रेल आदि सरकारी क्षेत्र

के मूल उद्योगो पर बहुत सा धन खर्च किया जायगा और स्वास्थ्य, शिक्षा, अनुसंधान, समाज कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, सास्कृतिक कार्यो और खेल कूद आदि विकास कार्यों पर भी व्यय बढ़ेगा। इन सबसे रोजगार की वृद्धि होगी, क्रयशक्ति बढ़ेगी और चीजों की माग बढ़ जाएगी। यह मॉग बड़े-बड़े कारखानो द्वारा नही वरन् छोटे और घरेलू उद्योग धन्धों से पूरी की जाएगी।"

इस योजना के अन्तर्गत मूल उद्योगो पर अधिक बल दिया जायगा। इसी दृष्टिकोण के कारण इस योजना में केवल तीन ही इस्पात के कारखानो के खोलने का निश्चय किया गया है। भारत में लोहे की कमी नहीं है। यहाँ के घरेलू उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देकर उन्हें पर्याप्त मात्रा में बिजली तथा आधुनिक मशीनों की सुविधा दी जायगी जिससे कारीगरों की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होने से देश समृद्ध हो सके।

जैसा कि सर्वविदित है कि अब देश ने समाज को समाजवादी रूप देने के आदर्श को अपनाया है। काग्रेस ने इस ध्येय को स्वीकार कर लिया है। तदर्थ आवडी अधिवेशन में प्रस्तावित उद्देश्यों को ही प्रमुखता दी गई है। इन उद्देश्यों के अनुसार सरकार ऐसे समाज की स्थापना करना चाहती है जिसमे :—

क – उत्पादन के प्रमुख साधन राज्य के अधिकार या नियन्त्रण में हों।

ख—उत्पादन की दिनोंदिन वृद्धि हो।

ग—राष्ट्रीय धन का न्यायपूर्ण वितरण हो।

द्वितीय योजना में इन लक्ष्यों की पूर्ति का भरसक प्रयत्न किया जायगा। द्वितीय योजना के सुझावों के अनुसार :—

क—चकबन्दी द्वारा किसान की सम्पत्ति की सीमा निर्धारित कर दी जायगी एव किसानों को सहकारिता के आधार पर खेती करने के लिये प्रोत्साहित किया जायगा।

ख—सरकारी क्षेत्र को नये तथा मूल उद्योगो की स्थापना द्वारा अधिक शक्तिशाली बनाया जायगा एवंमूल उद्योगों पर कड़ा सरकारी नियंत्रण

होगा। जिन उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण संभव न होगा उनके गैर सरकारी क्षेत्र में रहते हुये भी उन पर कड़ा सरकारी नियन्त्रण रक्खा जायगा तथा देश के साधनों का उपयोग नए उद्योगों की स्थापना में किया जायगा।

ग—कर-व्यवस्था इस प्रकार की होगी कि बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय का अधिकाधिक भाग पूँजी निर्माण और समाज-कल्याण के कार्यों के लिये प्राप्त हो सके।

घ—विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन पर कर लगाकर राज्य विलासी वर्ग की विलासिता को दुर्लभ बनाने का भरसक प्रयत्न करेगा। इससे विलासियों में कम खर्ची की आदत पड़ेगी और समाज की असह्य आर्थिक विषमता दूर करने में अधिक सरलता होगी।

ङ—सामाजिक सेवाओं का विस्तार किया जायगा। विद्यार्थियों को उनकी प्रतिभा के आधार पर वजीफे दिये जाएँगे तथा डाक्टरी सुविधाओं को ध्यान में रखकर गाँवों के लिये राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा का प्रतिष्ठान किया जायेगा। साहित्य, संगीत, नाटक, खेल-कूद तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

च—मालिकों एवं मजदूरों के सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित किए जाएँगे जिससे मजदूरों की आर्थिक सुरक्षा हो सकेगी एवं उन्हें उचित मजदूरी मिल सकेगी। उनको रहने, खेल-कूद, मनोरंजन एवं काम सीखने की अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

संक्षेप में लोगों के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करना, रोजगार के अवसर बढ़ाना तथा सामाजिक एवं आर्थिक संतुलन स्थापित करना—ये तीन ही इस योजना के प्रमुख उद्देश्य हैं। श्री गुलजारीलाल नन्दा के शब्दों में—'इनमें से प्रत्येक उद्देश्य अलग से पूरा कर लेना शायद इतना कठिन न हो,

पर हमारा ध्येय तो यह है कि ये तीनों उद्देश्य एक साथ पूरे हों। देश मे समाजवादी ढग की सामाजिक व्यवस्था कायम करने से हमारे प्रयत्न का यही सार है।'

द्वितीय योजना पहली अप्रैल १६५६ से चालू हो गई है। यह ३१ मार्च १६६१ तक चलेगी। इस अवधि में सरकारी एवं गैर-सरकारी क्षेत्रों को मिलाकर कुल ५,६०० करोड़ रुपया व्यय करने का अनुमान लगाया गया है। इसके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र मे ही ६०० करोड़ रुपया और खर्च किया जायगा जिसका उपयोग ग्राम-विकास, शिक्षा आदि राष्ट्र निर्माण के कार्यों पर चालू व्यय के रूप में किया जायगा। व्यय के इन आँकड़ों को देखकर बहुत से लोगों को योजना की सफलता के विषय में सन्देह हो जाता है किन्तु सन्देह करने वाले प्रायः वे ही होते हैं जिन्हें सरकार की आय का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। और यह भी निश्चित नहीं है कि जितना अनुमान किया गया है, उतना व्यय हो ही जायगा। हो सकता है कि प्रथम योजना की तरह इसमें भी व्यय कम हो। यदि सरकार की आय वही रही जो कि वर्तमान् समय में है, तो योजना-अवधि के पाँच वर्षों मे सरकार को ५,२०० करोड़ की आय होगी। इसके अतिरिक्त सरकार को १,००० करोड़ जनता से, ६०० करोड़ कर्ज से, ४०० करोड अल्प बचत योजनाओं से तथा २०० करोड़ रुपया रेलों से प्राप्त होने की सम्भावना है। शेष २,००० करोड रुपये सरकार नये करों से एव विदेशी सहायता आदि के रूप मे प्राप्त करेगी।

रुपया तो प्राप्त हो जायगा किन्तु उसे उचित रूप से व्यय करके योजना को सफल बनाना सरल कार्य नहीं है। योजना की सफलता के लिये जनता का सहयोग एवं सरकार की सावधानी की अत्यन्त अपेक्षा है। योजना की सफलता से ही सामाजिक समृद्धि सम्भव हो सकेगी एव इस समृद्धि से ही भारतीयों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सकेगा। श्री गुलजारीलाल नन्दा ने योजना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुये कहा है कि 'द्वितीय योजना का उद्देश्य रहन-सहन का स्तर उठाना मात्र ही नहीं है, उसका ध्येय भारत में ऐसी लोकतन्त्र व्यवस्था कायम करना है जो हमारी [illegible]

करती हुई हमारे अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित कर सके। सामाजिक न्याय के आधार पर हम ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसके अन्तर्गत व्यक्ति एवं समुदाय को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो।'

द्वितीय योजना से आशाएँ तो बहुत हैं किन्तु ये आशाएँ विश्वास में तभी परिवर्तित हो सकेंगी, जब जनता एव सरकार दोनों पारस्परिक सहयोग के साथ आदि से अन्त तक प्रयत्नशील रहें।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण

किसी भी चीज की एक निश्चित सामा होती है। इस सीमा का अतिक्रमण होने पर जन साधारण अपने प्राणों की परवाह न करके संघर्ष का सूत्रपात करता है एवं उस अतिक्रमणकर्ता को उसके द्वारा किये कार्यों का फल भुगतने के लिए बाध्य कर देता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। एक समय वह था जब साम्राज्यवादियो के सकेत पर ही उपनिवेशों की जनता नाचती थी एवं अपने ही रक्त से साम्राज्यवाद की जड़ को सींचकर सुदृढ़ एव टिकाऊ बनाती थी। किन्तु एक समय यह है जब यह साम्राज्यवाद की, अपने पालित-पोषित की ही धज्जियाँ उड़ाने को प्रस्तुत है। आज विश्व का कोई भी राष्ट्र किसी विदेशी सत्ता के शासन को सहन करने के लिए किसी भी प्रकार तैयार नहीं है। बीसवी सदी के इस युग मे साम्राज्यवाद की जड़ें हिल गई हैं। साम्राज्यवादी देशों के शासन का क्षेत्र दिन प्रतिदिन सकुचित होता जा रहा है। इसका प्रत्यक्ष एवं आधुनिकतम प्रमाण स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा है। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के औचित्य एव अनौचित्य पर विचार करने के पूर्व उसकी स्थिति एवं इतिहास पर विचार कर लेना युक्तियुक्त है।

स्वेज नहर मिश्र की धरती पर निर्मित वह जल मार्ग है जो पश्चिमी एव पूर्वी जहाजो के क्रमशः पूर्व एवं पश्चिम जाने के मार्ग के ४००० मील के चक्कर को बचाता है। इस नहर के निर्मित होने के पूर्व उक्त जहाजो को केपटाउन के मार्ग से होकर सम्पूर्ण अफ्रीका का चक्कर लगाना पड़ता था, इस चक्कर के लगाने मे समय और सम्पत्ति दोनो का ही ह्रास होता था। यह नहर पश्चिमी देशों को पूर्वी देशों में जाने के लिए एक प्रकार से द्वार खोलती है। यह भूमध्यसागर एवं लाल सागर को एक दूसरे से मिलाती है। इसकी लम्बाई १०१ मील, चौड़ाई १९८ फीट एवं गहराई ३४ फीट

के लगभग है। इसमें से विश्व के सभी देशों के जल पोत सरलतापूर्वक निकल सकते हैं।

बहुत दिनों से पश्चिम देश, विशेष कर ब्रिटेन और फ्रास, एक ऐसे जल मार्ग की खोज मे थे जो उनकी साम्राज्यवादी भावना की पूर्ति करने में सहायक सिद्ध होता। ऐसे मार्ग का निर्माण मिश्र की धरती पर ही संभव था क्योंकि भूमध्य सागर एवं लाल सागर के बीच की भूमि पर ही ऐसे मार्ग का निर्माण हो सकता था। किन्तु मिश्री सरकार के द्वारा डाली गई अड़चनों एव उक्त देशो के हितों के परस्पर टकराने के कारण मार्ग का निर्माण नहीं हो पा रहा था। अंत मे फ्रास ही अपने उद्देश्य मे सफल हुआ एवं फ्रांसीसी इजीनियर 'डिसेप्स' को ही इसके निर्माण का श्रेय प्राप्त हुआ। १८ नवम्बर १८६६ मे 'स्वेज नहर' पूर्ण रूप से बनकर तैयार हो गई। मिश्र और फ्रास के बीच यह समझौता १८५६ ई० मे ही हो गया था कि नहर के उद्घाटन के समय से ६६ वर्ष तक 'स्वेज नहर कम्पनी' का ही नहर पर अधिकार होगा एवं इससे होने वाली आय में से शुल्क के रूप में कुछ भाग मिश्री सरकार को दिया जायगा एवं इस अवधि के पश्चात् मिश्र ही नहर का सर्वेसर्वा होगा एवं अपनी इच्छानुसार वह इसका उपयोग कर सकेगा।

यद्यपि ब्रिटेन ने नहर के निर्माण में ही अड़चने डाली थीं किन्तु धीरे धीरे मिश्री शासक के समस्त हिस्सो को क्रय करके वह कम्पनी के ४४ प्रतिशत भाग का मालिक बन बैठा। कुछ समय पश्चात् मिश्र को उसने अपने अधीन कर लिया एवं अपनी सैन्य शक्ति से इसका एवं स्वेज नहर का सरक्षण करने लगा। ब्रिटेन की इस नीति से अन्य पश्चिमी राष्ट्र चिंतित हुए, एवं १८८८ ई० मे कुस्तुन्तुनियाँ-सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, स्पेन, रूस, नीदरलैण्ड, टर्की तथा हगरी आदि देशों ने भाग लिया एवं सर्वसम्मति से यह घोषणा की गई कि युद्ध और शाति दोनों ही कालों मे बिना किसी भेद-भाव के स्वेज नहर विश्व के सभी राष्ट्रो के लिए खुली रहेगी। इस संधि पर उक्त राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर भी हुए किन्तु ब्रिटेन ने इसका अतिक्रमण किया एवं जर्मनी आदि देश प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के काल में स्वेज का उपयोग नहीं कर पाए।

मिश्री जनता अधिक दिनों तक विदेशी शासन के शिकंजो में न रह सकी, उसने जनरल नजीब की अध्यक्षता में संघर्ष किया। फलतः सन् १६२२ में ब्रिटेन को मिश्र की स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी। इस समय से मिश्र का अधिकार स्वेज पर बढ़ता गया एवं जून १६५६ में ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेनाएं भी हटा लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसी समय दोनों देशों के बीच एक सप्तवर्षीय समझौता हुआ जिसमें कुस्तुन्तुनियाँ सम्मेलन की घोषणा को मान्यता प्रदान की गई। अभी तक स्वेज का प्रशासन 'स्वेज नहर कम्पनी' के ही हाथ में था।

वास्तव मे अमेरिका मिश्र को हथियाना चाहता था। यही कारण है कि उसने मिश्र द्वारा माँगे गए शस्त्रास्त्रों को न तो स्वयं देना उचित समझा और न ब्रिटेन को ही देने दिया। इजराइल के निरन्तर आक्रमणों से त्रस्त मिश्र को अन्त में साम्यवादी देशों की शरण लेनी पड़ी। उन्होंने उसकी सुनी भी एवं शस्त्रास्त्रों की ओर सहायता भी की। अमेरिका और ब्रिटेन को मिश्र की यह नीति अच्छी न लगी और उन्होने उसे तरह तरह की धमकियाँ देनी प्रारम्भ की। अन्त में उन्होंने धनराशि को भी देने से इन्कार कर दिया जिसे उन्होंने अस्वान बाँध के निर्माणार्थ देने के लिये वादा किया था। वह वादे की रकम ब्रिटेन और अमेरिका की क्रमशः २ और ५ करोड़ की थी। इन राष्ट्रों ने अस्वान बाँध की योजना की सफलता को संदेहास्पद बताया एवं मिश्र की आर्थिक दशा को शोचनीय।

इस पर राष्ट्रपति नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की जो घोषणा की वह वास्तव मे उनके अपूर्व साहस का परिचायक है। उन्होंने कहा कि—हम स्वेज नहर की होने वाली आय से जिसके कि हम ही वास्तविक अधिकारी हैं, अस्वान बाँध का निर्माण करेंगे। स्वेज कम्पनी की वार्षिक आय २५ करोड़ पौंड है। इसका अर्थ यह है कि स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से मिश्र को वर्ष में १७५ करोड़ पौंड की आय होगी। यह धन बिना किसी बाह्य सहायता के बाँध निर्माण करने के लिए पर्याप्त होगा। उन्होंने अत्यन्त रोमाचकारी शब्दो मे कहा—"हम इस महान् बाँध को उन एक लाख बीस हजार मिश्री मेहनतकशों की हड्डियो पर बनाएँगे जिन्होंने कि नहर के बनाने मे अपने प्राणों की बलि दी थी।" उन्होंने कुस्तुन्तुनियाँ समझौते की घोषणा

का विच्छेदन किया एवं स्वेज कम्पनी के मालिकों को उचित मुआवजा देने का भी आश्वासन दिया।

ब्रिटेन और फ्रास मिश्र की इस धृष्टता को सहन न कर सके। अपने स्वार्थों का हनन होते देख पुरानी स्वेज कम्पनी के मालिक खुजाने लगे। मिश्र की इस घोषणा को उन्होंने अवैध एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के विरुद्ध घोषित किया। उन्होंने नहर का उपयोग करने वाले देशों का एक सम्मेलन किया और यह प्रस्ताव रक्खा कि स्वेज नहर का प्रशासन एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के द्वारा होना चाहिये। भारत, रूस और कुछ अन्य देशों ने इसका विरोध किया और स्वेज नहर पर मिश्र की ही प्रभुसत्ता रहने के पक्ष में रहे। हाँ, इन्होंने स्वेज प्रबन्ध में उपरोक्त देशों का परामर्श आवश्यक बतलाया। यह सम्मेलन किसी निष्कर्ष पर न पहुँच सका। राबर्ट मेन्जीज की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि मंडल ने नासिर से वार्ताएँ कीं लन्दन में दुबारा एक सम्मेलन हुआ तथा समस्या संयुक्त राष्ट्र संघ तक ले जायी गई किन्तु इन सब का कोई निष्कर्ष न निकला।

इन सम्मेलन के प्रयत्नों को देखकर संसार की जनता को यह विश्वास हो गया था कि स्वेज का प्रश्न शातिपूर्ण ढंग से ही सुलझ जायगा किन्तु इजराइल के आकस्मिक आक्रमणों से विश्व चौकन्ना हो गया। शीघ्र ही ब्रिटेन और फ्रास ने भी मिश्र की राजधानी कहिरा पर बम वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी। शातिप्रिय देशों ने इस नीति की कटु आलोचना की एवं रूस के प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में आक्रमणकर्ता देशो को चेतावनी दी कि यदि वे अपने आक्रमणों को नहीं रोकते हैं तो विवश होकर हमे मिश्र का साथ देना पड़ेगा। चेतावनी का गहरा प्रभाव पड़ा और आक्रमणकर्ता देशों ने आक्रमण बन्द कर दिया। मिश्र में शाति स्थापित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस के जत्थे भेजे गये।

बीसवीं सदी के इस युग में ब्रिटेन, फ्रास व अमेरिका आदि देश अपनी जिस पाशविक प्रवृत्ति का परिचय दे रहे हैं वह कितनी लज्जास्पद है। सम्प्रति जब विश्व के अनेक शान्ति-प्रेमी राष्ट्र 'शान्ति-शान्ति' चिल्ला

रहे हैं तो उनकी यह उद्दण्डता कहाँ तक उचित है ? स्वेज मिश्र की धरती पर है, उसके निर्माण में मिश्री श्रमिकों ने लाखों की संख्या में अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं तथा मिश्री शासकों ने पर्याप्त धन-राशि की लागत लगाई है, भले ही १८५६ ई० के समझौते के ९९ वर्ष अभी पूरे न हुए हों, भले ही साम्राज्यवादियों के साथ न्याय न वर्ता गया हो, भले ही विश्व युद्ध पुनः छिड़ जाय, किन्तु स्वेज मिश्र की है और मिश्र की होकर रहेगी। विश्व के अधिकांश देश मिश्र के पक्ष में हैं। अब एशिया और अफ्रीका की जनता जाग्रतावस्था में है। वह किसी भी वाह्य शक्ति का हस्तक्षेप नहीं पसन्द करती। वह साम्राज्यवाद का अन्त करके 'सर्वे भवन्तु सुखिन' के सिद्धान्त को चरितार्थ करना चाहती है।

हिन्दू कोड बिल

पुरुष ही सामाजिक विधानों का निर्माता रहा है। उसने अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण स्त्री जाति को बन्धन में रखना चाहा एवं उसके लिए ऐसे ऐसे नियमों का निर्माण किया कि स्त्रियों का खुली हवा में साँस लेना भी दुर्लभ हो गया। 'तत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' के सिद्धान्त को ठुकरा दिया गया एवं नारी को आजन्म कारावास की सजा दे दी गई। शास्त्रों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया कि स्त्री को बचपन में पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना अनिवार्य है।' गोस्वामी जी तो और भी एक हाथ आगे बढ़ गए :—

'ढोल गवाँर शूद्र पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।'
'राखिय नारि जदपि उर माहीं, युवती शास्त्र नृपति बस नाहीं।

इस प्रकार का अविश्वास होते हुये भी गोस्वामी जी ने अनुसूया के शब्दों मे उनका धर्म यह बतलाया कि—

वृद्ध, रोग बस, जड़ धन हीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किय अपमाना, नारि पाव जमपुर दुःख नाना।

शास्त्रकारों एवं कवियों के ऐसे विचार स्त्रियों के अन्तस्थल मे समा गए। फलतः स्त्रियों ने आत्मसमर्पण किया एवं पुरुषों के अन्धाधुन्ध अत्याचार! पुरुष ने एक स्त्री के स्वस्थ एवं जीवित रहने पर भी अनेक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए, किन्तु पति के रुग्ण, कोढ़ी, अपाहिज एवं नपुंसक होने पर भी बेचारी स्त्री हृदय पर पत्थर रखकर समाज की इस भयंकर लू से झुलसती रही। पति के मृत हो जाने पर या तो उसे अग्नि की लपटों का आलिंगन करना पड़ता था या जीवन के शेष दिन यों ही व्यतीत कर देने के लिए बाध्य किया जाता था।

क्रिया की प्रतिक्रिया होना अवश्यम्भावी है। समय ने पलटा खाया, भारत स्वतन्त्र हुआ एवं अन्य सुधारों के साथ-साथ सरकार का ध्यान इन रूढ़ियों एवं नारी जाति की दुर्दशा की ओर भी गया। सरकार ने श्री राने के नेतृत्व में एक समिति का निर्माण किया जिसने भारतीय नारी की वर्तमान् अवस्था को सुधारने के लिए अनेक सुझाव रखे। 'हिन्दू कोड बिल' इस समिति के सुझावों का ही परिणाम है। 'हिन्दू कोड बिल' के समक्ष आते ही स्वार्थी पुरुष जाति तथा विशेष कर पुराणपंथियों ने, जो भारतीय संस्कृति के पुजारी होने का झूठा दम भरते हैं, उसका खुलकर विरोध किया एवं तरह-तरह के विरोध-प्रदर्शक नारे लगाये। संसद में भी काफी गरमा गरमी हुई एवं सरकार को अनेक बार बिल पेश करने पर भी स्थगित कर देना पड़ा। बिल की अनेक धाराओं में सुधार एवं उसका खडों में विभाजन भी इन्हीं पुराण-पंथियों के टाँग अड़ाने क ही परिणाम है।

'हिन्दू कोड बिल' का अधिकाश नारी जाति की समस्याओं से ही सम्बन्धित है इसमें स्त्रियों को अधिकाधिक अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, दत्तक अधिकार तथा गोत्र सभी समस्याओं का हल प्रस्तुत बिल प्रस्तुत करता है। इसकी प्रमुख धाराएँ इस प्रकार हैं :—

(१) पुरुष केवल एक ही स्त्री रख सकेगा एव स्त्री केवल एक ही पति रख सकने की अधिकारिणी होगी। (किसी एक के मृत होने पर यह बन्धन न रहेगा)।

(२) कतिपय कारणों के उपस्थित होने पर पुरुष एवं स्त्री दोनों ही परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर सकेंगे। (सम्बन्ध-विच्छेद तभी हो सकगा जब विवाह के समय पुरुष नपुंसक होगा, दोनों में से कोई आचरण भ्रष्ट होगा, यदि कोई हिन्दू धर्म को छोड़ देगा, कोई पागल अथवा भीषण रोग से ग्रसित होगा)।

(३) विधवा को पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होगा।

(४) पुत्री पिता की संपत्ति मे पुत्र के समान ही अधिकारिणी होगी, किन्तु अस्थिर सम्पत्ति मे यह नियम नहीं लागू होगा।

(५) एक ही गोत्र के बालक बालिकाओं का विवाह सम्भव हो सकेगा किन्तु माता पिता की तीन अथवा पाँच पीढ़ियों को छोड़ना पड़ेगा।

उक्त अधिकार नारियों को केवल इसलिये प्रदान किये गये हैं जिससे वे कतिपय परिस्थितियों मे स्वावलम्बी बन सकें एवं एक मात्र पुरुष पर ही आश्रित न रहें। बहुविवाह की प्रथा को हटाकर बिल ने जिस आदर्श की स्थापना की है वह भारतीय सस्कृति के सर्वथा अनुकूल है। इस विधि के द्वारा इसने उन सभी अत्याचारों को समाप्त कर दिया है जो कि अभी तक पुरुष स्त्रियों पर करता था। 'एको नारी सुन्दरी व दरी वा' का आदर्श अब प्रयोगात्मक रूप से जीवन मे उतारा जा सकेगा—ऐसा विश्वास है।

अभी तक बहुधा विधवा स्त्रियों को बिना किसी पुरुष के ही समस्त जीवन यों ही काट देना पड़ता था—चाहे वे लाज के बोल खुलने के पूर्व ही क्यो न इस अवस्था को प्राप्त हो जायं। किन्तु अब इस प्रथा का सरकार ने पूर्णतया अंत कर दिया है। यह इस बिल के व्यापक दृष्टिकोण एवं उदारता का ही परिणाम है। इस प्रकार इस बिल ने उन समस्त भ्रष्टाचारों को समाप्त करने का बीड़ा उठाया है जो कि अभी तक विधवाओं की दयनीय दशा के कारण हुआ करते थे।

सम्बन्ध-विच्छेद सम्बन्धी विधि भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। कलह-पूर्ण जीवन बिताने की अपेक्षा तो सम्बन्ध-विच्छेद ही अच्छा है। अभी तक बेचारी स्त्री असहाय थी। पति के दुराचारी, वेश्यागामी एवं नपुंसक होने पर भी उसे तनिक भी विरोध करने का अधिकार न था। कभी कभी तो उसे लाचार होकर पतित जीवन बिताने के लिये बाध्य हो जाना पड़ता था किन्तु अब वह ऐसे दुराचारों का प्रमाण देने पर सम्बन्ध-विच्छेद कर सकेगी एवं किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह करके सुखपूर्वक अपने जीवन को बिता सकेगी।

पुत्री को पिता की संपत्ति मे कतिपय अधिकार देकर उसे पुत्रों के समान ही समझा गया है। कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि विवाह के पश्चात् पुत्री पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी हो जाती है। फिर उसे पिता की सम्पत्ति की आवश्यकता ही क्या है? उनके अनुसार इस विधेयक से सघर्ष की ही सम्भावना है, सुधार की नहीं। ऐसे लोगों की धारणा है कि

इस विधेयक के पारित होने से भाई एवं बहिनों में पवित्र प्रेम के स्थान पर ईर्ष्या एवं वैमनस्य का भाव जाग्रत हो जायगा एवं भाई—जो कि अभी तक अपनी बहिनों के लिए अच्छे से अच्छे वर एवं घर की खोज करके व्याह करता था—सम्पत्ति कम खर्च करने के विचार से किसी ऐसे घर में व्याह देगा जहाँ कि वहिनों को भोजन मिलना भी दुर्लभ हो जायगा। किन्तु ये धारणाएँ हमारी सकीर्णता की परिचायक हैं। कोई भी अपनी बहन को दुखी न देखना चाहेगा—चाहे उसे कितनी भी क्षति क्यों न उठानी पडे। और फिर कतिपय परिस्थितियों में यदि बहन की दशा खराब हो जाती है तो वह अपने पिता की संपत्ति से कुछ तो उपार्जन कर ही सकेगी, उसे भाइयो अथवा पति का मुख तो न देखना पड़ेगा। पुत्रियों के समान विधवाओं की अवस्था को ध्यान मे रखते हुए इस बिल ने उनको पतियों की संपत्ति पर पूर्ण अधिकार प्रदान किया है जो सर्वथा न्यायसंगत है।

अन्तरगोत्रीय वैवाहिक प्रथा भी हिन्दू समाज के लिए एक अभिशाप ही थी। कितने युवको एवं युवतियों को इस प्रथा के कारण मनचाही वधू अथवा मनचाहा पति नहीं मिल पाता था। कभी कभी तो निराशा के कारण उन्हें अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ता था। इस कुप्रथा को मिटाकर एवं माता-पिता की तीन अथवा पाँच पीढ़ियों के बचाने का उल्लेख करके प्रस्तुत विधेयक ने सच्चे अर्थों में भारतीय सस्कृति के रक्षार्थ एक साहसपूर्ण कदम उठाया है।

प्रस्तुत बिल की दो ही ऐसी धाराएँ हैं जिनके लिये विरोधियो की संख्या अत्यधिक है। प्रथम है पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार एवं द्वितीय है सम्बन्ध-विच्छेद की। इन धाराओं को लेकर अभी तक काफी विवाद चलता रहा है। कोई भी वस्तु निरी गुणों की ही आकार नही होती उसमे दोष भी किसी न किसी प्रकार का आ ही जाता है। वास्तव में उक्त धाराएँ बनाई तो गई है पारिवारिक जीवन को शाति प्रदान करने के लिए एवं स्त्रियो की दशा सुधारने के लिए किन्तु क्या इनसे संघर्ष सम्भव नहीं है? जब बहन भाई को प्राप्त होने वाली सम्पत्ति का बटवारा कराएगी तो क्या भाई एवं बहन का प्रेम वैसा ही पवित्र एवं अकलुषित रह जायगा जैसा कि अब तक रहा है? और फिर क्या बहन अपनी ससुराल एवं नैहर दोनों स्थानों की सम्पत्ति का

प्रबन्ध सुचारु रूप से करने में समर्थ हो सकेगी ? यद्यपि यह सत्य है कि बहन कुछ ले जायगी तो पत्नी कुछ ले आएगी किन्तु क्या इस विधेयक से अनेक प्रकार के संघर्षों की सम्भावना नहीं ?

सम्बन्ध-विच्छेद से सम्बन्धित धारा भी अच्छाइयों के पर्दे में अनेक बुराइयो को छिपाये हुये है। पाश्चात्य देशों में विवाह होने के दो चार दिन पश्चात् ही तलाक देने की जो प्रथा चल पड़ी है वही क्या भारत में न चल पड़ेगी। सम्बन्ध विच्छेद के जो कारण विधेयक में उल्लिखित हैं, वे तो दूर रहे, थोड़ी सी मनमुटाव होने पर भी स्त्री एव पुरुप न्यायालय में खड़े दिखाई देंगे। चाहे कोई दोषी हो या नहीं, वे एक दूसरे को दोपी टहराने का भरसक प्रयत्न करेंगे एवं इस प्रकार समाज मे ऐसे वातावरण का निर्माण हो जायेगा। अभी तक तो अधिकतर भूमि एवं सम्पत्ति सम्बन्धी मामले ही न्यायालय मे जाते थे किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् सम्बन्ध-विच्छेद सम्बन्धी मामलों का ही आधिक्य रहेगा।

किन्तु क्या इन दोषों के होने से 'हिन्दू कोड बिल' वास्तव में त्याज्य हैं ? क्या इन नाम मात्र की बुराइयों के कारण ही उसकी समस्त अच्छाइयों को ठुकराया जा सकता है ? और फिर कौनसी वस्तु दूपित नहीं है। धरती की चीजों में दोप आ ही जाता है क्योंकि वे धरती की होती हैं एवं धरती के मनुष्यों द्वारा निर्मित की जाती है जो अच्छाइयों एव बुराइयों से भरपूर होता है। जब हम व्यापक दृष्टिकोण से इस बिल को देखते हैं तो कोई भी दोष नहीं दीखता। यदि स्त्री और पुरुष का प्रेम आन्तरिक है, उनमे परस्पर एक दूसरे के प्रति विश्वास है तो एक नही लाखों ही बिल इसी तरह के क्यों न पारित किये जायें उनका प्रेम वैसा ही रहेगा जैसा कि पहले से रहा है। यह तो केवल उन परिस्थितियों से छुटकारा पाने के लिये पारित किया गया है जिनके कारण दाम्पत्य एवं परिवारिक जीवन में प्रेम का नहीं कलह का साम्राज्य छा जाता है।

अनेक पुराण-पथी 'स्त्रियों को समान अधिकार न देना चाहिये' की बात को सामने रखकर अपनी जड़ता का प्रदर्शन करते हैं। इन पुराण-पथियों को 'लकीर की फकीर' बनना ही आता है। बीसवीं शताब्दी के इस चेतन युग मे भी वे स्त्रियों को अन्धकार मे रखना चाहते हैं एवं इस प्रकार अपनी बहुविवाह

प्रथा एवं पापाचारों का अपरोक्ष रूप से समर्थन करते हैं। स्त्रियों को समान अधिकार क्यों न दिए जायें? आज वह पुरुष की वासना की पूर्ति का साधन मात्र नहीं है, उसकी सेविका नहीं है, घर की कोठरी में ही निवास करने वाली दुल्हन नही है, वह पुरुष की अर्धांगिनी है, उसे व्यापक क्षेत्र मे कार्य करना है तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाना है। पुरुष के प्रत्येक कार्यों को आज की स्त्री सम्पादित कर रही है। अतः उसे समान अधिकार देना इस बिल की उदारता ही कही जायगी और उसे जो अधिकार प्रदान किये गये हैं वे अनुचित नहीं हैं, उनसे किसी भी प्रकार के आदर्शों के नष्ट होने का डर नहीं है।

एक मात्र पुरानी एव घिसी पिटी प्रथाओं को चालू रखना हमारी सस्कृति की परम्परा नहीं है। सस्कृति का अर्थ बहुत व्यापक है। हमे तो चाहिये कि हम सभी अच्छी बातों को अपना लें एवं बुरी बातों को त्याग दे। 'पुराण-मित्येव न साधु सर्वम्'। बीसवीं शती के इस विकास युग मे स्त्रियों को अधिकारों से वञ्चित करना विवेकशून्यता है? हमे स्त्रियों, अछूतों एव पिछड़ी हुई जातियो के प्रति सहानुभूति दिखलानी चाहिये आज का मानव अपने किये गये अत्याचारो पर जितना भी पश्चात्ताप करे थोड़ा है। पुरुष स्त्रियों एवं उन्नतिशील जातियों तथा पिछड़ी जातियों के बीच में जो दरारें पड़ गई हैं उन्हें मिटाने के लिए स्त्रियो एवं पिछड़ी जातियो को समुचित अधिकार देना ही पड़ेगा।

भारत सरकार ने 'हिन्दू कोड बिल' को पारित करके—चाहे उसे खंडों मे विभाजित ही क्यों न करना पड़ा हो—अपनी उदारता एवं जागरूकता का अच्छा परिचय दिया है। संक्षेप मे प्रस्तुत बिल भारत की समस्त कुरीतियों एवं कुसस्कृति के अंध-मोह को नष्ट करने का प्रथम प्रयास है। इसे हम एक युग का पटाक्षेप तथा दूसरे युग का प्रारम्भ कह सकते हैं।

———

आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार

मनुष्य सुखाकांक्षी होता है। उसके समस्त प्रयत्न सुख की प्राप्ति एवं दुःख से निवृत्ति के लिये होते हैं। सुखवाद ही उसके जीवन का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये वह अपनी आदिम अवस्था से ही प्रयत्नशील है। दिनोंदिन वैज्ञानिक आविष्कारों के सहारे वह सभ्यता की अनन्त सीढ़ियों को पार करता जा रहा है। सुखाकांक्षी होने के नाते वह किसी भी प्रकार का श्रम नहीं करना चाहता, अच्छी से अच्छी वस्तुओं का उपभोग करना चाहता है एवं विलासिता के स्वप्न देखकर उन्हें सत्य करने का प्रयास करता है। औद्योगिक युग की भारी भरकम कलों का आविष्कार उसके इसी प्रयास के परिणाम हैं।

मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त हैं। एक आवश्यकता की पूर्ति होते ही उसके समक्ष दूसरी आवश्यकताएँ परस्पर स्पर्धा करने लगती हैं एवं उनमे से जो सबसे तीव्र होती है वह अन्य पर विजय प्राप्त कर मनुष्य को अपनी पूर्ति के लिये बाध्य करती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य असंतोषी है और स्यात् इसी असंतोष की नींव पर ही उसका जीवन अवलम्बित है, क्योंकि संतोष निष्क्रियता को जन्म देकर मनुष्य को अपाहिज बना देगा। एवं वैसी अवस्था मे उसका जीवनविकास यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा।

वर्तमान् वैज्ञानिक युग मनुष्य के तथाकथित असंतोष का ही परिणाम है। मनुष्य ने इस असन्तोष के कारण अनेक आविष्कार किये हैं और करता जा रहा है। प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह चिकित्सा का हो, चाहे आवागमन के साधनों का, चाहे अन्य कोई, नित्यप्रति नये-नये अनुसंधान एवं आविष्कार हो रहे हैं। जो आनन्द १०० वर्ष पहले के मनुष्य को पैदल चलने में मिलता था वह आज के मनुष्य को वायुयान यात्रा में भी नहीं मिल रहा है। वह चाह

रहा है कि इससे भी अच्छा एवं द्रुतगामी साधन उसे उपलब्ध हो जाय। यही कारण है कि वायुयानों की गति को दिनोंदिन और भी तीव्र करने तथा अन्य नवीन प्रकार के विमान बनाने के प्रयत्न अब भी किए जा रहे हैं। 'राकेट' एव 'स्पुतनिक' इन्हीं प्रयत्नो के नवीनतम् परिणाम हैं।

यातायात तथा आवागमन के साधनों मे भी नए-नए सुधार हो रहे हैं। जर्मनी के डाक्टरों अलबर्ट साइमन ससार का सबसे बड़ा विमान बनाने में सलग्न है। उसकी विराटता का अनुमान केवल इतने से ही लगाया जा सकता है कि उसमें एक साथ चार सौ मनुष्य यात्रा कर सकेंगे। इस ६५० फुट लम्बे विमान के हेलियन नामक तेल का उपयोग किया जायगा। जिससे मनुष्यो की यात्रा अधिक सुरक्षापूर्ण होगी क्योंकि तथाकथित तेल मे आग लगने की सम्भावना रञ्चमात्र भी नहीं होती। जर्मनी मे एक अन्य 'वाक्स वैगन आव दि एयर' नामक विमान का भी निर्माण हो रहा है। यह विमान अत्यन्त सस्ता होगा। इसकी कीमत केवल १२,००० मार्क होगी। लम्बाई २४ फिट होगी एवं यात्रियों की सख्या दो से तीन तक होगी। मोटर कारों के भी नवीन प्रकार निर्मित किए जा रहे हैं। अब ऐसी मोटर कारों का निर्माण किया जा रहा है जो वजन मे हल्की तथा सस्ती होंती। इनका उपयोग मध्यमश्रेणी के भी लोग कर सकेंगे। वायुयानों के क्षेत्र मे ऐसे वायुयान बन रहे हैं जो मकानों की छत से उड़ाए तथा उन्हीं पर उतारे भी जा सकेंगे। अमेरिका की एक कम्पनी ने एक विचित्र प्रकार का उडन खटोला बनाया है। यह उड़न-खटोला १५० मील तक प्रति घटा ६० मील की गति से उड़ता है तथा इसके द्वारा १५० सेर तक वजन भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया या ले जाया जा सकेगा। सबसे विचित्र बात तो यह है कि कोई भी व्यक्ति केवल २० मिनट मे इसका सफल चालक बन सकेगा। अमेरिका में एक विचित्र खोज और हुई है और वह है—हवाई साइकिल की। इन साइकिल का वजन लगभग १ मन १५ सेर होगा। इसमे साइकिल के समान ही हैंडिल लगा होगा तथा चालक मनमानी दिशा मे इसे उड़ा सकेगा। वायुयानों की गति तीव्र करने के लिए एक और भी महत्वपूर्ण अनुसन्धान हुआ। और वह है—वायुयान के निर्माण मे प्रयुक्त होने वाली धातु पर चीनी मिट्टी का लेपन। इस लेप से वायुयानों की गति में और भी तीव्रता आवेगी क्योंकि

तब अधिक तेज चलाने पर भी पंखों में आग लगाने की सम्भावना न रह जाएगी।

रूस ने कुछ ही दिन पूर्व एक ऐसी पनडुब्बी का निर्माण किया है जो ३०० फुट गहरे पानी के अन्दर चल सकती है, पानी की सतह पर निशाना लगा सकती है तथा सतह से भी ऊपर १४० मील तक मार कर सकती है।

सम्प्रति ऐसी-ऐसी कलों का भी निर्माण हो रहा है जो दिमागी कार्य करने में भी दक्ष सिद्ध हुई हैं। इन्हें 'मस्तिष्क यन्त्र' की संज्ञा दी जा सकती है। इन कलों के द्वारा बड़े से बड़े जोड़, घटाने तथा अन्य हिसाब-किताब भी ठीक-ठीक हल किए जा सकेंगे। केनेथ फ्रायड नामक विद्यार्थी ने तो केवल २०० डालर के व्यय से एक ऐसे यन्त्र का निर्माण किया है, जो बन्दूक से अपना बचाव कर सकता है, कागज उठा कर इधर-उधर रख सकता है तथा लोगों को डरा भी सकता है।

चिकित्सा के क्षेत्र में पर्याप्त सुधार होते जा रहे हैं। अभी तक कैंसर को दूर करने के लिए रेडियम की किरणों का उपयोग किया जाता था। अब तथाकथित कार्य के लिए कोबाल्ट की और भी उपादेय तथा शक्तिशाली किरणों का प्रयोग किया जाने लगा है। टैली रेडियम की सहायता से फेफड़े के कैंसर को भी दूर करने में सहायता मिली है। जिनेवा सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि ने परमाणु से मानव कल्याण करने के सम्बन्ध में बतलाया था कि 'परमाणुशक्ति' से कैंसर को दूर करने में ६४ प्रतिशत तक सफलता मिली है।

कृषि के क्षेत्र मे भी अनेक अविष्कार हुए हैं। रूस तथा अमेरिका आदि कुछ देशों मे जोतने बोने से लेकर फसल काटने, दाना निकालने तथा बोरों मे भरकर उन्हें रेलों तथा मोटरों मे लादने तक का सभी कार्य कलों द्वारा ही सम्पादित होता है। स्यात् अमेरिका आदि कुछ देशों में तो बागवानी का समस्त कार्य जल विद्युत शक्ति तथा अन्य यन्त्रों की सहायता से होता है। प्लास्टिक के कुछ ऐसे बृहत घरों का भी निर्माण हुआ है जो बगीचों के क्षेत्र को चारों ओर से घेर कर उनकी शीतादि से रक्षा कर कहते हैं तथा जिनके अन्दर फलों के पेड़ों को समय-समय पर विद्युत द्वारा ताप आदि का भी

प्रबन्ध किया जा सकता है, फलों को विद्युत शक्ति से शीघ्र ही पकाया जा सकता है तथा इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर बाजार की माग को सतुलित रखा जा सकता है। ब्लाटना की 'ग्रेहम वनस्पति अनुसंधान शाला' ने तो एक ऐसे आलू का उत्पादन किया है, जो सेब के समान स्वादिष्ट होता है, जिसे कच्चा ही खाया जा सकता है तथा जिसमें प्राप्त होने वाला 'विटामिन सी' पकाने पर भी नष्ट नहीं होता !

मनोरंजन के क्षेत्र मे भी पर्याप्त नवीन आविष्कार हुए हैं। टेलीविजन के दृश्य तो चलच्चित्र जगत को भी मात कर रहे हैं। टेलीविजन के द्वारा मनुष्य दूर दूर की घटनाओं, खेलो तथा नृत्य आदि के दृश्य प्रत्यक्ष घर बैठे देख सकता है। एक ऐसे ग्राम फोन रिकार्ड का निर्माण किया गया है जो लगातार ३० मिनट तक मनोरंजन कर सकता है। स्मरण रहे इन ३० मिनटों में लगभग १० रिकार्ड बदलने पड़ते हैं। सिनेमा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण आविष्कार सिनेमा-स्कोप का है। इसके द्वारा पर्दे का बृहत्तम् रूप देकर अनेक दृश्यों का अवलोकन एक ही साथ किया जा सकता है। थ्री डी० पिक्चर्स से मनुष्य किसी भी दृश्य को उसी के यथार्थ रूप में मोटाई, लम्बाई तथा गहराई सहित देख सकता है। सम्प्रति ऐसे भी आविष्कार करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं जो उपवन का दृश्य आने पर सुगन्ध तथा फलों के स्वाद तक देने में समर्थ हो सकेंगे। देहली मे बैठा व्यक्ति लखनऊ के सफेदे का स्वाद सरलतापूर्वक ले सकेगा।

और भी अन्य छोटी बड़ी मशीनों के आविष्कार हुये हैं। समाचार पत्र छापने वाली 'रोटरी' मशीनों के नवीनतम स्वरूप तो आश्चर्य मे डाल देते हैं। ये मशीनें कागज खींचने, छापने, मोड़ने तथा एक-एक समाचार पत्र को काट काट कर छपे हुये समाचार पत्रों की संख्या तक बतलाने का कार्य करती हैं। इनकी गति इतनी तीव्र होती है कि एक घन्टे में ये ३२ पेज तक के समाचार पत्र की ६० सहस्र प्रतियाँ छाप सकती हैं। रूस में लकड़ी को मनचाहे मोड़ देने वाली मशीनों का निर्माण हुआ है। इन मशीनो के आविष्कार से फरनीचर-उद्योग को एक नया आयाम मिला है। रूस में ऐसे स्टेशनों का निर्माण किया जा रहा है जो सूर्यताप को विद्युत शक्ति में परिणत कर सकेंगे। 'नार्दर्न पोर्टलैण्ड कारपोरेशन' के श्री हरमन कोहैन ने एक २४

फुट लम्बे कृषियन्त्र का निर्माण किया है जो जुताई, बुआई तथा भूमि को समतल करने आदि के अनेक कार्य एक साथ सम्पादित करेगा। सम्प्रति धातुओं के स्थान पर प्लास्टिक का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। प्लास्टिक सर्जरी तो चिकित्सा के क्षेत्र मे अभूतपूर्व देन है। मोटर लारियॉ की तौल लेने वाली सफरी तराजुओं का भी निर्माण हुआ है जिसके द्वारा किसी भी मोटर मे भरे हुये सामान की तौल का पता लगाया जा सकेगा। कुछ ऐसी मशीनों का भी निर्माण हुआ है जो चोरी आदि से बैङ्कों तथा तिजोरियों की रक्षा करने में समर्थ सिद्ध हुई हैं। ऐसी मशीनो को उस रास्ते में फिट कर दिया जायगा जिससे होकर चोर रुपयो के पास जावेगा अथवा जाने की सम्भावना होगी। अन्धेरी रात्रि में भी उसकी छाया पड़ते ही ये मशीनें क्रियाशील हो जावेगी किन्तु चोर को किसी भी प्रकार का पता न चलेगा। शीघ्र ही बैङ्क मैनेजर तथा चौकीदारों के निकट की घन्टी बज उठेगी। और इस प्रकार चोर चोरी करते समय या उसके पूर्व ही पकड़ा जा सकेगा। अखरोट नामक फल से पीतल की वार्निश का आविष्कार किया गया है जो बहुत ही उपादेय सिद्ध हुई है।

अच्छाई और बुराई प्रत्येक वस्तुओं में समान रूप से पाई जाती है। विज्ञान भी किन्हीं अशो तक घातक सिद्ध हो चुका है। हीरोशिमा और नागासकी नामक जपानी शहरों की बरबादी हम देख चुके हैं। मानव मानव के खून का प्यासा है। साम्राज्यवादी विचारधारा ने मनुष्य को मनुष्य के स्तर से नीचे ला पटका है। कुछ देश अब भी संहारात्मक अस्त्रों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध नहीं लगा रहे हैं! यही खेद का विषय है। मनुष्य इसलिये मनुष्य है कि उसके पास औचित्य और अनौचित्य पर विचार करने की शक्ति है, दया है, करुणा है तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की कल्याणकारी भावनाएँ हैं। पशु इसलिए पशु है कि वह बुद्धिहीन है, औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार नहीं कर सकता तथा मानवीय सद्भावनाओं से शून्य है। ऐसी अवस्था मे यदि मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग न करे, पाशविक प्रवृत्तियों को प्रश्रय दे तथा हिंसात्मक कार्यों के लिये नए-नए आविष्कार करे, तो उसे पशु नहीं तो और क्या कहा जावेगा ?

प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य संहार की अपेक्षा निर्माण की ओर अधिक झुकता है। अणुबम और उद्जन बमों को पास में रखते हुए भी मानव आज निःशस्त्रीकरण पर जोर दे रहा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति है। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह एक न एक दिन तथाकथित संहारात्मक अस्त्रों को नष्ट करके ही छोड़ेगा। हर्ष की बात है सम्प्रति सभी राष्ट्र इस दिशा की ओर प्रयत्नशील हैं एवं परमाणु शक्ति को मानव-कल्याण करने के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है। रूस में ऐसे कई सफल प्रयोग हो चुके हैं। आशा है कि मनुष्य अपनी आसुरी प्रवृत्ति रोककर सुख एव शान्ति के साथ इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने मे समर्थ हो सकेगा। क्योंकि 'विकास की अनन्त सीढ़ियों को लाँघता हुआ मनुष्य आज उस धरातल पर खड़ा है वहाँ से उनका लोक, जिन्हें देवता कहते हैं, बहुत दूर नहीं है।'

———

"मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यो की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक सस्कृति अब तक सारे ससार में अनुभूत और अगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियो मे रहकर ससार के भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवीय सस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धर्म साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नो और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम 'सस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।"

'सस्कृति' शब्द की अस्पष्टता का विचार करते हुये द्विवेदी जी पुनः लिखते हैं :—"यह सस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है तथापि यह अस्पष्ट रूप मे ही समझा जाता है। सर्वसम्मत कोई परिभाषा नही बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एक दम अस्पष्ट भी नही कह सकते क्योकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं। × × × मनुष्य की श्रेष्ठतर मान्यताएँ केवल अनुभूति होकर ही अपनी महिमा सूचित करती हैं उनको स्पष्ट और सुव्यवस्थित परिभाषा में बाँधना सब समय सम्भव नहीं होता।"

सभ्यता और सस्कृति में पर्याप्त अन्तर है। 'सभ्यता' शब्द की व्युत्पत्ति सभाक्त शब्द से हुई है जो व्यक्ति सभा मे बैठने के योग्य होता है उसे सभ्य कहा जाता है। इस सभ्य कहे जाने वाले व्यक्ति के कुछ विशेष गुण होते हैं। इन गुणों का सामूहिक नाम ही सभ्यता है। सभ्यता मनुष्य को अनुचित कार्यों के सम्पादन करने से रोकती है, उसको भौतिक, नैतिक एव बौद्धिक उन्नति करने की प्रेरणा देती है तथा समृद्धि एव सुख के साथ जीवन यापन करने के लिए बाध्य करती है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि सभ्यता ही सस्कृति की जननी है। पडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' नामक पुस्तक मे लिखा है कि 'समृद्ध सभ्यता से सस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभ्यता का सम्बन्ध बाह्य जगत से है जबकि संस्कृति का सम्बन्ध हमारे अन्तर्जगत से। जबकि सस्कृति का लक्ष्य बौद्धिक उन्नति है तो सभ्यता का उद्देश्य भौतिक विकास।

सभ्यता और सस्कृति सदा साथ-साथ नहीं चलते। एक मूर्ख व्यक्ति भी सुसंस्कृत हो सकता है यदि उसके हृदय में सद्भावनाओं का विकास हुआ है और एक सुशिक्षित सस्कृतिनिष्ठ व्यक्ति भी असभ्य हो सकता है यदि उसका मानसिक एवं आध्यत्मिक विकास नही हुआ है। किन्तु परस्पर एक दूसरे को प्रभावित अवश्य करते हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि सुसंस्कृत व्यक्ति सभ्य हुआ करता है और सभ्य सुसस्कृत।

सभ्यता स्थूल होती है जब कि संस्कृति सूक्ष्म। यदि सभ्यता शरीर है तो सस्कृति आत्मा। कविवर दिनकर अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि 'अंग्रेजी में कहावत है कि सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, सस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। मोटर, महल, सड़क, हवाई जहाज, पोशाक और अच्छा भोजन ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएं संस्कृति नहीं, सभ्यता के सामान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है वह सस्कृति की चीज है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है संस्कृति और सभ्यता प्रायः एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसे हम एक उदाहरण से सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। मान लीजिये कोई व्यक्ति एक मकान बनवा रहा है। मकान का निर्माण तो सभ्यता के अन्तर्गत आता है किन्तु घर का स्वरूप कैसा हो? इस प्रश्न का उत्तर सास्कृतिक रुचि पर ही निर्भर करता है। वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति न होगा कि सभ्य पुरुष की रुचियों, अनुभूतियों तथा गुणों का सम्यक् नाम ही सस्कृति है।

सस्कृति और सभ्यता दोनों ही परिवर्तनशील हैं। आज की सस्कृति और ईसा पूर्व की सस्कृति में पर्याप्त अन्तर है। जो सभ्यता भारत के प्राचीन दरबारों में प्राप्य थी, उसमें और आज की सभ्यता में महान् अन्तर है। शाही-दरबारों में तीतर और बटेर पालना सुसंस्कृत व्यक्ति की निशानी समझी जाती

थी, शराब पीना सभ्य मानव का धर्म था किन्तु आज इन वस्तुओं से सम्पर्क रखने वाले को नीच एवं असभ्य समझा जाता है।

सभ्यता की माप उसके उपकरणों द्वारा होती है। उपकरणों के नाश से सभ्यता क्षतिग्रस्त भी हो सकती है किन्तु संस्कृति स्थायी होती है। सभ्यता के उपकरणों को एकत्रित करके सभ्य होने का दावा भी किया जा सकता है किन्तु सुसस्कृत होना कुछ ही दिनों पर निर्भर नहीं करता। सस्कृति का सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूतियों से है, वह सूक्ष्म है अतः सुसंस्कृत होने के लिये समय एवं तत्परता दोनों की आवश्यकता होती है।

श्री दिनकर जी लिखते हैं कि "सस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज होती है। वह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त होती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगन्ध। और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट-फूट कर विनष्ट हो सकती है लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसनी मे नही किया जा सकता।"

वस्तुतः सभ्यता का सम्बन्ध वर्तमान् जीवन अथवा कुछ ही दिनों से होता है किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध हमारे जन्म जन्मान्तर से होता है। विकास के जिस शिखर पर आज का मानव आसीन है वह उसकी संस्कृति का ही परिणाम है। हमारा अर्जित ज्ञान हमारी आने वाली पीढ़ियों को हस्तातरित होता चलता है। पिता अपने ज्ञान को पुत्र तक अवश्य पहुँचा देता है और यह पुत्र फिर उसे पौत्र तक पहुँचाने का साधन बनता है। इसी प्रकार यह शृंखला चलती रहती है एव साथ-साथ सभ्यता एवं सस्कृति का विकास भी होता चलता है। जो अच्छे संस्कार मनुष्य के मन मे छूट जाते हैं वे ही उसे सुसंस्कृत बनने में सहायता पहुँचाते हैं। भारतीयों का तो विश्वास है कि ये सस्कार दूसरे जन्म तक प्रभाव डालते हैं। कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि जिसका जैसा सस्कार होता है उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है। तात्पर्य यह कि दूसरे जन्म पर इन संस्कारों का प्रभाव पड़ता है। ऐसा प्रायः कहा जाता है व्यक्ति के अपने-अपने संस्कार होते हैं। इन सस्कारों पर ही उसके जीवन का बनना अथवा बिगड़ना निर्भर करता है। यदि पूर्व जन्म के सस्कार अच्छे होते हैं तो बच्चा बचपन से ही 'होनहार बिरवान के होत चीकने

पात' की कहावत को चरितार्थ करने लगता है और यदि संस्कार बुरे हैं तो वह लाख हाथ पैर मारने पर नटखट एवं शैतान ही निकलेगा।

संस्कृति और सभ्यता के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभ्यता और संस्कृति पारस्परिक विकास के लिए एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। जैसे-जैसे मनुष्य विकास की सीढ़ियों को पार करता जा रहा है वैसे-वैसे उसकी संस्कृति भी निरन्तर विकसित होती जा रही है। हाँ एक बात अवश्य है कि सम्प्रति मनुष्य का सांस्कृतिक विकास रुका हुआ सा प्रतीत होता है। भौतिकवादिता ने मनुष्य की परदुःखानुभूति एवं सम्वेदनशीलता के स्रोत को जैसे अवरुद्ध कर दिया हो! स्वार्थ एवं युद्ध लोलुपता के कारण मानव आज दानव बन बैठा है। सभ्यता के उपकरणों के संकलन की प्रवृत्ति इतनी तीव्र हो गई है कि हृदयहीन मनुष्य अपनी आत्मिक वस्तुओं दया, अनुभूति तथा सदाचार आदि को भूलता जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि सभ्यता के साथ-साथ संस्कृति का भी सम्यक् विकास किया जाय क्योंकि केवल सभ्यता के ही विकास से मानवीय जीवन एकांगी हो जायगा एवं वैसी अवस्था में सुख तथा शान्ति नितान्त दुर्लभ हो जायँगे।

नये युग की नई गीता 'कुरुक्षेत्र' के यशस्वी लेखक दिनकर जी ने भी इन्हीं भावों को कविता की भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है:—

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
नहीं यह विज्ञान कटु आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका, आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा की किरण अभियान।

× × ×

श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास।

यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि संस्कृति का क्षेत्र सभ्यता से व्यापक है अतः उसके उच्छिन्न होने की कदापि सम्भावना नहीं की जा सकती। "संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जबकि दो देश वाणिज्य, व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस मे मिलते हैं तब उनकी संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं ठीक उसी प्रकार जैसे दो व्यक्तियों की सगति का प्रभाव होने पर पड़ता है × × × जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ नहीं, उसकी संस्कृति का एक न एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत जिस जलाशय के पानी लाने वाले दरवाजे बराबर खुले रहते हैं उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। (संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर, पृष्ठ ६२४)।

भारतीय संस्कृति का कुछ ऐसा ही स्वभाव रहा है। पता नहीं कितनी जातियाँ इस 'महा मानव समुद्र' भारत में आयी किन्तु भारतीय संस्कृति ने उन सब को अपने में पचा लिया। यही कारण है कि भारतीय सभ्यता के साथ-साथ भारतीय संस्कृति भी सामाजिक संस्कृति के रूप मे आज भी हरी-भरी है एवं विश्व को मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने की शिक्षा दे रही है।

'संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से निरन्तर बढ़ती है।' अतः सभी राष्ट्रों को आधुनिक सभ्यता का विकास करते हुए सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए तैयार रहना चाहिये जिससे संस्कृति का तथाकथित जलाशय सदैव स्वच्छ जल से लहराता रहे। भगवान वह दिन कब लायेगा जब कवि की यह वाणी सार्थक हो सकेगी :—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व मे भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त,
हो, सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण ?

स्पुतनिक (SPUTNIK) या भू-उपग्रह

चार अक्टूबर सन् १९५७ ई० का दिन विश्व के इतिहास में सदैव अमर रहेगा, क्योंकि इसी दिन सोवियत रूस ने अपने प्रथम कृत्रिम भू-उपग्रह को आकाश में फेंक कर सारे संसार को आश्चर्यचकित कर दिया। इस उपग्रह का नाम रूस वालों ने 'स्पुतनिक' (Sputnik) या भू-उपग्रह रक्खा। कुछ विद्वानों ने इसे कृत्रिम चन्द्र (artificial moon) की संज्ञा से भी विभूषित किया। यह भू-उपग्रह गोलाकार था। उसका व्यास २३ इंच और भार १८४ पौंड था। इसकी गति १८००० मील प्रति घंटा थी, तथा इसने ९६ मिनट २ सेकेण्ड में पृथ्वी का एक चक्कर पूरा कर लिया। इसमें एक रेडियो ट्रान्समीटर तथा ब्राडकास्टिंग सिगनल रक्खे गये थे। इनसे एक प्रकार का "बीप-बीप" का संकेतात्मक शब्द सुनाई पड़ता था। जिस 'राकेट' द्वारा यह भू-उपग्रह गगन-मंडल में फेंका गया था, वह राकेट भी स्पुतनिक के साथ-साथ लगभग एक मास पर्यन्त पृथ्वी का चक्कर लगाता रहा, और अन्त में आकाश में ही नष्ट हो गया। इसके पश्चात् ४ जनवरी १९५८ ई० को भू-उपग्रह भी बहुत ऊपर आकाश में प्रवेश करने के कारण नष्ट हो गया। इसने लगभग ९२ दिन के अपने अल्प जीवन में पृथ्वी के १४०० से अधिक चक्कर लगाये।

विश्व के वैज्ञानिक अभी उसके विभिन्न परिणामों एवं प्रतिक्रियाओं पर विचार-विमर्ष ही कर रहे थे कि ३ नवम्बर सन् १९५७ ई० को रूस के वैज्ञानिकों ने दूसरा स्पुतनिक (भू-उपग्रह) छोड़ दिया। उनकी इस प्रतिभा को देखकर संसार के वैज्ञानिक आश्चर्यचकित रह गये, उनके विस्मय का ठिकाना न रहा। इसमें जीवित 'लाइका' नामक एक कुत्ता भी बैठाया गया। यह स्पुतनिक पृथ्वी से ९३० मील की दूरी पर छोड़ा गया और इसने १०२ मिनट

या १ घन्टा ४२ मिनट में पृथ्वी का एक चक्कर पूरा किया। इस द्वितीय स्पुतनिक का वजन ११२० पौंड था। धरती के धरातल से इस स्पुतनिक की अधिक से अधिक ऊँचाई १५०० किलोमीटर थी। इसकी गति १ सेकेण्ड में ८०,०० मीटर थी। कुछ ही दिनों के पश्चात् लाइका नामक कुत्ते के मरने का पता चल गया। स्पुतनिक मे जीवित कुत्ते को रखने मे वैज्ञानिकों का मुख्य ध्येय इस बात की जानकारी प्राप्त करना था कि इतनी ऊँचाई पर जीवित प्राणी की क्या दशा हो सकती है, तथा उसे कौन-कौन सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा? रूसी वैज्ञानिकों को इस विषय में यत्किञ्चित् जानकारी प्राप्त हुई, उसके आधार पर उन्हें भरोसा हो गया कि चन्द्रलोक मे रूस निकट भविष्य में शीघ्र ही पहुँच जायेगा। इसके साथ रूसी वैज्ञानिको ने इसी समय यह उद्घोषणा की कि निकट भविष्य मे वे ऐसे बहुत से बड़े-बड़े स्पुतनिक आकाश मे छोड़ेंगे। प्रख्यात वैज्ञानिक प्रोफेसर सैम्युनेवा ने तो यहाँ तक सूचना दी कि अभी ऐसे राकेट आकाश में छोड़े जायेंगे जिनकी गति प्रति घण्टा १ लाख १८ हजार मील के लगभग होगी और इन राकेटों के द्वारा मनुष्य सुविधा-पूर्वक चन्द्रलोक मे विहार कर सकेगा।

रूस की इन वैज्ञानिक करामातों को देखकर अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे महान् राष्ट्रों को इस बात की चिन्ता हुई कि इस वैज्ञानिक सफलता में रूस की शक्ति उनसे बहुत बढ़ गई। चिन्ता ही नही अपितु उन्हें इस बात की आशका भी हुई कि भविष्य मे रूस उन्हें कोई क्षति न पहुँचा दे। इन सब बातों के परिणाम-स्वरूप अमेरिका के वैज्ञानिकों ने भी १ फरवरी सन् १९५८ ई० को एक राकेट द्वारा अपना पहला कृत्रिम भू-उपग्रह (artificial moon) छोड़ा। इसकी गति १९४०० मील प्रति घण्टा थी, और इसने १०६ मिनट मे पृथ्वी का एक चक्कर पूरा किया। इसका वजन केवल ३० पौंड है। पृथ्वी से इसकी अधिकतम ऊँचाई १००० मील तथा न्यूनतम २०० मील है। इसका नाम अमेरिकी वैज्ञानिकों ने 'एक्सप्लोरर' (अन्वेषक) रक्खा। यह तोप के गोले की आकृति का है। कहा जाता है कि जिस समय यह आकाश मे फेंका गया, इसके पीछे से लपटे निकल रही थी। अमेरिकी वैज्ञानिको ने इसकी 'जीवन अवधि' ढाई वर्ष से दस वर्ष के मध्य में बतलायी है।

इसके अनन्तर १७ मार्च १९५८ को अमेरिका के वैज्ञानिकों ने अपना दूसरा राकेट छोड़ा। इसकी दूरी धरती के धरातल से २५०० मील से भी अधिक बताई जाती है। यह १३५ मिनट में पृथ्वी का पूरा चक्कर लगाता है, जबकि पहला राकेट ६० मिनट में ही पृथ्वी की परिक्रमा पूरी कर लेता है। यह भी गोलाकार है। इसका कुल वजन केवल सवा तीन पौंड ही है। इसमें दो ट्रान्समीटर, ६ स्पर्शदण्ड, एवं बहुत सी बैटरियों की शक्ति से चलने वाली बैटरिया लगी हुई हैं। इन्होंने १०८ तथा १०८·०३ मैगासाइकल पर रेडियो सन्देश देने आरम्भ कर दिये हैं। इन रेडियो संकेतों द्वारा वैज्ञानिकों को व्योमविषयक विभिन्न सूचनायें प्राप्त होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमेरिका ने भी स्पुतनिक छोड़कर अपनी अद्भुत वैज्ञानिक प्रतिभा का विश्व को परिचय देते हुये महत्ता का प्रदर्शन किया।

इसके पश्चात् रूस ने १५ मई १९५८ ई० को अपना तीसरा स्पुतनिक आकाश में छोड़ा। इस भू-उपग्रह की लम्बाई ११·६ फीट है तथा वजन डेढ़ टन है। पूर्व के छोड़े गये दोनों स्पुतनिकों में यह सौ गुना बड़ा बतलाया जाता है।

रूस ने जब अपना दूसरा स्पुतनिक आकाश में छोड़ा, तो अमेरिका तथा ब्रिटेन आदि प्रतिद्वन्दी राष्ट्रों ने उसके ऊपर अनेक आरोप लगाये। पहला आरोप रूस पर यह लगाया गया कि उसने एक निस्सहाय जीव की हत्या की है। इतना ही नहीं बल्कि ब्रिटेन के कुछ अहिंसावादियों ने विश्व के राष्ट्रों के समक्ष इस बात की घोषणा की कि उसने द्वितीय स्पुतनिक में एक जीवित कुत्ते को बैठा कर अपनी कठोर निर्दयता एवं क्रूरता का परिचय दिया है। रूस के ऊपर दूसरा आरोप यह लगाया गया कि मानव कल्याण में न लगा कर इन भू-उपग्रहों पर करोड़ों रुपये खर्च करना, उसकी मूर्खता एवं अदूरदर्शिता है। इस प्रकार के कुछ अन्य निरर्थक आरोप भी रूस के ऊपर लगाये गये, किन्तु रूस ने इन मूर्खतापूर्ण बातों पर कुछ भी ख्याल नहीं किया और आज समस्त संसार उसकी प्रतिभा की प्रशंसा कर रहा है।

आज रूस के वैज्ञानिक इस विषय में प्रयत्नशील हैं कि निकट भविष्य में और बड़े भू-उपग्रह छोड़े जायें। कहा जाता है कि अपने इन कार्यों से प्रोत्साहित होकर रूस के वैज्ञानिक एक ऐसे राकेट की रचना करने की बात

सोच रहे हैं जो चन्द्र-मण्डल का चक्कर लगाता हुआ भू-मण्डल में वापस लौट आये। वर्तमान वैज्ञानिक विकासों को देखते हुये ऐसी आशा की जाती है कि थोड़े ही दिनों में मनुष्य सरलतापूर्वक गगन-मण्डल में विहार करने लगेगा। इतना ही नहीं बल्कि विश्व के समस्त राष्ट्र एकता के सूत्र में बँध जायेंगे। राष्ट्रों में संकीर्णता एवं पारस्परिक-वषम्य की भावना नहीं रह जायेगी। किन्तु इस हित के साथ ही अहित की भी सम्भावना हो सकती है। मनुष्य महत्त्वाकाची है, यदि उसने इन परम शक्तिशाली वैज्ञानिक शक्तियों का सदुपयोग न किया और भविष्य में तृतीय विश्व-महायुद्ध छिड़ गया, तो समस्त संसार स्वाहा हो जायगा। किन्तु रूस ने यह पूर्व ही घोषित कर दिया है कि उसके द्वारा छोड़ गये इन भू-उपग्रहों का उद्देश्य राष्ट्रों को अपनी शक्ति से सशंकित करना नहीं है, बल्कि उसका उद्देश्य केवल विज्ञान के नये-नये आविष्कारों द्वारा जन-कल्याण के कार्यों में योग देना है, मानव की गगन-चुम्बिनी भावनाओं को पूरा करना है। रूस का यह विचार वास्तविकता के अत्यन्त निकट भी है। इस प्रकार ऐसी सम्भावना है कि निकट भविष्य मे अल्प-काल में ही मनुष्य उत्थान एवं उत्कर्ष के चरम विन्दु पर पहुँच जायगा।

नाप तौल की दाशमिक प्रणाली

(मेट्रिक सिस्टम)

हमारे देश में विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के सिक्के प्रचलित रहे हैं। ये सिक्के तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति एवं कला आदि के द्योतक हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में अनेक प्रकार के सिक्कों का उल्लेख हुआ है। इन विभिन्न प्रकार के सिक्कों पर सिंह, गाय, अश्व, चीता आदि के चित्र बने मिलते हैं। हमारे देश में जितने भी विदेशी आये, उन्होंने अपने-अपने अलग सिक्के चलाये। भारत में १९ वीं शताब्दी तक इन्हीं विभिन्न सिक्कों के कारण राजनीतिक-क्षेत्र में एकता स्थापित न हो सकी। एक बार देश में १८७० ई० में 'दाशमिक-प्रणाली' प्रचलित करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु उसमें किसी प्रकार की भी सफलता न मिली। सन् १९४४ ई० में भारतीय टकसाल के [illegible] मण्डल के एक सम्मेलन में भारत सरकार ने दाशमिक-सिक्कों के
उस समय के रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री सी० डी०
समर्थन किया, किन्तु भारत सरकार ने कहा कि
है। अस्तु, यह प्रस्ताव १९४५ ई० में प्रान्तीय
तथा व्यापारिक-मंडलों के समक्ष रक्खा गया,
के पक्ष में ही अधिकतर मत प्राप्त हुये। फलतः
भारत सरकार ने भारतीय सिक्का ऐक्ट १९०६ में
करने के हेतु एक विधेयक सन् १९४८ ई० में
। अशोक-कालीन सिक्के सन् १९४९ ई० में
प्रणाली पर भी विचार-विनिमय हुआ,
भारत इस प्रस्ताव को कुछ समय के

लिये स्थगित कर दिया गया। इसके पश्चात् सन् १९५५ ई० में आयोजन-आयोग के प्रयत्न से दाशमिक-प्रणाली के सिक्को के बाटो, एवं पैमानो आदि पर विचार-विमर्ष हुआ अन्ततोगत्वा सरकार ने दाशमिक-प्रणाली को प्रचलित करने का अन्तिम निर्णय दिया। परिणाम स्वरूप दाशमिक-सिक्के १ अप्रैल सन् १९५७ ई० से सम्पूर्ण देश मे शुरू किये गये। सर्वप्रथम उनका प्रचार शहरों मे हुआ, तत्पश्चात् गॉवो में भी प्रारम्भ किया गया। प्रारम्भ मे तो बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु बाद में कुछ कठिनाइयाँ कम होने लगीं। इन दाशमिक प्रणाली के सिक्को से निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) विभिन्न बैंकों तथा व्यापारियो के हिसाब-किताब में अत्यधिक सुविधा हुई।

(२) केन्द्रीय सरकार की आय मे वृद्धि हुई।

(३) वस्तुओ की लागत एवं मूल्य निर्धारण की प्रणाली प्रभावशालिनी हो गई।

(४) इस से मूल्यों के अल्प अन्तरों का अनुमान भलीभॉति लगाया जा सकता है।

(५) रुपये के दशमाश सिक्के हो जाने से आना, पैसा, पाई, आदि विभिन्न प्रकार के सिक्कों की उलझनें दूर हो गईं।

(६) देश मे नव-जागरण आया तथा प्रसुत देश के शरीर मे एक नयी चेतना एवं स्फूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

(७) नये सिक्के स्वतत्र देश के प्रतीक हो गये, इनमें नवागत स्वतंत्रता का आवाहन निहित है।

ऐसा ज्ञात हुआ है कि वर्तमान् समय मे विश्व के लगभग १०५ देशों ने सिक्कों के लिये दाशमिक-प्रणाली को ग्रहण किया है। इस समय देश में करीब एक अरब से भी अधिक सिक्के चल रहे हैं, और बम्बई, हैदराबाद, तथा कलकत्ते की टकसाले प्रतिदिन ३० लाख से अधिक सिक्के ढाल रही हैं। दाशमिक-प्रणाली १० की संख्या पर आधारित है। यदि इसमें सबसे बड़े सिक्के १०, १००, अथवा १००० के अनुपात मे चलने चाहिये तो सबसे छोटा सिक्का

१ के बराबर है। भारत में सिक्के की इकाई एक नया पैसा मानी गई है। इसके अतिरिक्त २, ५, १० पैसो के सिक्के तो निर्मित हो चुके हैं तथा २५ एव ५० नये पैसो के सिक्के निकट भविष्य मे और बनाये जायेंगे।

हमारी सरकार ने नये सिक्कों के साथ-साथ ३ वर्ष तक पुराने सिक्कों के चलने की भी अवधि दी है। सरकारी विभागों का हिसाब-किताब तो १ अप्रैल सन् १९५७ ई० से ही नये सिक्कों में होने लगा है। चूँकि इस समय नये और पुराने दोनों प्रकार के सिक्के चल रहे हैं, इसलिये हमारी सरकार ने सुविधा के लिये मूल्य में अन्तर होने के कारण पुराने सिक्कों का नये सिक्को में मूल्य निर्धारित कर दिया है। जैसे १ आने मे ६ नये पैसे, २ आने में १२ नये पैसे, ३ आने मे १९ नये पैसे, ४ आने में २५ नये पैसे, ८ आने में ५० नये पैसे, १२ आने में ७५ नये पैसे आदि। तीन वर्ष अर्थात् ३१ मार्च सन् १९६० ई० के बाद नये सिक्कों पर से 'नया' शब्द हटा लिया जायग, क्योंकि तब तो केवल वे ही सिक्के रहेंगे। नये एवं पुराने का तो कोई शब्द ही नहीं रहेगा। सरकार की ओर से ऐसी सूचना मिली है कि २५ नये पैसे और १०० नये पैसे के सिक्के शुद्ध गिलट के हैं और २, ५, १०, नये पैसों के सिक्के ताँवे तथा गिलट के सम्मिश्रण हैं। एक नये पैसे का सिक्का शुद्ध ताँवे का है।

यद्यपि इस समय प्रा म्भ में तो लोगों को नये सिक्कों की गणना में अत्यधिक कठिनाई का अनुभव हो रहा है, किन्तु निकट भविष्य में अति शीघ्र ही यह कठिनाई दूर हो जायेगी। इस समय दाशमिक सिक्कों के पश्चात् पैमाने, तथा बाटों को भी दाशमिक-प्रणाली के अनुसार किया जाना अत्यावश्यक हो गया है।

मेट्रिक प्रणाली में इकाई से बड़े पैमानों के नाम के पूर्व डेका (१० गुना), हैक्टो (१०×१०=१०० गुना), और किलो (१०×१०×१०=१००० गुना), शब्द जोड़े जाते हैं, तथा उप-इकाईयों के पहले डेसी (१/१०), सेंटी (१/१००), और मिली (१/१,०००) शब्द जोड़े जाते हैं।

लम्बाई नापने की आधारभूत इकाई मीटर=४० इंच। किलोमीटर=५ फर्लांग।

उप इकाइयाँ :--

१० मिलीमीटर = १ सेंटीमीटर

१० सेंटीमीटर = १ डेसीमीटर

१० डेसीमीटर = १ मीटर

बड़े पैमाने :—

१० मीटर = १ डेकामीटर

१० डेकामीटर = १ हैक्टोमीटर

१० हैक्टोमीटर = १ किलोमीटर

इस प्रकार लगभग ६-१० वर्षों में नाप-तौल की सभी प्रणालियाँ समाप्त होकर, दाशमिक प्रणाली ही रह जायेंगी। यह प्रणाली व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति मे अत्यधिक सहायक सिद्ध होगी। इतना ही नहीं, अपितु देश में नाप-तौल की मद्रासी, पंजाबी बगाली, आदि जो विविध प्रणालियाँ हैं, उनके स्थान पर एक प्रणाली लागू होगी। इस प्रकार केवल आर्थिक-क्षेत्र में ही एकता न होगी, बल्कि देश में अन्य क्षेत्रों में भी पर्याप्त प्रगति होगी।

हथकरघा और उसका भविष्य

किसी समय भारत में बने हथकरघे के कपड़े विश्व-विख्यात थे। उनकी नयनाभिराम सुन्दरता और कारीगरी संसार भर के ग्राहकों को बरबस-अपनी ओर खींच लेती थी। उनके बुनकारों को राजा, प्रजा, तथा अधिकारी सभी से सहायता मिलती थी। भारत के हर भाग के कपड़े की अपनी खास विशेषतायें थीं। ईसा से पाँच हजार वर्ष पहले मिश्र की ममियों में भारत की सबसे अच्छी मलमल लपेटी जाती थी। हिरोडोटस, मेगस्थनीज, और प्लीनी जैसे यूनानियों ने भी हजारों वस्त्रों की प्रशंसा की है। मेगस्थनीज ने लिखा है—"भारत की मलमल मे कढ़े हुये फूल और सोने जवाहरात का काम देखते ही बनता है।" इटली (Italy) के प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने जो १३ वीं शताब्दी में भारत आया था, लिखा है—"तेलुगु की मलमल इतनी महीन और मुलायम होती है कि दुनिया में किसी भी देश के राजा या रानी इन्हें अवश्य पहिनना चाहेंगे।" एक फ्रॉसीसी कलाविद् ने जो १७वीं शताब्दी में भारत आया था, लिखा है कि—"६० हाथ लम्बी पगड़ी बाँध लेने पर भी पता नहीं चलता था कि सिर मे कोई वस्तु है। १५ गज अच्छी मलमल का वजन केवल १०० ग्राम होता था।" ढाका की मलमल के लिये 'बहता पानी' 'हवाई-जाली' या 'सन्ध्या का झुटपुट' आदि की उपमायें दी जाती थीं।

एकाधिकार का पतन :—कई शताब्दियों तक हथकरघे के कपड़े का एकाधिकार बना रहा। फैशन परस्तो, और सामन्तों की अधिकता के कारण इस उद्योग के प्रचार की कोई आवश्यकता प्रतीत नही हुई। परन्तु बिजली के करघों के आविर्भाव ने अर्थात् कपड़े की मिलो ने इस एकाधिकार का धीरे-धीरे हनन शुरू किया, क्योंकि अब कम परिश्रम से सस्ता और अधिक

मात्रा में कपड़ा बनने लगा। मिलों के कपड़ों की पहुँच धीरे-धीरे जनता के सभी वर्गों तक होने लगी। पर फिर भी, यह उद्योग हथकरघे को जड़ से नहीं उखाड़ सका। बुनकरों ने हिम्मत न हारी। उनके रगों मे उनके पूर्वजों की कला समायी हुई थी। अतः कष्ट झेलकर भी उन्होंने इसे जीवित रक्खा। हथकरघा उद्योग आज भी देश भर मे फैला हुआ है। हर क्षेत्र की इसकी अपनी विशेषतायें हैं। इसे आगे बढ़ाने के साथ-साथ इसमें सुधार भी किया गया है।

प्रचार के साधन :—अखिल भारतीय हथकरघा मण्डल ने हथकरघे के कपड़े के प्रचार के लिये एक व्यापक योजना बनाई। अखबारों तथा सिनेमा घरों में विज्ञापन दिये जाने लगे। प्रदर्शनियाँ लगाई गयीं और प्रमुख शहरों में इनके 'प्रदर्शन-कक्ष' भी खोले गये। अन्तर्प्रान्तीय डिपो बनाने के लिये मण्डल ने छूट फंड मे से वित्तीय सहायता भी दी। सन् १९५५ मे अखिल भारतीय हथकरघा वस्त्र-विक्रय-सहकारी समिति की स्थापना की गई। समिति ने बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ते में अपने बिक्री केन्द्र भी खोले। इनमें विभिन्न उत्पादन-केन्द्रों से आया हुआ माल संचित किया जाता है और उसे बेचा जाता है। ये केन्द्र प्रचार-कार्य भी करते हैं। हथकरघा-मण्डल देश की बड़ी-बड़ी प्रदर्शनियों मे भी भाग लेता है।

विदेशी-बाजार :—पश्चिमी एशिया तथा पूर्वी एशिया के देशों में अपने पुराने बाजार को नये सिरे से चालू करने के लिये मण्डल ने एक योजना बनाई जिसे केन्द्रीय सरकार की सहायता से मद्रास राज्य हथकरघा बुनकर-सहकारी-समिति ने लागू किया। इस समिति ने सिंगापुर, बैंकाक, कोलम्बो, अदन तथा क्वालालाम्पुर मे अपने बिक्री केन्द्र खोले हैं। समिति ने विदेशों से आर्डर लेने के लिये वहाँ अपने व्यावसायिक एजेण्ट भी नियुक्त किये हैं जो घूमते रहते हैं। यह योजना केन्द्रीय सरकार की सहायता से जनवरी सन् १९५८ से चालू की गई है।

पूर्वी क्षेत्र में हथकरघा उद्योग की प्रगति :—चिरकाल से हथकरघा-उद्योग का पूर्वीय क्षेत्र में एक खास स्थान रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि बंगाल की स्त्रियाँ हथकरघे के कपड़ों को—खास तौर से साड़ियों को बहुत पसन्द करती हैं, क्योंकि वे देखने में सुन्दर और टिकाऊ होती हैं। शान्तिपुर,

राजबलहट, बेगमपुर, श्रीनिकेतन, देवीपुर, तथा धनियाखाली की साड़ियाँ तथा धोतियाँ अपनी डिजाइन और सुन्दर किनारियों के लिये प्रसिद्ध हैं। मुर्शिदाबाद, बाकुरा. और विष्णुपुर के हथकरघे के रेशमी कपड़े मजबूती और सुन्दर छपाई के लिये प्रसिद्ध हैं। बिहार और मणिपुर में बनने वाले कमरे की सजावट के हथकरघे के कपड़ों की हर जगह प्रशंसा होती है और ऊँचे वर्ग के लोग उन्हें बहुत पसन्द करते हैं।

त्रिपुरा, मणिपुर, उत्तर-पूर्वी सीमान्त क्षेत्र तथा असम राज्य रहने वाले आदिम जाति के लोग अभी तक हाथ से ढरकी को फेंकने वाले करघों पर ही कपड़े बुनते हैं, जब कि और राज्यों के आदिम जाति के लोगों ने कपड़ा बुनाई कार्य को प्रायः छोड़ ही दिया है। यद्यपि मिलों में बने तरह-तरह के कपड़े का चलन बहुत बढ़ता गया है और बंगाल के हथकरघे के कपड़ों की भी इन क्षेत्रों में बहुत खपत होने लगी है, फिर भी यहाँ के आदिम जाति के लोगों ने अपनी कला को अक्षुण्ण रखा है और वे अब भी हथकरघे से बहुत सुन्दर चीजें तैयार करते हैं। उनकी चीजों में मौलिकता होती है. और साथ ही वे आकर्षक, रंग-बिरंगी और टिकाऊ होती हैं। कपड़ों पर विभिन्न प्रकार के रङ्ग-बिरंगे चित्र, और फूल-पत्ती आदि बनाना उनकी खास विशेषता है। यहाँ तक कि आदिम जातियों के प्रायः प्रत्येक परिवार में एक करघा होता है, जिस पर खाली समय में वे अपने लिये आवश्यक कपड़े बुन लेते हैं। बंगाल का विभाजन हो जाने के कारण ढाका और तेगेल के प्रसिद्ध बुनकरों पर बड़ा संकट आया। ये लोग ढाका की प्रसिद्ध जामदानी और तेगेल की साड़ियाँ बुनते थे। अब कलकत्ते के पास जहाँ ढाका से आये हुये कुछ शरणार्थी बस गये हैं, जामदानी की कुछ किस्में बुनी जाने लगी हैं।

बुनकरों की सहायता और हथकरघा उद्योग की उन्नति के लिए राज्य सरकारों ने जो योजनायें बनायी हैं, उन्हें पूरा करने के लिए भारत सरकार सहायता देती है। बुनकरों के लिए बस्तियाँ बनाने, उन्हें सुधरे हुये औजार देने, पक्के रङ्ग के कारखाने स्थापित करने, हथकरघे के माल की बिक्री के लिए प्रबन्ध करने तथा सहकारिता समितियों को प्रोत्साहन देने की योजनाओं के लिए प्रांतीय सरकारों को अनुदान एवं ऋण दिये जाते हैं। हथकरघे के कपड़े की बिक्री पर कुछ छूट दी जाती है, जिससे कि ये कपड़े मिलों में बने कपड़ों

के सामने बाजार मे टिक सके। बिहार की सरकार बिहार शरीफ में एक कताई का कारखाना स्थापित कर रही है जिससे कि बुनकरों को उचित कीमत पर सूत मिल सके। गुजलार बाग मे सूत की रंगीनी और तैयार कपड़ों पर चमक लाने के लिये एक कारखाना स्थापित किया गया है। यहाँ सूत की पक्की रगाई होती है और कपड़ा पर पालिश करके चमक लायी जाती है, जिमसे वे खरीदारो को देखने मे अधिक अच्छे लगते हैं। राज्य-सरकार हथ-करघे की बिक्री बढाने के लिए १०० दुकानें चला रही है, ३ अन्तर्राज्य तथा ४ केन्द्रीय गोदाम स्थापित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त दो चलती फिरती गाड़ियाँ हथकरघे के कपड़ा का प्रचार करती हैं। सरकार ने चार रंगाई के कारखाने और तरह-तरह की डिजाइन तैयार करने वाले भी ७ कारखाने स्थापित किये हैं। एक शिक्षण सस्था आदिवासियों के बुनने की शिक्षा देने के लिए स्थापित की गई है।

बम्बई, मध्य प्रदेश और मैसूर का हथकरघा उद्योग :—आजकल बम्बई, मध्यप्रदेश, तथा मैसूर में देश भर के हथकरघे के १८ प्रतिशत यानी ५१४००० हथकरघे काम कर रहे हैं। इसमें से लगभग २७०००० हथकरघे १६००० सहकारी सस्थाये चला रही हैं।

दिल्ली का हथकरघा उद्योग :—दिल्ली में हथकरघे के उद्योग की जो उन्नति हुई है, उसका अनुमान संक्षेप मे इन आंकड़ों से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	सहकारी समितियों की सख्या	सदस्यों की सख्या	करघों की संख्या	बुनकरों की सख्या	अनुमिति उत्पादन (गजों में)
१६५१	८	१५८	६५	६३	३१०००
१६५२	६	१८२	७०	८७	३७०००
१६५३	११	२१५	७६	१००	४५०००
१६५४	१५	२७०	१२३	१२३	७१०००
१६५५	२१	३६८	१८४	१६१	१००,०००
१६५६	३४	६५१	३८२	३६१	२०३,०००
१६५७	५१	८६०	५३२	५२२	३६१,०००

सन् १९५८-५९ में दिल्ली में हथकरघों द्वारा ५,४१,००० गज कपड़ा तैयार हुआ। इस प्रकार इस तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन १९५५ से अधिक बढ़ा है, क्योंकि इसी वर्ष से इस उद्योग की उन्नति की योजना पर वास्तव में अमल किया गया।

हथकरघा उद्योग का भविष्य :—वर्तमान समय में हथकरघा उद्योग देश का सबसे बड़ा कुटीर उद्योग है, जिसके द्वारा प्रायः २ करोड़ व्यक्ति रोटी कमाते हैं। देश के निवासियों की प्रायः एक तिहाई आवश्यकता हथकरघे के उद्योग द्वारा पूरी होती है और देश की अर्थ व्यवस्था में यह उद्योग महत्वपूर्ण भाग ले रहा है। हथकरघा उद्योग से देश की बेकारी की समस्या भी शीघ्रातिशीघ्र दूर हो जाय। देश के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इस अत्यन्त प्राचीन उद्योग की रक्षा एवं उन्नति के लिये अधिक से अधिक हथकरघे के कपड़े का उपयोग करें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि बुनकर लोग बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार नयी-नयी किस्म का अच्छे से अच्छा कपड़ा तैयार करने की ओर ध्यान दें। यदि ऐसा किया गया, तो निःसन्देह हथकरघा-उद्योग का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल एवं आशामय सिद्ध होगा।

आइज़नहावर की मध्यपूर्व नीति

मध्यपूर्व के विषय में यह कहावत 'He who controls the Middle East controls the world' नेपोलियन के समय से आज तक ज्यों की त्यों महत्त्वपूर्ण बनी हुई है। विश्व के राष्ट्रों मे मध्यपूर्व की महती महत्ता के मुख्य दो कारण हैं :—(१) मध्यपूर्व के देश तेल उद्योग के सबसे बड़े केन्द्र हैं। संसार भर में जितना तेल उत्पन्न होता है, उसका ⅔ भाग मध्य पूर्व में पाया जाता है। आज के यान्त्रिक-युगमें तेल की महत्ता अनिर्वचनीय है। (२) मध्यपूर्व विश्व के तीन महाद्वीपों योरप, अफ्रीका एव एशिया की ड्योढ़ी है। यही कारण है कि मध्यपूर्व को लेकर विश्व के अनेक राष्ट्रो मे युद्ध तथा वैर वैमनस्य होते रहते हैं। वर्तमान समय में विश्व के दो प्रबल राष्ट्रों अमेरिका एवं रूस के बीच सघर्प चल रहा है। ये दोनों राष्ट्र एक दूसरे के प्रबल विरोधी हैं। अमेरिका पूँजीवादी देश है, और रूस जनवादी। मध्यपूर्व पर अमेरिका अपनी पूंजीवादी विचार-धाराओं के कारण आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, जब कि रूस मध्यपूर्व पर उनकी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये तथा अमेरिका की पूंजीवादी नीति को नष्ट करने के लिये ध्यान रखता है। यही कारण है कि जब भी अमेरिका मध्य-पूर्व पर अपना इन्द्रजाल फेंकता है, रूस उसको छिन्न-भिन्न कर देता है।

मध्य-पूर्व के राष्ट्र मिश्र, ईरान, ईराक, सऊदी अरब, टर्की, जोर्डन, सीरिया, लेबनान आदि हैं। ये सभी राष्ट्र वर्तमान समय में अमेरिका की कूटनीति के कारण दो विरोधी दलों में बँट गये हैं। प्रथम वे देश हैं, जो अपनी स्वतंत्र नीति पर अटल हैं, तथा रूस, अमेरिका किसी की भी दासता को नहीं चाहते हैं। दूसरे वे देश हैं, जो अर्थ-लोभ के कारण अमेरिका के चगुल में फँसे हुये हैं। इन राष्ट्रों को अमेरिका तभी आर्थिक एवं सैनिक

सहायता दे सकता है, जब कि वे उसकी कतिपय शर्तों को स्वीकार करें। किन्तु रूस बिना किसी शर्त के इन देशों को आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने को कटिबद्ध है। परिणाम स्वरूप इन राष्ट्रों की निसर्गतः प्रवृत्ति रूस की ओर है।

अमेरिका ही नहीं, अपितु ब्रिटेन, फ्रांस एवं इजरायल भी इन मध्य-पूर्व के देशो पर अपनी स्वार्थ-परक दृष्टि लगाये हुये हैं। इन तीनों राष्ट्रों ने मिश्र पर अक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के समय में रूस के प्रधान मंत्री मि० बुलगानिन ने यह घोषणा की थी कि "यदि ब्रिटेन, फ्रांस, तथा इजरायल युद्ध बन्द नहीं करते तो रूस को मिश्र की सहायता करनी पड़ेगी।।" इसी कारण मध्य-पूर्व देशों में रूस के प्रभाव का अत्यधिक विस्तार हुआ। रूस के इस प्रभाव विस्तार को देखते हुये अमेरिका को इस बात की विशेष-चिन्ता हुई कि कहीं मध्य-पूर्व के तेल-स्रोत बिल्कुल ही उसके हाथ से निकल न जाँय।

यद्यपि अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस एकसी मनोवृत्ति एव विचारधारा वाले राष्ट्र हैं, किन्तु इन राष्ट्रों में भी अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण अन्तर्विरोध है। अमेरिका मध्य-पूर्व के देशों पर ब्रिटेन, फ्रांस आदि का अधिकार समाप्त कर केवल अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता है। इस बात को ध्यान में रखते हुये अमेरिका के प्रेसीडेन्ट आइजन हावर ने अपनी एक नीति बनाई जिसे 'आइजन हावर की मध्य-पूर्व नीति" कहा जाता है। अपनी इस नीति के अन्तर्गत प्रेसीडेन्ट आइजन हावर ने कम्युनिज्म के प्रभाव को बढ़ने से रोकने के लिये मध्य-पूर्व के देशों को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने की योजना बनाई। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी इस योजना के द्वारा आइजनहावर महोदय ने अपने समस्त विचारो की पूर्ति एकाएक करनी चाही। अमेरिका के ही प्रसिद्ध कमेन्टेटर मिस्टर ड्रिडपिमर्सन का कथन है कि "अमेरिका के सम्पूर्ण मध्य-पूर्व की नीति की कुंजी तेल है।" अपनी मध्य-पूर्व नीति विषयक योजना को प्रेसीडेन्ट आइजनहावर ने अमेरिका की सीनेट के दोनों सदनों में विचार-विमर्ष के हेतु प्रस्तुत किया। ९ मार्च सन् १९५७ ई० को अमेरिकी सीनेट के दोनों सदनों ने इनकी मध्य-पूर्व नीति को स्वीकार कर लिया। उनके योजना की प्रमुख दो बातें इस प्रकार हैं:— (१) यदि

मध्य पूर्व के किसी भी देश पर कभी भी कोई साम्यवादी आक्रमण हो और आक्रान्त देश सहायता की याचना करे तो प्रसीडेन्ड को यह अधिकार होगा कि वह अमेरिका की सैनिक शक्ति का प्रयोग उस देश की रक्षा के लिये करे। (२) ३० जून १९५७ तक मध्य-पूर्व के देशों में व्यय करने के लिये शासन को २०० मिलियन डालरों की धनराशि स्वीकृत की गई जिसे बिना किसी कानूनी रुकावट के व्यय किया जा सकता है।

प्रेसीडेन्ट महोदय की इस नीति के प्रकाशित होते ही ससार के लगभग सभी राष्ट्रों पर इसकी अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया हुई। ईराक और लेबनान को छोड़कर स्वयं मध्य पूर्व एशिया के देशों ने इस नीति की आलोचना की। रूस, चीन, भारत, एवं पोलैण्ड आदि देशों के प्रधान मंत्रियों ने इस नीति को आक्रमणकारी एवं उपनिवेशवादी बतलाया। सभी ने इसे विश्वशान्ति मे बाधक ठहराया। जहाँ सीरिया, ईराक एवं मिश्र ने इस नीति को पूर्णतः रद्द कर दिया, वहाँ सऊदी अरब ने उसे स्वीकार कर लिया। कुछ भी हो, अमेरिका को यह सफलता अवश्य मिली कि उसने मध्य-पूर्व के अरब राष्ट्रों की उस अखण्ड ऐक्य-शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जो स्वेज पर ब्रिटेन एवं फ्रांस के सम्मिलित आक्रमण के समय दिखाई पड़ती थी। ईरान, सउदी-अरब, ईराक तथा जार्डन आदि ने अमेरिका के साथ होकर अपने मित्र-राष्ट्रों के साथ विश्वासघात किया।

अमेरिका की ऐन्द्रजालिक कूट नीति से आतकित होकर आइजन हावर की इस नीति को प्रभाव-रहित करने के लिये रूस ने एक अन्य योजना बनाई। इसमें उसने यह सूचित किया कि वह मध्यपूर्व के सभी राष्ट्रो को बिना शर्त ऋण देगा। मिश्र और सीरिया बिना किसी शर्त के रूस से ऋण ग्रहण कर अपनी उन्नति मे संलग्न हैं। रूस ने इसके साथ ही यह भी घोषित किया कि उसका मध्य पूर्वी राष्ट्रों से कोई भी स्वार्थ नहीं है। क्योंकि इच्छित तेल वह स्वयं ही उत्पन्न कर लेता है। उसका उद्देश्य केवल अमेरिका के स्वार्थयुक्त दूषित विचारो को चूर्ण करना है। रूस ने यह भी घोषित किया कि इन मध्य-पूर्व के देशों के आन्तरिक मामलों मे कोई भी राष्ट्र हस्तक्षेप न करे तथा इनकी स्वतंत्रता एवं सार्वभौमता का सम्मान किया जाय। मध्यपूर्व में स्थित

पश्चिमी सैनिक अड्डों को समाप्त कर दिया जाय। रूस के इस प्रस्ताव को अनेक राष्ट्रों ने भी स्वीकार किया।

यद्यपि इस समय में भी मध्यपूर्व के तेल उद्योगों पर अधिकांश रूप में ब्रिटेन का ही अधिकार है, तथा अमेरिका अपनी योजना के प्रचारार्थ अनेकानेक प्रयत्न कर रहा है तथापि ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मध्यपूर्व के सभी देश अमेरिका तथा ब्रिटेन के वास्तविक उद्देश्यों को समझकर शीघ्र ही उनकी गर्हित नीति की निन्दा करेंगे और स्वतंत्र हो जायेंगे। यही नहीं बल्कि आगे चलकर अमेरिका, ब्रिटेन, तथा फ्रांस आदि की कोई भी योजना इन देशों को वशीभूत न कर सकेगी। इस प्रकार वह दिन निकट ही है, जब कि मध्यपूर्वीय सभी देशों का उनके विशाल तेल-कोषों पर स्वायत्त होगा।

———

निश्शस्त्रीकरण

सृष्टि के आरम्भ-काल से ही मनुष्य ने अपनी रक्षा के लिये शस्त्र बनाकर उनको प्रयोग करना सीखा है। पहले जब मनुष्य जगलो अवस्था में रहता था तब वह पाषाणनिर्मित अस्त्रों द्वारा भयकर जीव जन्तुओं से अपनी रक्षा करता था। मनुष्य की प्रगति के साथ-साथ उसके अस्त्र-शस्त्रों में भी प्रगति हुई। कालान्तर में वह समय आया जबकि मनुष्य जंगली अवस्था को छोड़कर छोटे-छोटे गाँवो तथा बस्तियों में रहने लगा। इसके बाद, उसने अच्छे-अच्छे नगरों का निर्माण किया। इस प्रकार अपनी महत्त्वाकाक्षा के फलस्वरूप मनुष्य को मनुष्य से अपनी रक्षा की आवश्यकता प्रतीत हुई। क्योंकि एकाधिकार, एवं प्रभुत्व के कारण मनुष्यों मे पारस्परिक वैषम्य की भावना प्रादुर्भूत हुई। लोग आपस में लड़ने झगड़ने लगे। इस प्रकार इन अस्त्र-शस्त्रों की भयंकरता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई, और आज वह स्थिति आगई जब कि मानव की शस्त्र-शक्ति अपने विकास की चरमसीमा पर पहुँच गई।

वर्तमान काल विज्ञान का युग है। जिधर ही दृष्टिपात कीजिये, उधर ही विज्ञान की वस्तुयें ही नजर आती हैं। विज्ञान के बल से मनुष्य ने जहाँ वायुयान, रेडियों, रेल, तार, टेलीफोन, विद्युत आदि अनेक अपने सुख-सुविधा की वस्तुओं का निर्माण किया है, वहीं उसने हिंसात्मक एवं ध्वसकारी ऐसे अस्त्र-शस्त्रों की भी सृष्टि की है, जिनसे ससार की सारी जनता भयाक्रान्त है। उसे हर घड़ी यह आशंका बनी रहती है कि न जाने किस दिन विश्व युद्ध छिड़ जाय और देखते-देखते ही सारा संसार स्वाहा हो जाय।

वर्तमान समय मे ससार में मुख्य रूप से दो वर्ग बने हुये हैं। एक वर्ग मे साम्यवादी राष्ट्र एवं उनके समर्थक हैं तथा दूसरे में साम्राज्यवादी एवं उनके अनुवर्ती राष्ट्र हैं। दोनों ही एक दूसरे से बढ़कर हैं।

इस समय विभिन्न राष्ट्र अस्त्र-शस्त्रों पर अपार धन-राशि व्यय कर रहे हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सम्पूर्ण राष्ट्रों का अस्त्रों तथा सैनिकों पर वार्षिक व्यय लगभग एक अरब पौण्ड है। इनमे साम्राज्यवादी राष्ट्रों के पास लगभग ८० लाख सैनिक, तिरपन हजार वायुयान, एवं कई हजार जहाज हैं। साम्यवादी वर्ग के पास नब्बे लाख शस्त्रधारी सैनिक, ५० हजार वायुयान, तथा सहस्त्रों जहाज हैं। इस समय संसार में तीन सर्वोच्च शक्तियाँ हैं—रूस, अमेरिका, और ब्रिटेन। जब से द्वितीय विश्व युद्ध मे अगस्त १९४५ में अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी नगरों पर अणुबम गिराये, तब से इन बमों की विनाशकारी शक्तियों को देखकर सारा संसार थर्रा रहा है। फिर आज तो अणुबम से भी अधिक शक्तिशाली एवं सर्वनाशी बमों का निर्माण कर लिया गया है। हाइड्रोजन एवं कोबाल्ट बमों की विनाशकारी शक्तियों का वर्णन मात्र ही आँखों के सामने महाप्रलय का चित्र प्रस्तुत कर देने के लिये पर्याप्त हैं। ऐसी स्थिति मे मनुष्य के भीतर चिर-प्रसुत शान्ति की भावना जगी, और सभी राष्ट्रों के सम्मुख यह समस्या उठ खड़ी हुई कि विश्व मे शान्ति कैसे स्थापित की जाय? इसी चिर-प्रसुत शान्ति की भावना से अनुप्रेरित होकर प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात् विश्व के राष्ट्रों ने सन् १९२० मे 'लीग आफ नेशन्स' (League of Nations) की स्थापना की। 'लीग आफ-नेशन्स' की स्थापना तो हो गई, पर वह अधिक काल तक स्थायी न रह सकी, और एक बार मानव की पशुवृत्ति पुनः उभरी और वह 'लीग आफ नेशन्स' को भंग कर दूसरे विश्व महायुद्ध मे कूद पड़ा। दूसरा विश्व महायुद्ध ६ वर्षों तक चलता रहा। इन ६ वर्षों का इतिहास मानव जाति के पतन, नाश एवं कुकृत्यों का इतिहास है। १९४५ में दूसरे विश्व महायुद्ध का अन्त हुआ, और मानव की शान्ति चाहने वाली भावना पुनः जागी, परिणामस्वरूप विश्व के सभी प्रमुख राष्ट्रों ने २५ अक्टूबर १९४३ में सेनफ्रान्सिसको में एक विश्व संस्था को जन्म दिया, जो 'संयुक्त राष्ट्र संघ' (यू० एन० ओ०) के नाम से विख्यात हुई। इस संस्था को स्थापित करने मे राष्ट्रों का यही उद्देश्य रहा कि अब भविष्य में सारे राष्ट्र इस बात के लिये प्रयत्न करें कि युद्ध न हो, उनके सारे पारस्परिक झगड़े, पास्परिक विचार विनियम द्वारा इस संस्था में ही सुलझा लिये जाँय। इस समय तक यह संस्था सफलतापूर्वक अपने उद्देश्य में संलग्न है।

विवाद का विषय यह है कि जब सभी राष्ट्र इस बात से सहमत हों कि विश्व-कल्याण की दृष्टि से 'निश्शस्त्रीकरण' परमावश्यक है, तब भी 'सयुक्त राष्ट्र-सघ' मे दो विरोधी दल बन गये हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ में प्रत्येक दल अपने लाभ को ही दृष्टि मे रखकर प्रस्ताव-प्रस्तुत करता है, दूसरे दल के हिताहित का कुछ भी ध्यान नहीं रखता। इस नीति से ऐसा प्रतीत होता है कि निश्शस्त्रीकरण हो ही नहीं सकता। निश्शस्त्रीकरण तभी संभव है, जब कि दोनो दल केवल अपने ही हित का ध्यान न रखकर, दूसरे दल के हित का भी ध्यान रक्खेंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि निश्शस्त्रीकरण से क्या लाभ हैं? इसका उत्तर यह है कि निश्शस्त्रीकरण से सभी राष्ट्रों को राजनीतिक-लाभ है। विश्व की दोनों महान् शक्तियाँ—साम्यवादी और साम्राज्यवादी युद्धों से शिथिल हो चुकी हैं, इसलिये वे शान्ति की शरण चाहती हैं और निश्शस्त्रीकरण का समर्थन करती हैं। इसके अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका के अधिकाश देश, अभी थोड़े ही काल से दासत्व की जजीर से उन्मुक्त हुये हैं। वे अभी अपनी स्वतन्त्रता के प्रथम चरण (शैशव-काल) मे ही हैं। इसलिये ये निश्शस्त्रीकरण के पक्ष में हैं, जिससे बड़े राष्ट्र इन्हें आक्रान्त न कर सकें। परन्तु केवल अणु-शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने से ही निश्शस्त्रीकरण की नीव दृढ़ नहीं रह सकती। सबसे आवश्यक बात यह है कि अणु तथा हाइड्रोजन बम जैसे भयंकर अस्त्रों के परीक्षण तथा उत्पादन पर भी शीघ्र ही रोक लगायी जानी चाहिये। इसके साथ ही विश्व के सभी राष्ट्र अपने निजी स्वार्थों को छोड़कर सच्चे हृदय से विश्व शान्ति की कामना करें और गुटबन्दी की भावना छोड़ दें। सबसे उचित तो यही होगा कि विश्व के सभी राष्ट्र यह घोषणा करें कि भविष्य में वे कभी भी इन भीषण अस्त्रों का प्रगोग नहीं करेंगे। यदि ऐसा किया गया तो निकट भविष्य में व्यापक मानव-कल्याण होगा, अन्यथा उसके लिये निस्सन्देह प्रलय-उपस्थित हो जायगा।

———

प्रेस और उसकी शक्ति

आज की वैज्ञानिक-युग की कई देनो मे से 'प्रेस और उसकी शक्ति' भी एक देन है। संसार के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में 'प्रेस और उसकी शक्ति' का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समाचार-पत्रों के माध्यम से प्रेस समस्त देशों की जनता एवं सरकार पर अपना शक्तिशाली प्रभाव रखते हैं। प्रेस द्वारा हमें विभिन्न प्रकार के समाचार ही नही ज्ञात होते, अपितु उसके द्वारा हमे राजनीतिक गुत्थियाँ भी मालूम होती हैं। यही कारण है कि हमारी स्वतन्त्रता के उपकरणों में 'प्रेस और उसकी शक्ति' को भी एक महत्त्वशाली उपकरण माना गया है। प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली में सरकार पूर्णतः जनता के मत पर ही निर्भर रहती है और जनमत का पथ-प्रदर्शक एकमात्र प्रेस ही होता है। समाचार-पत्रों की सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा राजनीतिक पेंचीदी गुत्थियों को पढ़कर जनता उसी के अनुकूल अपने मत को निश्चित कर लेती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा दैनिक समाचार-पत्र हमारे राजनीतिक विचारों को प्रतिदिन प्रभावित करता रहता है। इसी को लक्ष्य में रखते हुये महात्मा गाँधी ने कहा था कि—'प्रेस मे अपार शक्ति है। परन्तु जिस प्रकार अनियंत्रित जलधारा ग्रामों को डुबो देती है तथा फसलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है, उसी प्रकार अनियन्त्रित लेखनी भी जनता की सेवा करने साथ-साथ कभी-कभी उसकी तबाही का कारण बन जाती है।'

जिस समय भारत मे स्वतन्त्रता संग्राम चल रहा था, उस समय प्रेसों ने बहुत बड़ी सहायता की थी। जब-जब अंग्रेजी सरकार कांग्रेसी नेताओं को जेल में बन्द करती थी, तब-तब प्रेस ही एकमात्र ऐसी शक्ति थी जो जनता का पथ-प्रदर्शन करती थी। देश-भक्ति का प्रचार करने के कारण ही कई समाचार-पत्रों पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिये गये तथा उनका प्रकाशन कार्य अवरुद्ध हो गया। यहाँ तक कि समाचार-पत्रों की जमानतें भी जब्त कर ली गईं। दूसरा प्रेस की शक्ति का उदाहरण हमारे पास 'मुस्लिम-लीग' का है। मुस्लिम-लीग के प्रेस ने पाकिस्तान के निर्माण मे सर्वाधिक सहायता पहुँचाई।

इस पत्र में सर्वदा हिन्दुओं के प्रति भर्त्सना एवं घृणा के विचार प्रकाशित होते रहे, और अपना जातीय पत्र समझकर मुसलमान इसकी बातों पर श्रद्धा-पूर्वक विश्वास करते रहे। परिणाम यह हुआ कि इस पत्र ने मुसलमानों में जातीयता एवं साम्प्रदायिकता की भावना कूट-कूट कर भर दी। सन् १९४७ के हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक संघर्ष, दगा एवं खून-खराबी के लिये 'मुस्लिम-लीग" के पत्र को ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। प्रेस और समाचार-पत्र देश की राजनीति के सबल स्तम्भ हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने प्रेस की स्वतन्त्रता को चार प्रमुख स्वतन्त्रताओं में सम्मिलित किया था। देश के अधिकांश नेता अपने जीवन-काल मे प्रेस के सम्पादक रह चुके हैं। महात्मा गाँधी जी 'हरिजन', 'नव-जीवन' और 'दि यंग इण्डिया' के सम्पादक रह चुके थे। जिन्ना साहब भी 'दि डान' नामक दैनिक समाचार-पत्र के कुछ काल तक सम्पादक रहे। यही नही बल्कि इतिहास मे अनेक राजनीतिक योद्धाओं ने भी प्रेस के महत्व को स्वीकर किया है। इतिहासप्रसिद्ध कुशल राजनीतिक हिटलर ने कहा था कि "मैं प्रेस को भी पियानो बाजे की भाँति प्रयोग करना चाहता हूँ।"

प्रेस एक ऐसा महत्त्वपूर्ण माध्यम है, जिसके द्वारा सरलतापूर्वक जनता के विचार प्रकाशित होते हैं। कुछ समाचार-पत्र तो विभिन्न संस्थाओं से सबन्धित होते हैं। ऐसे संस्थागत समाचार-पत्र अपनी पार्टियों के हित को ध्यान में रखते हुये ही समाचारों को प्रकाशित करते हैं। वस्तुतः उनका प्रमुख उद्देश्य अपनी पार्टी के प्रभाव को बढ़ाना तथा उसका प्रचार करना मात्र ही होता है। उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि—"अनुचित उचित विचार तजि, छापैं दल की बात।" रूस का 'दी प्रवदा' नामक समाचार-पत्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह पत्र रूस की साम्यवादी पार्टी के प्रभाव एवं हित को ही ध्यान मे रखकर अपना समाचार प्रकाशित करता है। इसी प्रकार भारतीय साम्यवादी पार्टी का समाचार-पत्र 'दि प्यूपिल्स एज' है। ऐसे समाचारपत्र एकांगी एवं अपनी पार्टी विशेष के हित में ही होते हैं।

वास्तव मे एक सम्पादक में वह शक्ति होती है जिसके द्वारा वह सारे समाज में एक बहुत बड़ी क्रान्ति उत्पन्न कर सकता है। उसकी शक्ति बेजोड़ है, उसकी लेखनी कृपाण से भी अधिक शक्तिशालिनी होती है। यही नहीं,

बल्कि एक सम्पादक अथवा लेखक मे वह शक्ति होती है कि वह देश में, सैकड़ों, सहस्त्रों एवं करोड़ों सैनिकों की सृष्टि कर सकता है।

निश्चय ही राष्ट्र के जीवन मे समाचार-पत्रों का अद्वितीय स्थान है, क्योंकि जनता और सरकार के बीच में समाचार-पत्र दुभाषिये के रूप में हैं। वे सरकार की उचित-अनुचित कार्यवाहियों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके प्रजा वर्ग का पथ प्रशस्त करते हैं। समाचार-पत्रों में नवीन वैज्ञानिक आविष्कार आदि के नये आविष्कृत सूत्र आदि प्रकाशित होते रहते हैं। उदाहरण स्वरूप रूस तथा अमेरिका के स्पुतनिक को लिया जा सकता है। ज्योंही रूस ने आकाश में अपना प्रथम स्पुतनिक फेंका त्योंही समाचार-पत्रों के द्वारा समस्त संसार को मालूम हो गया, और सारा ससार रूस को अपनी आश्चर्यमयी आँखों से देखने लगा। ससार के किसी कोने मे भू-चाल, अकाल, बाढ़ आदि के कारण आयी असामयिक दुःखद घटना को समाचार-पत्रों द्वारा ही हम जान लेते हैं।

समाचार-पत्रों में विज्ञापन भी दिये जाते हैं। आधुनिक ससार विज्ञापन का संसार है। यदि हम किसी समाचार-पत्र के पृष्ठ उलटें, तो हमें विभिन्न प्रकार के विज्ञापन दिखाई पड़ते हैं। इन विज्ञापनों से पाठकों को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की जानकारी रहती है। विज्ञापन के द्वारा व्यापार बढ़ता है. किसी वस्तु की माग बढ़ती है और बिक्री में वृद्धि होती है। वास्तव में आज के युग में अच्छी से अच्छी वस्तु भी विज्ञापन के अभाव में मिट्टी के मोल भी नहीं बिक पाती। समाचार पत्रों में 'वान्ट्स' (Wants) के कालमों में रिक्त-स्थानों का विज्ञापन होता है। नौकरी चाहने वाले व्यक्ति उसमें नौकरी खोजते हैं, मकान चाहने वाले व्यक्ति उसमे अपने अनुकूल मकान ढूँढ़ते हैं, शादी वाले अपने योग्य वर अथवा बहू ढूँढ़ते हैं।

प्रत्येक सरकारी कान्फ्रेन्स, सभाओं, विधान-सभाओं आदि में सम्पादक एवं प्रेस-रिपोर्टर को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। क्योंकि प्रत्येक संस्था तथा व्यक्ति यही चाहते हैं कि उनकी बातें समाचार पत्रों में प्रकाशित हों। इस प्रकार 'प्रेस और उसकी शक्ति' उस लिफ्ट के समान है जो किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था को ऊपर भी उठा सकता है और नीचे भी गिरा सकता है। इससे लाभ तथा हानि दोनों ही संभव हैं।

———

हिन्दी नाटक और रंगमंच

हिन्दी नाटकों का वास्तविक उद्भव-काल भारतेन्दु-काल ही है। इससे पूर्व रीतिकालीन कवियों द्वारा पद्य में कुछ नाटक लिखे गये। सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संवत् १६८० में हृदय राम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का हिन्दी में अनुवाद किया। अधिकाश विद्वान इसी को हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रथम पुस्तक मानते हैं। इसके पश्चात् श्री बनारसी दास ने 'समय-सार' जैन कविकुन्द कुन्दाचार्य के नाटक का हिन्दी में रूपान्तर किया। प्राणचन्द ने 'रामायण-महानाटक' दोहा-चौपाई में कथोपकथन के रूप में लिखा। तत्पश्चात् महाकवि देव कृत 'देव-माया-प्रपंच' पद्य में लिखा गया। सुकवि नेवाज ने 'शकुन्तला' नाटक लिखा। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे महाराज विश्वनाथ सिह ने 'आनन्द-रघुनन्दन' और व्रजवासी दास ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटकों की रचना की। साहित्यिक दृष्टि से ये सभी नाटक नगण्य हैं। व्रजभाषा में सबसे प्रथम गद्य नाटक भारतेन्दुजी के पिता श्री गोपाल चन्द्र (उपनाम गिरिधरदास) कृत 'नहुष' माना जाता है। पूर्वोक्त अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें कुछ नियमों का पालन अच्छी तरह से हुआ है। इसके अनन्तर राजा लक्ष्मण सिंह ने 'शकुन्तला' नामक नाटक का अनुवाद किया, जिसकी मौलिकता सराहनीय है। इसके पश्चात् भारतेन्दु जी का नाम आता है।

भारतेन्दु युग को हिन्दी नाटकों का 'स्थापन-काल' अथवा 'आरम्भ-काल' कहा जा सकता है। भारतेन्दु जी के आते ही हिन्दी नाट्य साहित्य में नवीन चेतना जाग्रत हुई। उनके नाटकों मे न तो प्राचीनता का अन्धानुसरण है और न नूतन शैली का अनुकरण। सुविधा की दृष्टि से हम उनके नाटकों को दो भागों में बॉट सकते हैं :—

(१) मौलिक और (२) अनूदित। उनके मौलिक नाटकों में प्रेम-जोगिनी, चन्द्रावली, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, अन्धेर-नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति और विषस्यविषमौषधम् हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक को कुछ विद्वान मौलिक और कुछ अनूदित मानते हैं। इनके अनूदित नाटकों में विद्या-सुन्दर, मुद्राराक्षस, कर्पूर-मजरी, धनंजय-विजय, पाखण्ड विडम्बना, रत्नावली तथा भारत-जननी हैं। ये सभी नाटक अभिनेय हैं।

भारतेन्दु जी के प्रोत्साहन से उनके सम-सामयिक अनेक विद्वानों ने नाटक लिखे। उनके सम-सामयिक नाटककारों में श्री श्रीनिवास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने 'तप्तासवरण,' 'प्रह्लाद-चरित,' 'संयोगिता-स्वयंवर' आदि नाटक लिखे। श्री प्रतापनारायण मिश्र ने 'गो-संकट,' 'कलि-प्रभाव,' आदि नाटकों की रचना की। श्री राधाकृष्ण दास जी ने 'दुःखिनी-बाला' लिखकर तत्कालीन सामाजिक दुर्दशा का दिग्दर्शन कराया। श्री बदरीनारायण चौधरी ने 'भारत-सौभाग्य' नाटक लिखा किन्तु कला-तत्व की दृष्टि से वह अत्यन्त निम्न कोटि का है। बाबू गोपाल चन्द्र का 'बूढ़े मुँह मुहासे, लोग चले तमाशे,' बाबू केशवराम का 'सज्जाद-सम्बल,' 'शमशाह-सौसत,' गदाधर भट्ट का 'रेल का टिकट खेल 'बाल-विवाह,' अम्बिकादत्त व्यास का 'ललिता' आदि उसी काल के प्रसिद्ध नाटक हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन नाटकों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

भारतेन्दु जी के पश्चात् नाटकों की प्रगति कुछ समय के लिए कुछ मन्द सी रही। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों ने कुछ जनरुचि को खींच कर अपनी ओर बढ़ाया, तथा कुछ व्यवसायिक थियेटर ने जनरुचि को अपनी ओर खींच लिया। फिर भी मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन,' मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास,' राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का 'चन्द्रकला भानुकुमार' तथा माखनलाल चातुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' इसी काल में लिखे गये। प० राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद 'बेताब,' हरिकृष्ण जौहरी आदि ने थियेटर कम्पनियों के लिए नाटको की रचना की। इसी समय अनेक अन्य भाषाओं से अनूदित नाटक भी लिखे गये। लाला सीताराम ने कालिदास तथा शेक्सपियर के (संस्कृत तथा अंग्रेजी) नाटकों का अनुवाद किया। श्रीरूपनारायण पाण्डेय ने द्विजेन्द्रलाल राय तथा रवि बाबू के बंगला नाटकों का अनुवाद

किया। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भवभूति के 'मालती-माधव' और 'उत्तर रामचरित्र' का अनुवाद अत्यन्त सरस एवं परिमार्जित भाषा में किया।

इसके आगे चलकर नाटककारों ने भारतेन्दु जी की पद्धति का परित्याग कर अंग्रेजी पद्धति को अपनाया। प्राचीनता के पट, प्रस्तावना, विष्कम्भक, आदि को त्याग दिया गया। अङ्कों का दृश्यों में विभाजन हुआ इसी समय नाटक जगत में प्रतिभाशाली लेखक जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हुआ। इसे नाटक का उत्थान-युग या प्रसाद युग कहा जाता है।

प्रसाद जी ने नाट्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण होकर नूतन-चेतना की अवतारणा की। उनके आगमन से नाट्य-साहित्य का कलेवर परिवर्तित हो गया। अंग्रेजी नाटकों की भाँति प्रसाद जी ने अपने नाटकों में युद्ध, आत्म-हत्या, वध आदि का समावेश किया। उन्होने अपने नाटको का निर्माण मनोवैज्ञानिक तत्वों को ध्यान में रखकर किया। इसी कारण उनके नाटकों मे भारतीय तथा योरोपीय सिद्धान्तो का सुन्दर समन्वय हुआ है। प्रसाद जी के नाटकों में अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, जनमेजय का नाग-यज्ञ विशाख, कामना, राज्यश्री तथा एक घूंट हैं। पाश्चात्य देशों के अनुकरण से उन्होंने अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा की।

प्रसाद जी के पश्चात् श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने मुगलकालीन भारत को लक्ष्य करते हुये 'रक्षाबन्धन' एवं 'जौहर' आदि नाटक लिखे। श्री उदय शंकर भट्ट ने पौराणिक नाटकों का सृजन किया। 'सगर-विजय' 'मत्स्य गन्धा, तथा विश्वामित्र आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इसके अतिरिक्त गोविन्द वल्लभ पन्त का 'वरमाला', बेचन शर्मा 'उग्र,' का 'महात्मा ईशा,'-- जगन्नाथ दास 'मिलिन्द' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', प्रेम चन्द का 'सग्राम,' 'प्रेम की वेदी' सुदर्शन का 'अजन्ता,' कौशिक का 'भीष्म,' पन्त का 'ज्योत्सना', सत्येन्द्र का 'मुक्तिद्वार' रामनरेश त्रिपाठी का 'प्रेमलोक' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। सेठ गोविन्दास ने 'प्रकाश' 'हर्ष,' तथा 'कर्त्तव्य' नामक तीन नाटकों को लिखा। सेठ जी के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी अभिनेयता है। श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र ने इब्सन एवं बर्नार्डशॉ के आधार पर 'सिन्दूर की होली'

सन्यासी, 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' आदि समस्याप्रधान नाटकों की रचना की। आजकल एकांकी नाटक भी लिखे जा रहे हैं। डा० रामकुमार वर्मा, उदय शकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, सद्गुरुशरण-अवस्थी, भुवनेश्वर, विष्णु प्रभाकर आदि का इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दी रंगसंच :—रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी नाट्य-साहित्य आज भी दीन है। हिन्दी के पास अपना कोई व्यवस्थित रंगमंच नहीं है। आर्थिक कठिनाइयो के कारण हिन्दी रंगमंच की स्थापना न हो सकी। भारतेन्दु जी ने पर्याप्त धन व्यय करके एक नाट्य-मण्डली की व्यवस्था की थी, किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उसे सफलता नहीं मिल सकी। इसके अनन्तर कतिपय व्यावसायिक थियेटर कम्पनियाँ भी हिन्दी नाटकों के प्रचारार्थ खुलीं किन्तु इनका एकमात्र उद्देश्य धनार्जन करता था, न कि रंगमंच की व्यवस्था करना। इसके आगे सिनेमा के आविष्कार और सवाक् चित्र-पटों के आविष्कार से तो हिन्दी रंगमंच की आशा पर पानी पड़ गया।

इसके अतिरिक्त हिन्दी की साहित्यिक संस्थाएँ 'नागरी प्रचारिणी सभा,' 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' आदि रंगमंच की ओर से सर्वथा उदासीन सी हैं। किन्तु सौभाग्य की बात यह है कि वर्तमान समय मे रंगमंच की ओर हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों एवं साहित्यिक संस्थाओं की मनोवृत्ति उन्मुख हुई है। अब हम संक्षेप मे हिन्दी रंगमंच के विषय मे हिन्दी के प्रमुख एकाकीकार श्री जगदीश चन्द्र माथुर के कुछ विचारों का उल्लेख करते हैं:—

"यदि पाश्चात्य यथार्थवादी रंगमच से प्रभावित हो, हमारे स्कूल, कालेजों, और क्लबों द्वारा एमेचर (शौकीनी) रंगमंच की अभिवृद्धि होगी, तो प्राचीन संस्कृत पद्धति का आधार ले और बैले इत्यादि के साधनों से सम्पन्न हो एक नागरिक (Urban) और व्यावसायिक (Prafessional) रंगमंच भी हमारे प्रमुख नगरों मे प्रस्तुत हो सकते हैं। ऐसे रंगमंच के लिये संस्कृत रगमंच की कमनीयता', इसका सुरम्य वातावरण वाछनीय हैं। रंगशाला की सजावट, उसके विभिन्न अंगों का वितरण, संगीत और नृत्य का प्रचुर प्रयोग, इन सभी विषयों में संस्कृत रंगमच की विशिष्ट धरोहर है। हिन्दी रंगमंच को हृदयग्राही और नयनाभिराम होने के लिये पारसी थियेटर के कृत्रिम साधनों का

सहारा नहीं लेता है और न आधुनिक पाश्चात्य प्रतीकवादी नाट्यशालाओं की प्रतीकवादी पृष्ठभूमि का दामन पकड़ता है।

राष्ट्रीय रंगमच का सबसे महत्वपूर्ण अंग होंगी देहाती नाटक मण्डलियाँ। कम्यूनिस्ट पार्टी ने तो अपने 'पीपुल्स थियेटर' द्वारा आरम्भ के दिनों में निस्सः-देह कला का यथेष्ट कल्याण किया। किन्तु कम्यूनिस्ट कलाकारों के सिद्धान्त की बलिवेदी पर बेदर्दी के साथ सौन्दर्य का बलिदान करना पड़ता है, इसलिये निकट भविष्य में इनकी समृद्धि की बहुत ही कम सम्भावना है।

देहाती रंगमंच की बुनियाद में अभिनेता और दर्शक के बीच वही तादात्मीयता (Mutual understanding) है जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब नाटक मण्डली के अभिनेता एवं प्रबन्धक देहाती जनता की रुचि, इच्छा और माग का अध्ययन करे। देहाती रंगमच मे अभिनेता, जहाँ तक हो सके, देहातों में से ही लिये जॉय। माथुर जी का कथन है कि वैशाली मे एक गॉव है, जो रेलवे स्टेशन से २३ मील दूर है, ऐसे स्थानों पर भी देहाती रंगमच मे सफलता मिल रही है।

वर्तमान समय मे हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रीय रंगमच का क्रमिक निर्माण तीन पहलुओं में हो रहा है। माथुर जी का विचार है कि इन्हीं तीन शैलियों में भावी रंगमच की रूपरेखा सन्निहित है, यानी।

(१) यथार्थवादी, एमेचर (शौकीनी) रंगमच।

(२) प्राचीन नाट्य परम्परा से प्रेरित किन्तु आधुनिक व्यावसायिक साधनो से सम्पन्न नागरिक रंगमंच।

और (३) परिमार्जित और संशोधित रूप में देहाती रंगमंच।

यदि हमारे उदीयमान नाटककार तथा उत्साही निर्देशक एवं अभिनेता सच्चे हृदय से कार्य करेंगे तो इस क्षेत्र में उन्हें अवश्य ही सफलता मिलेगी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव

लगभग दो सौ वर्ष तक अंग्रेजी शासन के सम्पर्क में रहने के कारण हमारा हिन्दी साहित्य पाश्चात्य साहित्य से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव प्रचुर मात्रा मे पड़ा है, जैसे कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचना। अब हम सुविधा की दृष्टि से साहित्य के एक-एक अंगों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे :—

कविता :—हमारी आधुनिक हिन्दी कविता पर पाश्चात्य साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। हमारे वर्तमान कवियों ने पाश्चात्य साहित्य और विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य का मनन, चिन्तन एवं अध्ययन किया है और इसके फलस्वरूप इनके काव्य के रूप विधान और अन्तरात्मा पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। एक ओर हमारी छायावादी कविता सूर, कबीर, और मीराँ की परम्परा से सम्बन्धित है और दूसरी ओर शली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, बायरन आदि की कविता से प्रभावित। हमारी प्रगतिवादी कविताओं पर मार्क्सवाद का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। 'रहस्यवाद' पर भी अंग्रेजी के (mysticism) का प्रभाव पड़ा है। मार्क्स की विचार-धारा पन्त, निराला आदि कवियों पर प्रचुर मात्रा में अपना प्रभाव डाले है। पन्त जी पर मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का पूर्ण प्रभाव है। पन्त जी के प्रकृति-वर्णन पर अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ का प्रभाव पड़ा है, निरालाजी की अतुकान्त काव्य शैली पर अंग्रेजी शैली का प्रभाव है। अज्ञेय आदि प्रयोगवादी कवियों पर 'फ्रायड' की 'काम-भावना' का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। इनकी कविताओं मे अतृप्त एव असफल यौवन एवं कुंठाओं का क्रन्दन है। हमारी नयी कविता अथवा प्रयोगवादी कविता के रूप विधान, अलंकार-विधान, शैली विधान आदि पर पाश्चात्य शैली का पूर्ण प्रभाव है।

नाटक :—आधुनिक नाट्य साहित्य पर भी पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हमारे यहाँ पहले दुःखान्त (Tragic) नाटक नहीं लिखे जाते थे। भारतीय रंगमच पर हत्या, वध, आदि के दृश्य नहीं दिखाये जाते थे। किन्तु पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से वर्तमान समय में हमारे यहाँ दुःखान्त (Trgic) नाटक भी लिखे जाने लगे। इब्सन और बर्नार्डशा आदि पाश्चात्य नाटककारो के प्रभाव से हमारे साहित्य में समस्या-मूलक नाटक लिखे गये। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र पर इब्सन और शा का प्रभाव पूर्णरूपेण है।

पहले हमारे यहाँ 'एकाकी नाटक और रेडियो एकांकी' नही लिखे जाते थे। किन्तु पाश्चात्य साहित्य के (one act play) के प्रभावानुसार हमारे नाट्य-साहित्य में 'एकाकी नाटक एव रेडियों एकाकी' की अवतारणा हुई।

उपन्यास :—कविता और नाटक की भाँति आधुनिक उपन्यासों पर भी पाश्चात्य साहित्य ने प्रभाव डाला। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार श्री जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, आदि मे पाश्चात्य 'सेक्स' की भावना पायी जाती है। 'सेक्स' एव यौवनवाद' की यह विचारधारा हमारे उपन्यासों में पाश्चात्य साहित्य के ससर्ग से ही आई।

कहानी :—उपन्यास की भाँति आधुनिक कहानियों पर भी पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव झलकता है। हमारे नवीन कहानीकार अंग्रेजी कथा साहित्य से अत्यधिक प्रभावित हैं। अंग्रेजी कथा-शिल्प के अनुकरण पर ही अधिकाशतः हमारे यहाँ कहानियों की सर्जनायें हो रही हैं। अज्ञेय आदि प्रगतिशील कहानीकारों ने पूर्ण रूप से पाश्चात्य कथा शैली ग्रहण की है। अज्ञेय जी ने पाश्चात्य कहानी जगत की Impressiontic (प्रभाववादी) कला पद्धति अपनाई है, और उससे वे प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

निबन्ध :—साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति हमारा निबन्ध-साहित्य भी पाश्चात्य-निबन्ध साहित्य के प्रभाव से अनुप्रेरित है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हमारे आधुनिक निबन्ध-साहित्य में स्केच, रेखाचित्र, शब्द-चित्र, एव संस्मरण आदि अबाध गति से लिखे जा रहे हैं। पाश्चात्य प्रभाव के

पूर्व हमारे यहाँ निबन्ध साहित्य के इन आधुनिकतम् रूपों की सर्जना नहीं हुई थी।

आलोचना :—हमारा आधुनिक आलोचना साहित्य भी पाश्चात्य प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित है। हमारे आधुनिकतम् आलोचक आचार्य नन्द दुलारे-वाजपेयी, गुलाबराय एम० ए०, डा० नगेन्द्र, डा० देवराज, डा० रामविलास शर्मा, आदि पर पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य का स्पष्टतः प्रभाव परिलक्षित होता है। डा० रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान आदि ऐसे आलोचक हैं जो मार्क्सवादी विचार-पद्धति को अपनाकर समीक्षायें लिख रहे हैं। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र की आलोचना रोमानी एवं प्रभाववादी दृष्टिकोण (Ramantic and impressionist out look) से काफी प्रभावित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की सभी गतिविधियों तथा विधाओं पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पूर्णरूपेण दृष्टि-गोचर होता है। हमारे साहित्य का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जिस पर पाश्चात्य साहित्य का न्यूनाधिक प्रभाव न पड़ा हो।

सर्वोदय

'सर्वोदय' में किसी मंत्र के समान लोगों को सम्मोहित करने की शक्ति का संचार हो रहा है। जनतंत्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, आदि शब्दों की तरह 'सर्वोदय' का सीधा और सरल अर्थ है—'सब का उदय' 'सब का विकास' अर्थात् 'सब का हित।' "अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक सुख" वाला तत्त्वज्ञान सर्वोदय स्वीकार नहीं करता। आचार्य विनोबा भावे 'सर्वोदय' की परिभाषा देते हुये लिखते हैं—"एक सादी बात हम समझ लेगे तो सब का हित सधेगा। हर एक दूसरे की फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र ऐसी न रखे कि जिससे दूसरों को तकलीफ हो। इसी को 'सर्वोदय' कहते हैं।" आचार्य विनोबा आगे पुनः लिखते हैं कि—"सर्वोदय का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है और उसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमे दूसरो की कमाई का नहीं खाना चाहिये। हमें अपनी कमाई का तो खाना चाहिये, लेकिन यदि हम दूसरे का धन किसी तरह से ले लें, तो उसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता। कमाई का अर्थ है—प्रत्यक्ष पैदाइश। ये दोनों नियम हम अपना लें तो सर्वोदय समाज का प्रचार दुनिया में होगा।

—'विनोबा'

सर्वोदय—समाज की आधार-शिला कौटुम्बिक या पारिवारिक भावना है। परिवार के लोग ऐसा मानते हैं कि सबका हित ही हमारा हित है, पारिवारिक हित मे वे विरोध नहीं मानते। इसलिये जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक व्यक्ति परिवार के समस्त व्यक्तियों के सुख या कल्याण का विचार करता है, और तदनुसार व्यवहार करता है, उसी प्रकार हममे से प्रत्येक को विचार-भेद होने पर भी सबके सुख और हित का विचार करके वैसा ही बर्ताव करना चाहिये। यही सर्वोदय की सीख है।

"सर्वोदय' नामक पुस्तक की भूमिका में गांधी जी लिखते हैं—"पश्चिम के देशों में साधारणतः यह माना जाता है कि बहु-संख्यक लोगों का सुख, उनका अभ्युदय बढ़ाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक-सुख, रुपये पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों, तो इसकी ज्यादा परवाह नहीं की जाती। इसी तरह बहु-संख्यक लोगो को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग अल्पसंख्यक को दुःख पहुँचा कर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहु-सख्यक मनुष्यों के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिये यत्न करना ही ईश्वरीय नियम नहीं है, और केवल इतने ही के लिये यत्न करें और उसमें नैतिक-नियमों का भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है।"

गीता में 'सर्व भूत हिते रताः' यह योगी और भक्त का एक मुख्य लक्षण कहा गया है। संसार के समस्त धर्म-संस्थापकों ने इस आदर्श को सर्वश्रेष्ठ माना है। गाँधी जी ने रस्किन की 'Unto This Last' पुस्तक का गुजराती मे जो संक्षिप्त अनुवाद किया उसका नाम 'सर्वोदय' रक्खा। गाँधी जी ने इसका शब्दशः अनुवाद न करके, केवल सार दिया है।

गाँधी जी का त्रिसूत्री सार :—गाँधी जी के अनुसार रस्किन ने अपनी 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक में तीन मुख्य बातें कही हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१ व्यक्ति का श्रेय समष्टि के हित मे ही निहित होता है।

२ वकील के काम की कीमत भी नाई के काम की कीमत के समान ही है, क्योंकि हर एक को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

३. मजदूर का यानी किसान का अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

सर्वोदय का शास्त्र :—गीता मे कहा गया है कि सर्वत्र और सब में बसे हुये ईश्वर की स्वकर्म-सुमनों से यदि पूजा की जाय तो वह संतुष्ट होकर मनुष्य

को सिद्धि देता है। इसका अर्थ यह है कि विशिष्ट हेतु और वृत्तिपूर्वक किये हुये सब प्रकार के कर्मों का आध्यात्मिक मूल्य समान ही है। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य का सामाजिक और आर्थिक मूल्य समान ही होना चाहिये। किन्तु आज समाज मे भगी का काम मंत्री के काम की तुलना मे नीच समझा जाता है एव मत्री का काम श्रेष्ठ। इन दोनों कार्यों का आर्थिक मूल्य भी एक दम भिन्न ही आँका जाता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि मन्त्री के काम मे जैसी बुद्धि लगती है, वैसी भंगी के काम में नहीं लगती है। पर लोगों को इस बात की बिल्कुल कल्पना नहीं है कि उच्च हेतु से प्रेरित होकर काम करने के लिये अथवा अनासक्त वृत्ति से काम करने के लिये उच्च प्रतिभा एवं धृति की आवश्यकता होती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति जब ऐसे उच्च हेतु से प्रेरित होकर, अनासक्त-वृत्ति से समाज का कार्य करेगा, तभी समाज की धारणा एवं समृद्धि होगी। और समाज के विभिन्न व्यक्तियों को अपनी नैसर्गिक आवश्यकताये पूरी करने के लिये आवश्यक साधन तथा निजी विकास का सुअवसर मिलेगा। तभी समाज में सुख-शान्ति फैलेगी, यह बात सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट है।

लोगों की उद्योगशीलता बढ़े, देश समृद्ध हो और समाज की सब प्रकार की विषमताये नष्ट होकर शोषण सर्वथा रुक जाय, ऐसे हमारे विचार हों, तो हमें प्रामाणिक रूप से किये हुये सब प्रकार के श्रम की प्रतिष्ठा समान समझ कर, उसके आर्थिक मूल्य को भी समान ही बनाना होगा।

आर्थिक-पूंजीवाद की अपेक्षा, बौद्धिक पूंजीवाद अधिक भयावह है। क्योंकि दूसरा सूक्ष्म है, और उसे भौतिक सृष्टि का सहारा है। प्राचीन बुद्धि-जीवी लोगों ने ऐसा विधान बना दिया था कि वे बुद्धि का विक्रय न करे और अस्तेय तथा अपरिग्रह का व्रत लें। इसमें उनकी दीर्घ दृष्टि का प्रमाण मिलता है। सर्वप्रथम बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी बुद्धि का विक्रय करना छोड़ देना चाहिये।

मनुष्य की जो प्राथमिक आवश्यकताये हैं, उनकी उचित रीति से पूर्ति होने पर ही उसके मन को शान्ति और सुख प्राप्त होते हैं। उसके बाद मे ही, जो मानवीय श्रेष्ठ मूल्य हैं, उनकी ओर मनुष्य की सारी शक्तियों का प्रवाह मुड़ेगा और सच्चे अर्थों मे उसे स्वतन्त्रता तथा स्वराज्य प्राप्त होगा।

अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य का किसी सीमा तक यन्त्रों की सहायता लेना वांछनीय भी है। हाँ, ऐसा करते समय 'आराम' और 'ऐशोआराम' तथा 'सुख एवं विश्राम' के अन्तर को ध्यान में रखकर मनुष्य को 'ऐशोआराम' और 'विलास' की लालसा त्यागनी चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करेगा, तो उसे शरीर का सेवक और यंत्र का अनुचर बनकर सच्चे अर्थ मे विकास या उदय से हाथ धोना पड़ेगा।

शारीरिक एवं बौद्धिक गुणों में और सामर्थ्य में मनुष्य मनुष्य में कितना ही भेद क्यों न हो, तो भी सब मनुष्य समान और एक हैं। यह एक नैतिक तत्त्व या सत्य है, जिसकी अनुभूति प्रत्येक मनुष्य को अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में ही हो सकती हैं। इसलिये मनुष्य का शारीरिक एवं बौद्धिक जीवन उसके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन से अविरोधी होना चाहिये।

प्रेमशक्ति एक प्रचण्ड शक्ति है। इस प्रेम शक्ति में अनत्यचारी और सत्याग्रह अन्तभूर्त होता है। इस प्रेम शक्ति के बल पर समाज के विरोधी व्यक्ति या समूह का प्रतिकार किया जाय, तो उनका विरोध नष्ट हो जायगा और समाज मे सहकार बढ़ेगा। समाज रचना इतनी विकेन्द्रित होनी चाहिये कि मनुष्य को प्रेम शक्ति विकसित करने का पूर्णरूपेण अवसर मिले। इस प्रकार विकेन्द्रित समाज में 'सर्वोदय' के तत्त्वों को व्यवहार में लाया जाय, तो 'एक विश्व' की कल्पना साकार हो सकेगी।

विदेशी विनिमय तथा व्यापार

संकट का रूप :—"आज हमारा राष्ट्र विभिन्न प्रकार के आर्थिक सकटों से ग्रस्त है। उसके समक्ष एक ओर भीषण मुद्रा स्फीति की समस्या है, तो दूसरी ओर खाद्यान्नो के अभाव का विकट प्रश्न है। एक ओर जन संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है, तो दूसरी ओर बेकारो की समस्या जटिलतर होती जा रही है। दूसरी पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये एक ओर आन्तरिक बचतो की अपर्याप्तता है तो दूसरी ओर विदेशी विनियम का अकाल है। ऐसा प्रतीत होने लगा है कि विदेशी विनिमय प्राप्त करने के जो हमारे विभिन्न-स्रोत हैं वे प्रायः सूख से गये हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई आर्थिक समस्याये हैं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। राष्ट्र की शोधन-तुला प्रनिकूल होती जा रही है। निर्यात व्यापार गिरता जा रहा है। आयात में दिनानुदिन वृद्धि होती जा रही है। उत्पादन (औद्योगिक और कृषि) घटता जा रहा है तथा उत्पादन-व्यय मे वृद्धि होती जा रही है जिसके फल-स्वरूप हमारे उद्योगों द्वारा उत्पादित चीजो की माग अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे घटती जा रही है। इस तरह हमारी दूसरी पंचवर्षीय योजना आज इन आर्थिक संकटों के भँवर मे बुरी तरह फँसी हुई है और इसके त्राण की कोई भी आशा दृष्टि नहीं आ रही है। उपर्युक्त आर्थिक सकटों मे हमारी योजना को जिसने सर्वाधिक प्रभावित तथा जर्जरित किया है, वह है 'विदेशी विनिमय का अभाव"।

—प्रो० जगदीश चन्द्र सिंह

योजना कमीशन ने अनुमान लगाया था कि भारत को औसतन प्रतिवर्ष लगभग २२५ करोड़ विदेशी विनिमय की सहायता की आवश्यकता होगी।

(१) रुपये का मूल्यांकन (Devaluation) डा० B. R. Shenoy का यह दृढ़ विश्वास है कि विदेशी विनिमय सकट का निराकरण, रुपये का अवमूल्यन कर किया जा सकता है। इनके अनुसार आजकल के मूल्यस्तर मे, युद्ध पूर्व मूल्यस्तर की तुलना में प्रायः सात गुना वृद्धि हो गई है। इस प्रकार रुपये का अवमूल्यन श्री Shenoy के अनुसार निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित कर विदेशी विनिमय सकट को दूर करने मे सहायक सिद्ध होगा। परन्तु यह उपचार बड़ा ही हानिकारी है क्योंकि इससे बीमारी आदि रोगों के बढ़ जाने की सम्भावना है। यह तो सर्व-विदित है कि १६४६ में इग्लैंड और भारतवर्ष दोनो ही राष्ट्रो ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया। किन्तु क्या वे अवमूल्यन द्वारा प्रतिकूल व्यापार को सन्तुलित कर पाये ? अतः प्रो० सिंह अवमूल्यन के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि इससे संकट मे वृद्धि होने की सम्भावना है।

(२) योजना के लक्ष्यों तथा कुल व्यय में कटौती :—कुछ ऐसे भी लोग हैं जो द्वितीय योजना को महत्त्वाकाक्षी (ovenamlestıws) कहकर पुकारते हैं। वे राष्ट्र को दरिद्रता तथा आन्तरिक साधनों की अपर्याप्तता को देखते हुये द्वितीय योजना के लक्ष्यों तथा कुल व्यय की आय को अनुचित तथा अवाछनीय बतलाते हैं। अतः वे योजना के लक्ष्यों तथा कुल व्यय में और कटौती करना चाहते हैं। लेकिन उक्त विचारक की दृष्टि में यह सुझाव भी असंगत सा लगता है। क्योंकि बहुत सी ऐसी योजनायें हैं, जो अब समाप्ति पर पहुँच रही हैं और कुछ ऐसी योजनायें हैं जिनमें बहुत अधिक विकास हो चुका है। अतएव ऐसी योजनाओं को एकाएक बन्द कर देने से हम लोगों को आर्थिक क्षति के अतिरिक्त और कुछ भी लाभ नहीं होगा।

(३) आयात पर प्रतिबन्ध :—कुछ लोग विदेशी-विनिमय सकट का निवारण, आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर करना चाहते हैं। यह सुझाव सर्वथा उचित भी है। निःसन्देह सरकार की उदार नीति के कारण ही विदेशी विनिमय की समस्या गम्भीर हो गयी है। अतः सरकार को विभिन्न चीजों के आयात पर नियंत्रण कर देना चाहिये।

(४) निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन :—सचमुच निर्यात को प्रोत्साहित

कर बहुत बड़ी राशि में विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सकती है। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए ३० अगस्त १६५८ को भारतीय सरकार ने लगभग २०० वस्तुओं को निर्यात-कर से मुक्त कर दिया है।

(५) विदेशों से कर्ज प्राप्त कर :—(Foreign loans) विदेशी विनिमय संकट को अविलम्ब दूर करने के लिए कुछ लोग विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में कर्ज प्राप्त करने की अनुमति देते हैं। यह परामर्श उचित ही है।

(६) विदेशी पूँजी :—विदेशी विनिमय संकट को दूर करने के लिये विदेशी पूँजी की नितान्त आवश्यकता है।

(७) देश की स्वर्ण धातु का उपयोग :—हमारे यहाँ लगभग ३००० से लेकर ३५०० करोड़ रुपयों की स्वर्ण धातु केवल आभूषणों के बनाने में ही नष्ट हो रही है। अतः सरकार को देश की स्वर्ण-धातु का उपयोग करना चाहिये।

———

पाकिस्तान में सैनिक प्रशासन

पाकिस्तान के राष्ट्रपति श्री सिकन्दर मिर्जा ने ८ अक्टूबर १९५८ ई० को रात्रि में समूचे देश में फौजी कानून की घोषणा कर दी। उन्होंने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को समाप्त कर दिया और समस्त राजनीतिक पार्टियों को भंग कर दिया। पाकिस्तान में मन्त्रि मण्डलीय संकट के परिणाम स्वरूप ये बातें घटित हुई हैं। राष्ट्रपति ने संविधान को भी रद्द कर दिया और सैनिक-विधि प्रचारित करने के लिये स्थल सेना के प्रधान जनरल मुहम्मद अयूब खॉ को नियुक्त किया।

पाकिस्तान स्थल-सेना के नव-नियुक्त सर्वोच्च सेनापति तथा सैनिक शासन के प्रधान अधिकारी जनरल मुहम्मद अयूब खॉ ने ८ अक्टूबर १९५८ को रात्रि में रेडियो भाषण में कहा कि मैं फौजी शासन को लागू करने में असैनिक (गैरफौजी) अधिकारियों के अधिकतम प्रयोग पर विचार करता हूँ। स्थल-सेना का उपयोग यथासम्भव कम होगा।

इस अवसर पर अपने भाषण मे अयूब खॉ ने कहा कि सैनिक शासन का सचालन प्रधानतया असैनिक संस्थायें करेंगी। हम विधान का पालन करने वाले नागरिकों के लिये पाकिस्तान में सुरक्षा की व्यवस्था करेंगे। इसके आगे पुनः जनरल अयूब खॉ ने कहा कि सैनिक शासन की घोषणा तेज और कड़ी कार्रवाई है और यह बड़ी हिचकिचाहट के साथ की गयी है। परन्तु जब यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि देश के विघटन तथा विनाश के अतिरिक्त अब दूसरा कोई चारा नहीं है, तभी सैनिक शासन की स्थापना की गयी है।

जनरल अयूब खॉ ने कहा है कि यदि वर्तमान अशान्तिपूर्ण स्थितियो को बनी रहने दिया जाता तो उसके लिये इतिहास हमें कभी भी क्षमा न करता।

ऐसी परिस्थितियाँ उन कतिपय स्वार्थी लोगो ने उत्पन्न की हैं, जो राजनीतिक नेताओं के भेष में देश का शोषण करते थे, और देश के हितों को दूसरों के हाथों बेंच देने का प्रयास करते थे।

इसके उपरान्त जनरल अयूब खाँ ने कहा कि—श्री मुहम्मद अली जिन्ना और श्री लियाकत अली खाँ की मृत्यु के बाद से राजनीतिज्ञों ने स्पष्टतः सत्तारूढ़ होने का युद्ध प्रारम्भ कर दिया था। उनमें एक दूसरे के विरुद्ध जोरों की सतत लड़ाई प्रारम्भ हुई है, और उन्होंने इस बात का किञ्चित् मात्र भी ध्यान नहीं रक्खा कि देश पर उसका कितना घातक प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने कोई रचनात्मक कार्य तो किये नही, अपितु उलटे वे प्रान्तीय धार्मिक एव जातिगत विवादो में उलझ गये। वे पाकिस्तानियों को ही पाकिस्तानियों के विरुद्ध लड़ाने लगे, जिससे वे अपने पदों पर आसीन रहें। उन्होंने इसकी कोई चिन्ता नहीं की कि इससे देश तथा देश की जनता संकट में पड़ जावेगी। अन्त में श्री अयूब खाँ ने जनता से अनुरोध किया कि वह सर्वशक्तिमान ईश्वर के समक्ष विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करे कि वह हमको उज्ज्वल भविष्य की ओर ले चले, जिससे हम सुदृढ़, प्रसन्नचित्त, एवं स्वस्थ राष्ट्र के रूप में विकसित हों।

सैनिक शासन संचालित करने के साथ ही राष्ट्रपति सिकन्दर मिर्जा ने यह चेतावनी दी है कि जो राजनीतिक नेता पदों की प्राप्ति के लिये, स्वार्थ की सिद्धि के लिये, जनवर्ग के हिताहित की चिन्ता त्याग कर देश के प्रति अन्याय और अनाचार कर रहे थे, उन्हें सुमार्ग पर लाने का यत्न किया जायगा। उन्होंने राष्ट्रद्रोहात्मक कार्य में लगे लोगों को देश से पलायन कर जाने की अनुमति दी है। राष्ट्रपति मिर्जा ने सुरक्षित जीवन का आश्वासन उन्हीं लोगों को दिया है जो देशभक्त हैं और जो उन की पालन करने को कटिबद्ध हैं। उन्होंने राजनीतिक आकाङ्क्षा रखनेवाले तथाकथित नेताओं को तस्कर-व्यापारियों, चोर-बाजारियों आदि की कोटि में रक्खा है। इससे संकेत मिलता है कि राष्ट्रपति सिकन्दर मिर्जा केन्द्रीय प्रतिनिधि सभा तथा प्रादेशिक मन्त्रिमण्डलों को भग करके ही सन्तोष करने वाले नहीं हैं। उनके मन मे इन लोगों को दण्ड देने की भी कामना है।

श्री सिकन्दर मिर्जा ने विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर दिया है कि जो संविधान २३ मार्च सन् १९५६ ई० को प्रारम्भ किया गया था, वह

इतना दोषपूर्ण है कि यदि उसका अनुगमन किया गया तो देश खण्डित हो जायगा।

राष्ट्रपति श्री सिकन्दर मिर्जा का कथन है कि "यह कहा जाता है कि सविधान पवित्र वस्तु है, किन्तु सविधान से भी अधिक पवित्र वस्तु देश की जनता का प्रमुदित एव प्रसन्नचित्त रहना है।" श्री मिर्जा ने देश के विनाश का सारा दोष देश के स्वार्थी नेताओ पर मढ़ा है। गत ११ वर्षों से इन नेताओ ने पाकिस्तान की जो डॉवाडोल स्थिति कर रक्खी है उसे देखते हुये श्री मिर्जा के कथन मे कोई भी अत्युक्ति नही दृष्टिगोचर होती।

सैनिक शासन स्थापित होने से राजनीतिक नेताओं की बड़ी अप्रतिष्ठा हुई है। उनकी कलई एवं कृत्रिमता खुल गयी है, और वे चोर तथा दुराचारी की श्रेणी में आ गये हैं। इसके लिये राष्ट्रपति श्री सिकन्दर मिर्जा को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दोष उन लोगों का है जो लोकतंत्र तथा सविधान का आश्रय ग्रहण करके अराजकता फैला रखे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री सिकन्दर मिर्जा ने लोकतंत्र एवं संविधान की वलि वेदी पर देश की हत्या होने से उसे बचा लिया है। क्या भारतवर्ष इससे शिक्षा ग्रहण करेगा? पाकिस्तान इस समय उचित समय पर सतर्क हो गया है। पाकिस्तान की नीति का गम्भीरतापूर्वक अनुगमन करके हमें भी सतर्क हो जाना चाहिये, क्योंकि इस सतर्कता में ही देश का हित सन्निहित है।

सूक्तियाँ

१. प्रकृति अपनी उन्नति और विकास में एकता नहीं जानती और हर अकर्मण्यता पर वह अपने शाप की छाप लगाती जाती है।

—गेटे

२. अकलमन्द आदमी बोलने से पहले सोचता है, बेवकूफ बोल लेता है और तब सोचता है कि वह क्या कह गया!

—फ्रेंच कहावत

३. अत्याचारी जब चुम्बन लेने लगे, तो वह समय खौफ खाने का है।

—शेक्सपियर

४. 'शाइलॉक्स' अर्थात् निर्दयी महाजनों के अत्याचारों के कारण पाश्चात्य देश कराह रहे हैं और पुरोहितों के अत्याचारों के कारण प्राच्य।

—स्वामी विवेकानन्द

५. अत्यधिक वाक् प्रयोग झूठ का संगी है और लगभग उतना ही दोषी।

—बैलन

६. अतिशयोक्ति वह सत्य है जो बौखलाई हुई हालत में है।

—खलील जिब्रान

७. वह झूठ जो अर्धसत्य है हमेशा सबसे काला झूठ है।

—टेनिसन

८. अनजान होना इतने शर्म की बात नहीं, जितना सीखने के लिए तैयार न होना।

—फ्रेंकलिन

९. कितनी लज्जा की बात है कि संसार छोड़ने के समय तक हम इस बात का अनुभव न करें कि हम यहाँ किस लिये आये थे।

—बालसिंघम्

१०. जब मनुष्य मे अंतर्युद्ध प्रारम्भ हो जाता है तो वह मूल्यवान हो जाता है।

—ब्राउनिंग

११. अन्याय करने वाला सहने वाले की अपेक्षा सदैव अधिक कष्ट में पड़ता है।

—प्लेटो

१२. सत्य सदा सूली पर लटकाया जाता, और असत्य सदा सिंहासन पाता रहा है।

—जेम्स लावेल

१३. अनुकरण मे केवल दिखावट और दिखावट में केवल मूर्खता होती है।

—जान्सन

१४. अगर अन्तःकरण शुद्ध हो तो तुतली बोली के भी सौ-के-सौ ही दाम चढ़ते हैं।

—गाधी

१५. यदि अकेला एक आदमी भी दृढ़तापूर्वक जम कर बैठ जाय और अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुसार काम करने लगे तो यह विशाल ससार उसके निकट आ जायगा।

—एमर्सन

१६. पुस्तकों में लिखा सब कुछ वेद-वाक्य नहीं माना जा सकता। जो सदाचार के खिलाफ है और अमानुषी है वह कहीं भी लिखा हो तो भी न माना जाय।

—गाधी

१७. यदि आप किसी को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वह पथभ्रष्ट है तो सत्यता को कार्यरूप में परिणित करें। व्यक्ति दृष्टिगोचर चीज पर विश्वास करते हैं उन्हें देखने दीजिए।

—थोरो

१८. दीर्घजीवी होने के इच्छुक हों तो भोजन कम करें।

—बेंजमिन फ्रैंकलिन

१६. अव्यवस्था निर्माता नहीं, संहारक है।

—ब्लेकी

२०. जिसने अपना रास्ता ढूंढ़ने का निश्चय कर लिया है उसे सदैव अनेक अवसर मिल जाएँगे, नहीं भी मिलेंगे तो वह उनको बनाएगा।

—स्माइल्स

२१. बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक प्राप्त अवसर से अधिक स्वयं निर्माण करता है।

—बेकन

२२. जो अवसरों का उपयोग करना जानते हैं वे उनको उत्पन्न भी कर सकते हैं।

—जान स्टुअर्टमिल

२३. असफलता केवल यह सिद्ध करती है कि सफल होने का हमारा विचार दृढ़ नहीं था।

—एक विद्वान

२४. सतर्कता से अवसर की ताक में रहना, कौशल और साहस से अवसर को प्राप्त करना, शक्ति और दृढ़ता के द्वारा अवसरों को सर्वोत्तम सफलता पर पहुँचाना—निश्चय ही सफलता प्रदान करने वाले प्रधान सद्गुण हैं।

—आस्टिन फेल्प्स

२५. असम्भव शब्द केवल मूर्खों के कोश में प्राप्त होता है।

—नैपोलियन

२६. क्या तुम सच्चे हृदय से उद्योगी हो, तो इस मिनट को व्यर्थ मत जाने दो, जिस बात को तुम कर सकते हो उसे शुरू कर दो।

—बरले

२७. निरक्षर रहने से पैदा न होना अच्छा, क्योंकि अज्ञान समस्त बुराइयों की जड़ है।

—प्लेटो

२८. आत्मा के अज्ञान के अतिरिक्त और किसी भी रोग का मुझे पता नहीं।

—बेन जान्सन

२९. प्रत्येक अच्छा कार्य पहले असम्भव रहता है।

—कारलाइल

३०. सदा आगे बढ़ते रहने और विश्वास करने से कठिनाई दूर हो जाती है। और दिखलाई पड़ने वाली असम्भाव्यता नष्ट हो जाती है।

—जेरमी कोलियर

३१. मनमानी आँख अशुद्ध हृदय की परिचायक है।

—ऑगस्टाइन

३२. मेरी आँख निर्मल है, तो आइने में यह ताकत नहीं कि वह मलिनता दिखाए।

—विनोबा

३३. आत्म-परीक्षण के द्वारा चित्त की मलिनता और कूड़ा कचरा धो डालना चाहिये। —विनोबा

३४. आत्म-विश्वास वीरता का प्राण है।

—एमर्सन

३५. अपनी आँखों से देखें सो करें, मेरे कहने से नहीं। बीस महात्मा कहें तो भी नहीं। तजरबे से गलती करके आप सीखेंगे।

—गाँधी

३६. यदि मानव जाति के आज तक के इतिहास में महान् पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति कोई है, तो वह आत्मविश्वास ही है। जन्म से ही यह विश्वास रहने के कारण कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए हैं वे महान् बने।

—स्वामी विवेकानन्द

३७. आत्मविश्वास की कमी ही हमारी बहुत सी असफलताओं का कारण होती है। शक्ति के विश्वास में ही शक्ति है वे सबसे निर्बल हैं, चाहे वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, जिन्हें अपने आप तथा अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं है। —बोबी

३८. आत्म-सम्मान मनुष्य के दुर्गुणों को वश में रखने की पहली लगाम है।

—बेकन

३९. आदत आदमी को खा जाती है। हम सोचें और बुरी आदत से छूट जाँय।

—गाँधी

४०. प्रत्येक व्यक्ति एक बिगड़ा हुआ परमात्मा है।

—एमर्सन

४१. जहाँ अपने आत्मा को छोड़कर शरीर को सब कुछ समझना प्रारम्भ किया वहीं आपकी हार हुई।

—स्वामी रामतीर्थ

४२. आलस्य जीवित मनुष्य की कब्र है।

—कूपर

४३. जो परावलम्बी, कमजोर और आगा-पीछा करने वाले हैं, वे आत्म-निर्भर रहने वालों के उदार अहंकार को नहीं समझ सकते। आत्मनिर्भर मनुष्य को इसकी प्रसन्नता रहती है कि मुझमें राजमुकुट प्राप्त करने की शक्ति है।

—शेक्सपियर

४४. आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।
लेकिन खुदा के नूर से, आदम जुदा नहीं॥

—अकबर इलाहाबादी

४५. धन्य है वह जो आशान्वित नहीं, क्योंकि उसे निराश नहीं होना पड़ेगा।

—स्विट

४६. अपनी आशा रूपी मुर्गियों के पख कतर दो, अन्यथा वे तुम्हें अपने पीछे घुमा फिराकर हैरान कर डालेंगी।

—फ्रैंकलिन

४७. दुष्ट आदमी भय से आज्ञा पालन करते हैं और अच्छे आदमी प्रेम से।

—अरस्तू

४८. इच्छा पर विचार का शासन रहे।

—सिसरो

४९. दुष्ट व्यक्ति को सम्पत्ति और इज्जत देना, मानो ज्वर के रोगी को तेज मदिरा पिलाना है।

—प्लुटार्क

५०. अपने पद या स्थान पर इठलाना अपने को उसके अयोग्य दिखलाना है।

—स्टेनिस्लो

५१. कोई बाहरी ताकत इन्सान को नीचे नहीं गिरा सकती। इन्सान को गिराने वाला इन्सान खुद ही है। हैवानियत को निकालने के लिए ही तो हमें इन्सान की शक्ल और अक्ल मिली है।

—गाँधी

५२. संसार में प्रतिष्ठा के साथ जीने का सबसे छोटा और सुन्दर उपाय यह है कि जो कुछ हम बाहर से दिखना चाहते हैं वैसे ही वास्तव में हो भी।

—सुकरात

५३. अपनी इज्जत को धक्का पहुचाने की अपेक्षा दस हजार बार मरना अच्छा।

—एडीसन

५४. मेरी इज्जत मेरी आयु है, दोनों बढ़ती है, मेरी इज्जत ले लो तो मेरा जीवन समाप्त हो जाय।

—शेक्सपियर

५५. इतिहास दर्शाता है कि चन्द व्यक्तियों की इच्छाओं ने मनुष्यों पर कैसे-कैसे दुख ढाये।

—लिगार्ड

५६. ईमानदार मनुष्य का विचार लगभग सदैव न्यायपूर्ण होता है।

५७. अगर आप ईश्वर को देखना चाहते हैं तो आप को ईश्वर बन जाना होगा।

—बर्नार्डशा

५८. तुम्हें ईश्वर को ढूंढ़ने कहाँ जाना है ? क्या गरीब क्या दुःखी और निर्बल ईश्वर नहीं है ? पहले उनकी पूजा क्यों नहीं करते ? तुम गंगा के किनारे खड़े होकर कुँआ क्यों खोदते हो ?

—स्वामी विवेकानन्द

५९. सच पूछिये तो ईर्ष्या का आशय यह है कि ईर्षालु जिससे ईर्ष्या करता है उसको अपने से बड़ा मानता है।

—वान हायर

६०. जिसमें तुम्हारी प्रवृत्ति है उसी में लगे रहो। अपनी बुद्धि के मार्ग को मत छोड़ो। प्रकृति तुम्हें जो कुछ बनाना चाहती है वही बनो। तुम्हें विजय मिलेगी। इसके विपरीत यदि तुम और कुछ बनना चाहोगे तो कुछ भी न बन सकोगे।

—सिडनी स्मिथ

६१. उच्च स्थान तक बिना टेढ़ी मेढ़ी सीढ़ी के नहीं पहुँचा जा सकता।

—लार्ड बेकन

६२. विजयी आतंकित करता है, ज्ञानी का हम सन्मान करते हैं, किन्तु उदार मनुष्य ही हमारा स्नेह-भाजन है।

—फ्रेंच कहावत

६३. उधार लेना भिक्षा माँगने से अधिक अच्छा नहीं है।

—लेसिंग

६४. आध्यात्मिक संपत्ति बढ़ाने के लिए उपवास बहुत प्रसिद्ध उपाय है।

—गाँधी

६५. कोड़ों द्वारा ताड़ित होने पर भी यदि उपासक को ज्ञात न हो तभी जानना चाहिए कि वह उपासना में पूर्णरूपेण मग्न है।

—आविस

६६. संसार का सचालन करने के लिए मैं बँधा नहीं हूँ, लेकिन ईश्वर ने

मेरे लिए जो काम बनाया है उसे अपनी शक्ति लगाकर पूरा करने के लिए मैं बँधा हुआ हूँ।

—जीन एंजिलो

६७ एकाहारी होना शेर के लिए भी पर्याप्त होता है, मानव के लिए तो वह अवश्य यथेष्ट होना चाहिये।

—डा० जार्ज फार्डिस

६८ जो व्यक्ति जीवन मे केवल एक बात ढूँढता है वह आशा कर सकता है कि जीवन समाप्त होने के पूर्व वह उसे प्राप्त हो जायगी।

—थोयेन मेरेडिथ

६९ सबसे दुर्बल प्राणी भी अपनी शक्तियों को एक वस्तु पर केन्द्रित करके कुछ न कुछ कर सकता है।

—कारलाइल

७०. एकान्त मे रहना तो महान् आत्माओं का भाग्य है।

—शोपेनहार

७१. यदि जीवन में कोई बुद्धिमानी की बात है तो वह एकाग्रता है और यदि कोई बुरी बात है तो अपनी शक्तियों को छितरा देना। बहुचित्तता कैसी भी हो, इससे क्या? वही वस्तु ठीक है जो हमारे खिलवाड़ और भ्रम की चीजों को दूर कर देती है और हमे हृदय से अपना काम करने के लिए अग्रसर करती है।

—एमरसन

७२ कई बड़ी-बड़ी बातें ऐसी होती हैं कि जिनमें आधे मन और पूरे मन से क म करने में उतना ही अन्तर रहता है जितना अन्तर शानदार विजय और पूर्ण पराजय में रहा करता है।

—वाइट

७३. जब मैं किसी महत्वपूर्ण विषय पर बातचीत करता हूँ, तो मुझे बाहरी दुनियाँ की तनिक भी याद नहीं रहती। अपने सामने के विषय में इतना डूब जाता हूँ कि समय और स्थान का मुझे ध्यान ही नही रहता।

—हेनरी

७४. ऐश्वर्य के मद से मस्त व्यक्ति ऐश्वर्य के भ्रष्ट होने तक प्रकाश में नही आता।

—जर्मन कहावत

७५. ऐश्वर्य ईश्वर का विशेष गुण है।

—विनोबा

७६. नेक व्यक्ति के घर मे बुरी औरत, इसी दुनिया मे उसके हेतु नरक के समान है।

- सादी

७ . किसी व्यक्ति के जन्म लेने से क्या होता है, यदि उसके मृत पूर्वजों को पश्चाताप होता रहे कि हम कैसी औलाद छोड़ आये ?

—सर फिलिप सिडनी

७८ अनेक औषधियों मे सबसे अच्छी औषधियाँ विश्राम और उपवास हैं।

फ्रेंकलिन

७६ कर्ज देना मानो किसी बडी वस्तु को पहाड के शृंग पर से नीचे ढकेलना है, मगर उसका वसूल करना उस वस्तु को शृंग तक चढ़ाना है।

—टाल्सटाय

८०. कर्ज एक प्रकार की अग्नि है, जो मानव शरीर के सारभूत तत्वों को भस्म कर राख कर देती है अतः मनुष्य को इस अग्नि से बचना अति आवश्यक है।

—अंग्रेजी से अनूदित

८१. मन जब कर्मो में व्यस्त रहता है तो श्रम मालूम होता है, परन्तु कर्म जब सहज होने लगते हैं तो फिर उनका बोझ नही मालूम होता।

- विनोबा

८२. कर्म वह आइना है जो हमारा स्वरूप हमे दिखा देता है अतः हमे कर्म का अहसानमंद होना चाहिये।

—विनोबा

८३ गीता कहती है—"तुम ऐसा मत करो, कर्म को ही खाओ, कर्म को ही पियो और कर्म को ही पचाओ।"

—विनोबा

८४. पेड को पानी पिलाओ, उसकी परवरिश करो परन्तु उसकी छाया की, फल-फूल की अपने लिये अपेक्षा मत रखो। यह स्वधर्माचरण कर्मयोग है।

विनोबा

८५. प्रकृति जब कठिनाई बढ़ा देती है, ज्ञान भी बढ़ा देती है।

—एमर्सन

८६. वर्तमान युग में कर्त्तव्यों का पालन करने से आने वाले युगों तक का सुधार हो जाता है।

-- एमर्सन

८७. कला का उच्चतम ध्येय और अन्तिम आदर्श सौंदर्य है।

—गेटे

८८. कला विचार को मूर्ति में परिणत करती है।

- एमर्सन

८९. उपयोगी कलाओं की जननी है आवश्यकता और ललित कलाओं की विलासिता। पहली की उत्पत्ति है बुद्धि से और दूसरी की प्रतिभा से।

—शोपेनहॉर

९०. कवि वह बुलबुल है जो अंधेरे में बैठ कर अपने ही को एकान्त में मीठे स्वरों से प्रसन्न करने के लिए गाता है।

- —शैली

९१. कहावतें दैनिक अनुभवों की बेटियाँ हैं।

—डच कहावत

९२. कवि वे हैं जो फूलों से सुरभित विचारों को उतने ही सुवासित सुकुमार शब्दों में व्यक्त करते हैं।

— श्रीमती क्रूडनर

९३. पहले मनुष्य बने बिना कोई भी अच्छा कवि नहीं हो सकता।

—बैन जान्सन

९४. कवि लिखने के लिये तब तक अपनी लेखनी को कष्ट नहीं देता जब तक उसकी स्याही प्रणय के उफानों से उबल नहीं पड़ती।

—शेक्सपियर

९५. कविता भावनाओं से रंजित मस्तिष्क है।

—विल्सन

९६. सद्भावनाओं से लबालब भरे हुये हृदय के द्वारा ही कविता की सृष्टि हुई है।

—गेटे

९७. आप कविता से सत्य पर पहुँचते हैं, मैं कविता पर सत्य से पहुँचता हूँ।

—जोबर्ट

९८. कितने ही मनुष्य अपने दांतों से अपनी कब्र तैयार करते हैं।

—सिडनी स्मिथ

९९ यदि तुम गन्दगी और संसार भर के पापो से छुटकारा चाहो तो हठपूर्वक दृढ़ता से काम मे जुटे रहो, चाहे तुम्हारा काम घुड़साल ही साफ करना क्यों न हो।

—थोरो

१००. कालेज पत्थर के टुकड़ों को तो घिसकर चमकदार बनाते हैं किन्तु हीरो या मणियों पर जग की कई परतें चढ़ा देते हैं।

—हंगरसोल

१०१. पुराना कोट पहनो और नई किताब खरीदो।

—एक विद्वान्

१०२. कुछ किताबे चखने के लिये होती हैं, कुछ निगल जाने के लिये, कुछ चबाने के लिये और कुछ हजम कर पचा जाने के लिये।

—बेकन

१०३. किफायत इसमे नहीं है कि कोई कितना कम खर्च कर सके, अपितु इसमें है कि वह कितनी बुद्धिमानी से उसे खर्च कर सकता है।

—एक विद्वान

१०४. हृदय-परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन और समाज-परिवर्तन, यह क्रांति की त्रिविध प्रक्रिया है। क्राति पहले दिल में होती है फिर समाज में।

—विनोबा

१०५. क्रोध का सबसे बड़ा इलाज थोड़ी देर रुक जाना है।

—सैनेका

१०६. इस पर क्रुद्ध न हो कि तुम दूसरों को वैसा नही बना सकते जैसा तुम चाहते हो क्योंकि तुम स्वयं अपने को भी वैसा नही बना पाते जैसी तुम्हारी इच्छा है।

—थामस कैम्पी

१०७. जो मनुष्य अपनी आमदनी से अधिक खर्च करे और उधार का रुपया अदा न करे उसे उसी समय जेलखाने भेज दो चाहे वह कोई हो।

—थैकरे

१०८. खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले,

खुदा बन्दे से यह पूछे बता तेरी रजा क्या है?

—इकबाल

१०६. खुद मरो, लेकिन मारो मत।

—मुहम्मद

११०. खुशामद तेज शराब की भाँति शीघ्र ही मगज में चढ़ जाती है और सिर को फिरा देती है।

१११. खूबसूरती = स्वास्थ्य + प्रसन्नता

११२. कबिरा गरब न कीजिए, कबहुँ, न हँसिये कोय।

अबहूँ नाव समुन्द्र में, का जाने का होय॥

११३. गुनाह छिपा नहीं रहता। वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है।

—गाधी

११४ जिस दिन आदमी गुलाम बनता है वह अपने आधे सद्गुण खो बैठता है।

—होटले

११५. वह घर, जहाँ मुर्गे की अपेक्षा मुर्गिया बाँग देती रहती हैं, अधिक चीखती-चिल्लाती हैं जरूर जरूर दुखी रहता है।

११६. बुद्धि का चमत्कार देखना हो तो शास्त्रों को देखो, हृदय का जादू देखने की इच्छा हो तो कलाओं के पास क्यों नही जाते मेरे दोस्त !

११७. तमाम जंगली जानवरों मे मुझे अत्याचारी से बचाओ और तमाम पालतू पशुओ में चापलूस से।

—बैन जान्सन

११८. चापलूस उन बिल्लियों की तरह हैं जो सामने से चाटती हैं और पीछे से खसोटती हैं। चापलूसी मूर्खों का भोजन है।

११९. यदि आप सोचते हैं कि अपनी पुस्तकों पर बैठे रहकर वीरता निर्माण कर लेंगे तो यह आपकी वज्र मूर्खता है जो नवयुवकों को फुसलाकर उनका सर्वनाश किया करती है; आप स्वप्न देख देखकर चरित्रवान नहीं बन सकते, अपने चरित्र का निर्माण आपको साँचे मे डाल कर करना होगा।

१२०. मै अपने कैम्प में चरित्रहीन मनुष्यो की अपेक्षा चेचक पीला-बुखार, हैजा और ताऊन का आना अधिक पसन्द करूँगा।

—ब्राउन

१२१. यश वह है जो संसार हमारे विषय मे सोचता है, चरित्र वह है जो ईश्वर हमारे विषय मे जानता है।

—पेन

१२२. माँ मारती है फिर भी बच्चा उसके अंचल मे मुँह छिपाता है। क्योंकि माँ का बाह्य कर्म में चित्त-शुद्धि का मेल है।

—विनोबा

१२३. रोज अपने आपकी जाँच करते रहे और यह सोचते रहे कि अभी तक कितनी कितनी दूरी तय करनी बाकी है।

—गाँधी

१२४. हर मनुष्य के जाँच की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि उसकी पसन्द उससे पूछी जाय, आप मुझे बताएं कि आप किस चीज के शौकीन हैं मैं साफ बता दूंगा कि आप कितने गहरे पानी मे हैं।

—रस्किन

१२५. जिन्दगी आधी बीत चुकी होती है जब हम सोचते हैं कि जिन्दगी क्या है ?

—फ्रेन्च कहावत

१२६. जीवन जागने के लिए है और इसके समान जीवन मे कोई आनन्द नहीं है। सम्पत्ति और वैभव मनुष्य को सुख देंगे यह निरा भ्रम है। सौन्दर्य और आनन्द में ही सच्चा सुख है, वास्तविक सौन्दर्य, शान्त-प्रकृति, पवित्र-आचार और पवित्र विचार मे है। ये बातें जिस मनुष्य मे पायी जाती हैं वही सुख भोगने वाला है। इस सुख को पाने के लिये मनुष्य को दिन-रात पिसना पड़ता है।

—प्लेटो

१२७. स्मरण रखो, पूरा जीवन देने के लिये ही है। प्रकृति देने के लिये तुम्हें विवश करेगी, इसलिये अपनी खुशी से ही दे दो।

—स्वामी विवेकपूरजन्द

१२८ बुरे आदमी खाने पीने के लिये जीते हैं। भले आदमी इसलिये खाते पीते है जिससे कि वे जी सके।

—सुकरात

१२९. वह सबसे अधिक जीता है जो सबसे अधिक सोचता है, सुन्दरतम् भावनाएँ रखता है, सर्वोत्तम रीति से काम करता है।

—बेली

१३०. हमारा निवास धरातल पर होना है और जीवन की सच्ची कला उस पर सुन्दरता से तैरने मे है।

—एमर्सन

१३१. यदि हम जीवन पथ पर फूल नही बिखेर सकते तो मुस्काने तो बिखेर ही सकते हैं।

- डिकेन्स

१३२. तन्दुरुस्त होने की इच्छा करना एक प्रकार की दवा है।

—शेक्सपियर

१३३ दयालु हृदय प्रसन्नता का स्रोत है जो अपने आस-पास के वातावरण को मीठी मुस्कानो से लबालब भर देता है।

वाशिंगटन ईविंग

१३४. दर्शनशास्त्र आपत्ति काल का मीठा दूध है।

—शेक्सपियर

१३५. दवा कुत्तों के आगे फेंक दो, मुझे दरकार नहीं।

—शेक्सपियर

१३६ शरीर के किसी भी दंड से आत्मा की बीमारी दूर नहीं की जा सकती।

—जेरेमी टेलर

१३७. हर दिल एक दुनियाँ है, जो कुछ बाहर हैं वह सब तुम्हारे अन्दर है, जो दुनियाँ तुम्हें घेरे हुये है तुम्हारे अन्दर की दुनियाँ की छाया मात्र है।

—लेवेटर

१३८. हमारे चारों ओर फैली हुई ईश्वर की दुनियाँ बहुत शानदार है मगर हमारे भीतर वर्तमान ईश्वर की दुनियाँ उससे भी कहीं अधिक सुन्दर है।

—लागफैलो

१३९. दुनियाँ मे रहो दुनियाँ को अपने में न रहने दो।

१४०. दुनियाँ का दस्तूर है मरे हुये साधुओं की प्रशंसा करना और जीवित साधुओं को कष्ट देना।

—होव

१४१. जो दुनिया को सबसे अच्छी तरह समझता है वह उसे सबसे कम चाहता है।

—फ्रैंकलिन

१४२. दुर्जन जब साधु होने का ढोंग करता है तब तो वह और भी बदतर हो जाता है।

—बेकन

१४३. दुर्भावना अपने विष का आधा हिस्सा स्वयं पीती है।

—सैनिका

१४४, अपने दुश्मन के लिये अपनी भट्टी को इतना न तपा कि वह तुझे ही भूनकर रख दे।

— शेक्सपियर

१४५. किसी से दुश्मनी करना मैं अपनी मृत्यु समझता हूँ, मैं इससे घृणा करता हूँ और असख्य सज्जनों के प्रेम का भिखारी हूँ।

—शेक्सपियर

१४६. आदमी की शक्ति मर्यादित है और जिस घड़ी वह यह मिथ्याभिमान करता है कि वह सब कुछ कर सकता है, परामात्मा उसके दम्भ को चूर-चूर कर देता है।

—गाँधी

१४७. जिसने कभी दुःख नहीं देखा वह सबसे भारी दुखिया है और जिसने कभी पीर नहीं सही वह सबसे बड़ा बेपीर है।

—मेनसियस

१४८. कोई आदमी दूर तक नहीं देखता, अधिकांश तो सिर्फ नाक के सिरे तक देखते हैं।

—कार्लायल

१४९. हजार गुणों को अपने में समेट लेना सरल है बजाय एक दोष सुधार लेने के।

—ब्रूयर

१५०. जब कभी मैं दोषों को ढूँढ़ने की तैयारी करता हूँ तो पहले अपने से आरम्भ करता हूँ और वहीं रुक जाता हूँ।

—डैविड ग्रेसन

१५१. क्या आपने उस आदमी के बारे मे नहीं सुना जो सूर्य पर इस बात पर कीचड़ उछालता है कि वह उसकी सिगरेट क्यों नहीं जलाता।

१५२. मेरे दोस्तो! दोस्त कहाँ हैं!

—अरस्तू

१५३ आवश्यकता इस बात की है कि हम दूसरों के लिए उतने ही वफादार और सच्चे सिद्ध हो सकें जितने अपने लिए हैं ताकि हम दोस्ती के योग्य बन सकें।

—थोरो

१५४. ईश्वर साधारणतया मूर्खों को दौलत दे देता है, क्या बेचारे इससे भी हाथ धोएँ।

—ल्यूथर

१५५. वह आदमी सबसे धनी है जिसकी प्रसन्नता सब से सस्ते भाव से लुटती है।

—थोरो

१५६. आदमी धर्म के लिये झगड़ेगा, उसके लिये लड़ेगा, उसके लिये मरेगा, सब कुछ करेगा मगर उसके लिए जियेगा हर्गिज नहीं।

—कोल्टन

१५७. धर्म जनता के लिए गर्क कर देने वाली अफीम है।

कार्ल मार्क्स

१५८. धर्म कला की अपेक्षा नहीं रखता, उसका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है।

—गेटे

१५९. धर्म बाहरी कर्मकाड में नहीं बल्कि मनुष्य की ऊँची से ऊँची वृत्तियों का अधिक से अधिक अनुसरण करने में है।

—गाधी

१६०. यदि आप शिक्षा को धर्म से अलग करते है तो निस्संदेह बुद्धिमान शैतानो की एक जाति की सृष्टि करते हैं।

—प्रो० ह्वाइटहैड

१६१ अपना मतलब गाँठने के लिए शैतान धर्म शास्त्र के प्रमाण दे सकता है।

—शेक्सपियर

१६२. राम का अर्थ उस धर्म से है जो गली मे मौजूद है, जो पत्तियों में लिखा हुआ है, जिसका गुणानुवाद हवा और झरने करते हैं और जो तुम्हारे रग-रग मे जोश मार रहा है।

—स्वामी रामतीर्थ

१६३. धरती उकता गई है, आकाश थका थका सा है, सत्ताधारियों की

उन खोखली बातो को सुन सुन कर जिनके द्वारा वे सत्य और न्याय की बधाई देते है।

—वर्ड्सवर्थ

१६४. जिस मनुष्य के पास एक धन्धा है उसके पास एक जागीर है।

—फ्रैंकलिन

१६५ यदि आप चाहते है कि हमारी उन्नति हो तो नित्यश: उत्कट परिश्रम करके अपने शरीर, पुट्ठों और मस्तिष्क को काम की आग मे भून डालिए और सोते जागते उठते बैठते केवल काम ही की धुन मे रहा कीजिए।

—स्वामी रामतीर्थ

१६६. अहंकार ने देवताओं को राक्षस बना दिया, नम्रता ने आदमी को देवता बना दिया।

—आगस्टाइन

१६७ संविधान का सबसे महान् मनुष्य अत्यन्त निर्धन है।

एमर्सन

१६८ उस दिन को व्यर्थ समझ जिस दिन डूबता हुआ सूरज तेरे हाथ से कोई अच्छा काम किया गया न देखे।

—स्टेन फोर्ड

१६९ मधुमक्खियाँ अपना काम अँधेरे मे करती है, विचार मौन साधना करते है, नेक काम गुप्त रीति से किये जाने पर सफल होते है। इसलिए देख अपने बाएँ हाथ को यह न महसूस होने दे कि तेरे दाहिने हाथ ने कुछ नेकी की है।

कार्लायल

१७०. मै उस परमात्मा के अतिरिक्त और किसी परमात्मा को नही जानता जो लाखो करोड़ो प्राणियो के हृदय मे मिलता है। मै इन लाखो की सेवा करके उस परमात्मा की अर्चना करता हूँ।

—गाँधी

१७१. परोपकार एक ऐसा पेशा है जिसमे बहुत से आदमी घुस पड़े है।

—थोरो

१७२. कोई भी नया और महान् काम पागलों से ही हो सकता है।

—विनोबा

१७३. मेरे पुस्तक-प्रेम और पठन-प्रेम के बदले यदि कोई समस्त महाराजाओं के मुकुट मेरे चरणों मे डाल दे तो भी मै उन्हें जूते की ठोकर मार के फेंक दूँगा।

—नेफेलन

१७४. मेरे अभ्यास गृह में ही मुझे विश्वासपूर्वक बुद्धिमान पुरुषों से मुश्किल से बातचीत करने का अवसर मिलता है. बाहर तो मूर्ख लोगो के संसर्ग से छूटना मुश्किल हो जाता है।

—सर विलियम वालरे

१७५ प्रथम पापाचरण से मनुष्य चौंकता है फिर वही उसे आनन्द-दायक प्रतीत होता है। फिर सुगम, फिर मनोहर, फिर चित्ताकर्षक, फिर व्यावहारिक और अन्त मे दृढ़ हो जाता है। उस समय मनुष्य पश्चाताप-हीन हो जाता है। फिर कठोर-हृदय, फिर नारकी।

—टेलर

१७६ पैसा जीवन के लिए है, जीवन पैसे के लिए नहीं।

१७७. कोई आदमी अपनी भड़कीली पोशाक से सिर्फ मूर्खों और स्त्रियों से ही आदर पा सकता है।

—सर वाल्टर रेले

१७८. सुरुचिपूर्ण पोशाक अपने तई एक सिफारिशी पत्र है।

१७९. प्रेम आँखो से नहीं हृदय से देखता है इसी से प्रेम का देवता अन्धा कहा गया है।

—शेक्सपियर

१८०. जिस प्रेम को प्रकट न करके गुप्त रक्खा जाय वही सर्वोत्तम प्रेम है।

—कार्लायल

१८१ खिलता हुआ फूल, एक छोटा सा फूल वह प्रेरणा दे सकता है जो आँसुओं की पहुँच से अधिक गहराई पर है।

—वड्सवर्थ

१८२. बदला कालेज के छोकरों की बकवास है, समझदार बुद्धिमानों की नहीं।

—एनन

१८३. वह जो बदला लेने की खोज में रहता है अपने ही जख्मों को हरा रखता है जो कि अभी तक भर चुके होते।

—वेकन

१८४. वहाना झूठ से भी घातक और खतरनाक है क्योंकि यह सुरक्षित झूठ है।

—पोप

१८५. अपने विचारों को छिपाओ नहीं। यदि उन्हें छिपाना लज्जाजनक है तो उस से अधिक लज्जाजनक उनका मस्तिष्क मे उठना है।

—गाधी

१८६. केवल एक बीज बरगद के सहस्त्र वनो का जन्मदाता है।

—एमर्सन

१८७. जैसे निकम्मी पुस्तकें न पढ़ें, वैसे ही निकम्मे विचार भी न आने दें। ऐसा करने से जो शक्ति इकट्ठी होती है उसका अन्दाज नही लगाया जा सकता।

—गाधी

१८८. गाड़ी का सबसे रद्दी और उखड़ा हुआ पहिया सबसे अधिक चीखता-चिल्लाता है।

१८६ बीमारी मात्र मनुष्य के लिये शर्म की बात होनी चाहिये। बीमारी किसी भी दोष की सूचक है। जिसका तन और मन सर्वथा स्वस्थ है उसे बीमारी होनी ही नही चाहिये।

—गाधी

१९०. जो चीज मैं हर समय ध्यान में रखता हूँ वह यह है कि मुझे उस दोष या त्रुटि के आगे झुकना नहीं है जिसे मैं बुरा मानता हूँ।

—थोरो

१९१ प्रत्येक व्यक्ति तीन स्थान पर बेवकूफ दिखाई देता है एक आइने के सामने, दूसरे औरत के सामने, तीसरे बच्चे के सामने।

१९२. सबसे खूबसूरत बेवकूफी ज्ञान को अत्यन्त बारीक कातना है।

फ्रेंकलिन

१९३. लाखों भूखों को आप और किसी भी प्रकार नहीं समझा सकते, लेकिन अगर आप उनके लिए भोजन ले जाएँ तो वे आपको अपना ईश्वर मानेंगे।

—गांधी

१९४. बिना मनन किये पढ़ना बिना पचाये खाने की तरह है।

—बर्क

१९५. इस विचार ने मुझे परेशानी में डाल दिया कि मनुष्य ने मनुष्य को क्या बना डाला?

—वर्ड्सवर्थ

१९६. जितना ही मैं मनुष्यों को समझता जाता हूँ उतना ही मैं कुत्तों की प्रशंसा करता हूँ।

१९७. आजतक कोई भी मनुष्य नकल करके महान् नहीं बना।

—जानसन

१९८. अपने स्नायु शक्तिशाली बनाओ। हम लोहे की मॉस पेशियाँ और फौलाद के स्नायु चाहते हैं। हम बहुत रो चुके—अब और अधिक न रोओ बल्कि अपने पैरों पर खड़े होओ और मनुष्य बनो।

—स्वामी विवेकानन्द

१९९. यह [illegible] मत समझो कि तुम निर्बल दूसरे को नहीं [illegible] किसी [illegible] पर [illegible] मनुष्य बन जाओ, खड़े होओ और

अपने आपको दोष दो, स्वयं की ओर ही ध्यान दो। यही जीवन का पहला पाठ है, यही सच्ची बात है।

—स्वामी विवेकानन्द

२००. मनुष्य को, वह जितना नीचे जाता है जाने दो, एक समय ऐसा अवश्य आएगा, जब वह ऊपर उठने का सहारा पाएगा और अपने आप से विश्वास करना सीखेगा। पर हमारे लिए यही अच्छा है कि हम इसे पहिले से ही जान लें। अपने आप में विश्वास करना सीखने के लिए हम इस प्रकार के कटु अनुभव क्यों दुहराएँ?

—स्वामी विवेकानन्द

२०१. मनोविकार हमारे सच्चे शत्रु हैं, यह समझकर नित्य युद्ध करना चाहिए।

—गाँधी

२०२ जहाँ छः सौ शब्द लिखकर देने हों वहा सौ ही लिखकर दें, तभी हमारी मर्यादा की कदर हो।

गाँधी

२०३. ईश्वर हर जगह मौजूद नहीं हो सकता था इसलिए उसने माताएँ बनाईं।

—ज्यूइश

२०४. माँ सजीव साकार पवित्रतम् वस्तु है।

—कालरिज

२०५. मैं जो कुछ भी बन सका हूँ या बनूँगा उसका सारा श्रेय मेरी माता को है।

—लिंकन

२०६. तेरा स्वर्ग तेरी माँ के तलुवों के तले है।

—हजरत मुहम्मद

२०७. एक अच्छी माता सौ शिक्षकों के बराबर है।

—जार्ज हर्बर्ट

२०८. मित्रों के बिना कोई भी जीना पसन्द नही करेगा चाहे उसके पास सारी वस्तुएँ हों।

—अरस्तू

२०९. मैं तुझसे इसलिये डरता हूँ कि तू खाली योजनाएँ ही बनाया करता है, इसी से मुझे सदा तुझसे चौकन्ना रहना पड़ता है, मित्रता और चौकन्नापन कहाँ तक साथ देगे।

२१०. मित्रता = सत्यता + मृदुलता।

२११. जिसके बहुत से मित्र हों, निश्चय जानो उसके एक भी मित्र नहीं।

—अरस्तू

२१२. संसार में बहुत कम मित्र हैं और इसीलिए मँहगे भी!

—पोलौक

२१३. मित्रता जल्दी बढ़ने वाला पौधा नहीं है, यद्यपि अन्दर के उपजाऊ खेत में वह उगता है तो भी प्रेमपूर्ण मधुरालाप की खाद डालकर उसे बड़ा करना पड़ता है।

—जीनावैल

२१४. मित्रता को धीरे-धीरे बढ़ने दो यदि वह बेतहाशा बढ़ती तो निश्चय जानो कि उसका अन्त निकट है।

२१५. सम्हलना, तुम्हारा मुँह कहीं तुम्हें ही न निगल जाय।

२१६. मूर्ख बोए और उगाये नहीं जाते वे तो ढेर के ढेर अपने आप उग आते हैं।

२१७. मेहनत वह सुनहली कुञ्जी है जो सौभाग्य के बन्द द्वार खोल देती है।

२१८ मैत्री आत्माओं के विवाह का नाम है।

—वाल्टेयर

२१९. आओ हम मौन हो जायें ताकि देवताओं की कानाफूसियाँ सुन सकें।

—एमर्सन

२२०. विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ प्राप्त करने वालों की नहीं अपितु अपने अहंकार पर विजय प्राप्त करने वालों की हमें आवश्यकता है।

—स्वामी रामतीर्थ

२२१. मौन सर्वोत्तम भाषण है अगर बोलना ही चाहिए तो कम से कम बोलो। एक शब्द से चले तो दो नहीं।

—गाँधी

२२२. मौन नींद की तरह है वह विवेक को ताजा कर देती है।

—बेकन

२२३. पश्चाताप के बीज युवावस्था की मस्ती में बोए जाते हैं लेकिन उनकी फसल वृद्धावस्था के दुखभोग द्वारा काटी जाती है।

—कोल्टन

२२४. अगर तुम अपने किसी रहस्य को अपने शत्रु से भी छिपाये रखना चाहते हो तो किसी मित्र तक से उसका जिक्र न करो।

फ्रैंकलिन

२२५. किसी भी मनुष्य के विषय में उसकी मृत्यु के पूर्व कोई राय कायम न करो।

- सोलन

२२६. यह याद रखो कि व्यभिचारी पुरुष हमेशा कायर होता है। वह पवित्र स्त्री का तेज सह नहीं सकता, उसकी बिल्लाहट से काँप जाता है।

- गाँधी

२२७ वर्तमान को उसके अगले भाग से पकड़ो।

२२८. वह लेखक सबसे सुन्दर लिखता है जो अपने पाठकों का कम से कम समय लेकर अधिक से अधिक ज्ञान देता है।

—सिडनी स्मिथ

२२९. विनाश के बिना विकास कहाँ ?

—चितरंजन दास

२३०. यदि तुम किसी आदमी को विश्वास दिलाना चाहते हो कि वह गलत रास्ते पर है तो उसका उपाय यही है तुम स्वय ठीक मार्ग का अनुसरण करो, पर उसे विश्वास दिलाने की चिन्ता न मत करो। मनुष्य जो देखते हैं, उसी पर विश्वास करते हैं।

—थोरो

२३१ यदि ईश्वर है, तो हमे उसे देखना चाहिए, यदि आत्मा है, तो हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिए, अन्यथा उस पर विश्वास न

करना ही अच्छा है। ढोंगी बनने की अपेक्षा स्पष्ट रूप में नास्तिक बनना अच्छा है।

—स्वामी विवेकानन्द

२३२. विश्वास मित्रता की सोंधी मिठास है।

२३३. दौड़ना व्यर्थ है। समय पर निकलना मुख्य बात है।

—लाफोटन

२३४. प्रेम पर आधारित शक्ति दण्ड के भय से हासिल की गयी शक्ति की अपेक्षा हजार गुनी अधिक प्रभावशाली और स्थायी होती है।

—गाँधी

२३५. शान्ति बाहर की किसी चीज से नहीं मिलती। वह अपने अन्दर की चीज है।

—गाँधी

२३६. अगर अन्तःकरण शुद्ध हो तो तुतली बोली के भी सौ के सौ दाम चढ़ते हैं।

—गाँधी

२३७. सद्गुण मेरे साथ कभी बीमार नहीं पड़ते और इसी तरह वे मेरी कब्र में भी दफनाए नहीं जायेंगे।

—एमर्सन

२३८. मैंने समय को खाया, अब समय मुझे खा रहा है।

—शेक्सपियर

२३९. थोड़े में कह दीजिये, समय बहुत कीमती है।

—सामरस डब्ल्युफील्ड

२४०. संगीनों की ताकत में मेरा विश्वास नहीं है।

—गाँधी

२४१. हमेशा बगैर हजम किये जब हम किसी बात पर अमल करते हैं तब या तो फँस जाते हैं या दुखित होते हैं।

—गाँधी

२४२. धन्य हैं वे जो कभी समाचारपत्र नहीं पढ़ते, क्योंकि उन्हें प्रकृति के दर्शन होंगे और प्रकृति के द्वारा ईश्वर के।

—थोरो

२४३. मैं उस धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू पोंछने या अनाथों को रोटी देने में असमर्थ है।

—स्वामी विवेकानन्द

२४४. इस संसार में मुझे एक ही श्रम है : असत्य विचारने बोलने या आचरण करने की।

—गाँधी

२४५. वाह्य पदार्थों की अपेक्षा सच्चाई पर अधिक भरोसा करो। प्राकृतिक नियम है क जब मनुष्य वाह्य पदार्थों पर अधिक भरोसा करने लगता तभी उसका अधः पतन होता है।

—स्वामी रामतीर्थ

२४६. त्य के मुकाबले में कोई चीज रख दीजिए, सत्य सदा ही भारी होगा।

गाँधी

२४७. पुस्तकों में लिखा सब कुछ वेद-वाक्य नहीं माना जा सकता जो समाचार के खिलाफ है और अमानुषी है वह कहीं भी लिखा हो तो भी न माना जाय।

—गाँधी

२४८. परिश्रम की शूली पर शरीर को लटका दोगे तो सफलता आप से आप पीछे-पीछे दौड़ी चली आवेगी और प्रशंसा करने वालों की कमी नहीं रहेगी।

स्वामी रामतीर्थ

२४६ तक जब बाहरी शक्तियों पर भरोसा करोगे तब तक धक्के खाते फिरोगे ईश्वर को अपने भीतर समझो और उसी पर भरोसा कर शरीर को काम में लग दो, सफलता अवश्य मिलेगी।

—स्वामी रामतीथ

२५०. बच्चा बोलने से नहीं देखने से समझ जाता है। इसीलिये बापू हम बच्चों को सबक सिखाने के लिए हर रोज सूत कातते थे।

—विनोबा

२५१. ईसा के इन शब्दों को स्मरण रखो : "माँगो वह तुम्हें मिलेगा, ढूंढ़ो, तुम उसे पाओगे; खटखटाओ और वह तुम्हारे लिए खुल जायगा।" ये शब्द पूर्ण रूप से सत्य हैं, न अलंकारिक हैं न काल्पनिक।

—स्वामी विवेकानन्द

२५२. प्रत्येक मनुष्य की शिक्षा में एक ऐसा समय आता है, जब वह इस दृढ़ विश्वास पर पहुंच जाता है कि किसी से ईर्ष्या करना अज्ञान का सूचक है और किसी की नकल करना मानों आत्मघात करना है। तब उसे यकीन हो जाता है कि चाहे बुरे हों या भले, हमारे भाग्य में हमीं बदे थे, और भले ही दुनियाँ में अच्छी से अच्छी चीजों का अखण्ड भंडार पड़ा हो, पर पुष्टिकारक अन्न का एक भी दाना तब तक हमें नहीं मिल सकता, जब तक हम उस भूमिखण्ड को जो हमें मिला है अपने परिश्रम से जोतें बोयें नहीं।

—एमर्सन

२५३. क्या तुम जानते हो, तुम्हारे भीतर अभी भी कितना तेज, कितनी शक्तियाँ छिपी हुई हैं? क्या कोई वैज्ञानिक भी इन्हें जान सका है? मनुष्य का जन्म हुये लाखों वर्ष हो गए, पर अभी तक उसकी असीम शक्ति का केवल एक अत्यन्त क्षुद्र भाग ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए तुम्हे यह न कहना चाहिये कि तुम शक्तिहीन हो।

—स्वामी विवेकानन्द

२५४. मैं तुमसे बस यही चाहता हूँ कि तुम आत्म प्रतिष्ठा, दलबन्दी और ईर्ष्या को सदा के लिये छोड़ दो। तुम्हें पृथ्वी-माता की तरह सहनशील होना चाहिये। यदि तुम ये गुण प्राप्त कर सको तो संसार तुम्हारे पैरों पर लोटेगा।

— स्वामी विवेकानन्द

२५५. ज्ञान का अंतिम लक्ष्य चरित्र-निर्माण होना चाहिये।

—गाँधी

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योर्तिगमय मृत्यार्मोऽमृतं गमय।

—